काश्मीरीय

शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र

'शिवसूत्र', 'स्पन्दसूत्र' एवं 'शक्तिसूत्र' समन्वित

डा. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'



सृष्टि-
'सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर'
|
शक्ति
|
नाद
|
बिन्दु
|
जगत्

शैवदर्शन के अनुसार सृष्टि-पिण्ड

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

The

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA

467



Kāśmīrīya Śaivadarśana evam Spandaśāstra

with

ŚIVASŪTRA, SPANDASŪTRA & ŚAKTISŪTRA

by

Dr. Shyamakant Dwiwedi 'Anand'

M.A., M.Ed., Ph.D.

D.Lit., Vyākaraṇācārya



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI (INDIA)

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के-37/117 गोपाल मंदिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी-221001
दूरभाष : (0542) 2335263

प्रथम संस्करण : 2009
मूल्य : 800.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाऊस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली न. 21-ए, अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
दूरभाष: (011) 32996391,23286537, फैक्स: (011) 23286537



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38. यू. ए. बंग्लो रोड़, जवाहर नगर,
पोस्ट बॉक्स न. 2113, दिल्ली - 110007



चौखम्बा विद्याभवन

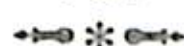
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069, वाराणसी-221001

मुद्रक
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

The

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA

467



Kāśmīrīya Śaivadarśana evam Spandaśāstra

with

ŚĪVASŪTRA, SPANDASŪTRA & ŚAKTISŪTRA

by

Dr. Shyamakant Dwiwedi 'Anand'

M.A., M.Ed., Ph.D.

D.Lit., Vyākaraṇācārya



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI (INDIA)

ग्रन्थावलोकन

स्पन्द क्या है? स्पन्द चैतन्य के विकास की अनन्त यात्रा है। स्पन्द अनन्त की आत्मगवेषणा है—यह अपने स्वस्वरूप के दर्शन की उत्कण्ठा है। यह अपने 'मैं' की खोज है? अरुणाचलम् के महर्षि रमण ने कहा था कि यदि तुमसे पूछा जाता है कि 'तुम कौन हो?' तो तुम कहते हो—'मैं हूँ'; किन्तु क्या तुमने कभी यह खोजा कि यह 'मैं' कौन है? तुम 'मैं' को खोजो। यह 'मैं' ही सृष्टि के अन्तर्गर्भित रहस्य का निगूढ़तम तत्त्व है।

स्पन्दशास्त्र भी कहता है कि 'सब कुछ' को जानने के लिए सब कुछ की खोज मत करो; बल्कि अपने 'मैं' की खोज करो। तुम्हारे इसी 'मैं' में ही 'सब कुछ' छिपा हुआ है।

स्पन्दशास्त्र इसी 'मैं' की खोज है। यह 'परमशिव' का 'अहंप्रत्यवमर्श' है। यह 'अनुत्तर' की आत्म-अनुसंधित्सा है, आत्मगवेषणा है, अपने 'अहं' को जानने का सूक्ष्मतम व्यापार है। यह निस्पन्द की स्पन्द के माध्यम से होने वाली अहंविमर्शात्मक स्फुरणा है। 'परासंवित्' का अहंप्रत्यवमर्श, उसकी पूर्णाहन्ता का विमर्श, उसकी आत्मदिदृक्षा, उसकी आत्म-प्रत्यभिज्ञा, उसका आत्मावलोकन, अपनी शक्ति के दर्पण में अपने 'अहं' का साक्षात्कार ही स्पन्द है। इसी स्पन्दात्मक 'मैं' से निस्पन्द भी स्पन्दायमान है।

स्पन्दशास्त्र वह चरम अनुभूति है, जो इस चरम सत्य को उद्घाटित करती है कि इस तथाकथित जड़-चेतनात्मक जगत् में 'जड़' कोई है ही नहीं, सर्वत्र चैतन्य का ही विराट् प्रसार है, सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में केवल चैतन्य का ही उल्लास है। जड़त्व और भौतिकवाद असत्य है, सर्वचिन्मयतावाद ही सत्य है। 'जड़' चैतन्य की ही सुषुप्त अवस्था है; किन्तु चैतन्यशून्य या जड़ नहीं है।

स्पन्दशास्त्र भौतिकवादियों की भाँति जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं मानता; प्रत्युत चेतन से ही (तथाकथित) जड़ की उत्पत्ति मानता है। जड़ वह है, जिसमें चैतन्य तो है; किन्तु वह सुषुप्तावस्था में है। स्पन्दशास्त्र यह मानता है कि ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है, जो शिव न हो—'न सावस्था न यः शिवः।'

इस दर्शन के अनुसार अद्वैत की वह दृष्टि भी भ्रान्तिपूर्ण है, जहाँ यह माना जाता है कि अद्वैत ऐसा छुईमुई का पौधा है कि द्वैत का स्पर्श हुआ नहीं कि वह सिकुड़ जाता है। इसकी मान्यता है कि द्वय का सामरस्य ही अद्वैत है। यह परिणामवाद, विवर्तवाद, असत्कार्यवाद, मायावाद आदि सभी से पृथक् आभासवाद एवं स्वातंत्र्यवाद में विश्वास करता है।

स्पन्दीय दृष्टि यह मानती है कि सत्यस्वरूप की सृष्टि असत्य नहीं हो सकती; अतः शंकराचार्य की 'जगन्मिथ्या' वाली दृष्टि भी सत्य नहीं है। यह जगत् को माया की सृष्टि

Publishers:
© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane
Post Box No.1129
VARANASI 221001
Telephone : (0542) 2335263

Also can be had from
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : (011) 23856391

*

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : (0542) 2420404

*

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, 21-A (Ground Floor)
Ansari Road, Daryaganj
New Delhi 110002
Telephone : (011) 23286537

नहीं; प्रत्युत चिन्मयी पराशक्ति की अभिव्यक्ति मानती है । जगत् नाट्य है । यह परमशिव की आत्मगोपनात्मक क्रीड़ा है । इसके अनुसार सृष्टि का कोई उद्देश्य भी नहीं होता; क्योंकि सृष्टि तो शिव का आत्मस्वभाव है और स्वभाव का कोई उद्देश्य नहीं होता ।

स्पन्दशास्त्र 'स्व' की जिज्ञासा एवं उसके साक्षात्कार की एक प्रयोगात्मक पद्धति का नाम है । यह शक्ति के उद्‌घाटन की प्रक्रिया है । यह आत्मशोध की प्रणाली है ।

यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में निहित सर्वब्रह्ममय तत्त्व को तो मानता है; किन्तु इसमें निहित 'इदम् सर्वं' को शंकराचार्य की भाँति मिथ्या नहीं मानता । इसकी दृष्टि में अद्वयत्व के लिए द्वयत्व का मिथ्यात्व आवश्यक नहीं, सामरसत्व आवश्यक है । केवलाद्वैत नहीं; द्वयात्मक अद्वय ही सत्य है । इसकी दृष्टि में बन्धन और मुक्ति भी कोई स्वतंत्र अवस्थायें या आत्मा से भिन्न स्वतंत्र सत्तायें नहीं हैं; प्रत्युत अनन्त की आत्मगोपनात्मक क्रीड़ा की एक अवस्था है, मनोविनोदार्थ एक स्वकल्पित अभिनय है ।

सृष्टि और प्रलय कोई आकस्मिक घटनायें नहीं हैं; प्रत्युत निरन्तर चलते रहने वाला और त्रिकालाबाधित आत्मधर्म है, स्पन्द का स्वभाव है, परमशिव का आत्मधर्म है ।

माया सत्, असत् आदि से परे कोई अनिर्वचनीय तत्त्व नहीं है; प्रत्युत शिव की स्वातंत्र्य शक्ति की एक अवस्था है । शिव नर्तक है और जगत् नाट्य है ।

श्यामाकान्त द्विवेदी

दो शब्द

'स्पन्द' परमशिव का अहंप्रत्यवमर्श है । यह प्रकाश का विमर्श के दर्पण में आत्मावलोकन है । यह 'विश्वोत्तीर्ण परमशिव' का विश्वात्मक स्वरूप में अपने अहं का साक्षात्कार है । यह सिसृक्षा का अन्त:संकल्प है । यह 'किञ्चित् चलत्ता' है, संकल्पात्मक गतिमयता है और सिसृक्षा की अस्फुट एवं आन्तर तरङ्ग तथा शिव की आत्मशक्ति है । 'स्पन्दशास्त्र' त्रिकदर्शन का साधनात्मक पक्ष है । इसमें सर्वात्मवाद, सर्वचिन्मयवाद, द्वयात्मक अद्वयवाद (ईश्वराद्वयवाद), सामरस्य, पूर्णाहन्ता, जीवन्मुक्ति, आणवोपाय-शाक्तोपाय-शाम्भवोपाय, ज्ञान-भक्ति-योग-सामञ्जस्यवाद, स्पन्दवाद (सर्वशक्तिवाद), अवभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद आदि दृष्टियों की स्थापना की गई है । स्पन्दशास्त्र त्रिक दर्शन का ही एक अङ्ग है । त्रिक दर्शन (१) प्रत्यभिज्ञा, (२) स्पन्द एवं (३) क्रम—इन तीन धाराओं में प्रवाहित हुआ है । इस दर्शन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भगवान् शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत-सिद्धान्त-प्रचारार्थ अपने शिष्य ऋषि दुर्वासा को आदेश दिया । दुर्वासा ने त्र्यम्बक, आमर्दक एवं श्रीनाथ नामक मानसपुत्रों को जन्म देकर त्र्यम्बक को अद्वैतमत, आमर्दक को द्वैतमत एवं श्रीनाथ को द्वैताद्वैत मत का उपदेश दिया । त्र्यम्बक-प्रचारित दर्शन ही 'त्रैयम्बक दर्शन' है, जो अद्वैतवादी दृष्टि से ओतप्रोत है । सोमानन्द पाद (८५० ई०), जो प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय के संस्थापक हैं, अपने को त्र्यम्बक से १९वीं पीढ़ी का बताते हैं । इस प्रकार त्रिकदर्शन का आविर्भावकाल लगभग पाँचवीं सदी में सिद्ध होता है ।

प्राचीन काल में काश्मीर में मालिनीविजय, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, विज्ञानभैरव आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे । परवर्ती अद्वैतवादी आचार्यों ने इन ग्रन्थों को ही अपने अद्वैत मत की स्थापना हेतु उपजीव्य माना । त्रिक दर्शन के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त थे, जो कि आठवीं ई० सदी के आस-पास आविर्भूत हुए थे । भगवान् श्रीकण्ठ ने वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव गिरि के शिलाखण्ड (शिवोपल) पर उट्टंकित सूत्रों का उद्धार करो । उस शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण ये ७७ सूत्र ही त्रिक दर्शन के मूलाधार हैं । आचार्य वसुगुप्त ने इस शिवसूत्रों की व्याख्या के अनुरूप ही 'स्पन्दकारिका' का प्रणयन किया । उन्होंने इसे अपने दो प्रधान शिष्यों—महामाहेश्वराचार्य कल्लट (नवीं सदी का उत्तरार्द्ध) एवं सोमानन्द को इसका उपदेश दिया । वसुगुप्त की शिक्षा को कल्लट ने स्पन्दसिद्धान्त की स्थापना एवं सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त के रूप में (त्रिकदर्शन की दो शाखाओं के रूप में) प्रचारित एवं प्रसारित किया । स्पन्दशास्त्र का मूल ग्रन्थ वसुगुप्त की स्पन्दकारिका ही है । कल्लट-विचरित 'स्पन्दकारिकावृत्ति' (स्पन्दसर्वस्व), क्षेमराज-विचरित 'स्पन्दनिर्णय' एवं स्पन्दसन्दोह, उत्पल वैष्णव-रचित 'स्पन्दप्रदीपिका' एवं रामकण्ठ-रचित

'स्पन्दकारिकाविवृति' ही स्पन्दशास्त्र की (वृत्ति एवं व्याख्या के रूप में) मूल रचनायें है। इन सभी रचनाओं को शिवसूत्र पर आधृत उपदेश ही माना जाता है। इस प्रकार स्पन्द-साहित्य (मूलतः) शिवसूत्रों में निहित दर्शन एवं साधना का सारसंग्रहात्मक साहित्य है।

'स्पन्दशास्त्र' स्पन्द (शक्ति), स्पन्दायमान जगत् एवं स्पन्दाधिष्ठान परमशिव-सम्बन्धिनी तत्त्वबुभुत्सा है। यह परम सत्य के साक्षात्कार की, अपने मूल 'मैं' के सत्स्वरूप के खोज की एवं प्रत्यक् चैतन्य के गवेषणा का दार्शनिक चिन्तन है। यह औपनिषदिक शोध के इस निष्कर्ष की अनुभूति है कि 'यह सब कुछ आत्मा ही है'—'आत्मैवेदं सर्वम्'। यह उपनिषदों के उस चरम सत्य का दिव्य सन्देश है, जिसमें ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।' इस प्रकार स्पन्दशास्त्र आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मोपासना की अन्तर्यात्रा है।

यह उस श्रौत एवं शब्दब्रह्मात्मक सत्य की अनुभूति का दिव्य संदेश है, जिसमें कहा गया था—'ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम्।' तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।' अर्थात् 'ओम्' यह एक अक्षर ही सब कुछ है। भूत, वर्तमान एवं भविष्य उसका उपव्याख्यान है। यह सम्पूर्ण जगत् ओंकार ही है।

इस प्रकार 'स्पन्दशास्त्र' शब्दसृष्टिवाद और नादबिन्दुवाद की प्रतिष्ठापना है।

यह श्रुति की इस दृष्टि का भी प्रतिपादक है कि—'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह समस्त जगत् ब्रह्म है और आत्मा ही ब्रह्म है। यह माण्डूक्य श्रुति के इस विश्वास का भी प्रतिपादक है कि मात्रारहित प्रणव ही अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत और पूर्ण ब्रह्म का चतुर्थ पाद है तथा यह आत्मा के द्वारा परमात्मा में पूर्णतः प्रविष्ट हो जाती है—'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्।'

यह उपनिषदों की उस देशना को भी प्रस्थापित करता है, जिसमें सर्वात्मवाद एवं ब्रह्मात्मैक्यवाद का समर्थन किया गया है। यह समस्त वैश्विक प्रपञ्च की सर्वरूपता का उस एकाक्षर में अन्तर्भूतता का आत्मविमर्श है, जिसमें कहा गया था—'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' (मा० ३०) 'ओंकार एवेदं सर्वम्' (छा० २.२३)। यह 'सर्वम्' का 'एकम्' में, द्वैत का 'अद्वैत' में, द्वय का 'अद्वय' में और अनेक का 'एक' में साक्षात्कार है।

उपनिषदों में कहा गया था कि आत्मा का ॐ के रूप में ध्यान करो—'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' (मैत्रु ०६।३); क्योंकि यह सब कुछ ओंकार ही है'—ओंकार एवेदं सर्वम्' (छा०उप० २।२३)। स्पन्दशास्त्र ने कहा—आत्मा का स्पन्द के रूप में ध्यान करो; क्योंकि स्पन्द ही सब कुछ है। स्पन्ददर्शन में आत्मा की शक्तिस्वरूपात्मक कल्पना है। यह आत्मा को ही शक्ति एवं शक्ति को ही आत्मा मानता है।

स्पन्दशास्त्र आधुनिक विज्ञान के लिये एक चुनौती भी है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि जड़ (पदार्थों) से ही चेतना का आविर्भाव हुआ; किन्तु स्पन्दशास्त्र मानता है कि चैतन्य से ही जड़ जगत् (पदार्थजगत्) का भी विकास हुआ है। जर्मनी के दार्शनिक

लाइबनिट्ज ने Monadology में कहा कि सृष्टि में ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं, जो पूर्णतया निश्चेतन हो । चैतन्य की प्रचुरता एवं स्वल्पता तो हो सकती है, किन्तु पूर्ण चैतन्यहीनता सम्भव नहीं है । स्पन्दशास्त्र सर्वचिन्मयतावाद का प्रवर्तक है, जबकि भौतिक विज्ञान सर्वजड़तावाद का । विज्ञान कहता है कि सृष्टि का मूल तत्त्व 'जड़' है तो स्पन्दशास्त्र कहता है कि सृष्टि का मूल तत्त्व 'चेतन' है । स्पन्दशास्त्र अन्य दार्शनिकों से भी पूछता है कि जगत् का विभाजन जड़ एवं चेतन वर्गों में कैसे सम्भव है? चेतन की सृष्टि में जड़ कहाँ से आ गया?

समस्त दर्शन उपदेश देते हैं कि अपने 'अहं' का लय कर दो, उसे मिटा दो और उसे भूल जाओ; क्योंकि जब तक अहं को भूलोगे नहीं, परमात्मा को पा नहीं सकोगे । स्पन्दशास्त्र कहता है कि अपने को कभी न भूलो; प्रत्युत उसे ही याद करत रहो; क्योंकि वही परमात्मा को प्राप्त करने का साधन है । परमात्मा को पाने की चिन्ता न करो, अपने को पाने की चिन्ता करो, अपने अहं को प्राप्त करो; क्योंकि आत्मा और तुम्हारा अहं ही परमात्मा है । तुम स्वयं ही परमात्मा हो । यदि कोई यह कहे कि परमात्मा तो जगत् का स्रष्टा है; किन्तु तुम तो नही हो, तो इसका उत्तर यह है कि तुम और जगत् दोनों एक ही हो । परमात्मा, जगत् और जीवात्मा तीनों की एकात्मता या अभेदता ही अद्वैत है और यह अद्वैत ही परम सत्य है, परम ज्ञान है, परा मुक्ति है, जीवन्मुक्ति है, यह अपनी क्रीड़ा है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।। (स्पन्दकारिका)

जगत् अपना शरीराङ्ग है—'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु, पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या' और मैं विश्वरूप हूँ, इस प्रकार का अखण्डामर्श ही ज्ञान है—'विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ।' मैं वह परमात्मा हूँ और जगत् मेरा वैभव है—'सोऽहं ममायं विभव' । यही अपने सत्स्वरूपता की पहचान है अर्थात् अपनी महेश्वरता है—

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।।

अपने को भूलना नहीं; प्रत्युत अपने को न भूलना ही 'ज्ञान' है । अपने को भूल जाना ही सबसे बड़ा अज्ञान है ।

अन्य दर्शनों में उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' का 'तत्' प्रमुख है, 'त्वं' गौण है; किन्तु स्पन्दशास्त्र में 'तत्' गौण है, 'त्वं' प्रधान है । तत्त्वतः (परमार्थतः) तो 'तत्' एवं 'त्वं' दोनों अभिन्न हैं ।

दूसरे शास्त्रों में जगत् 'माया' का विजृम्भण है और चूँकि माया मिथ्या है; अतः जगत् भी मिथ्या है; किन्तु स्पन्दशास्त्र में जगत् मिथ्या और जड़ माया का नहीं, चेतन एवं शिव की निजा शक्ति की क्रीड़ा है । 'माया' मिथ्या एवं भ्रम नहीं; प्रत्युन शिव की स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा है—'माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा' (उत्पलदेवाचार्य) ।

अन्य दर्शनों में ज्ञानाभाव को ही अज्ञान माना गया है; किन्तु स्पन्दशास्त्र में ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है; प्रत्युत ज्ञान का पारमित्य ही अज्ञान है और इसका अपरिमितत्त्व ही ज्ञान है । इच्छा, ज्ञान, क्रिया (चिति एवं आनन्द) का पारमित्य ही अज्ञान एवं बन्धन है । प्रत्यभिज्ञा एवं चक्रेश्वरता की प्राप्ति ही पूर्णता है, ज्ञानोदय है, मुक्ति है और बन्धनों से मुक्ति है ।

अन्य दर्शनों में दो की सत्ता का होना ही एकरसता है, बाधा है; किन्तु स्पन्दशास्त्र में दो की सत्ता ही एकरसता का आदर्शरूप है और द्वयात्मकता (का सामरस्य) ही अद्वैतवाद का आदर्श स्वरूप है ।

ये ही सारे अमूल्य विचार स्पन्दशास्त्र की वैचारिक विलक्षणतायें है । जहाँ-कहीं भी भारतीय दर्शनों का उल्लेख आया है, वहाँ सामान्यत: षड् दर्शनों (सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त) का या उनके साथ बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन एवं चार्वाक दर्शन का ही स्मरण किया गया है; किन्तु तांत्रिक दर्शनों और काश्मीरीय त्रिक दर्शन को छोड़ दिया गया है । त्रिक दर्शन (प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द) सदैव उपेक्षा का शिकार बना रहा । प्राचीन काल में माधवाचार्य (सर्वदर्शनसंग्रह) और वर्तमान में भण्डारकर, बलदेव उपाध्याय एवं डा० उमेश मिश्र आदि ने अवश्य भारतीय दर्शनों में इसे भी स्थान देकर इसका भी मूल्यांकन किया है; किन्तु इसको जितना मूल्य मिलना चाहिए था, वह आज भी नहीं मिल पाया है ।

त्रिकदर्शन के साहित्य को काश्मीर की सरकार ने प्रकाशित तो अवश्य कराया था; किन्तु अब वह साहित्य अप्राप्य हो गया है । इस दु:खद स्थिति में यह आवश्यक था कि इसका पुन: प्रकाशन होता; किन्तु वह सम्भव नहीं हो सका । मैंने चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के व्यवस्थापक माननीय श्री वल्लभदास जी एवं श्री नवनीतदास जी गुप्त के समक्ष एतद्विषयक प्रस्ताव रक्खा तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया । मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ और इसके लिए उन्हें कोटिश: साधुवाद देता हूँ कि उन्होंने न केवल इस साहित्य के मूल स्वरूप एवं उसकी टीका के प्रकाशन को ही स्वीकार किया; प्रत्युत तन्निष्ठ विचार-सामग्री को हिन्दी में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित करने की स्वीकृति देकर काश्मीरीय शैव दर्शन के प्रचार-प्रसार की दिशा में अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया है ।

मैं अन्त में महामाहेश्वराचार्य क्षेमराज के शब्दों में भगवती स्पन्दशक्ति का अभिवादन करते हुये कहना चाहता हूँ—

सर्वं स्वात्मस्वरूपं मुकुरनगरवत् स्वस्वरूपात् स्वतन्त्र
स्वच्छस्वात्मस्वभित्तौ कलयति धरणीत: शिवन्तं सदा या ।
दृग्देवी मन्त्रवीर्यं सततसमुदिता शब्दराश्यात्मपूर्णा
हन्तानन्तस्फुरत्ता जयति जगति सा शांकरी स्पन्दशक्ति: ॥

श्यामाकान्त द्विवेदी

सीधी (म०प्र०)
३०।०५।२००३

भूमिका

स्पन्दशास्त्र स्पन्द, अहंविमर्श, सर्वचिन्मयता एवं सर्वात्मवाद का शास्त्र है । स्पन्दशक्ति का स्वस्वरूप है—पूर्ण अहं विमर्श । स्पन्दशास्त्र में स्पन्द का सर्वातिशायी महत्त्वांकन किया गया है । यह परमशिव की वह शक्ति है, जो कि स्वस्वरूप में अविभक्त रहते हुए भी अपने भीतर भिन्न के समान दर्पणनगरवत् अशेष जगत् को अवभासित करती है । क्षेमराज 'स्पन्दनिर्णय' में कहते हैं—'श्रीभगवत: स्वातंत्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादितपरम्परां दर्पणनगरवत्स्वभित्तावेव.....दर्शयन्ती स्पंद अभिहित: ।'

स्पन्द दर्शन के अनुसार तत्त्वातीत परमतत्त्व परमशिव अन्तर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त एवं सबमें अनुस्यूत है । यही चिति, परासंवित्, परमशिव, आत्मा एवं परतत्त्व है । 'चैतन्यमात्मा' सूत्र की आत्मा भी यही है । समस्त तत्त्वों का अवस्थान भी इसी चैतन्यस्वभाव आत्मा में है । इसी से छत्तीस तत्त्वों वाला जगत् विकसित होता है । यह प्रकाशविमर्शमय है । प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श प्रकाशात्मा परमेश्वर के स्वस्वरूप की प्रतीति है । इसी विमर्श में महेश्वर अपनी पूर्णता की अनुभूति करते हैं । विमर्श शिव का मुख है— 'शैवीमुखमिहोच्यते ।' प्रकाश-विमर्श अपृथक् हैं—

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात् ।[१]
न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिव: ।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

शक्ति के बिना शिव हिल भी नहीं सकते—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि ।
न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिव: शक्तस्तथा भावादिच्छया कर्तुमीहते ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते ।[२]

विमर्श क्या है—'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम् ।'[३] यह जो परतत्त्व है, इसी में अनन्तात्मक विश्व अवस्थित है—'यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत् ।'[४] यही है चिति—तुर्यातीतपद परासंवित्— 'चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित् ।'[५]

विमर्श परमशिव का पूर्णाहम् है । प्रकाश शिवस्वरूप है, पर विमर्श शक्तिस्वरूप है

---

१. विज्ञानभैरवविवृति
२. सोमानन्द : शिवदृष्टि
३. पराप्रावेशिका
४. परमार्थसारकारिका
५. तंत्रालोक (भाग ३)

है। शिव एवं शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। शक्तिस्वभाव से शक्त होने पर ही शिव कर्ता बन पाते हैं। शक्ति आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है। अपनी इसी विमर्श शक्ति के कारण परमशिव सब कुछ कर सकने की शक्ति से पूर्ण होने के कारण स्वतंत्र कहलाते हैं। इस स्वतंत्र की इच्छा ही स्वातंत्र्य शक्ति है—'स्वतंत्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातंत्र्यसंज्ञिता'[१]। विमर्श कर्तु, अकर्तु, अन्यथाकर्तु आदि समस्त शक्तियों से युक्त है—'विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)। विमर्श परमशिव की पूर्णाहन्ता (पूर्ण अहं) है—'या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।' (अजड़प्रमातृसिद्धि)। निराशंसता (इच्छा का अभाव) ही आत्मा की पूर्णता है। इसी से वह पूर्ण स्वतंत्र है। वह स्वतंत्र अपने-आपमें विश्राम करता है और उसकी आत्मविश्रान्ति ही उसका आनन्द है—'स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देवस्यानन्द उच्यते।' छत्तीस तत्त्वों में अभेदात्मना स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही विमर्श है और यही उसका विश्वात्मक स्वरूप है। विमर्श ही परमशिव की शक्ति है। उसकी शक्ति का स्फार ही यह समस्त विश्व है—'क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः' (ईश्वरप्रत्य०वि०)। सभी पदार्थ प्रकाशस्वरूप हैं और परमेश्वर से अभिन्न हैं। वह विश्वात्मक एवं विश्वातीत दोनों है। परमेश्वर की वह शक्ति, जो एक साथ उन्मेष एवं निमेष करती हो, 'स्पन्द' कही गई है—'सा चैषा स्पन्दशक्तिः युगपदेवोन्मेषमयी।' (स्पन्दनिर्णय—क्षेमराज)।

स्पन्द शक्ति पूर्ण अहंविमर्शात्मिका है। अहंविमर्श ही वह आद्य स्फुरणा है, जिसमें वह एक होकर भी अनन्त नाम-रूपों से युक्त छत्तीस तत्त्वों वाले जगत् के रूप में स्फुरित होती है। 'स्पन्द' का अर्थ है—किंचित् चलत्ता। किंचित् चलत्ता है—अहं विमर्शात्मक स्पंदन। भगवान् का 'स्पन्द'—संकल्पात्मक गतिमयता, अहं प्रत्यवमर्श या विश्वात्मक प्रसार हेतु अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की ओर उन्मुखता है। उन्मेष, निमेष भी संकल्पात्मक उन्मुखता को ही द्योतित करते हैं। 'स्पन्दकारिका' इसी उन्मेष-निमेष से प्रारम्भ है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः॥

उसी के संकल्प से सृष्टि-प्रलय होते हैं—'संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वम्।'[२]

हम जो जानते हैं, हमें उसकी जिज्ञासा नहीं होती और हम जो जानते आये हैं, उसके प्रति हमें उत्कण्ठा भी नहीं होती। हमें इस बात की जिज्ञासा नहीं होती कि श्रोत्र क्या है? मन क्या है? वाणी क्या है? प्राण क्या है? चक्षु क्या है? क्योंकि हम इन्हें जानते आये हैं; अतः उनके प्रति हमें जिज्ञासा होती ही नहीं; हमारी जिज्ञासा तो यह होती है कि श्रोत्र का श्रोत्र कौन है? मन का मन कौन है? वाणी का वाणी कौन है? प्राण का प्राण कौन है; क्योंकि हम उन्हें नहीं जानते; किन्तु उन्हें जानने से ही हम मृत्यु को अतिक्रान्त करके अमृतत्व के नये लोक में पहुँच सकते हैं और 'मृत्योर्मामृतं गमय' का जीवन में साक्षात्कार

१. मालिनीविजयवार्तिक २. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व

कर सकते हैं । इसीलिए उपनिषदों ने उसकी जिज्ञासा की और कहा—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

जहाँ तक हमारी आँखें जा सकती हैं, वहाँ तक हम जा चुके हैं; जहाँ तक हमारा मन जा सकता है, वहाँ तक हमारी मनोयात्रा भी पूरी हो चुकी है और जहाँ तब हमारी वाणी जा सकती है, वहाँ तक हम पहुँच चुके हैं । अतः हम वहाँ तक जाना चाहते हैं, जहाँ आँखें न जा सकें, हम वहाँ तक पहुँचना चाहते हैं जहाँ तक हमारा मन न पहुँच सके और हम उस अचिन्त्य ऊँचाई तक उड़ना चाहते हैं, जहाँ तक हमारी वाणी भी उड़कर नहीं जा सके । यही हमारी उत्कण्ठा है और उस चरम बिन्दु तक पहुँचने के विषय में वही हमारी सारी जिज्ञासा है ।

यही जिज्ञास्य बिन्दु हमारी जिज्ञासा का विषय है । हम जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा चरम बिन्दु है, जहाँ तक चक्षु, वाणी एवं मन भी नहीं पहुँच सके? उसका वह स्वरूप कैसा है? उसी के विषय में रहस्यवादी उपनिषद् कहते हैं—'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये न नस्तद्व्याचचक्षिरे ।'

अर्थात् उस चरम सत्ता तक न चक्षु आदि इन्द्रियाँ पहुँच सकती हैं और न तो वागिन्द्रिय, न तो मन ही वहाँ तक पहुँच सकता है । जिस प्रकार इस ब्रह्म को बताया जाय कि वह ऐसा है, इसे न तो हम स्वयं जानते हैं और न तो दूसरे के द्वारा बताने पर ही जानते हैं । वह जाने हुए पदार्थ से भिन्न है और न जाने हुए पदार्थ से भी ।

उपनिषदों में ऋषि पूछते हैं कि क्या हम उसे जान सकते हैं? उन्होंने इसका उत्तर देते हुए कहा कि—जो यह मानता है कि वह जाना नहीं जा सकता, वह उसे जानता है और जो यह मानता है कि मैंने उसे जान लिया है, वह उसे नहीं जानता । जानने वालों के लिए वह बिना जाना हुआ है और न जानने वालों के लिए जाना हुआ है—

यस्मामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमवि जानताम् ।।

स्पन्दशास्त्रियों ने भी उसके विषय में जिज्ञासा की और वेदान्ती शंकराचार्य आदि ने भी । दार्शनिक शंकराचार्य के मन ने भी पूछा की वह कौन-सी परसत्ता है? उसका स्वरूप क्या है? उन्होंने कहा कि—

दार्शनिक शंकराचार्य का अभिमत—	**स्पन्दशास्त्रियों का अभिमत—**
१. वह अज्ञेय है ।	१. वह अज्ञेय नहीं है; क्योंकि उसका जानना ही तो मोक्ष है ।
२. वह निर्गुण है ।	२. वह सद्द्रव्य है ।
३. वह निष्क्रिय हैं ।	३. वह सक्रिय है ।
४. वह निष्पन्द है ।	४. वह निस्पन्द और सस्पन्द दोनों है ।

	(स्पन्द उसकी आत्मशक्ति है, आत्म-स्वभाव है, उसका विमर्श है, उसका स्वातन्त्र्य है, उसका आत्मधर्म है और उसका सार तथा हृदय है ।)
५. वह विश्वातीत है ।	५. वह विश्वमय एवं विश्वातीत दोनों है ।
६. उसकी सृष्टि या जगत् मिथ्या है ।	६. उसकी सृष्टि (या जगत्) सत्य है
७. जगत् ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है ।	७. जगत् परमशिव (ब्रह्म) का न तो विवर्त है और न तो अनिर्वचनीया माया का परिणाम ।
८. ब्रह्म वस्तु है और जगत् ब्रह्म में मिथ्या वस्त्वन्तर का मिथ्यारोप है । जगत् कभी ब्रह्म नहीं बन सकता ।	८. जगत् और जीव दोनों शिव की आत्मगोपनात्मक क्रीड़ायें हैं । अभिनयात्मक क्रीड़ा छोड़ते ही जगत् एवं जीव दोनों परमशिव-मात्र है ।
९. जगत् ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल है । इन्द्रजाल केवल मिथ्या होता है । अत: देखने में (इन्द्रजाल की भाँति) भले ही जगत् भी सत्य प्रतीत हो, किन्तु है मिथ्या एवं भ्रम ही ।	९. जगत् मिथ्या इन्द्रजाल नहीं है; प्रत्युत शिव का अपनी 'शक्ति में किया गया एक बाह्योन्मुख अभिनय है ।
१०. सत्य केवल एक है । वह अद्वय है और शेष सब (परमार्थत:) मिथ्या हैं ।	१०. ब्रह्म तो सत्य है ही; साथ ही जगत् एवं जगत् का प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक सत्ता भी सत्य है ।
११. जगत् एक लीला है । जिस प्रकार अभिनेता जिस किसी नायक का अभिनय करता है, वह उसका स्वरूप नहीं बन जाता, वह अपनी पृथक् सत्ता बनाए रखकर उसका अभिनय करता है; अत: अभिनय नायक के यथार्थ जीवन एवं उसके चरित का यथार्थ स्वरूप नहीं हुआ करता तथापि सत्य लगता है, उसी प्रकार जगत् एक ऐन्द्रजालिक लीला है, जो सत्य तो प्रतीत होती है; किन्तु सत्य होती नहीं ।	११. परमशिव की लीला या ऐन्द्रजालिक चमत्कार (या अभिनय) दूसरे प्रकार का है । यहाँ अभिनेता किसी दूसरे नायक (या पात्र) का अभिनय नहीं करता; प्रत्युत स्वयं ही स्वयं का, स्वयं में, स्व का रूप छिपाकर अभिनय करता है— 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' और उसका यही अभिनीत स्वरूप जीव एवं जगत् है ।

शिव प्रकाश है । शक्ति विमर्श है । प्रकाशात्मा शिव का स्वभाव विमर्श है । सृष्टि की अवस्था में विश्वाकार होने, स्थिति की अवस्था में विश्व को प्रकाशित करने एवं संहार

की अवस्था में विश्व को आत्मसात् करने से शिव में स्थित अहंभाव ही विमर्श है। शंकराचार्य ने कहा था कि जगत् मिथ्या है, किन्तु स्पन्दशास्त्र की मान्यता है कि जगत् शक्ति का विकास है: अत: सत्य है। सांख्य दर्शन में 'पुरुष एवं 'प्रकृति' नित्य एवं स्वतंत्र हैं, किन्तु स्पन्द दर्शन में प्रकृतिस्वरूप माया एवं परिच्छिन्न जीव (पुरुष) परतंत्र एवं अनित्य है।

शांकर मत में प्रतिपादित एवं जगत् का निर्माण करने वाली माया स्पन्द दर्शन में प्रतिपादित शक्ति नहीं है। शैव दर्शन (स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा) की दृष्टि में आत्मा स्वभावत: पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय) का निष्पादन करने वाली है; किन्तु शांकर मत का निर्गुण एवं निष्क्रिय ब्रह्म इस स्वरूप का नहीं है।

त्रिक दर्शन (प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द) का परम तत्त्व शांकर ब्रह्म के विपरीत (कामेश्वर-कामेश्वरी या शिव एवं शक्ति का) सामरस्यरूप है। न्याय के विपरीत स्पन्द की आत्मा चैतन्यस्वरूप है। स्पन्द की आत्मा न्याय-वैशेषिक के विपरीत चैतन्य, ज्ञान, इच्छा एवं क्रियास्वरूप है। अद्वय परमेश्वर सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त है। इसी की संज्ञा है—चैतन्य, परासंवित्, अनुत्तर एवं परमशिव। इस परासत्ता (चरमतत्त्व) के दो स्वरूप हैं—(१) विश्वात्मक एवं (२) विश्वोत्तीर्ण। जगत् परमात्मा का स्फुरणमात्र है—'श्रीमत: परमशिवस्य पुन: विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैघनस्य अखिलभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुत: अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्त्रै: स्फुरति।'[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में जगत् परमशिव का ही स्वस्वरूप है।

शिव एवं शक्ति अभिन्न हैं; अत: दो होकर भी एक हैं एवं एक होकर भी दो हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं—

न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिव: शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते।[२]

शिव एवं शक्ति को जगत् के निर्माण-हेतु किसी अन्य उपादान एवं स्थान की अपेक्षा नहीं है—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।'[३] वह निरुपादान ही अपनी आत्मभित्ति पर जगत् रूपी चित्र का निर्माण करता है—

निरुपादानसंभारभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥[४]

सृष्टि कोई नवीन निर्माण नहीं है; प्रत्युत अन्त:स्थ भाव का उन्मीलन है—

अन्त:स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।[५]
उन्मीलनमवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।[६]

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र ३)
२. सोमानन्द : शिवदृष्टि
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
४. आचार्य वसुगुप्त
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

जगत् जड़ नहीं, चिन्मय है । आत्मकाम को कामना तो हो नहीं सकती; अतः जगत् उस आत्मकाम परमेश्वर का क्रीड़ामात्र है । परमशिव न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के विरुद्ध ज्ञानस्वरूप है और सांख्य दर्शन के विरुद्ध क्रियाशील (कर्तृस्वरूप) है । स्पन्द दर्शन यह मानता है कि दो की सत्ता का अभाव ही अद्वैत नहीं है, जैसा कि वेदान्त मानता है; प्रत्युत दो का सामरस्य ही अद्वैत है । 'अद्वैतवाद' अद्वैत नहीं 'ईश्वराद्वयवाद' ही अद्वैत है । जगद्रचना का कोई प्रयोजन नहीं है, यह एक लीला है, आत्मविनोद है, स्वभाव एवं परमात्मा का आत्मधर्म है । विमर्श ही शिव का स्वभाव है । उसकी क्रिया ही ज्ञान है; क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृत्वस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है । इस ज्ञान एवं क्रिया की उन्मुखता की संज्ञा ही 'इच्छा' है ।

स्पन्दशास्त्र के अनुसार शिव की इच्छा ही जगत् का उपादान कारण है । यही है—इच्छासृष्टिवाद । वैशेषिकों की दृष्टि के अनुसार जगत् की सृष्टि परमाणुओं से हुई । परमाणु ही जगत् का उपादान कारण है । बौद्धों का मत था कि जगत् कर्म-नियमित क्षणिक तथा परमाणुपुञ्जस्वरूप है । कार्य कारण का परिणाम नहीं, कारणस्वरूप है । जैनियों का मत था कि जगत् कर्म-नियमित, स्थिर एवं परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम (एक अंश में भिन्न, दूसरे अंश में अभिन्न; अतः भिन्नाभिन्न) है । मीमांसक प्रभाकर के मतानुसार जगत् कर्म-नियमित एवं परमाणु का कार्य है ।

न्याय-वैशेषिक के मतानुसार जगत् परमाणु का कार्य (अपने कारण से भिन्न) होते हुए भी कर्म-नियमित न होकर कर्म की सहकारिता से ईश्वर-नियमित है । परमाणु अतीन्द्रिय एवं नित्य द्रव्य है । अतीन्द्रिय एवं अविभाज्य (१) पार्थिव (२) जलीय (३) तैजस् एवं (४) वायवीय—चार प्रकार के परमाणुओं से ही सृष्टि हुई है । अणुपरिमाण-विशिष्ट परमाणुओं का संयोग → द्वयणुक → ३ द्वयणुकों का संयोग → त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) (यह महत्परिमाण वाला होता है; अतः यह दृष्टिगोचर होता है । घर के छिद्र से आने वाला सूर्य की किरणों में विद्यमान रजःकण त्रसरेणु है । उनका छठा भाग परमाणु कहलाता है—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक बनता है । इससे ही जगत् की सृष्टि होती है । इनमें परमाणु एवं द्वयणुक अतीन्द्रिय हैं ।

स्पन्दशास्त्र के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु नहीं और न तो अदृष्ट है; प्रत्युत सृष्टि एवं जगत् का उपादान कारण है—परमेश्वर-सिसृक्षा । परमेश्वर की इच्छा ही सृष्टि का मूल उत्स है ।

वैशेषिकों के मत में परमाणु स्वभावतः निस्पन्द (शान्तधर्मी) होते हैं । इनमें परिस्पन्द का आविर्भाव होता कैसे है?

प्राचीन वैशेषिकों का मत—धर्माधर्मस्वरूप अदृष्ट ही इसके कारण हैं । 'अदृष्ट' क्या है?

मणिगमनसूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम् ।[1]
वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ।[2]

अर्थात् अयस्कान्तमणि की सुई का उत्तर दिशा की ओर उन्मुख होना, वृक्षों के रस का नीचे से ऊपर चढ़ना, अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति होना तथा मन एवं परमाणुओं की प्रथम (स्पन्दात्मक क्रियास्वरूप) गति का होना अदृष्ट का ही कार्य है ।

परवर्ती आचार्यों का मत—अदृष्ट की सहकारिता-पूर्वक ईश्वरेच्छा से परमाणुओं में स्पन्दन एवं सृष्टि शक्ति उत्पन्न होती है ।[3] इस प्रकार सृष्टि का कारण अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की इच्छा स्वीकार कर ली गई—

(१) महेश्वर में जगत् के संहार की इच्छा का आविर्भाव→अदृष्टों की शक्ति प्रतिबन्धित हो जाती है; फलतः प्रलय हो जाता है ।

(२) प्राणियों के कर्म-फलोन्मुख होने पर अदृष्ट पुनः प्रवृत्त होता है और तब महेश्वर की सिसृक्षा से आत्मा एवं परमाणु का संयोग होता है; फलतः परमाणुओं में कर्मोत्पत्ति प्रारम्भ होती है और सृष्टि का आरम्भ होता है । यही है—वैशेषिकों की परमाणु-कल्पना ।

यूनानी दार्शनिक डिमाक्रिट्स का परमाणुवाद—परमाणु स्वयं गुणशून्य होते हैं; फिर भी उनमें तौल, स्थान एवं क्रम होता है ।

कणाद के मत में परमाणुओं में विशेष गुण भी होता है । यूनानी दार्शनिक डिमाक्रिट्स एवं एपिकुरुस का मत यह था कि आकाश में विचरण करते हुए ये परमाणु पारस्परिक संघर्ष द्वारा परमाणु जगत् एवं आत्मा—दोनों का सृजन करते हैं । अतः ईश्वर के कारणता की अपेक्षा कैसी? वैशेषिक के मत में परमाणुओं की निस्पन्दता में स्पन्दन का आविर्भाव अदृष्ट के सहकार से ईश्वरेच्छा से हुआ करता है । यूनानी दार्शनिक भौतिकवादी दृष्टि प्रस्तुत करता है; किन्तु भारतीय दार्शनिक आध्यात्मिक । ये मानते हैं कि ईश्वर ही अदृष्ट का नियन्ता है ।

स्पन्दशास्त्र मानता है कि परमेश्वर अपनी शक्ति के मुख में अपना स्वरूप देखता है और यही सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है । शरीर के नष्ट होने के साथ दुःखत्रय के आत्यन्तिक विनाश को विदेह मुक्ति कहते हैं; किन्तु स्पन्द इसे यथार्थ मुक्ति नहीं मानता ।

सांख्य दर्शन मुक्ति के दो प्रकार स्वीकार करता है—जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति । विवेक ज्ञान से इसी जन्म में अनुभूत मुक्ति जीवन्मुक्ति है । सांख्य की प्रकृति बन्धन ही नहीं, मुक्ति की भी विधायिका है । उसका प्रयोजन पुरुष को सांख्य के अनुसार मोक्ष दिलाती है—प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ।

सांख्य के अनुसार पुरुष की मुक्ति-प्राप्ति का अर्थ मात्र इतना है कि यह अपनी स्वतंत्र, असङ्ग एवं केवल दशा को पुनः प्राप्त कर ले । प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं स्पन्द भी अपने विस्मृत शिवत्व की पुनः प्राप्ति को ही मुक्ति मानते हैं ।

---

१. वैशेषिक द० सूत्र : ५.१.१५ २. वै० द० सूत्र० ५.२.७
३. प्रशस्तपादभाष्य, न्या० क०

सांख्यादर्शन (सूत्र ३.६५) के अनुसार प्रकृति-पुरुष का वियोग या एकाकी होना (पुरुष का प्रकृति से पृथक् होना = कैवल्य) ही मुक्ति है; किन्तु बन्धन एवं मोक्ष दोनो पुरुष के नहीं; प्रकृति के होते हैं ।

ईश्वरकृष्ण का मत—पुरुष बन्धन, मुक्ति एवं संसार तीनों का अनुभव नही करता । इसका अनुभव प्रकृति करती है । ये सभी प्रकृति के धर्म है । पुरुष का अपवर्ग है क्या? 'स्पन्दशास्त्र' एवं 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' यह मानते हैं कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप है । ज्ञान, इच्छा, क्रिया, आनन्द आत्मा की शक्तियाँ है ।

न्यायशास्त्र के मतानुसार—(१) मोक्षावस्था में न तो सुख रहता है और न ही दुःख । (२) इस समय आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है । (३) इस अवस्था मे आत्मा में चैतन्य, ज्ञान, इच्छा, यत्न (क्रिया) का अभाव रहता है । चैतन्य आत्मा का आकस्मिक गुण है और शरीरोत्पत्ति के अनुसार ही आत्मा में—चैतन्य, ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, क्रिया आदि आविर्भूत होते हैं । न्याय के अनुसार मिथ्याज्ञान → राग-द्वेषादि → शुभाशुभ प्रवृत्ति → शरीरप्राप्ति → जन्म-मरण → दुःखोत्पत्ति । तत्त्वज्ञान → मिथ्या ज्ञान का नाश → मुक्ति ।

मुक्ति के साधन—जयन्तभट्ट का जोर है ज्ञान पर ।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष स्वभावतः असङ्ग एवं मुक्त है । केवल अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग होता है । परिणामतः उसे प्रकृतिजन्य दुःखों का सामना करना पड़ता है; क्योंकि प्रकृति के साथ संयोग से प्रकृतिजन्य दुःख पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं । यही पुरुष के लिए दुःखों का भोग, संसार का मूल है, अविवेक और दुःखनिवृत्ति का साधन है—विवेक ।

न्यायशास्त्र के अनुसार तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) से ही मुक्ति प्राप्त होती है । न्यायदर्शन के अनुसार (गौतम के मत से) आत्मतत्त्व के ज्ञान हेतु ध्यान, धारणा आदि योग भी उपयोगी हैं । 'न्यायसार' जैनियों का न्यायग्रन्थ है । अतः उसके अनुसार मुक्ति की दशा में सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है; किन्तु हिन्दू न्यायशास्त्र की मान्यता के अनुसार मुक्ति की अवस्था सुख एवं आनन्द से रहित रहती है । 'न्यायसार' के अनुसार मुक्ति में भी सुख रहता है । दुःखों से अत्यन्त विमोक्ष ही अपवर्ग है—'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (१.१.२२)। मुक्ति की अवस्था में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्काररूप नव विशेष गुणों का विनाश हो जाता है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥ (न्यायमञ्जरी)

उद्योतकर के अनुसार—निःश्रेयस् के दो प्रकार—(१) अपर निःश्रेयस् (२) पर निःश्रेयस् । जीवन्मुक्ति = अपर निःश्रेयस् । विदेहमुक्ति = पर निःश्रेयस् ।

न्याय की मुक्ति का उपहास करते हुए कहा गया है कि जङ्गल में स्यार हो जाना उत्तम है; अपेक्षाकृत वैशेषिक की मुक्ति के—

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षासु सुखलेशविवर्जितात् ॥[1]

मुक्ति में सुख का अभाव होने से मुक्तात्मा आनन्दाधिगम नहीं कर सकती ।

स्पन्द दर्शन का समस्त राजप्रासाद 'अहं' (चैतन्य = स्पन्द = आत्मा या संवित्) की नींव पर खड़ा है । समस्त सत्तायें 'अहं' में ही प्रतिष्ठित हैं । अ से ह पर्यन्त मातृकायें ही 'अहं' का रूप हैं, किन्तु ये मातृकायें भी अन्ततः 'परावाक्' की सन्तानें हैं । परावाक् स्पन्द (आत्मशक्ति, शिव की शक्ति, चित् शक्ति) का ही स्वरूप है । स्पन्द का स्वरूप भी 'पूर्ण अहंविमर्श' है । अहंविमर्श ही मौलिक स्फुरण है । शिव में यही स्फुरण है, जो कि ईश्वर में आते-आते 'इदमहम्' के विमर्श के रूप में परिणत हो जाती है । अज्ञान, माया, बन्धन, मोक्ष, शिव, शक्ति, सदाशिव, माया से पृथ्वीतत्त्व एवं समस्त सत्तायें 'अहं' में ही प्रतिष्ठित हैं । अहं से परे कुछ है ही नहीं । अहं ही आत्मा का भी स्वस्वरूप है ।

शिवतत्त्व का विमर्श है—अहं = अहमस्मि : सृष्टि के विकास का प्रथम स्तर । सृष्टि के विकास का द्वितीय स्तर = अहमिदम् (यहाँ अहं तो है, किन्तु साथ ही 'इदम्' भी है; किन्तु इदम् है अहं के बाद) । सृष्टि के इस स्तर का नाम है—सदाशिवतत्त्व = अहंमिदम् । सृष्टि का तृतीय स्तर है—ईश्वरतत्त्व = 'इदमहम्' (यहाँ भी अहं है; किन्तु इदम् के बाद) । इतना होने पर भी अभी 'अहं' से 'इदम्' पृथक् नहीं हुआ । 'शुद्ध विद्या' में 'अहं' एवं 'इदम्' में सामानाधिकरण्य है ।

(१)	अहमस्मि	शितत्त्व
(२)	अहमिदम्	सदशिवतत्त्व
(३)	इदमहम्	ईश्वरतत्त्व
(४)	अहं + इदं में सामानाधिकरण्य	शुद्धविद्या
(५)	अहं एवं इदम् दोनों में पृथक्त्व का ज्ञान एवं अनुभव	आत्मतत्त्व

परमशिव

		अहमस्मि		१ २	शिव शक्ति	अभेद भूमिका
	अहमिदम्	१	सदाशिव तत्त्व	भेदाभेद भूमिका		
माया से पृथ्वी तत्त्व = ३१ तत्त्व	भेद भूमिका	२	ईश्वर			
		३	शुद्ध विद्या या सद् विद्या			

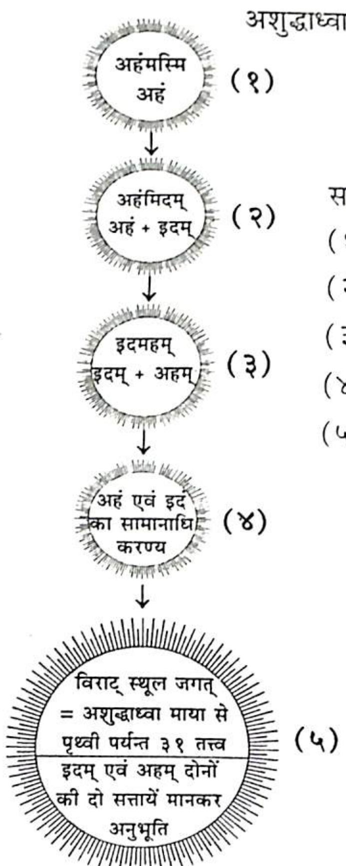
१. सर्वसिद्धान्तसंग्रह

शुद्धाध्वा, अशुद्धाध्वा

पूर्णावस्था—

(४)	शक्तितत्त्व का परमशिव में लय
(३)	सदाशिव का शक्ति में लय
(२)	ईश्वरतत्त्व का सदाशिव में लय
(१)	सद्विद्या का लय ईश्वर में

शुद्धाध्वा	(१)	शिव	शुद्धाध्वा
	(२)	सदाशिव	माया से ऊपर
	(३)	ईश्वर	
	(४)	शुद्ध विद्या	कर्ता= शिव
अशुद्धाध्वा		माया से पृथ्वी तत्त्वपर्यन्त ३१ तत्त्वों की सृष्टि	अशुद्धाध्वा
			कर्ता = अघोरेश



सर्वाधिक विशुद्ध चैतन्य का स्तर:

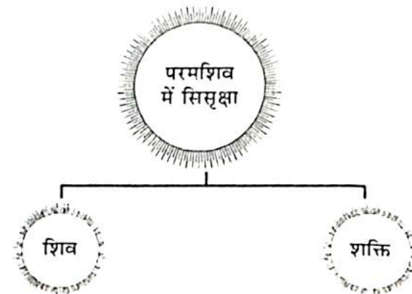
(१) 'अहमस्मि' = शिव शक्ति ।

(२) फिर 'इदं' से मिश्रित चैतन्य 'अहमिदम्' = सदाशिव ।

(३) फिर इदंप्रधान अहं का स्तर = 'इदमहम्' = ईश्वर ।

(४) शुद्ध विद्या = अहं + इदम् में साम्य ।

(५) अहं + इदम् पृथक्-पृथक् ।



चैतन्य के प्राचुर्य एवं उसके उत्तरोत्तर न्यूनत्व का रेखाचित्र क्र० १ से ५ तक ।

जगत् एवं जीव भी उसी अहंविमर्शस्वरूप आत्मा शिव का स्वेच्छापरिगृहीत एवं आत्मगोपनात्मक स्वरूप है । जगत् एवं जीव उसी 'अहं' के नाट्य के अभिनय हैं । पूर्णाहन्तास्वरूप शिव की चिन्मयी शक्ति का स्फुरण ही जगत् है । सम्पूर्ण स्पन्ददर्शन में चैतन्य, आत्मा एवं अहं तत्त्व ही सर्वव्याप्त हैं । तीनों अभिन्न भी हैं ।

चैतन्य के तारतम्य के अनुक्रम में ही सृष्टि का विकास भी हुआ है; यथा—शिवशक्ति, फिर सदाशिव, फिर ईश्वर, फिर शुद्ध विद्या और फिर आत्मतत्त्व (इकतीस तत्त्व) ।

स्पन्दशास्त्र में अन्य शास्त्रों की भाँति जड़ एवं चेतन को आधार बनाकर जगत् का वर्गीकरण एवं विकास नहीं किया गया; प्रत्युत चैतन्य एवं अहं के आधिक्य एवं न्यूनत्व को आधार बनाकर विश्व का विभाजन किया गया है ।

स्पन्दशास्त्र में स्पन्दतत्त्व का सर्वातिशायी महत्त्व है । स्पन्द सर्वरूप है, सर्वात्मक है, सर्वानुस्यूत है, नित्य है, अखण्ड है, परमशिव की स्वसमवेता निजा शक्ति है और कार्य एवं कारण के रूप में सर्वत्र व्याप्त है—

अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् । (स्पन्दकारिका)

स्पन्दशास्त्र विश्व का अविर्भाव एवं उसका विकास स्पन्द से मानता है । इसी की दो स्थितियाँ हैं—(१) सामान्य एवं (२) विशेष ।

सामान्य स्पन्द तो एकात्मक है; किन्तु विशेष अनन्तात्मक है । विश्व की परासत्ता में सहसा एक स्पन्द-सा उठता है; किन्तु इस स्पन्दन का उदय होने पर भी परासत्ता की निष्पन्दता में यत्किञ्चित् भी परिवर्तन नहीं होता, स्पन्दन का उदय होने पर भी परा सत्ता की निस्पन्दता ज्यों की त्यों बनी रहती है ।

यह स्पन्दन केवल एक बार ही उठता है; किन्तु उसकी गति कभी भी अवरुद्ध नहीं होती । इसका एक बार उठना एवं निरन्तर उठना एक ही बात है; क्योंकि सामान्य रूप से जो एक है, वही विशेष रूप से अनेक है । महाकाल का एक ही स्पन्दन काल के राज्य में अनन्त स्पन्दनों के रूप में फूट पड़ता है । यह निस्पन्द-स्पन्द युगलावस्था ही विश्वातीतावस्था है । इसकी भी एक अतीत अवस्था है, वही है—चरमावस्था । स्पन्द का उदय प्रणव का ही स्वोल्लास है । अर्थात् परब्रह्म सत्ता में शब्दब्रह्म का उन्मेष है । यह विशुद्ध सत्त्वमय 'महामाया' का उन्मेष है ।

स्वरूपस्थिति में चित् एवं सत् अविभक्त रहते हैं । महामाया और माया की अवस्था में सत् से चित् का पार्थक्य-सा हो जाता है । अविभक्त स्वरूप भावातीत, गुणातीत एवं निस्पन्द है ।

आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विश्व की उत्पत्ति एक भयानक आदि विस्फोट के स्पन्दन से हुई है और यह स्पन्दन अब भी गतिशील है और इसके कारण प्रथम स्फोट के समय से लेकर अद्यप्रभृति विश्व का विकास अविरत गति से चल रहा है; किन्तु वैज्ञानिक यह पता नहीं लगा सके कि इस स्पन्द का मूल क्या है? काश्मीर के स्पन्दशास्त्र में इसके मूल की विवेचना अवश्य हुई है । स्पन्दशास्त्र का मत है कि परमतत्त्व की चैतन्य शक्ति

का स्फुरण ही वह स्पन्द है। चेतनास्वरूप प्रकाश-विमर्शमय परमेश्वर के संकल्परूप उन्मेष से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है।

Big Bang theory भी यह बताती है कि विश्व अपनी अति सघनावस्था से विस्तार की ओर बढ़ने के प्रारम्भ में एक विश्वव्यापी महाविस्फोट से गुजरता है और उसके स्पन्दन से ही जगत् की सृष्टि होती है। यह महाविस्फोट तो केवल एक बार होता है; किन्तु उसका स्पन्दन विकास-प्रक्रिया को निरन्तर गतिशील रखता है। मूल स्पन्द (मूल स्फोट) अनन्त स्पन्दनों को जन्म देते हैं। स्पन्दशास्त्र भी मूल स्पन्द एवं अन्य स्पन्दों में अन्तर करते हुए कहता है कि मूल स्पन्द 'सामान्य स्पन्द' और व्यष्टिगत स्पन्दन 'विशेष स्पन्द' हैं—

अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥
गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्या परिपंथिनः ॥
अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥[1]

स्पन्दशास्त्र का वाचक 'शास्त्र' है और वाच्य 'स्पन्द' है—'वाचकं शास्त्रम्। स्पन्दाभिधोऽर्थोऽत्र वाच्यः'। यही वाचक-वाच्यसम्बन्ध है। परमशिव बहिर्मुख होने की इच्छा से किंचित् चलित होता है।[2] यह किंचित् चलन ही उसका आद्य प्रसार है। इसको ही 'स्पन्द' कहते हैं। इसे ही प्राण, ऊर्मि की भी संज्ञा दी गई है। परमशिवरूप परसंवित् का प्रथम स्पन्द स्फुरत्ता या प्रतिभा 'परावाक्' है और यही है—प्रमातृ-प्रमेयों का उद्भवकेन्द्र—

इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हत्प्रतिभा मता ॥ (तंत्रालोक)

स्पन्दन क्या है? स्पन्दन है—निस्तरङ्ग (निस्पन्द) परमशिव (परमात्मा) की निर्विकल्प सार्वत्रिक उन्मुखता—स्पन्दनात् स्पन्दः। स्पन्दनं च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पाया सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता।[3]

निस्तरङ्ग परमात्मा में जो एक साथ सर्व रूप से उन्मुख होने की योग्यता है, वही किंचित् चलन है—स्पन्द है। इस स्पन्द की एक विशेषता यह है कि स्पन्दशील परमात्मा में होने वाले स्पन्द द्वारा उसकी निर्विकल्पता भङ्ग नहीं होती।

स्पन्द शब्द का अर्थ होता है—किंचित् हिलना। निस्तरङ्ग (निस्पन्द) परमात्मा में एक साथ सर्व रूप से औन्मुख्य होना ही स्पन्द है। शुद्धात्मा, शंकर, शिव, स्वभाव, ज्ञाता एवं सामान्य—ये सभी शब्द स्पन्द के नामान्तर हैं—

स्पन्दः सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्मा शंकरः शिवः।
भावः स्वभावस्तत्त्वं च ज्ञातेत्याद्यभिधाः स्मृता ॥

---

१. स्पन्दकारिका (१४ एवं १९-२०)
२. उत्पलदेव : स्पन्दप्रदीपिका
३. स्पन्दप्रदीपिका

स्पन्द शक्तियों के स्वामी, चिद्रूप और आत्मबलस्वरूप है—

स चात्मबलशक्तीशश्चिद्रूपः स्पन्दसंज्ञकः ।

आचार्य उत्पल ने 'औन्मुख्य' को स्पन्द का पर्याय बताया है । औन्मुख्य क्या है? किसी के प्रति अभिमुख या उन्मुख होने का भाव या व्यापार ही उन्मुखता या औन्मुख्य है ।

औन्मुख्य

स्वात्मानन्द में विश्रान्त परमशिव का स्वातंत्र्य का स्वभाव (स्वरूप-परामर्शस्वरूप चमत्कार) जब अपने-आपको विश्वात्मभाव से उल्लसित करने हेतु अनुन्मुख होते हुए भी विश्व-रचना के प्रति उन्मुख के समान होता है तब उसकी वह अत्यन्त सूक्ष्म आकांक्षा की उन्मुखता ही 'औन्मुख्य' कही जाती है—

यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ।
विचित्ररचना नाना कार्यसृष्टिप्रवर्तने ।
भवत्युन्मुखिता चिंत्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः ॥

जिस प्रकार तरङ्गरहित एवं अत्यन्त शान्त जल के अतितरंगिता स्वरूप की ओर उन्मुख होने पर उसमें प्रथमतः एक अत्यन्त सूक्ष्म कम्प उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्वात्मविश्रान्त पूर्ण संवित् में विश्व-रचना के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र जागृत होता है । इस सुसूक्ष्म अभिलाषा का प्रयोजन चिदात्मा की आनन्दोच्छलित स्वभावक्रीडा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता । इसी सूक्ष्मतम अभिलाषा के आरम्भ को ही 'औन्मुख्य' कहते हैं—यथा जलस्य पूर्वं निस्तरङ्गस्यातितरंगितां गच्छतः सूक्ष्मः पूर्वः कम्पः औन्मुख्यरूपः दृश्यते, तथा बोधस्य स्वस्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यताया यः प्रथमो विकासः प्रवृत्त्यारम्भस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते ।[1]

औन्मुख्य इच्छा का प्रथम भाग है—'सा तुटिः' (उन्मुखिता) इच्छा प्रथमभागः ।' 'सा च (तुटिः) सूक्ष्मौन्मुख्यशक्तिरूपा ।'[2] 'तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या । तस्य हि योऽसौ उत्तरो भागः सेच्छा व्यवस्थिता ।'[3]

औन्मुख्य और आनन्दशक्ति में अन्तर

औन्मुख्य और आनन्द शक्ति भी तत्त्वतः अभिन्न हैं । इस अभिन्नता के बावजूद भिन्नता के कतिपय बिन्दु तो हैं ही । औन्मुख्य क्या है? विश्व-रचना के प्रति अभिलाषामात्र की रचना-योग्यता प्रथम विकास (प्रवृत्ति का आरम्भ) ही औन्मुख्य है । आनन्द शक्ति में प्रवृत्ति का आरम्भ (कर्मारम्भ) नहीं रहता; क्योंकि आनन्द शक्ति कर्म से अनवच्छिन्न रहती है; किन्तु औन्मुख्य अवच्छिन्न रहता है । अभिलाषामात्र की रचना योग्यता का प्रवृत्ति आरम्भ भी एक प्रकार का कर्म है और औन्मुख्य इस कर्म से अवच्छिन्न रहता है ।

आचार्य उत्पलदेव ने इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—कर्मावच्छिन्ना निर्वृत्तिरौन्मुख्यम्, अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत् ।'[4]

---

१. शिवदृष्टिवृत्ति (उत्पलदेवाचार्य)   २-४. शिवदृष्टिवृत्ति

औन्मुख्य का ही परवर्ती स्वरूप इच्छाशक्ति है ।

इच्छाशक्ति

औन्मुख्य का यह उत्तरवर्ती अंश, जो कि इच्छाशक्ति कहलाता है, परमात्मा का इच्छात्मक विमर्श है, विश्वचिकीर्षास्वरूप परामर्श है । विश्वात्मभाव से परमात्मा की उल्लसित होने की अभिलाषरूपता (बहिरुल्लिलासयिषा = बाहर व्यक्त होने की आकांक्षा) ही उसकी इच्छाशक्ति है । इसी इच्छाशक्ति से ही चिद्रूप परमेश्वर विभिन्न ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्मावभासन की इच्छा करता है । परमेश्वर शिव के स्वभाव (स्वातंत्र्य) स्वरूप 'आनन्द' के परामर्श का नाम ही इच्छाशक्ति है । अभिनव गुप्त ने परमेश्वर के स्वभाव, ऐश्वर्य, आनन्द के चमत्कार को ही इच्छाशक्ति कहा है—

(१) परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा ।[१]

(२) तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः ।[२]

इच्छाशक्ति सामान्य इच्छा नहीं है; प्रत्युत यह परमात्मा की स्वसमवेता (समवायिनी) शक्ति है—

सा ममेच्छा परा शक्तिः शक्तियुक्ता स्वभावजा ।[३]

इसका परमशिव से वही सम्बन्ध है, जो वह्नि का दाहकता के साथ या रश्मियो का मार्तण्ड के साथ है—

वह्नेरुष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव ।[४]

यह इच्छाशक्ति जगत् की समस्त कारण शक्तियों का भी महाकारण है । सर्वज्ञता आदि गुण एवं ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति आदि सभी का कारण भी यही इच्छाशक्ति है—

सर्वस्य जगतो वापि स्वा शक्तीः कारणात्मिका ।
सर्वज्ञादिगुणास्तत्र व्यक्ताव्यक्ताश्च संस्थिताः ।
सैवेच्छा ज्ञानरूपा च क्रियादिगुणविस्तृता ।।[५]

ज्ञानशक्ति

जब यह इच्छाशक्ति विकसित होकर विश्वस्वरूप कार्य को प्रकाशित करने की शक्ति बनती है तब इसकी संज्ञा ज्ञानशक्ति हो जाती है—'परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशमानशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः ।'

स्वतंत्र चिदात्मा अपने अन्तर्गत अपने प्रकाशस्वरूप आधार से अभिन्न दो ज्ञातृ-ज्ञेय स्वरूपों को अवभासित करता है, जो कि प्रकाशस्वरूप आधार से अभिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्नवत् प्रकाशित होते हैं । ज्ञातृ-ज्ञेय रूपों का अवभासन करके जो शक्ति ज्ञान कराती है, उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं—

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।।[६]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
२. तंत्रसार
३-५. नेत्रतन्त्र
६. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र

जगत् रूपी कार्य के प्रकाशन की शक्ति बनने पर इच्छाशक्ति ही ज्ञानशक्ति कहलाने लगती है—परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः ।[१]

चिदात्मा की इच्छाशक्ति (स्वातंत्र्य शक्ति) जब थोड़ा-सा वेद्योन्मुखी होती है तब वही ज्ञानशक्ति कही जाने लगती है—आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः ।[२] आमर्ष क्या है? 'आमर्ष ईषत्तया वेद्योन्मुखता' ।[३] सदाशिव ज्ञानशक्तिमान है ।[४]

आचार्य उत्पलदेव भी मानते है कि ज्ञानशक्ति में यत्किंचित् वेद्योन्मुखता होती है; क्योंकि आभासक्रम में सदाशिवतत्त्व ज्ञानशक्तिमय है । ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः ।[५]

ज्ञानशक्तिमय सदाशिव तत्त्व मे इदन्तारूप वेद्य की किंचित् (अस्फुटवत्) प्रतीति है—तत्र सदाशिवतत्त्वे इदंभावस्य ध्यामलता (अस्फुटता)।[६]

ज्ञानशक्ति के अनन्तर क्रियाशक्ति का विकास होता है—पशु में तो ज्ञान एवं क्रिया मे पूर्वापर सम्बन्ध है; किन्तु पशुपति में कोई क्रम नहीं है । वहाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया—तीनों एक साथ विद्यमान है । क्रियाशक्ति परमात्मा की अन्तिम (पाँचवीं) शक्ति है । इसका स्वरूप इस प्रकार है—चिद्वपुषः स्वतंत्रस्य विश्वात्मना कर्तुमिच्छैव जगत्प्रति कारणता कर्तृतारूपा सैव क्रियाशक्तिः । एवं चिद्रूपस्यैकस्य कर्तुरिव चिकीर्षाख्या क्रिया मुख्या ।[७]

अर्थात् चिदात्मा एवं सर्वस्वतन्त्र विश्वात्मा के द्वारा जगत् के प्रति सृष्टि करने की आकांक्षा-रूप कारणता, जो कि कर्तृस्वरूप है, क्रियाशक्ति कहलाती है । चिद्रूप परमशिव में सृष्टि करने की इच्छा ही मुख्य शक्ति एवं मुख्य व्यापार है ।

भगवान् शिव 'नेत्रतन्त्र' में कहते हैं कि मेरी निजी शक्ति तो 'स्वातंत्र्य शक्ति' है; किन्तु यह इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति अर्थात् शक्तित्रय से भी युक्त है—

(१) मम शक्तिः स्वातंत्र्यरूपा इच्छादित्रयात्मोच्यते ।

अर्थात् 'स्वातंत्र्य शक्ति' त्रयात्मा है और ये इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियाँ 'अनुत्तम नेत्रामृत' कहलाती हैं—इच्छाज्ञानक्रियारूपं नेत्रामृतमनुत्तमम् ।

क्रियाशक्ति क्या है? भगवान् शिव उसके स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि—

ज्ञानादिषड्गुणा ये ते तत्रस्थाः प्रभवन्ति हि ।
सा वै महाक्रियारूपा संस्थितैका क्रिया मता ।।
अणिमादिगुणानष्टौ करोति विकरोति सा ।
एवं ममेच्छा ज्ञानाख्या क्रियाख्या शक्तिरुच्यते ।।[८]

क्रियाशक्ति

इच्छाशक्ति ही उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभाव की होने के कारण क्रियाशक्ति बन जाती है—इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरं उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपयन्ती भवति ।[९]

---

१. शिवदृष्टिवृत्ति
२-३. तन्त्रसार
४-५. शिवदृष्टिवृत्ति
६. भास्करी
७. प्र० का० वृत्ति
८. नेत्रतन्त्र
९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप में जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मकभाव से नानात्मक वस्तुओं का भेदावभासन करता है, उस 'भासना शक्ति' की ही संज्ञा क्रियाशक्ति है—

भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते ।
यया विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते ॥[१]

क्रियाशक्ति उस चिन्तामणि के समान है, जो परमेश्वर की यथाकाम सृष्टि हेतु आकांक्ष्य पदार्थों को (अनन्त आभासरूपों में) अपने भीतर प्रकाशित करती है—सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।[२] समस्त विश्वस्फार (जगदाकार परिणति, विश्वाकार विस्तार) क्रियाशक्ति का ही स्वरूप है—क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः ।[३]

इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति : अन्तःसम्बन्ध

वैसे तो परमेश्वर परमशिव की पाँच शक्तियाँ है—

(१) तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ।

(२) स्वातंत्र्यम् आनन्दशक्तिः ।

(३) तच्चमत्कारः ज्ञानशक्तिः ।

(४) आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः ।

(५) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।[४]

ज्ञानशक्ति = ब्रह्मा । क्रियाशक्ति = जनार्दन । इच्छाशक्ति = रुद्र ।

ज्ञानशक्तिः स्मृतो ब्रह्मा क्रियाशक्तिर्जनार्दनः ।
इच्छाशक्तिः परो रुद्रः स शिवः परिगीयते ॥—(स्वच्छन्दतन्त्र)

परमात्मा सर्वशक्ति-खचित होने पर भी केवल पाँच शक्तियों से समवेत माना जाता है—निरतिशय स्वातंत्र्यसीमनि प्रगल्भमानः सर्वशक्तिखचित एक एव अस्ति संविदात्मा महेश्वरः । ....इत्थं सर्वशक्तियोगोऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते ।[५]

यद्यपि परमशिव पाँच शक्तियों से समन्वित है तथापि विश्वाभासन में उनकी तीन शक्तियाँ ही मुख्य भूमिका निभाती हैं । ये तीनों शक्तियाँ क्या हैं? ये हैं—(१) इच्छाशक्ति (२) ज्ञानशक्ति (३) क्रियाशक्ति । जहाँ तक चित् शक्ति (प्रकाश) एवं आनन्दशक्ति (विमर्श) का प्रश्न है, वे तो परमशिव के पूर्णस्वभाव के ही दो नाम हैं ।

विमर्श (स्वातंत्र्य) का प्रकाश (स्वरूपपरामर्श) ही शिव की चिकीर्षास्वरूपा इच्छाशक्ति है । यह इच्छा ही विश्वाभास में उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभावता से ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति बन जाती है—इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरं उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्ती भवति ।[६]

स्वच्छन्दतन्त्र की टीका (उद्योत) में क्षेमराज कहते हैं—एक स्वातंत्र्यरूपा इच्छाशक्ति ही जगदाभासक्रम में तर-तमभाव से ज्ञान एवं क्रियाशक्ति कहलाती है—एकस्या अपि इच्छायाः सूक्ष्मरूपज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिसंभेदेन त्रित्वात् ।

---

१. मालिनीविजयवार्तिक
२. तन्त्रसार
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
४-५. जन्ममरणविचार (भट्टवामदेव)
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

इच्छारूपा स्वातंत्र्य शक्ति शिव का शिवत्व है और जो शक्ति (शिवत्व) है, वही शिव है। परमशिव ही परमार्थ सत्ता है; क्योंकि जो जगत् है, वह तो उसकी 'शक्ति' के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नही—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

एक परमशिव ही अपनी परमार्थ सत्ता एवं अद्वयता (अद्वैतस्वरूप) मे सर्वत्र प्रसृत है। शक्ति एवं शिव में तो अग्नि एवं दाहकता का सम्बन्ध है—

तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव । (बोधपञ्चदशिका)

सोमानन्दपाद ने शिवदृष्टि में कहा है कि एक अद्वैत तत्त्व (परमशिव) ही अनेक भावों एवं शक्तियों के रूप में अपने को व्यक्त करता हुआ भी तत्त्वतः अभेद रूप में ही सर्वाकारों एवं सर्वास्तित्वों में विलसित हो रहा है—

तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा ॥

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन की यह मान्यता है कि चिति शक्ति ही परम तत्त्व है। जो चिति शक्ति है, वह स्वरूपतः निस्पन्द है और परशब्द या परावाक् से अभिन्न है। जब वह गतिशील होती है तब सर्वप्रथम सामान्य स्पन्द के रूप में और बाद में विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्पष्टतः उच्चरित शब्द के रूप में ।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी शब्द-वृत्तियाँ निर्दिष्ट किये जाने पर यही ध्वनित होता है कि—

(१) आरम्भ में चित् स्वरूप निस्पन्द शक्ति के रूप में स्थित रहता है और बाद में क्रमशः—

(२) सामान्य स्पन्द के रूप में और उसके अनन्तर

(३) विशेष स्पन्द के रूप में तथा अन्त में

(४) स्थूलतः स्पष्ट उच्चरित शब्दों के रूप में व्यक्त होता है ।

(५) चित् या चैतन्य तत्त्व शक्ति के रूप में आन्दोलित होकर शब्द एवं अर्थ के रूप में व्यक्त होता है ।

चित् शक्ति ही परावाक् है । वाग्व्यवहार के स्थूल शब्द 'मातृका' (सूक्ष्म शब्द) से उत्पन्न होते हैं । मातृकायें ही बीज हैं ।

सृष्टि क्यों हुई? यदि परमात्मा ने की तो उसको इसकी आवश्यकता क्या थी? यदि आवश्यकता थी तो स्पष्ट है कि किसी अभाव के कारण किसी चीज की आश्यकता पड़ी । यदि यह सत्य है तो क्या पूर्णतम को भी अभाव की अनुभूति होती है? यदि (उसे) होती है तो वह पूर्ण कैसे? फिर उसमें और जीव में अन्तर ही क्या रहा? ये सारे प्रश्न तो अनुत्तरित ही हैं; फिर भी यह तो सत्य ही है कि सृष्टि का आरम्भ परमात्मा की कामना या इच्छा से हुआ ।

ब्रह्म ने कामना की—'मैं एक से बहुत हो जाऊँ'—'एकोऽहं बहुस्याम्' । ब्रह्म की एक से बहुत होने की यह इच्छा ही प्रथम स्पन्द है ।

(१) एकोऽहं ('मैं एक हूँ' का ज्ञान) = ज्ञान ।

(२) बहुस्याम (एक से बहुत हो जाऊँ) = इच्छा ।

(३) बहुस्याम् (बहुत होने की इच्छा ने 'क्रिया' का रूप धारण किया) = क्रिया ।

ज्ञान (एक होने का ज्ञान) से इच्छा (बहुत होने की इच्छा) हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण कर लिया ।

(क) विश्व का प्रथम ज्ञान क्या है? एकोऽहं

(ख) विश्व की प्रथम इच्छा क्या है? बहुस्याम्

इसी प्रकार ज्ञान, इच्छा, क्रिया क्रम प्रारम्भ हो गया । समस्त विश्व इसी ज्ञान, इच्छा, क्रिया की त्रिपुटी में त्रिपुटीकृत है । शाक्तागम कहता है कि त्रिपुटीकरण करने वाली इस शक्ति का नाम ही है—त्रिपुरा । ब्रह्म में ज्यों ही इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ । वह सगुण हो गया । सृष्टि का हेतु यही सगुण ब्रह्म है । शैव आगम इस ब्रह्म को अपर शिव एवं वेदान्त इसे अपर ब्रह्म कहता है । चूँकि यहीं प्रथम कला का आविर्भाव होता है; अतः शैवागम इसे सकल परमात्मा कहता है । कहा गया है—आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद् बिन्दुसमुद्भवः । किन्तु यह शक्ति है किसकी? सकल परमेश्वर की—सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।

सगुण ब्रह्म या सकल परमेश्वर में जो इच्छा हुई, वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (Vibration) है । उपनिषदों में इसे एजन कहा गया है । शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्त स्वरूप है ।

(१) ब्रह्म की यह इच्छा ही नाद है (यह श्रुतिगम्य है) । इच्छा ही नाद है । क्रिया ही बिन्दु है ।

(२) सच्चिदानन्द विभव शिव 'सकल परमेश्वर' (सगुण ब्रह्म) के रूप में प्रकट हुए ।

(३) सकल परमेश्वर की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ ।

(४) नाद से बिन्दु उत्पन्न हुआ ।

प्रथम स्पन्द नाद के रूप में हुआ । नाद ही गति है । बिन्दु स्थिति है । गति और स्थिति की लीला या प्रसार ही विश्व है । गतिस्वरूप नाद सृजन (सृष्टि) के लिए अत्यावश्यक है । नाद के रूप में ओंकार प्रथम नाद एवं विश्वारम्भ है ।

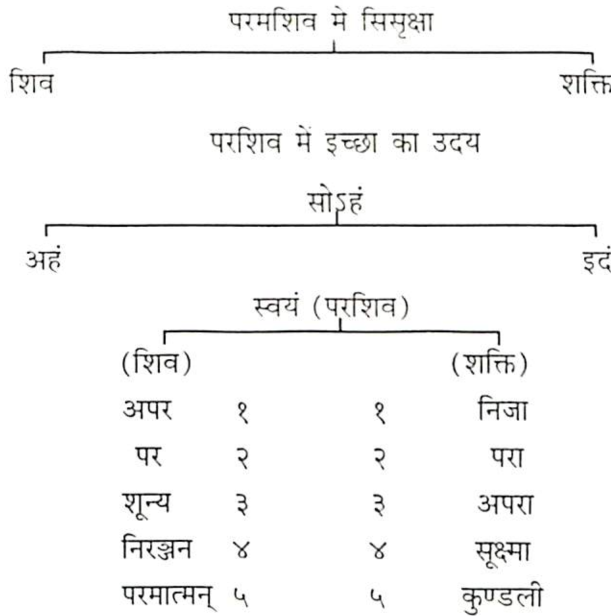
प्रथम स्पन्द कभी प्राचीन नहीं हुआ; वह अब भी अनादि काल से प्रतिक्षण स्पन्दित हो रहा है । समस्त सृष्टि इसी प्रथम स्पन्दस्वरूप ओंकार से हुई, प्रथम नाद से विश्वारम्भ हुआ ।

(१) ज्ञानशक्ति = बीज ।

(२) इच्छाशक्ति = नाद ।

(३) क्रियाशक्ति = बिन्दु ।

परमशिव को जब भी सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होते ही वे सगुण शिव कहलाने लगते हैं । यह इच्छा (सिसृक्षा) ही शक्ति है ।



हठयोगप्रदीपिका में बताया गया है कि जो कुछ नाद के रूप में श्रुतिगोचर होता है, वही शक्ति है । सूक्ष्म शब्द या नाद ब्रह्म की इच्छा का रूप है । बीज ज्ञान का एवं बिन्दु क्रिया का रूप है । निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त है । उपाधियुक्त चैतन्य से सोपाधि शक्ति उत्पन्न होती है । इन दोनों के संयोग मे जगत् में जो विक्षोभ उत्पन्न होता है, वही नाद है । इस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही बिन्दु है । ये विश्व व्याप्त (विशेषता-हीन) नाद-बिन्दु अर्थात् परनाद एवं परबिन्दु या परम नाद या परम बिन्दु हैं । इन्हीं से अपर (वैशिष्ट्ययुक्त) नाद, बीज एवं बिन्दु उत्पन्न होते हैं, जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं अर्थात्—

(१) अपर नाद इच्छा है ।

(२) बीज ज्ञान है ।

(३) अपर बिन्दु क्रिया है ।

इन्हीं से (रुद्र, ब्रह्मा एवं विष्णुरूप) त्रिदेवों का जन्म होता है ।

महाबिन्दु के विस्फोट के पूर्व परा नामक अवस्था होती है । मूलाधारस्थ कुण्डलिनी में यह शब्द स्थित है । जब यह गतिशील होता है तब उसमें ऐसा स्पन्दन होता है, जो किसी विशेष अर्थ का सूचक नहीं है । इस सामान्य स्पन्द को पश्यन्ती कहते हैं और इसका स्थान मूलाधार चक्र से मणिपूर चक्र तक है । यहीं इसका मन से संयोग हुआ करता है ।

ये दोनों अवस्थायें शब्दब्रह्म के ईश्वररूप की अवस्थायें हैं। प्राचीन वैयाकरण परा वाक् का शब्द के प्रकार के रूप में उल्लेख नहीं करते; क्योंकि उसमें स्पन्द या गति नहीं है; अत: पश्यन्ती ही प्रथम शब्द है और वह आत्मा है—शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपमात्मतत्त्वमिति वैयाकरणा: ।[१]

जो सामान्य स्पन्द के रूप में उठकर विशिष्ट अर्थ के प्रकटीकरण के लिए प्रवृत्त होती है, वह सामान्य स्पन्दरूपा पश्यन्ती वाणी नि:स्पन्द (गतिहीन) परावाक् से उत्पन्न होती है।

स्पन्दशास्त्र में स्वभावरूपा स्वातंत्र्य शक्ति का नाम ही स्पन्द है—'एष एव च विमर्श: चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातंत्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरता, स्पन्द: इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते ।'[२]

यह स्पन्द अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्न समरस भाव से रहने वाली एक चञ्चलता जैसी कोई उमङ्ग है, जिसे परमेश्वर के प्रकाशरूप की विमर्शात्मकता, विमर्शरूपता कहा गया है—श्रीभगवत: स्वातंत्र्यशक्ति: किंचिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।[३]

शान्त समुद्र में पवनाघात से उठने वाली तरङ्ग की भाँति परमशिव के इस स्पन्द को क्षोभ नहीं समझना चाहिए; क्योंकि जहाँ सर्वत्र परमशिव ही परमशिव है और उससे भिन्न कुछ भी नहीं, वहाँ क्षोभक भी कौन हो सकता है और फिर क्षोभ का मूल कारण तो अपने से भिन्न विषयों की इच्छा होती है। स्वात्मानन्द में सतत निमग्न रहता हुआ परमशिव आनन्दातिशय से स्पन्दमान (छलकता हुआ-सा) रहता है और उसका आनन्द स्पन्दन (छलकना) ही जगत् बन जाता है—स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशति रूपमामृशन् यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ।[४]

जब तक परमशिव की स्वातंत्र्य शक्ति क्रियाशील रहती है तब तक आत्मा का 'सामान्य स्पन्द' अक्षुण रहता है; किन्तु उसका अवलम्बन ग्रहण करके अनन्त विशेष स्पन्दों का आविर्भाव होता है। विश्व के बाहर और उसके भीतर हम जो कोई भी सत्ता या भावरूप पदार्थ देखते हैं, वह सब कुछ सामान्य स्पन्द से आविर्भूत विशेष स्पन्द की परिणति है।

स्पन्दद्वय का स्वरूप

सामान्य स्पन्द	विशेष स्पन्द
(यह विशुद्ध अहं रूप में स्फुरित होता है)	(यह विशुद्ध इदं रूप में स्फुरित होता है)

विशेष स्पन्द में जो इदं का स्फुरण होता है, वह किसके समीप होता है? क्या सामान्य स्पन्दात्मक पूर्ण अहं के समीप स्फुरित होता है? नहीं। यह सम्भव ही नहीं है। कारण सुस्पष्ट है कि उस पूर्णाहन्ता (पूर्ण अहं) से इदंभाव का कोई सम्बन्ध रहता ही नहीं। वह

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
२. पराप्रावेशिका
३. स्पन्दनिर्णय
४. शिवस्तोत्रावली १३ स्तो० १५

पूर्ण अहंस्वरूप एवं अपरिच्छिन्न हैं । उसका प्रतियोगी बनकर इदं की वहीं स्थिति सम्भव ही नही है । सामान्य स्पन्द एवं पूर्णाहन्ता की स्थिति तो वह भूमि हैं, जिसमे वह अद्वैत है—एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा?

इस परावस्था में दूसरे के लिए कोई स्थान नहीं है । उस पूर्ण अहं (पूर्णाहन्ता) के समीप (उससे पृथक्) किसी विश्व की सत्ता सम्भव ही नहीं है । निष्कर्ष यह कि यह 'इदं' उस 'पूर्णाहन्ता' (पूर्णतम अहं) के निकट रह ही नही सकता, अत: इस स्तर पर जगत् के रूप में कुछ भी विद्यमान नहीं रहता ।

यही यह इदं परिच्छिन्न अहं (अपूर्ण अहं) के निकट ही प्रकट होता है । यह परिच्छिन्न अहं ही जीव, पशु, क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा, सकल एवं पशु आदि कहा जाता है ।

अपरिच्छिन्न अहंरूप पूर्णाहन्ता (पूर्णतम अहं) और परिच्छिन्न अहं (अपूर्ण अहं = जीव) तात्त्विक दृष्टि से तो अभिन्न ही हैं तथापि अपनी पूर्णता के तारतम्य में भिन्नता भी है । यह परिच्छिन्न (अपूर्ण) अहं संकोच से ग्रस्त है; जबकि पूर्ण अहंस्वरूप परमात्मा में संकोच नहीं है ।

परमात्मा स्वयमेव लीलावश (सृष्टिहेतु) संकोच को स्वेच्छया ग्रहण करके जीवरूप में अभिनय करने लगता है । जब तक उसे अपने अभिनेता स्वरूप का स्मरण रहता है तब तक तो वह शिव ही रहता है; किन्तु जैसे ही वह अभिनेय पात्र एवं अभिनेय कथावस्तु (Plot) को अपने से अभिन्न मानने लगता है, वैसे ही उसकी यह विस्मृति उसे पशुपति से पशु बना देती है, परमात्मा से जीव बना देती है ।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी में जीव ज्ञाता (प्रमाता) है । ज्ञाता तो जीव है । ज्ञेय जगत् है । परमेश्वर ही अपने को परिच्छिन्न करके जीवात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेता है । परमात्मा की ही शक्तियों में ज्ञान और ज्ञेय दो शक्तियाँ अन्तर्भुक्त हैं । ये परमात्मा की पराशक्ति के दो रूप हैं । इसमें एक है—ज्ञानशक्ति एवं दूसरी शक्ति है—क्रियाशक्ति ।

जब तक जीवात्मा के साथ परिच्छिन्न (संकुचित = अपूर्ण) अहं है तब तक तो ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति दोनों उसके साथ-साथ ही रहा करती हैं; किन्तु इस परिच्छिन्न अहं वाले मितात्मा (जीव) का जैसे ही शरीराभिमान विगलित हो जाता है, वैसे ही ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति एकरूप होकर पराशक्ति में रूपान्तरित हो जाती हैं । यही है—ज्ञान या योग की उन्मेषावस्था । स्पन्दवादी शाक्तयोगियों की यही दृष्टि है ।

शुद्धाहन्ता का यह उन्मेष ही सामान्य स्पन्द का स्फुरण है । शुद्ध विद्या का उदय एवं अहन्ता का उन्मेष परमशिव की पूर्णतम या पारमार्थिक स्थिति का प्रकाशन है ।

जब एक बार यह स्फुरण प्रारम्भ हो जाता है तब फिर यह कभी निवृत्त नहीं होता । सुषुप्ति कौन-सी अवस्था है? स्पन्दहीन अवस्था । तुरीयावस्था ही चैतन्यावस्था है ।

स्पन्द की साधना—शक्तिपात होने पर तो किसी भी स्तर (भूमि) से स्पन्द-साधना का आरम्भ किया जा सकता है ।

शुद्धाहन्ता का उदय होने पर भी (अर्थात् सामान्य स्पन्द की गवेषणा कर लेने पर भी) सामान्यतया साधक इसे स्थायी रूप से ग्रहण नहीं कर पाता, स्थायी रूप से इसे पकड़ कर रख नहीं सकता । जब तक मन उसमें संलीन नहीं रहता, अपनी बहिर्मुख क्रियाओं में दौड़ता रहता है, तब तक वह इसे पकड़ कर रख नहीं पाता । अतः मन को पुनः पुनः इसमें लगाना पड़ता है । सत्यता तो यह है कि यदि मन उस स्पन्द में लग भी जाए तो एक-दो क्षणों तक ही उसका स्पर्श कर पाता है, अधिक समय तक नहीं । कारण स्पष्ट है; सामान्य स्पन्द अशुद्ध मन को विकर्षित करता है, मन लगातार विशेष स्पन्द की ओर ही भागता रहता है । विशेष स्पन्दों की ओर मन का आकर्षण उसका स्वभाव है और इसी कारण वह बहिर्मुख भी है । योगी का कर्तव्य है कि इदन्ता की दिशा में भागने वाले इस मन को बार-बार पकड़ कर शुद्धाहन्ता (सामान्य स्पन्द) की ओर इसे चलने की ओर प्रेरित करे और उसमें बार-बार लगाये । ऐसा बार-बार करने पर मन सामान्य स्पन्द के प्रति आकृष्ट होने लगेगा । यद्यपि वह पुनः विकर्षित होगा और भागेगा; किन्तु योगी को चाहिए; वह उसे बार-बार सामान्य स्पन्द के सन्निकट लाये । उसमें लीन करने का प्रयास करे । मन बार-बार सामान्य स्पन्द के निकट जाते-जाते स्वयं सामान्य स्पन्द बन जाता है । साधक के मन की इसी स्थिति को उन्मनी अवस्था कहते हैं ।

एक बार सामान्य स्पन्द में लय हो जाने पर मन फिर बहिर्मुख नहीं होता; क्योंकि इस स्थिति में मन की निवृत्ति तो हो ही जाती है; साथ ही सारे विषय चिन्मय हो जाते हैं। इस स्थिति में समस्त जगत् अपना एक विराट् अहं ही प्रतीत होता है । यही है— भगवत्ता का प्रकाश, पूर्णाहन्ता, विराट अहं की अवस्था या सुप्रबुद्ध अवस्था । शाक्तों की साधना का लक्ष्य प्रबुद्ध से सुप्रबुद्ध की अवस्था की सम्प्राप्ति ही है ।

साधना का क्रम—(१) भगवान् का अनुग्रह (शक्तिपात) → प्रबुद्ध अवस्था की प्राप्ति→ सुप्रबुद्ध अवस्था की प्राप्ति । यही स्थिति परमशिव की प्राप्ति एवं शाक्त साधना की जीवन्मुक्ति है ।

प्रबुद्धावस्था से सुप्रबुद्धावस्था-प्राप्त्यर्थ प्रत्येक क्षण प्रबुद्धावस्था की रक्षा करते रहना चाहिए—प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत् ।

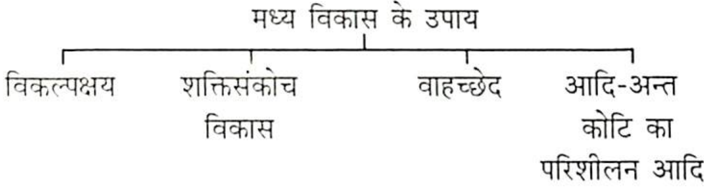
'निमीलन समाधि' प्रबुद्धावस्था को उन्मिषित करती है तथा 'उन्मीलन समाधि' प्रबुद्ध से सुप्रबुद्ध की अवस्था प्राप्त कराती है । परा शक्ति से अभिन्न हो जाने पर जो पूर्णावस्था उदित होती है, उसमें शिव-शक्ति का सामरस्य आत्मा के विश्वातीत होने पर भी विश्वमय होना और पूर्णाहन्ता का मणिकाञ्चन योग रहता है ।

मध्य विकास (सुषुम्णा का विकास) द्वारा चिदानन्दलाभ ही समावेश, समापत्ति एवं समाधि कहा जाता है । अन्तर्मुखत्व और व्युत्थान—दोनों अवस्थाओं में जब चिदैक्य का विमर्श होता है तब इसे नित्योदित समाधि कहा जाता है ।

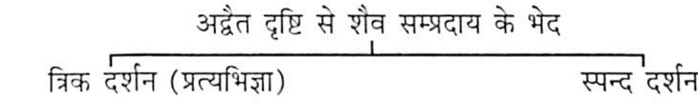
समाधिस्थ योगी व्युत्थानावस्था में समाधिरस के संस्कार से आनन्दविभोर होकर जब समग्र विश्ववैचित्र्य को शारद मेघखण्ड के सदृश चिद्गगन में विलीन होते हुए देखता है तो इसी को 'उन्मीलन समाधि' कहते हैं । जब वह अन्तर्मुखत्व का आश्रय ग्रहण करके चिदैक्य

की अनुभूति करता है तब इस अवस्था को 'निमीलन समाधि' कहा जाता है । दोनों का बोध 'नित्योदित समाधि' द्वारा होता है ।

जब निरोध के बाद व्युत्थान होता ही नहीं, तो इसे ही प्रत्यभिज्ञाहृदय में 'नित्योदित समाधि' कहते हैं । इस अवस्था में व्युत्थान होने पर भी समाधि का एकरसभाव कभी छूटता नहीं । दश बोधिसत्व भूमियों की स्थिति में यही दशम या अन्तिम भूमि है । प्राचीन बौद्धों ने इसे 'संज्ञा संवेदना निरोध' कहा था । 'अस्पर्शयोग' भी इसी के समतुल्य है ।

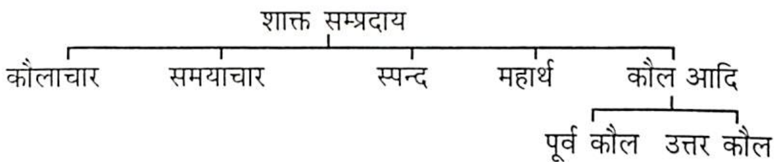


अद्वैत दृष्टि से शैव सम्प्रदाय के अनेक भेद हैं ।



शाक्तों में 'कौल' भी अद्वैतवादी थे ।

अद्वैतमत से शक्ति के प्राधान्यमूल में विभिन्न सम्प्रदाय हैं; यथा—(१) स्पन्द (२) महार्थ (३) क्रम आदि । प्राचीनकाल में शाक्तों में समयाचार एवं कौलाचार दो सम्प्रदाय थे ।



उत्तर कौलों का कथन है कि शक्ति का ही सदैव प्राधान्य रहता है और शक्ति कभी शेष नहीं होती । शिव तत्त्वरूप में बदलते रहते हैं; किन्तु शक्ति सदैव तत्त्वातीत रहती है । शक्ति जब समस्त कार्यात्मक विश्व को अपने में लीन कर लेती है तब उसका नाम पड़ जाता है—कारण । इसी कारण का नाम है—आधारकुण्डलिनी । कौल मत की चर्चा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है । यह कहा गया है कि तपस्या, मन्त्रसाधना आदि साधनों द्वारा चित्त के शुद्ध होने पर ही 'कौल ज्ञान' धारण करने की पात्रता प्राप्त होती है; अन्यथा नहीं । 'सेतुबन्ध' नामक (भास्करराय की) टीका में कहा गया है कि—

पुराकृत तपोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः ।
शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः ।
अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते ॥

आचार्य क्षेमराज ने भी इस श्रेष्ठता से सम्बद्ध मत को उद्धृत किया है, जो निम्नांकित है—

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात् परतः कौलं कौलात् परतरं न हि ॥

अर्थात् (१) वेदाचार से शैवाचार (२) शैवाचार से वामाचार (३) वामाचार से दक्षिणाचार (४) दक्षिणाचार से कौलाचार श्रेष्ठतर है ।

सनत्कुमारसंहिता एवं शुभागम के अन्य ग्रन्थों में 'कौलज्ञान' की निन्दा की गई है ।

शाक्त अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक एवं अभिन्न है । आत्मा ही शिव एवं आत्मा ही परमशिव है । परमात्मा या भगवत् तत्त्व भी आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

आत्मा की दो स्थितियाँ

स्वातंत्र्यशक्ति-समन्वित	स्वातंत्र्यहीन
(परमशिवस्वरूप)	चिदात्मक एवं प्रकाशात्मक
	(प्रकाशस्वरूप शिव)

स्वातंत्र्य शक्ति क्या है? यह है—परावाक्, पूर्णाहन्ता, परम ऐश्वर्य । स्पन्दमत की मान्यता है कि आत्मा परम स्थिति में शक्तिशून्य रह ही नहीं सकती । यह शक्ति ही स्पन्द है अर्थात् शक्ति का दूसरा नाम ही स्पन्द है ।

स्पन्द के प्रकार

सामान्य स्पन्द	विशेष स्पन्द
(सामान्य शक्ति)	(विशेष शक्ति)
↓	
विशेष स्पन्द	

आत्मा के स्वातंत्र्य के उल्लास से ही विशेष स्पन्दों का आविर्भाव होता है ।

विश्वसृष्टि विशेष शक्ति के उद्भव एवं उसकी क्रिया का ही परिणाम है । इस विशेष शक्ति के पीछे स्वातंत्र्य शक्ति ही क्रिया करती है ।

स्पन्दशास्त्र काश्मीरीय शैव दर्शन का साधनापक्ष है । इक्यावन स्पन्दकारिकाओं को तीन निष्यन्दों में वर्गीकृत किया गया है, जिसके नाम निम्नांकित हैं—

(१) स्वरूप स्पन्द	२५ कारिका
(२) सहज विद्योदय स्पन्द	०७ कारिका
(३) विभूति स्पन्द	१९ कारिका
	५१

क्षेमराज ने इन ५१ कारिकाओं में निबद्ध सिद्धान्तों को 'स्पन्दशास्त्र' कहा है । स्पन्दशास्त्र में स्पन्द की विद्यमानता इस प्रकार व्यक्त की गई है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥[१]

जगत् में भी अनेक वैचित्र्यों के योग में भी स्वस्वरूप से स्खलित न होता हुआ गम्भीर व्यक्ति स्पन्दवान कहलाता है—

लोकेऽपि विविधवैचित्र्ययोगेऽपि स्वरूपात् ।
अचलन् जनो गम्भीरः स्पन्दवान् इति उच्यते ॥[२]

स्पन्दशक्ति का स्वभाव किंचित् चलन है । शैवशास्त्रों में किंचित् चलन शब्द का अर्थ स्वतंत्र रूप में स्फुरित होना है । 'संवित्' स्फुरणा के बिना रह ही नहीं सकता । स्पन्द या स्फुरणा संवित् समुद्र की तरङ्ग है । 'स्पन्द' तथा 'संवित्' एक ही अभिन्न ज्ञान-क्रियामयी सत्ता है । 'संवित् शक्ति' का संवित्त्व यही है कि वह विमर्शमयी या सतत स्पन्दमयी होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का स्वतंत्र 'अहं' रूप में विमर्श कर सकती है । 'स्पन्दशक्ति' एक महान् सत्ता होने के कारण प्रत्येक क्रिया करने में स्वतंत्र है ।

स्पन्दशक्ति के दो प्रकार हैं—(१) सामान्य स्पन्द (२) विशेष स्पन्द ।

स्पन्द का सामान्य पक्ष अनेकाकारता में एकाकारता है और स्पन्द का विशेष पक्ष एकाकारता में अनेकाकारता है । सामान्य स्पन्द विश्वात्मक सूक्ष्म चेतना है और यह सूक्ष्म चेतना विश्व के अनेक (अनन्त) रूपों में भी एक ही सामान्य रूप में व्याप्त है । विशेष रूप विश्व के अनेक एवं विचित्र नाम-रूपात्मक प्रमेय पदार्थों का रूप है और इस रूप में भेद की ही प्रधानता होने के परिणामस्वरूप एक होते हुए भी विशेष रूपों में (अनेकाकारों में) प्रवहमान है ।

स्पन्दशक्ति की अन्तर्मुखस्पन्द एवं बहिर्मुखस्पन्द द्विमुखी गतिमयता है । यह भी एक ही समय चलती है । शंकर स्तर पर भी उस विश्वस्पन्द में यह समस्त इदंस्वरूप (संकुचित प्रमाता) प्रमेय एवं प्रमाणों से आपूरित कार्यजगत् अनादि काल से अहंस्वरूपात्मक एकाकारता में अवस्थित है । अहंपरामर्श में (स्वातंत्र्य के कारण) इदन्ता का परामर्श उदित हो जाता है ।

स्पन्दशक्ति का स्वरूप पूर्ण अहंविमर्श है । यह अहंविमर्श ही वह मौलिक स्फुरणा है, जिससे वह एक ही शक्ति अनन्त रूपों में स्फुरित होकर विश्व के अनन्त और विचित्र रूपों में अवभासित है । नित्य स्फुरणशील होने के कारण ही इसकी आख्या है—स्पन्दशक्ति । 'स्पन्द' शब्द स्पदि धातु से निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ है—किंचित् चलन अर्थात् सूक्ष्म अहंविमर्शात्मक स्फुरणा । 'स्पन्द' कम्पन या सिहरन (Vibration) है; किन्तु भौतिक अर्थों में नहीं । यह अहंविमर्शात्मक स्पन्द है । वात्याचक्र द्वारा आन्दोलित वृक्ष का हिलना नहीं है । स्पन्द है—भगवान् की बाह्य विश्वात्मक रूप में स्वतंत्र शक्तिप्रसार की ओर संकल्पात्मक उन्मुखतामात्र । स्पन्द शक्ति है—उच्छलनात्मक—स्वात्मन्युच्छलनात्मकः । (तं० ४.१८३)

---

१. स्पन्दकारिका (२२)   २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

आत्मविषयक दृष्टि—आचार्य क्षेमराज ने कहा है कि चार्वाक, जैनी, बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, वैष्णव, सांख्य एवं योग के दार्शनिक आचार्य, वैयाकरण, पाञ्चरात्रमतानुयायी, वेदवेत्ता, माध्यमिक, बौद्ध, तांत्रिक, नेत्रकौल आदि सारे दार्शनिक एवं उनका दर्शन आत्मा के तात्त्विक स्वभाव एवं उसके सत्स्वरूप के विषय में भ्रान्त हैं। आत्मा के विषय में केवल त्रिकदृष्टि ही तात्त्विक एवं यथार्थ है। प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्दशास्त्र की आत्मदृष्टि निम्नानुसार है—

(१) निषेधात्मक दृष्टि–

(१) चार्वाक आदि दर्शनों के सिद्धान्त में इस 'आत्मा' की नट के समान स्वेच्छा गृहीत भूमिकायें हैं।[१] ये भूमिकायें उसका यथार्थ तात्त्विक एवं पारमार्थिक स्वरूप नहीं है।[२]

(२) चार्वाक तो कहते हैं कि चैतन्यविशिष्ट शरीर ही 'आत्मा' है।[३] किन्तु यह दृष्टि भी औचित्यपूर्ण नहीं है।

(३) नैयायिक आदि दार्शनिक संसारदशा में ज्ञानादि गुणगणों के आश्रयस्वरूप 'बुद्धितत्त्व' को ही आत्मा मानते हैं और मोक्ष की दशा में उस बुद्धि तत्त्वात्मक आत्मा के उच्छिन्न हो जाने पर उसे शून्यप्राय मानते हैं।[४] किन्तु यह आत्मा एवं मोक्ष का स्वरूप है नहीं।

(४) मीमांसकों का कथन है कि जो 'अहं' की प्रतीति द्वारा ज्ञेय तथा सुख-दुःखादि उपाधियों द्वारा आच्छादित है, वही आत्मा है।[५] किन्तु आत्मा का यह भी स्वरूप नहीं है।*

(५) बौद्धों का कथन है कि 'ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है' किन्तु उनकी दृष्टि भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि वे आत्मा तक नहीं; मात्र 'बुद्धितत्त्व' तक ही पहुँच पाये हैं।[६]

(६) कतिपय वेदान्तियों की यह दृष्टि है कि 'प्राण ही आत्मा है' किन्तु उनकी भी यह आत्मविषयक दृष्टि भ्रान्त एवं अयथार्थ है।[७]

---

१. तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥ ८ ॥ (शक्तिसूत्र)

२. सर्वेषां चार्वाकादिदर्शनानां स्थितयः सिद्धान्ताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छाविग्रहीताः कृत्रिमा भूमिकाः।

३. 'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा' इति चार्वाकाः।

४. नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।

५. अहं प्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा इति मन्वानाः मीमासका अपि बुद्धावेव निविष्टाः।

६. ज्ञानसन्तान एव तत्त्वम्—इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः।

७. 'प्राण एव आत्मा' इति केचित् श्रुत्यन्तविदः।

* मीमांसकों में कुमारिल भट्ट के अनुयायी यह कहते हैं कि आत्मा में चित् एवं अचित् दो अंश होते हैं। चिदंश से आत्मा ज्ञान की अनुभूति करती है और अचिदंश से वह परिणमित होती है (परिणामभाव प्राप्त करती है); किन्तु परिणामी होने पर भी आत्मा नित्य है—
चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन।
ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम् स आत्मा 'अहं' प्रत्ययेनैव वेद्यः।—काश्मीरिक सदानन्द

(७) अभाव ब्रह्मवादियों का कथन है कि 'यह (सब कुछ) पहले असत् ही था'—ऐसा मत स्वीकार करने वाले 'अभाव ब्रह्मवादी' शून्य भूमि तक ही पहुँच पाये हैं; अत: उनका मत भी भ्रान्त है ।[१]

बौद्धों के 'त्रिपिटक' के अनुसार आत्मा एवं जगत् अनित्य है । माधवाचार्य ने बौद्धों के इस मत को उद्धृत किया है कि आत्मा का ध्वंस ही मोक्ष है—'आत्मा-ध्वंसो हि मोक्ष: ।'

इनके अनुसार आत्मा में लगातार परिणाम होता रहता है । जैसे जल का प्रवाह या दीपशिखा में प्रत्येक क्षण नया जल एवं नई लौ निकल-निकल कर एक जैसी धारा या सन्तान का निर्माण करती रहती है, उसी प्रकार ज्ञानधारा ही 'आत्मा' है ।

विज्ञानवादी योगाचार मत आत्मा को विज्ञान का परिणाम मानकर आत्मत्व एवं धर्मत्व को उपचरित मानता है ।

(८) माध्यमिक बौद्ध भी आत्मा को इसी स्थिति में अवस्थित मानते हैं ।[२] ये शून्य को ही परमतत्त्व मानते हैं । इनकी दृष्टि में शून्य ही आत्मा है । वैसे शून्यवादी भी नैरात्म्यवादी हैं । बुद्ध ने आत्मा जैसे एक पृथक् सत्ता को अस्वीकार कर दिया ।[३] उनकी दृष्टि में 'आत्मा' नाम-रूपात्मक है । 'आत्मा' प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का एक पुञ्जमात्र है । आत्मा—(१) शरीर (२) मन (३) भौतिक-मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चयमात्र है । आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों का पुञ्जमात्र है ।

माध्यमिक मानते हैं कि समस्त नानात्मक प्रपञ्च शून्य का विवर्त है । ब्रह्मवादी कहते हैं कि यह ब्रह्म का विवर्त है; किन्तु स्पन्दशास्त्र मानता है कि यह विवर्त है ही नहीं ।

(९) वैष्णवों का पाञ्चरात्र मत यह स्वीकार करता है कि पराप्रकृति ही भगवान् वासुदेव हैं और समस्त जीव उसी के अंश हैं । ये लोग पराप्रकृति के परिणाम को स्वीकार करते हैं । अत: वे अव्यक्त में ही अभिनिविष्ट हैं ।[४] किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र इस दृष्टि को भी स्वीकार नहीं करता ।

(१०) सांख्य एवं योग के अनुयायी विज्ञानाकलों की भूमि का आश्रय ग्रहण करते हैं ।[५] किन्तु उनकी भी दृष्टियाँ स्पन्द प्रत्यभिज्ञा को स्वीकार्य नहीं हैं ।

---

१. असदेव इदमासीत् इत्यभावब्रह्मवादिन: शून्यभुवमवगाह्य स्थिता: ।
२. माध्यमिका अपि एवमेव ।
३. 'दीघनिकाय:' । बौद्धों में शून्यवादी 'शून्य' को ही परमतत्त्व मानते हैं और उसे 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व' कहते हैं—'चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगु: ।'
४. पराप्रकृति: भगवान् वासुदेव: तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवा:—इति पाञ्चरात्रा: परस्या: प्रकृते: परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टा: ।
५. सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते ।

(११) कतिपय वेदान्ती 'ईश्वर' पद का आश्रय ग्रहण करके उसे ही 'आत्मा' मान बैठे हैं ।[१] किन्तु यह दृष्टि भी उपपन्न नहीं है । ये अपने प्रमाण में 'सदेव इदमग्र आसीत्' को उद्धृत करते हैं ।

(१२) वैयाकरण शब्दब्रह्ममय पश्यन्ती को ही आत्मा मानते हैं ।[२]

वैयाकरण 'पश्यन्ती' को ही शब्दब्रह्म 'परावाक्' मानते हैं; क्योंकि उनकी मान्यता है कि निस्पन्द (अर्थात् परावाक्) कभी वाणी बन ही नहीं सकता; अतः पश्यन्ती ही परावाक् है और वही आत्म पदवाच्य है—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् ।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ।।[३]
स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते ।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ।।[४]

सारांश—(१) बौद्ध लोग बुद्धितत्त्व, जैनी गुरु, वेदवेत्ता पुरुषतत्त्व और पाञ्चरात्रमतानुयायी अव्यक्त तक ही पहुँचते हैं, इससे आगे नहीं; जबकि परम तत्त्व (आत्मा) उससे और आगे है—

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ।।

वैयाकरण—

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ।
इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् ।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ।।[५]

वैयाकरणों का दार्शनिक ग्रन्थ है—वाक्यपदीय । इसमें पश्यन्ती को ही शब्दब्रह्म या चरम तत्त्व माना गया है । हाँ, पश्यन्ती के दो रूप हैं—(१) पर पश्यन्ती (२) अपर पश्यन्ती (भर्तृहरि : स्वोपज्ञ टीका) ।

(१३) तांत्रिकों की मान्यता है कि आत्मतत्त्व विश्वोत्तीर्ण है । यह विश्वोत्तीर्ण परात्पर तत्त्व ही आत्मा है ।[६] किन्तु त्रिक एवं स्पन्द दर्शन इसे भी नहीं मानते ।

(१४) कुलाम्नाय की दृष्टि यह है कि आत्मा विश्वमय है ।[७] किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा

१. 'सदेव इदमग्र आसीत्' इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः ।
२. शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम् आत्मतत्त्वम्'—इति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः । आचार्य सोमानन्दपाद ने भी 'शिवदृष्टि' (ग्रन्थ) में यही कहा है कि यद्यपि—'वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः । तथापि पश्यन्ती को आत्मा कहना उचित नहीं है ।
३. सोमानन्दपाद : शिवदृष्टि (द्वि०अ०)
४. शिवदृष्टि (२.३)
५. शिवदृष्टि (आ २)
६. विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्—इति तांत्रिकाः ।
७. विश्वमयम्—इति कुलाम्नायनिविष्टाः ।

को यह भी दृष्टि स्वीकार्य नहीं है । ऊर्ध्वाम्नाय ही कुलाम्नाय है; किन्तु इसकी दृष्टि भी स्पन्द को मान्य नहीं है ।

(२) आत्मा के विषय में स्पन्द-स्थापित दृष्टि—

(१५) त्रिक दर्शन (प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द दर्शन) की मान्यता है कि उक्त सभी दृष्टियाँ आत्मा की नट के समान स्वेच्छा से गृहीत कृत्रिम अवस्थायें हैं; अत: वे मान्य नहीं हैं— 'तद् भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय:' (शक्तिसूत्र-८)।[1] मान्य दृष्टि तो यह है कि—आत्मा, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों है ।[2] एक ही आत्मा की अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के द्वारा ये सभी भूमिकायें गृहीत की गई हैं, अवभासित हैं ।[3]

आत्मविषयक स्पन्द-दृष्टि (सारांश)

१. 'आत्मा विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण है । (शक्तिसूत्र) । २. चिदात्मा परमेश्वर ही अपनी 'स्वातंत्र्य' नामक शक्ति द्वारा अभेद स्तर को आच्छादित करके भेदव्याप्ति ग्रहण कर लेता है तब उसकी 'इच्छा' आदि शक्तियाँ (असंकुचित होने पर भी) संकुचित प्रतीत होने लगती हैं और परिणामत: वह मलावृत होकर संसारी जीव बन जाता है । अत: जीव भी आत्मा का एक आच्छादित स्वरूप है । ३. आत्मा पञ्चकृत्य-विधायक है । ४. आत्मा का यथार्थ स्वरूप चैतन्य है—'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र : १) ।	१. अन्य दर्शनों में स्थापित आत्मविषयक दृष्टियाँ आत्मा की स्वेच्छागृहीत कृत्रिम भूमिकायें हैं; अत: वे आत्मा के यथार्थ स्वरूप की परिचायिका नहीं हैं । २. 'आणव', 'मायीय' एवं 'कार्ममल' भी आत्मा की 'इच्छाशक्ति' एवं 'क्रिया-शक्ति' का संकोचमात्र होने से आत्मा की ही शक्तियाँ हैं । आत्मा से पृथक् उनकी कोई अन्य भूमिका नहीं है । ३. 'चित्त' भी आत्मा का अपना आच्छादित स्वरूप है ।	१. अन्य दर्शनों द्वारा प्रतिपादित आत्मा की भूमिकाओं में भी एक ही आत्मा व्याप्त है । २. अन्य दर्शनों में आत्मा से सम्बद्ध दृष्टि-भेद का कारण है—स्वातंत्र्य शक्ति की आत्मप्रच्छादन एवं उन्मीलन की लीला । ३. संसारी दशा में भी आत्मा शिव के कार्य करता है— 'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ।' ४. 'जगत्' भी आत्मा का स्वरूपाच्छादित स्वस्वरूप ही है ।

१. सर्वेषां चार्वाकादिदर्शनानां 'स्थितय:' सिद्धान्त:, 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीता: कृत्रिमा 'भूमिका:' (शक्तिसूत्र—व्याख्या : आचार्य क्षेमराज) ।

२. विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च इति त्रिकादिदर्शनविद: ।

३. एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवत: स्वातंत्र्यावभासिता: सर्वा इमा भूमिका: स्वातंत्र्य-प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिता: अत एव एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा (प्र०ह०) ।

सोमानन्दपाद की दृष्टि— आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि आत्मा ही समस्त भावों (सत्ताओं) में स्फुरित हो रही है—आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्विभुः ।[१]

उत्पदेव कहते हैं—'सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तमिति प्रतिज्ञा ।' 'निर्वृत्तचिदित्यादिविशेषणकलापो हेतुः । स्फुरन्निति धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम् ।'[२]

आत्मा की परमपद में प्रतिष्ठा—देहादि अहंप्रत्ययरूप क्षोभ का अन्त → परमपद में प्रतिष्ठा (स्पन्द का०) ।

(१) जगत् एवं जीव आत्मा की प्रच्छादन-क्रीड़ा है—

आत्मा प्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन ।
मायारूपमितीत्यादि षड्विंशत्तत्त्वरूपताम् ।।[३]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—कदाचिदात्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव ।[४]

(२) समस्त देहों में एक ही आत्मा व्याप्त है; सोमानन्द कहते हैं—'स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते ।[५] अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ।

और वह आत्मा चैतन्यमात्र है—'चैतन्यमात्रं स एवात्मा कथ्यते' । वही समस्त शरीरों में भोग भोगती है—'सर्वदेहव्यापकस्तद्भोगायतनावस्थितो भोग्यं भुंक्ते ।'[६]

विश्व की समस्त सत्ताओं एवं पदार्थों में चेतन आत्मा एवं उसका चैतन्य ही पारमार्थिक सत्य के रूप में अवस्थित है ।

(३) आत्मा ही जगत् की परमार्थता है; सोमानन्दपाद कहते हैं—

'सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता ।[७]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

आत्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः ।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ।।[८]

स्पन्दशास्त्र की आत्मा कोई द्वैतवादियों की आत्मा नहीं है, जो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् हो और परमात्मा से पृथक् अस्तित्व रखती हो । स्पन्द की आत्मा शंकराचार्य की आत्मा के समतुल्य है, जो कि परमात्मा ही है । समस्त शक्तियों से समवेत होने पर भी परमशिव अपनी 'स्वातंत्र्य शक्ति' की महिमा से अपने को संकुचित की भाँति आभासित करते हुए 'अणु' कहलाने लगते हैं—स च भगवान् स्वातंत्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयन् अणुः इति उच्यते ।[९] 'अणु' ही जीवात्मा है ।

---

१. शिवदृष्टि
२. शिवदृष्टिवृत्ति
३. शिवदृष्टि
४. शिवदृष्टिवृत्ति
५. शिवदृष्टि
६. शिवदृष्टिवृत्ति
७. शिवदृष्टि
८. उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञाकारिका
९. जन्ममरणविचार (भट्ट वामदेव)

आचार्य क्षेमराज का कथन है कि 'चिद्विभु' शक्ति के संकोच के कारण मलों से आवृत होकर 'संसारी' बन जाता है—

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृत: संसारी ।[१]

जब चिदात्मा परमेश्वर अपने स्वातंत्र्य से अभेदव्याप्ति को संकुचित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियाँ असंकुचित होने पर भी संकुचितवत् प्रतीत होती हैं और तब यह मलों से आवृत होकर 'संसारी' बन जाता है—'यदा चिदात्मा परमेश्वर: स्वस्वातंत्र्याद् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा तदीया इच्छादिशक्तय: असंकुचिता अपि संकोचवत्यो भान्ति, तदानीमेव च अयं मलावृत: संसारी भवति ।'[२] जीव और शिव में तात्त्विक भेद नहीं है; क्योंकि 'शरीरकंचुकित: शिवो जीवो निष्कंचुक: परम: शिव: ।'

भेददशा में क्रमश: जब क्रियाशक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति अल्पकर्तृत्व में रूपान्तरित हो जाती है और कर्मेन्द्रियरूप संकोच प्राप्त करके अत्यधिक परिमित हो जाती है तब उसे कार्ममल कहते हैं । सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व एवं व्यापकत्व शक्तियाँ जब संकुचित हो जाती हैं तब वे क्रमश: कला, विद्या, राग, काल एवं नियतिरूप से भासित होती हैं और तब इस प्रकार की आत्मा शक्तियों से दरिद्री होकर संसारी कहलाने लगती है; किन्तु अपनी शक्ति के विकास की दशा में तो वह शिव ही है—सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तय: संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति । तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्र: 'संसारी' उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।[३]

संसारी दशा में भी आत्मा शिव के सदृश पञ्चकृत्यों का निष्पादन करती है—'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति' (शक्तिसूत्र : १०) ।

प्रश्न यह उठता है कि क्या संसारी अवस्था में 'आत्मा' की शिवत्व के अनुरूप कोई पहचान रहती है, जिससे यह कहा जा सके कि इसमें शिव ही अपने स्वरूप से अवस्थित है? इसी प्रश्न का समाधान करने हेतु शक्तिसूत्र में कहा गया है—'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ।' इतना ही नहीं; प्रत्युत आत्मासम्बन्धी पञ्चविध कृत्यकारिता का यदि सदा दृढ़ता के साथ परिशीलन क्रिया जाय तो निश्चय ही भक्तों के समक्ष वह महेश्वर के स्वरूप को उन्मीलित कर देती है—पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढ़प्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यं उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम् ।[४]

जैसे भगवान् अशुद्ध अध्वा के विकासक्रम से स्वरूप-विकासात्मक सृष्टि आदि की रचना करते हैं, उसी प्रकार चित् शक्ति के संकुचित हो जाने पर संसारभूमिका में भी पञ्चकृत्य निष्पादित करते हैं ।[५]

सर्वव्यापक शिव ही अपनी स्वतंत्र इच्छा के कारण संकोच ग्रहण करके शरीर-धारण करके जीव बन जाता है—

---

१. शक्तिसूत्र
२-५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

व्यापको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसंकोचमुद्रणात् ।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्च्छरीरभाक् ॥[१]

जीवत्व तो परमशिव की 'निजस्वरूपगोपनकेलिलोलम्' मात्र है ।[२] परमात्मा अतिदुर्घटकारित्व, स्वाच्छन्द्य, नैर्मल्य के कारण स्वात्म-प्रच्छादन क्रीड़ा में पूर्ण पण्डित है और इसी कारण वह परमात्मा होकर जीव बनकर उसकी भूमिका का भी निष्पादन करता है—

अतिदुर्घटकारित्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः ॥[३]

आत्मा के भेद—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्दशास्त्र आत्मा के निम्न भेद स्वीकार करते हैं— (१) परमात्मा (२) विज्ञानाकल (३) प्रलयाकल एवं (४) सकल ।

इनमें परमात्मा परम आत्मा है; किन्तु विज्ञानाकल, प्रलयाकल एवं सकल परमात्मा नहीं प्रत्युत जीवात्मायें हैं । तत्त्वतः तो सभी आत्मायें परमात्मस्वरूप हैं । मनुष्य का देह धारण करके परमेश्वर ने अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में आवृत कर रखा है—

मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः ।

आत्मा

भट्ट वामदेव—	आचार्य उत्पलदेव—	आचार्य क्षेमराज—	स्पन्दशास्त्र—	न्यायशास्त्र—
(१) विज्ञानाकल	(१) अपरिमित : परमात्मा	(१) शिव महेश्वर	(१) पशुपति	(१) जीवात्मा
(२) प्रलयाकल	(२) मित : अणु	(२) संसारी	(२) पशु (अणु)	(२) परमात्मा
(३) सकल		(मलावृत शक्तिदरिद्र		
		(बद्धात्मा)		

भट्ट वामदेव कहते हैं—भगवान् अपनी माया शक्ति के द्वारा अपनी अव्यभिचरित स्वातंत्र्य शक्ति की महिमा से अपने से ही अपने को संकुचित के समान अवभासित करते हुए विज्ञानाकल, प्रलयाकल एवं सकल बन जाता है—असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरितस्वातंत्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं संकुचितमिव अवभासयन् विज्ञानाकलः प्रलयाकलः सकलश्च संपद्यते ।[४]

(१) विज्ञानाकल — आणवमलसंयुक्त १ मल ।

(२) प्रलयाकल — आणवमल + मायीय मल : २ मलों से संयुक्त ।

(३) सकल — आणवमल + मायीय मल + कार्ममल : ३ मलों से संयुक्त ।

(क) तत्र आणवेन एकेनैव मलेन संयुक्तो 'विज्ञानाकल' उच्यते ।

(ख) द्वाभ्याम् आणवमायीयाभ्याम् अपवेद्यः प्रलयाकलः ।

(ग) त्रिभिराणवमायीयकार्मैः संवेद्य तैरेव कलादिधरण्यन्ततत्त्वमयः 'सकलः' ।

१-२. जन्ममरणविचार (भट्ट वामदेव) ३. जन्ममरणविचार में उद्धृत ।
४. जन्ममरणविचार

यही अर्थसर्ग है—अयमर्थसर्गः ।

सृष्ट्युन्मुख भगवान् 'शुद्धाध्व' में स्थित रहते हुए अपनी शक्तियों द्वारा माया को विक्षुब्ध करके किंचित्कर्तृत्व लक्षणात्मक कलातत्त्व—पुद्गल की रचना करते हैं । इसके अनन्तर किंचिदवबोधाख्य विद्यातत्त्व की रचना करते हैं । फिर रागात्मक कर्तृतत्त्व भूत, भविष्य, वर्तमान के रूप में विभक्त हो जाता है, काल अवच्छिन्न रूप में अवस्थित हो जाता है, इसे ही 'कालतत्त्व' कहते हैं । जो अवच्छेद का विधान करता है, वही 'नियतितत्त्व' है । जिसे जीवात्मा मित प्रमाता, पशु, संसारी, शक्तिदरिद्र एवं मलावृत पशु कहा जाता है, वह इन्हीं छः आन्तर मलों (कंचुकषट्क) के आवृत रहता है और इसीलिए अणु, संसारी, पशु आदि कहलाता है । तात्त्विक दृष्टि से शिव एवं जीव अभिन्न है । आत्मा के अन्य भेद भी किये गये हैं[1] ।

यह 'कंचुकषट्क' ही पुद्गल के स्वरूप का आच्छादक है—'तदेतत् कंचुकषट्कं अन्तर्मलावृतस्य पुद्गलस्य बहिराच्छादकम् ।'[2]

चिल्लाचक्रेश्वरमत में कहा गया है—

मायाकलाशुद्धविद्या रागकालौ नियंत्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात्कंचुकानि मितात्मनः ।
एवं च पुद्गलस्यान्तर्मलः कंचुकवत्स्थितः ।
तुषवत्कंचुकानि स्युस्तस्माज्ज्ञानक्रियोज्झितः ।।

भाव यह कि ये कंचुक चावल के आवरक भूसी की भाँति या पदार्थ के आवरण की भाँति हैं । इनके कारण ही जीवात्मा की कर्तृत्व, ज्ञातृत्वादि शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं ।

कला तत्त्व पुरुष में परिमित कर्तृत्व उत्पन्न करके सुख, दुःख, मोहरूप भोग्य का सृजन करता है । उससे अष्टगुणात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है । उससे सात्त्विक, राजस, तामसरूप अहंकारत्रय का जन्म होता है । सात्त्विक अहंकार से मन, राजस अहंकार से इन्द्रियाँ एवं तामस अहंकार से तन्मात्राओं का आविर्भाव होता है । इनसे प्राणियों का जन्म होता है ।

इस प्रकार एक ही आदिदेव की स्वातंत्र्य शक्ति की महिमा से संसार में संसरण करते हुए परिमित प्रमातृता ग्रहण करके संसार में तत्त्वों का विस्तार हुआ है—

सअल उत्त पुरिपुण्ण उ स अल्लउत्त उत्तिराण ।
परि आणह अत्ताण उ परि मसिवेण समाण उ।।

उक्त तत्त्वों का प्रमातृभेद में नानात्व होने के कारण प्रमेयों में भी नानात्व आ जाता है । कहा भी गया है—

शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ।।
अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्तु कलान्तिकम् ।

---

१. आत्मा चैवान्तरात्मा च बाह्यात्मा चैव सुन्दरि ।
निरात्मा परमात्मैतान्कथयामि समासतः ।। (स्वच्छन्द तन्त्र)

२. भट्टवामदेव

त्रयोदशविधं ज्ञेयं रुद्रवत्प्रलयाकल: ।
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवल: ।
मंत्रा: सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मंत्रनायका: ॥
त्रिधा मंत्रेश्वरेशाना: शिव: साक्षान्न भिद्यते ।
य: पुन: सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थत: ॥[१]

कला— (१) निवर्तन्ते यतस्तत्त्ववर्गा: सा निवृत्तिर्नाम कला ।

(२) कारणत्वे पूरणाप्यायकारित्वात् प्रतिष्ठा नाम कला उच्यते ।

(३) वेद्यविलये संविदाधिक्यात् विद्या नाम कला ।

(४) कंचुकतरङ्गोपशमात् शान्ता नाम कला उच्यते ।

भगवान् मनुष्य की ही तरह जीवात्मा बनकर नहीं अवतरित होता; प्रत्युत वह जरायुज, अण्डज, उद्भिज एवं स्वेदज आदि प्राणियों के रूप में क्रीड़ा करता है—

तदेवम् आणवीं वृत्तिम् आलम्ब्य भगवान् विचित्रै: जात्यायुर्भोगै: जरायुज-अण्डज-उद्भेदज-स्वेदजादिजातं प्रादुर्भावयति ।[२]

उत्पलदेवाचार्य का मत—आचार्य उत्पदलदेव ने आत्मा के दो भेद किए है—मित एवं अमित । उन्होंने कहा है—

द्विधा स एष एवात्मा मितोऽपरिमितस्तथा ।
प्राणादिना निरुद्धोऽणु: परमात्मा त्वखण्डित: ॥[३]

इन दोनों स्वरूपों में कोई अन्तर भी नहीं है । 'स्वच्छन्दतन्त्र' में आत्मा के अन्य भेदों का प्रतिपादन किया गया है ।[४]

वही अद्वैत संविदात्मा परमेश्वर स्वेच्छा से विश्वस्वरूप क्रीड़ा-हेतु संकुचित होकर पारमित्य ग्रहण करके जीव बन जाता है—'स एव संविदात्मा परमेश्वर: स्वेच्छया विश्वक्रीडोल्लिला-सयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन संकुचितीभूय जीवतामेति, प्राणाद्यनिरुद्धस्तु विश्वनिर्भरितात्मतया पूर्ण: स्वतंत्रश्चिदात्मैवेति परिमितापरिमितत्वेन द्विविधत्वम् ।[५]

सारांश यह कि प्रकाशात्मा परमात्मा मायाशक्ति द्वारा अपने अभेद (अद्वैत) स्वरूप को भेदप्रथात्मक बनाकर विश्वरूप में भेदावभासित होकर प्रकट होता है—प्रकाशात्मन: परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।[६]

प्रत्यभिज्ञाकारिका में उत्पलदेव ने चेतना की श्रेणियों को (१) पशु (३अ ।१४), (२) विज्ञानाकल (१८.३), (३) प्रलयाकल (१९.३), (४) संसारी, मायान्ध, कर्मबद्ध (सकल) (१३.३) के नाम से वर्णित किया है ।

---

१. श्रीपूर्वशास्त्र
२. भट्ट वामदेव
३. उत्पलदेव : अजडप्रमातृसिद्धि
४. अबुध आत्मा । बुध आत्मा । बुध्यमान आत्मा । प्रबुद्ध आत्मा । सुप्रबुद्ध आत्मा ।
५. उत्पलदेवाचार्य : अजडप्रमातृसिद्धि
६. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति

स्वच्छन्द तन्त्र में आत्मा के निम्न भेद बताए गए हैं—

आत्मा | अन्तरात्मा | बाह्यात्मा | निरात्मा | परमात्मा

पशु (जीवात्मा) कौन है?

(१) स्पन्दकारिका—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ।।

(२) प्रत्यभिज्ञाकारिका—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ।।

(३) प्रत्यभिज्ञकारिकावृत्ति—

ऐश्वर्यदशायां प्रमाता विश्वं शरीरतया पश्यन् पतिः, पुंस्त्वावस्थायां तु रागादिक्लेशकर्मविपाकाशयैः परीतः पशुः ।

एक ही क्रियाशक्ति पशुओं के लिए बन्धन एवं ज्ञानियों के लिए मुक्ति प्रदान करती है ।

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।। (४८.३)[१]

प्राणियों में जो कर्मबद्ध, मायान्ध, संसारी प्रमाता है, उसे ही पशु और संसारी कहा गया है—एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः । (१३.३)[२]

मुक्त कौन है? 'विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ।'(१३।३)[३]

जीवों का विभाजन—जीवों का विभाजन मलों के आधार पर किया गया है अर्थात्

(१) एक मल (आणवमल) से युक्त — विज्ञानाकल

(२) दो मलों (आणवमल + मायीय मल) से युक्त — प्रलयाकल

(३) तीन मलों (आणवमल + मायीयमल + कार्ममल) से युक्त— सकल

बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता ।
तत्रेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ।। (१८.३)
शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः ।
तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ।। (१९.३)
बोधानामपि कर्तृत्वजुषां कार्ममलक्षतौ ।
भिन्नवेद्यजुषां माया मलं विद्येश्वराश्च ते ।। (२०.३)

ये तीनों मल देवों में भी पाये जाते हैं—देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम् ।

इनमें कार्ममल ही संसार का मुख्य कारण है—'तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।'[४]

---

१. स्पन्दकारिका २-४. प्रत्यभिज्ञाकारिका

अद्वैतवाद

त्रिकदर्शन और शाक्त दोनों ही अद्वैतवाद के पोषक है । दोनों मानते है कि एक ही अद्वय परमात्मा परम तत्त्व है, जो कि शिव एवं शक्ति तथा कामेश्वर एवं कामेश्वरी का सामरस्य है ।

अद्वैत त्रिक शास्त्र का प्राणभूत तत्त्व है; इसीलिए स्पन्दकारिका में कहा गया है कि अद्वैतवाद का अतिक्रमण उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार अपनी छाया को अतिक्रान्त करना । ज्ञेय को अपने स्वरूप से एकीकृत करके ज्ञान को देखने पर ज्ञान एवं ज्ञेय में कोई भेद दृष्टिगत नहीं होगा ।

शंकराचार्य का ब्रह्मवाद एवं त्रिक दर्शन का ईश्वराद्वयवाद

शंकराचार्य एवं अभिनवगुप्तपादाचार्य के ब्रह्मवाद एवं ईश्वराद्वयवाद में तात्त्विक भेद है । शांकर ब्रह्मवाद की माया त्रिकदर्शन को मान्य नहीं है । त्रिकनय में भी अज्ञान एवं माया हैं; किन्तु वे आकस्मिक एवं मिथ्या नहीं हैं ।

स्पन्दनय में माया आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक एवं स्वेच्छागृहीत एक अभिनयात्मक रूप है । शिव भी एक नट की भाँति स्वेच्छया अनेक भूमिकायें ग्रहण करते हैं । सूर्य अपने द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढक लेता है और फिर वह स्वेच्छया अपने को अनाच्छादित भी कर लेता है । इसी प्रकार भगवान् शिव भी किया करते हैं । अज्ञान एवं माया परमशिव की स्वातंत्र्य शक्ति का विजृंभणमात्र है । ईश्वराद्वयवादियो का परमात्मा स्वातंत्र्यमूलक, स्वातंत्र्यस्वरूप एवं कर्तृत्वस्वरूप है; जबकि ब्रह्मवादियों का ब्रह्म शुद्ध, साक्षी एवं कर्तृत्वहीन है । प्रत्यभिज्ञा में जहाँ ज्ञान है, वहाँ क्रिया है एवं जहाँ क्रिया है, वहाँ ज्ञान है—यह सिद्धान्त मान्य है । कर्तृत्वभाव के लिए उसका ज्ञान ही उसकी क्रिया है, उसकी क्रिया ही उसका ज्ञान है । शांकर अद्वैतवाद इसे स्वीकार नहीं करता ।

शांकर अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है; किन्तु त्रिक दर्शन में तो है ।

शांकर अद्वैतवाद की चरमावस्था में दो नहीं, मात्र एक ही तत्त्व शेष रह जाता है; किन्तु स्पन्द (सम्पूर्ण त्रिक) शास्त्र में परमशिव के साथ उसकी शक्ति भी रहती है । त्रिक-नय शांकर केवलाद्वैतवाद नहीं मानता; प्रत्युत मानता है—द्वयात्मक अद्वयवाद ।

एक चने में दो दालें—शैव-शाक्त तांत्रिक अद्वैतवाद की व्याख्या में चने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । केवलाद्वैत में तो मात्र 'एक' का अद्वैत भाव निहित है कि स्पन्द एवं त्रिक शास्त्र में दो सत्ताओं का अद्वैत है । परमशिव ब्रह्म की भाँति अकेला नहीं रहता; उसके साथ शक्ति भी अभिन्न रूप में रहती है । जैसे कि एक चने में दो दालें रहती हैं । चना एक है, किन्तु वह दो दालों का समन्वित रूप है । वह एक होते हुए भी द्वयोपहित है और दो होते हुए भी एक ही खोल में रहने के कारण अद्वैत भी है । इसी प्रकार शिव में जगत् एवं जीव अन्तर्निहित है । इन दोनों की न तो कोई स्वतंत्र सत्ता है और न तो उनके द्वयात्मक स्वरूप का अनस्तित्व ही है ।

तांत्रिक सत्कार्यवादी हैं । अत: परमशिव की अभिव्यक्ति स्वरूप जीव-जगत् भी सत् ही हैं, न कि असत् । एक चने में दो दालों का अवस्थान इंगित करता है उस परमशिव को, जिसमें शिव एवं शक्तिरूप दालें स्थित हैं ।

अद्वैतवाद के प्रकार और स्पन्द
- निर्विशेषाद्वैतवाद (शंकराचार्य)
- भेदाभेदाद्वैतवाद (भास्कराचार्य)
- द्वैतवाद (मध्वाचार्य)
- द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्काचार्य)
- शैवविशिष्टाद्वैतवाद (श्रीकण्ठाचार्य)
- वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद (श्रीपति)
- शुद्धाद्वैतवाद (वल्लभाचार्य)
- अविभागाद्वैतवाद (विज्ञानभिक्षु)
- भेदाभेदाभेदवाद (बलदेवाचार्य)
- शून्याद्वैतवाद (माहायानिक बौद्ध)
- विज्ञानाद्वैतवाद (योगाचार)
- शब्दाद्वैतवाद (भर्तृहरि)

आचार्य	भाष्य (वेदान्तभाष्य)	काल
१. शंकराचार्य	शारीरकभाष्य	८वीं सदी
२. भास्कराचार्य	भास्करभाष्य	१०वीं सदी
३. रामानुजाचार्य	श्रीभाष्य	१२वीं सदी
४. आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	१३वीं सदी
५. निम्बार्काचार्य	वेदान्तपारिजात	१३वीं सदी
६. श्रीकण्ठाचार्य	शैवभाष्य	१३वीं सदी
७ श्रीपति	श्रीकरभाष्य	१४वीं सदी
८. वल्लभाचार्य	अणुभाष्य	१५वीं सदी
९. विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृतभाष्य	१६वीं सदी
१०. बलदेवाचार्य	गोविन्दभाष्य	१८वीं सदी
११. नागार्जुन	(शून्यवाद) माध्यमिककारिका	वेदान्त पर भाष्य नहीं
१२. असङ्ग, वसुबन्ध	विज्ञानाद्वैतवाद	वेदान्त पर भाष्य नहीं
१३. भर्तृहरि	शब्दाद्वैतवाद	वेदान्त पर भाष्य नहीं

जहाँ एक से अधिक सत्तायें हैं, वहाँ द्वैतवाद होता है; किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा में दो सत्ताओं के रहते हुए भी अद्वैत है और इसे द्वयात्मक अद्वैतवाद कह सकते हैं; किन्तु दार्शनिकों ने इसे ईश्वराद्वयवाद कहा है तथा शांकर अद्वैत को शान्त ब्रह्मवाद कहा है—'शान्तब्रह्मवदौदासीन्यमवलम्बमाना कथं विश्वमाभासयेत् कथं च तद्विश्रान्तिस्थानं भवितुमर्हति ।'[1]

'शान्तब्रह्मवादिवन्मलमायादि परिकल्प्यम् ।'[2]

उत्पलदेवाचार्य अद्वयवाद के पोषक हैं । वे कहते हैं कि—'अद्वयवादः स्थितः ।'[3]

अभिनवगुप्ताचार्य ने ईश्वप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में अद्वैत की वन्दना की है—

निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यामनिखिलम् ॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के अद्वैतवाद का स्वरूप—आचार्य उत्पलदेवाचार्य इस अद्वैतवाद को द्विपक्षीय घोषित करते हैं, जो निम्नांकित है—(१) 'मैं ही अकेला शुद्ध बुद्ध स्वरूप परमात्मा हूँ', (२) 'समस्त जगत् मेरा ही विस्तार है'—

सोऽहं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (४.१.१२)

दो प्रकार की प्रत्यभिज्ञायें ही प्रत्यभिज्ञा का अद्वैत है । शिव-शक्ति के सामरस्य की अनुभूति भी अद्वैतवाद है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के इन दोनों प्रत्यभिज्ञाओं को 'विज्ञानभैरव' में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

(१) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—सोऽहं

विज्ञानभैरव—स एवाहं

(२) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—ममायं विभवः

विज्ञानभैरव—

स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विभेदिताः ॥

अद्वैतवाद के दो पक्ष—

(क) इस जगत् के रूप में मैं ही चारो ओर फैला हुआ हूँ । समस्त जगत् मेरा ही विस्तार है । मुझमें और विश्व में अभेद है ।

(ख) मैं ही परमशिव हूँ । मुझमें एवं परमशिव में अभेद है ।[4]

१-२. परमार्थचर्चा (विवरण)
३. शिवदृष्टिवृत्ति
४. यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ॥

प्रति—प्रतीप अर्थात् ज्ञात होने पर भी मोह के कारण विस्मृत तत्त्व का अभि—अभिमुख रूप से (स्फुटतया) ज्ञान होना ही 'प्रत्यभिज्ञा' है । वर्तमान में विस्मृत किन्तु पूर्वानुभूत ईश्वरात्मक तत्त्व के अभिमुख होने पर प्रतिसंधान की शक्ति से—'वही ईश्वर मैं हूँ' इस प्रकार जो ज्ञानोदय होता है, उसे ही 'प्रत्यभिज्ञा' कहते है—प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञान: प्रकाश: प्रत्यभिज्ञा । प्रतीपमिति—स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वो अविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते इति वक्ष्यते ।

प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका 'स एवायं चैत्र' इति प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम् । लोकेऽपि एतत्पुत्र एवङ्गुण एवंरूपकं इत्येवं वा, अन्ततोऽपि सामान्यतया वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा इति व्यवह्रियते । इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत् प्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति—'नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति ।'[१]

भास्कर कण्ठ ने ठीक ही कहा है कि प्रत्यभिज्ञा वह ज्ञान है, जो संस्कार एवं इन्द्रिय से उत्पन्न होता है । संस्कार द्वारा पूर्वदृष्ट व्यक्ति का स्मरण होता है और नेत्रेन्द्रिय द्वारा उसका साक्षात्कार होता है; अत: प्रत्यभिज्ञा स्मृति एवं अनुभव पर आश्रित है—

स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधी: ।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता: ।।

'स एव ईश्वर: अहम्' अर्थ में प्रत्यभिज्ञा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उत्पलाचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में किया था ।

विक्रम की नवम शताब्दी में शैव दर्शन के काश्मीरी सम्प्रदाय ने 'शिवाद्वयवाद' के नाम से अद्वैतवाद को प्राण-प्रतिष्ठित किया । भगवान् शिव ने दुर्वासा ऋषि को त्रिक मत के प्रचारार्थ आदेशित किया था । उनके शिष्यों में से—

(१) त्र्यम्बक ने अद्वैतवाद,

(२) आमर्दक ने द्वैताद्वैतवाद एवं

(३) श्रीनाथ ने द्वैतवाद का प्रचार किया ।

त्रैयम्बक सम्प्रदाय के सिद्धों ने त्रिक मत की अद्वैतवादी व्याख्या की । सोमानन्दपाद दुर्वासा के मानस पुत्र त्र्यम्बक की परम्परा में उत्पन्न हुए थे । सोमानन्द सङ्गमादित्य के पौत्र आनन्द के आत्मज थे । उत्पलाचार्य सोमानन्द के शिष्य थे । अभिनवगुप्त ने शिवाद्वयवाद पर प्रचुर साहित्य निर्मित किया ।

आचार्य सोमानन्द ने शब्दब्रह्माद्वयवाद (व्याकरणागम के सिद्धान्त) का खण्डन करके शिवाद्वैतवाद की स्थापना की । शिवसूत्र का शाक्तोपाय, शांभवोपाय एवं अनुपाय—तीनों भी अद्वैतवादी दृष्टि के प्रतिपादक हैं ।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (अभिनवगुप्तपादाचार्य)
प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द का लक्ष्य है—परभैरवता चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति—'तत्र ईश्वरता साम्राज्यं परभैरवात्मता' । यही अवस्था तो अद्वैत है ।

अन्तर्मुखता एवं व्युत्थान दोनों दशाओं में चिदैक्य का विमर्श होना ही तो 'नित्योदित समाधि' है। समग्र विश्ववैचित्र्य का चिद्गगन में लय देखना ही 'उन्मीलन समाधि' है और अन्तर्मुखता का अवलम्बन ग्रहण करके चिदैक्यानुभूति करना 'निमीलन समाधि' है— ये सभी अद्वैतवाद की ही प्रतिपादिका हैं, जो कि स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में प्रतिपादित हैं।

स्पन्दशास्त्र में तथा प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में जीवन्मुक्ति को साधना की सर्वोच्च उपलब्धि स्वीकार किया गया है। जीवन्मुक्ति के स्वरूप में भी अद्वैतवाद अनुस्यूत है; क्योंकि स्पन्दशास्त्र की जीवन्मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) स्पन्दकारिका—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

(२) शक्तिसूत्र—'चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।

(३) प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—'चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम्—अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव जीवन्मुक्तिः, जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपविद्रावितशेषपाश-राशित्वात्।'

समग्र जगत् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रथा का जिसको ज्ञान है, वह सारे जगत् को खेल के समान देखता हुआ सतत योगयुक्त होने से जीवन्मुक्त कहलाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि—'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः। इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्। स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः। अर्थात् 'सर्वं शिवमयं जगत्' 'न सावस्था न यः शिवः' की सर्वत्र अनुभूति और उसकी अपने में भी अनुभूति—शिव के साथ अद्वैत की अनुभूति एवं विश्व के साथ अपनी एकता की अनुभूति ही मुक्ति है। अर्थात् स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में अद्वैतवाद और मुक्ति दोनों अभिन्न हैं।

विरूपाक्षपञ्चाशिका में भी विश्वात्मैक्य की अनुभूति को जीवन्मुक्ति कहा गया है। विश्वात्मैक्य अद्वैतवाद का एक पक्ष और ब्रह्मात्मैक्य उसका द्वितीय पक्ष है।

अद्वैतवाद के दो पक्ष—

ब्रह्मात्मैक्य—

१. ब्रह्मैवेदं सर्वम्।

२. अहं ब्रह्मास्मि।

३. तत्त्वमसि।

४. शिवोऽहं शिवोऽहम्।

५. अहं देवी न चान्योऽस्मि।

२. विश्वात्मैक्य—

१. इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।

२. उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्धागैकतनुनिष्ठिता हन्तः ।
कण्ठलठत्प्राण इव व्याप्तं जीवन्मृतो लोकः ॥

३. ननूक्तनयेन सर्व एव लोको विश्वशरीरः ।

४. विश्वशरीरत्वं प्रत्यभिज्ञातम् ।

५. ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वानिष्ठा वरिष्ठा ।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानाद्भिन्नता रोपितस्य ॥[१]

६. सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति ।[२]

७. यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥[३]

स्पन्दशास्त्र में शांकर अद्वैत की यह दृष्टि स्वीकार्य नहीं है कि[४]—

(क) संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ।

(ख) माया मायाकार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम्' तो ठीक है; पर 'असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम्' ठीक नहीं है ।

स्पन्दीय अद्वैत में अहं और इदम् दो पृथक् सत्तायें नहीं हैं । यहाँ विच्छिन्न रूप में विमृष्ट इदम् की कृतार्थता संवित् स्वरूप में विश्रान्तिरूप कृतार्थता है और वही अहं है । अतः अहं और इदम् तथा संवित् तत्त्व—तीनों में तादात्म्य है । इसी भाव को उत्पलदेवाचार्य ने भी प्रतिपादित किया है—

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥[५]

इदमिति विच्छिन्नतया विमृश्यस्यास्य जडस्य या संवित्स्वरूपविश्रान्तिलक्षणकृतार्थता सोऽयमहमेव ।[६]

जहाँ तक जीव एवं शक्ति के अद्वैतभाव का प्रश्न है, वहाँ यही कहा जा सकता है कि अणु (जीवात्मा) स्वतः अखण्डित परमात्मा ही है । वही संविदात्मा परमेश्वर स्वेच्छापूर्वक विश्वक्रीड़ा की लालसा से प्राणादि में आत्मभाव का अवभासन करके और उसका प्रमाता बनकर तथा अपने विराट् शिवभाव को संकुचित करके 'जीव' बन जाता है—

(१) प्राणादिना निरुद्धोऽणुः परमात्मा त्वखण्डितः । (१६)[७]

(२) स एव संविदात्मा परमेश्वरः स्वेच्छया विश्वक्रीडोल्लिलासयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन संकुचीभूय जीवतामेति ।[८]

१-४. विवेकचूड़ामणि
५. अजडप्रमातृसिद्धिः उत्पलदेवाचार्य
६. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति
७. अजडप्रमातृसिद्धि
८. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति

उत्पलदेवाचार्य का कथन है कि जहाँ तक वेद्य-वेदक, जड़ाजड़, प्रमाता-प्रमेय, अहं-इदम् का संवित्प्रकाश के साथ एकात्मता का प्रश्न है, वह तो स्वयमेव स्थापित है; क्योंकि स्वयं संवित्प्रकाश ही स्वात्मोच्छलन के रूप में मायाशक्ति को उल्लासित करके जडाजड भावराशि के द्वारा वेद्य-वेदकात्मक अपने स्वरूप को (अनतिरिक्त रहते हुए भी) अतिरिक्तवत् प्रस्फुरित करता है और वही अनन्त वैचित्र्यपूर्ण एवं नाना पदार्थात्मक विश्व बन जाता है। इस क्रिया के द्वारा स्वातंत्र्यवाद भी प्रोन्मीलित होता है—इति स्वातंत्र्यवादस्य प्रोन्मीलनं सूचितवानाचार्यः ।[१]

शांकर वेदान्त ने भी स्वीकार किया था कि—

(१) जीवो ब्रह्मैव नापरः—उसी प्रकार स्पन्दशास्त्र भी स्वीकार करता है कि—

(२) शिवस्यैव स्वेच्छया समुल्लासितायाः पशुभूमिकाया ग्रहणेनाणुभावाभ्युपगमात् । (उत्पलदेव : अजडप्रमातृसिद्धि)

(३) शिव और जीव में अद्वैत तो स्वतः स्थित है। रह गई बात बन्धकत्व एवं जीवत्व की तो वह कोई अन्य वस्तु नहीं है। वह है केवल अपनी अपरिच्छिन्न स्वशक्ति के विकास का अप्रथनमात्र—केवलमपरिच्छिन्नस्वशक्तिविकासस्याप्रथनमेव बन्धकत्व-पर्यायं जीवत्वम् ।

(४) महेश्वर से विश्व पृथक् नहीं है; क्योंकि—विश्वरूपो महेश्वरः (उत्पलदेवाचार्य); अतः विश्व एवं शिव में अद्वैत है।

(५) आत्मा एवं विश्व में भी अभेद है; अतः विश्व एवं आत्मा में भी अद्वैत है; क्योंकि—विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः । (प्र०का०)

(६) जहाँ तक समस्त जीवों की आत्माओं के अद्वैत का प्रश्न है, वह भी सिद्ध है; क्योंकि—स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः । (प्र०का०)

(७) जहाँ तक आत्मा एवं विश्व के अद्वैत का प्रश्न है वह भी सिद्ध है; क्योंकि यही तो महेश्वर है—

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥

परमात्मा का स्वरूप

विज्ञानभैरव में कहा गया है कि परमात्मा सर्वकर्ता है, सर्वज्ञाता है और व्यापक है—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ॥

'वेदान्तदर्शन' में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण बताए गए हैं; किन्तु वे स्पन्द शास्त्र से मेल नहीं खाते।

---

१. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति

वेदान्त के ब्रह्म के लक्षण

स्वरूपलक्षण (ब्रह्म का यथार्थ लक्षण)	तटस्थ लक्षण
१. वेदान्त—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य एवं अनन्त ज्ञानस्वरूप है) २. (यद्यपि स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा स्वरूप लक्षण एवं तटस्थलक्षण जैसे शब्दों का प्रयोग तो नहीं करते; किन्तु यदि परमात्मा के आत्मभूत गुण एवं स्वरूपभूत लक्षणों को देखें तो) स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का मत निम्नांकित है—आत्मा एवं परमात्मा का स्वरूप लक्षण है—चैतन्य—'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र)। सांख्य का पुरुष क्रियाहीन है—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।'	वेदान्त—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्मेति। स्रष्टा, पालक, संहारक, सगुण, सर्वेश्वर एवं अनेक गुणों से युक्त। (वेदान्ती जिन गुणों एवं लक्षणों को परमात्मा एवं आत्मा के यथार्थ लक्षण मानते ही नहीं; प्रत्युत उन्हें परमात्मा के तटस्थ लक्षण मानते हैं, उन सभी लक्षणों को भी स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा आत्मा एवं परमात्मा के ही स्वरूप-लक्षण (स्वरूपभूत लक्षण) मानते हैं। यथा—कर्तृत्व, इच्छा आदि।

वेदान्त दर्शन	स्पन्द दर्शन
१. निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः। निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥[१] २. नित्यशुद्धविमुक्तैक- मखण्डानन्दमद्वयम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परंब्रह्माहमेव तत् ॥[२] वेदान्त का ब्रह्म निष्क्रिय है, निर्गुण है, अकर्ता, अपालक एवं अस्रष्टा है। स्पन्द-शास्त्र का परमात्मा सक्रिय है, स्रष्टा है, पालक है, संहर्ता है, अभिनेता है एवं अनुग्रहकर्ता है। वह स्वात्मप्रच्छादन की क्रीडा	१. परमात्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु उसकी शक्तियों के पाँच वर्ग हैं या पाँच शक्तियाँ हैं— क. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। ख. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। ग. तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः। घ. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। च. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। २. सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्। अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥ (स्वच्छन्द०) ३. 'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने' (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)। आभासन, शक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन एवं विलापन।

१-२. आत्मबोध (शंकराचार्य)

द्वारा जीव एवं जगत् भी बन जाता है; किन्तु वेदान्त का ब्रह्म इन सबसे अतीत है।

वेदान्त का ब्रह्म 'सर्वातीत' तो है, किन्तु स्पन्द के परमशिव की भाँति 'विश्वमय' नहीं है। विश्व तो उसकी दृष्टि में मिथ्या है; अतः वह मिथ्या के साथ एकाकार कैसे हो सकता है?

४. तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः। यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च॥ (स्पन्दकारिका)

५. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ। (स्पन्दकारिका)

स्पन्दशास्त्र में परमात्मा के दो पक्ष हैं—(१) विश्वमय एवं (२) विश्वातीत।

६. सर्वकरः सर्वज्ञः पूर्णो नित्योऽसंकुश्च। (महार्थमञ्जरी)

शांकर वेदान्त और स्पन्द दर्शन

शांकर वेदान्त	स्पन्द दर्शन
१. शांकर दर्शन में अद्वैतवाद प्रतिपादित है।	१. स्पन्द दर्शन में भी अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।
२. शांकर दर्शन में 'अहं ब्रह्मास्मि' की अपरोक्षानुभूति को ही चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है।	२. स्पन्द दर्शन में 'शिवोऽहं' की अनुभूति प्राप्त करना साधना की चरम परिणति के रूप में स्वीकृत है।
३. मुक्ति का आदर्श स्वरूप जीवन्मुक्ति है।	३. साधना की सिद्धि का अन्तिम सोपान जीवन्मुक्ति है।
४. मुक्ति का साधन ज्ञान है (भक्ति साधन है, साध्य नहीं)।	४. मुक्ति का साधन ज्ञान है (किन्तु योग एवं भक्ति भी ग्राह्य है)।
५. जीव और ब्रह्म मूलतः अभिन्न हैं; किन्तु जगत् नहीं।	५. जीव और शिव स्वरूपतः एक ही हैं (जगत् भी भगवत्स्वरूप है—'वन्दे देवं विश्वभवन्मयम्' (उत्पलदेवाचार्य)।
६. बन्धन का कारण 'अज्ञान' है।	६. बन्धन का कारण मल (संसाराकुर) है, जो अज्ञान का पर्याय है।
७. जीव, जगत् एवं ब्रह्म तीनों सत्तायें मूलतः अभिन्न हैं।	७. जीव-जगत् शिव मूलतः अभिन्न हैं।
८. सृष्टि परमात्मा की लीला है—'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्र०सू०)	८. सृष्टि परमशिव की क्रीड़ा है। जगत् परमात्मा के द्वारा आत्मभित्ति पर बनाया गया एक चित्र है। समस्त विश्व एक रङ्गशाला है, एक नाट्य है, एक अभिनय है। आत्मा अभिनेता है, नट है, शैलूष है।
९. जगत् मिथ्या है।	९. जगत् भगवान् की पराशक्ति का व्यक्त रूप

(क) संसार स्वप्नतुल्य मिथ्या है—'संसार-स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुल: । स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसद्भवेत् ।'

(ख) 'तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा । यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ।'

(ग) 'उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे । सर्गस्थितिलयान्यान्ति बुद्बुदानीव वारिणि ।'[1]

(घ) सच्चिदानन्द परमात्मा में जगत् उसी प्रकार आरोपित किया गया है, जैसे स्वर्ण में कंगन—प्रकल्पिता: हाटके कटकादिवत् । ब्रह्म में जगत् का अध्यारोप किया गया है । जगत् 'अध्यास' है ।

(च) यह अध्यास माया की आवरण एवं विक्षेप शक्ति के कारण हुआ है और यह अज्ञानमूलक है ।

(छ) जगत् माया का परिणाम एवं ब्रह्म का विवर्त है ।

१०. जगत् विज्ञानवादियों के विज्ञान या प्रत्यय के समान विचारमात्र नहीं है, मात्र मिथ्या कल्पना नहीं है; बल्कि व्यावहारिक सत्य है और ब्रह्म की सत्ता में प्रातिभासिक सत्य है । किन्तु पारमार्थिक सत्य की तुलना में मिथ्या है । अत: जगत् माया की ही भाँति सत् और असत् दोनों है तथापि परमार्थत: तो असत्य है ही; क्योंकि परमात्मा (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता है ही नहीं । यदि दूसरी सत्ता मान ही ली जाय तो अद्वैतवाद (अभेदवाद) रहेगा कैसे? शांकर मत है—विवर्तवाद । रामानुजी मत है—परिणामवाद । शंकर की दृष्टि में जगत् विवर्त है, रस्सी में सर्प की, जल में बुलबुले की

है । जगत् मिथ्या नहीं है । जगत् सृष्टि के पूर्व भी परमात्मा के भीतर उसकी अपनी समवायिनी शक्ति में बीजात्मना अवस्थित रहता है । सत् शक्ति का परिणाम असत् कैसे हो सकता है । जगत् 'अवभास' है । समस्त दृश्यमान जगत् (दृश्य) अपने ही विराट् व्यक्तित्व का एक अङ्ग है, अपना शरीर है—'दृश्यं शरीरम्' (शिवसूत्र १४) । 'यद्यद् दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरं वा तत्तद् सर्वम् 'अहमिदम्' इति सदाशिववन्महासमापत्त्या स्वाङ्गकल्पमस्य स्फुरति न भेदेन ।'[2]

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गा: प्रभा रवे: । ममैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विनिर्गत: ।'[3]

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित: ।' (स्पन्द०)

सांख्य का 'सत्कार्यवाद' अपने तांत्रिक स्वरूप में मान्य है । जगत् 'विवर्त' नहीं परमशिव का अवभास है । स्वातंत्र्यवाद, अवभासवाद ही यथार्थ सिद्धान्त है ।

१०. जगत् न तो बौद्धों का विज्ञान या शून्य है और न तो वेदान्तियों का परिणाम या विवर्त है; प्रत्युत यह परमशिव का आभास है, स्वातंत्र्य-शक्ति का स्वेच्छावभासित एक गन्धर्वनगर है ।

न द्वैतवाद सही है न रामानुज का विशिष्टाद्वैत, न वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद सही है और न तो शंकर का केवलाद्वैतवाद, न निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद सही है और न तो भेदाभेदवाद, न प्रतिबिम्बवाद सही है और न परिणामवाद, न विवर्तवाद सही है और न तो अवच्छेदवाद, न वेदान्तियों का आभासवाद सही है, न वेदान्तियों का मायावाद; बल्कि सही है—स्वातंत्र्यवाद । स्पन्दशास्त्र परिणामवाद एवं विवर्तवाद को भी सही नहीं मानता । आचार्य

---

१. शंकराचार्य : आत्मबोध
२. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी
३. विज्ञानभैरव

एवं मृगमरीचिका में जल की भ्रान्ति है। रामानुज की दृष्टि में जगत् परिणाम है— दूध की परिणति दही है, जो कि मूलत: तो दूध ही है; किन्तु एक बार दही बन जाने पर कभी दूध नहीं बन सकता, उसी प्रकार जगत् एवं जीव परमात्मा से पृथक् हो जाने के बाद अब कभी परमात्मा नहीं बन सकते।

सांख्य का सत्कार्यवाद जगत् को मिथ्या (विवर्त) न मानकर सत् मानता है; क्योंकि नित्यस्वरूप प्रकृति के सत होने के कारण— कारणस्वरूप प्रकृति का कार्य जगत् भी सत्य ही हो सकता है, असत् और मिथ्या नहीं।

शंकर ने 'परिणामवाद' (सौ०ल०) में स्वीकार किया है—वेदान्ती के रूप में नहीं; एक तांत्रिक भक्त के रूप में; किन्तु स्पन्दशास्त्र भास्करराय एवं तांत्रिक शंकर की भाँति परिणामवाद को अन्यतम सिद्धान्त मानकर नहीं चलता। वह स्वातंत्र्यवाद या अवभासवाद को मानकर चलता है; किन्तु उसका अन्यतम सिद्धान्त तो स्वातंत्र्यवाद ही है।

स्पन्दशास्त्र सांख्य के सत्कार्यवाद को सांख्य की दृष्टि से नहीं मानता; क्योंकि सांख्य की प्रकृति जड़ है, पुरुष से पृथक् है और स्वतंत्र नहीं है; किन्तु स्पन्द की शक्ति चेतन है, पुरुष में समवेत है और स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है; अत: उससे अवभासित या परिणमित सृष्टि न तो जड़ हो सकती है और न तो परमशिव से पृथक् हो सकती है।

११. शांकर दृष्टि में सत् केवल ब्रह्म है; माया न तो सत् है और न तो असत्। माया अनिर्वचनीय है।

११. स्पन्ददर्शन की दृष्टि में सत् परमशिव (ब्रह्म) एवं शक्ति दोनों है। शक्ति ही माया, महामाया एवं प्रकृति तीनों है। ये तीनों ही सत्य हैं, मिथ्या कोई नहीं है।

१२. माया जड़ है। यह सत्-असत् से परे है। यह ब्रह्म में समवेत नहीं है; फिर भी ब्रह्म की शक्ति है। यह मात्र अज्ञानोद्भाविका है, न कि मुक्तिदात्री।

१२. महामाया एवं शक्ति चेतन हैं। सत् हैं, परमशिव में समवेत हैं, परमशिव की अभिन्ना शक्ति है और अज्ञात होने पर तो बन्धनकारिणी हैं; किन्तु ज्ञात होने पर मोक्षदायिनी भी हैं।

१३. सांख्य की प्रकृति बन्धनप्रदा एवं मुक्तिदा—दोनों है; किन्तु देख लिए जाने पर विलुप्त हो जाती है। स्पन्दशास्त्र की मायाशक्ति भी अपने आवरक रूप में लुप्त अवश्य हो जाती है; किन्तु अपने मूल स्वरूप 'शक्ति' के रूप में नित्य बनी ही रहती है।

१३. स्पन्द की शक्ति ज्ञात हो जाने पर भी विलुप्त नहीं हो जाती; प्रत्युत स्वात्मप्रच्छादन हटाती है।

१४. परमात्मा ही अपना यथार्थ स्वरूप छिपाकर 'जीव' बन जाता है और वही

१४. 'श्रीसारशास्त्र' में कहा गया है कि परमात्मा ज्ञाता एवं भोक्ता दोनों है। वह शिव भी है

'भोक्ता' भी है और 'भोग्य' भी—इस स्पन्दीय दृष्टि को वेदान्तशास्त्र स्पन्दीय दृष्टि से स्वीकार नहीं करता।

ब्रह्म भोक्ता भी है और भोग्य भी, इसे स्पन्दशास्त्र तो स्वीकार करता है—भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित: (स्पन्द० २९); किन्तु अद्वैत वेदान्त इसे स्वीकार नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टि में भोग्य भोक्ता से पृथक् है और मिथ्या है। न तो आत्मा एवं परमात्मा कर्ता है और न तो भोक्ता—'न अहं कर्ता न भोक्ता, इत्यादि आत्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानादन्यन्न उत्पद्यते इति एष उपपद्यते।' इसे ही शंकराचार्य यथार्थ ज्ञान कह रहे हैं। (शंकराचार्य : शांकरभाष्य)

स्पन्दशास्त्र का परमशिव 'कर्ता' भी है और जगत् उसका 'कार्य' भी है—'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।' (स्पन्द कारि०) और उसको कोई आवरण ढक भी नहीं सकता—'तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्' (स्पन्दकारिका)। इस स्पन्दीय स्थापना को शांकर वेदान्त नहीं मानता।

शांकर दर्शन कर्तृत्व-भोक्तृत्व को उपाधि मानता है, न कि आत्मा का धर्म—'कूटस्थ: सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधित:' (विवेक-चूडामणि); किन्तु स्पन्दशास्त्र 'कर्तृत्व' को आत्मा एवं परमात्मा की आत्मशक्ति मानता है। यह परमात्मा की पाँच शक्तियों में से एक शक्ति है।

१५. शंकराचार्य का परमात्मा एक और जीव भी है, पशुपति भी है और पशु भी है—'स्वयं बध्नाति देवेश: स्वयं चैव विमुह्यति। स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत्॥'

१५. वह विश्व-नाट्य का 'नट' है, 'शैलूष' है, जगत् उसका 'नाट्य' है—'य एष विश्वनाटकशैलूष:। शुद्धसंविच्छंभु:। वर्णकपरिग्रहमयी तस्य दशा कापि पुरुषो भवति।'[1] 'नर्तक आत्मा' (शिवसूत्र), 'रङ्गोऽन्तरात्मा' (शिवसूत्र)।

१६. नानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा।[2]

९. संसारनाट्यप्रवर्तयित्वा सुप्ते जगति जागरूक एक एव परमेश्वर:।[3]

१०. जगन्नाट्यमाभासयति।

११. रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीडा-प्रदर्शनाशयेनात्मना इति रङ्ग:, तत्तदभूमिका-ग्रहणस्थानम् अन्तरात्मा।[4]

१२. विश्वनाटकस्य शैलूषो नट इति व्यपदिश्यते।[5]

१३. विश्व है क्या? महेश्वरानन्द कहते हैं—पृथ्वी से लेकर शिव-पर्यन्त समस्त विस्तार विश्व है।

१४. स्पन्दशास्त्र का परमशिव शांकर माया शक्ति से आवृत होकर जगत् एवं जीव नहीं बनता; प्रत्युत अपनी स्वाभिन्ना एवं स्वसमवायिनी शक्ति—स्वातंत्र्य शक्ति की सहायता से स्वेच्छापूर्वक अपने को आच्छादित कर लेता है। यह 'माया'

---

१. महेश्वरानन्द : महार्थमञ्जरी
२. शिवसूत्रविमर्शिनी
३. श्रीप्रत्यभिज्ञा
४. शिवसूत्रविमर्शिनी
५. महार्थमञ्जरी (स्वोपज्ञ टीका)

ऐन्द्रजालिक के समान है । जगत् जादूगर की लीला या अध्यासात्मक भावसृष्टि है, स्वकल्पित (मिथ्या) चमत्कार-प्रदर्शन है ।

ऐन्द्रजालिक न तो अपने में कोई परिवर्तन करता है और न तो अपने को छिपाता है । वह अपने से अन्य किसी पात्र का अभिनय भी नहीं करता । वह सब कुछ करता हुआ भी अप्रभावित, तटस्थ एवं अपरिवर्तित रहता है ।

ऐन्द्रजालिक का कार्य

स्वयं को अपने मूल स्वरूप में यथापूर्ववत् स्थिर रखकर (अपरिवर्तित रखकर) प्रस्तुत करना	किसी पदार्थ के स्वरूप को ढकना (आवरण)	ढके हुए पदार्थ के स्वरूप में एक नए रूप की सृष्टि कर देना (विक्षेप)

शंकराचार्य की मायावादी ऐन्द्रजालिक सृष्टि में 'ब्रह्म' तटस्थ है; अत: सम्पूर्ण जागतिक लीला और उसके चमत्कारों में 'ब्रह्म' अपने सत्स्वरूप के किसी भी अंश में विद्यमान नहीं है । जगत् रूपी इन्द्रजाल, ऐन्द्रजालिक चमत्कार आत्मस्वरूप से शून्य है, चमत्कार-प्रदर्शन केवल कल्पनासृष्टिमात्र है और उसमें यथार्थ सत्ता का कहीं संस्पर्शमात्र भी नहीं है । मायिक सृष्टि होने के कारण सब कुछ मायिक—ऐन्द्रजालिक है, अयथार्थ कल्पना की सृष्टि है । शांकर वेदान्त में तीन पक्ष हैं (१) 'एक' (ब्रह्म) तो इन्द्रजाल से पूर्णत: अप्रभावित, तटस्थ एवं अपरिवर्तित है । वही—

(२) अपनी कल्पना (मायाशक्ति) द्वारा मिथ्या भाव की सृष्टि कराता है ।

(३) 'माया' ब्रह्म पर आवरण डालती है । (स्पन्ददर्शन में) उस 'मेघ' के तुल्य नहीं है, जो कि जबर्दस्ती सूर्य को ढक लेता है ।

१५. स्पन्दशास्त्र का परमशिव एक 'शैलूष' है । जगत् का नाट्य है ।

अभिनेता (शैलूष या नट) की भूमिका ऐन्द्रजालिक से पृथक् होती है । वह अपने को अपने स्वाभाविक व्यक्तित्व, पहचान एवं स्वस्वरूप में रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत नहीं करता; प्रत्युत अपने ऊपर दूसरे पात्र के स्वरूप का आवरण डालकर प्रस्तुत होता है । वह अपना यथार्थ स्वस्वरूप मञ्च पर कभी प्रकट नहीं होने देता; प्रत्युत दूसरा बनकर प्रस्तुत होता है । इसमें दो व्यापार हैं—

(१) अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन ।

(२) दूसरे के (यथार्थ स्वरूप से भिन्न) स्वरूप को (अनुकृति द्वारा) तद्वत् प्रस्तुत करना अर्थात्

स्वस्वरूप का तिरोधान (आवरण का कार्य आत्म-प्रच्छादन)	अपने में अन्य स्वरूप की सृष्टि (विक्षेप शक्ति का कार्य)

स्पन्दशास्त्र का 'परमशिव' भले ही अभिनेता बनकर अपना स्वरूप छिपा लेता हो; किन्तु उसका परमार्थभूत स्वस्वरूप किंचिदपि परिवर्तित रूप में परस्वरूप में (अपने से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति के रूप में) प्रदर्शित अवश्य करता है, किन्तु फिर भी वह परस्वरूप नहीं होता । वह भी उसका अपना स्वरूप ही रहता है ।

जगत् परमशिव एवं उसकी शक्ति का जगदाकार 'अवभास' है, शिव-शक्ति का 'आत्मप्रच्छादनात्मक नाटक' है, 'स्वगोपनात्मक क्रीड़ा' है, जगत् अपने अन्तर्जगत् में बीजात्मना

शांकर वेदान्त के ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल में दिखाई गई प्रत्येक वस्तु मिथ्या होती है। 'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते' में इन्द्र का इन्द्रत्व स्वरूप वाला एकत्व तो सही है; किन्तु बहुरूपत्व (शक्ति की सृष्टि न होकर मायिक सृष्टि होने से) सत्य नहीं कही जा सकती। इसीलिए शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहकर जगत् के सत्यत्व का निषेध किया है।

स्पन्दशास्त्र माया के दो रूप मानता है—(१) शक्तिरूपा (२) तत्त्वरूपा। शक्तिरूपा माया 'महामाया' है। इसे 'मायाशक्ति' भी कहते हैं। तत्त्वरूपा माया 'माया' या 'मायातत्त्व' कहलाता है। मायाशक्ति (महामाया) 'परमं यत्स्वातंत्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य देवी माया शक्ति: स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्' अभेद में भेद-सर्जना करने का स्वातंत्र्य ही 'मायाशक्ति' है।

शांकर वेदान्त में भी शक्ति की कल्पना है। शांकर वेदान्त की शक्ति का नाम है माया। माया की दो शक्तियाँ हैं—

(१) आवरण शक्ति

(२) विक्षेप शक्ति

यह शक्ति ब्रह्म की शक्ति है। वेदान्त दर्शन में प्रकृति तो है, किन्तु मायाशक्ति भी है, जो कि प्रकृति से पृथक् है। वैसे तत्त्वत: दोनों एक हैं; क्योंकि 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।' तथापि माया और प्रकृति—दोनों अभिन्न नहीं हैं।

सांख्य की 'प्रकृति—

(१) यह जड़ है, अंधी है, अपनी क्रिया हेतु परपुरुष आश्रित है। यद्यपि वह स्वभावत: क्रियाधर्मिणी है तथापि क्रिया-निष्पादनार्थ उसे पुरुष की अपेक्षा है।

अवस्थित जगत् का 'वमन' है, प्रकटीकरण है; किन्तु सृष्टि नहीं है। 'जगत्' शक्ति की बाह्याभिव्यक्ति है। 'जगत्' परमशिव की सिसृक्षा है, इच्छाशक्ति का रूपान्तरण है—'एकोऽहं बहुस्याम' का रूपायन है। 'जगत्' परमशिव द्वारा अपनी आत्मभित्ति (विमर्श शक्ति, स्वातंत्र्य शक्ति) पर अपनी इच्छारूप तूलिका द्वारा निर्मित एक चित्र है। स्पंदीय नाटक में न तो अभिनीत कथावस्तु मिथ्या है, न अभिनय मिथ्या है, न चित्र मिथ्या है और न ही क्रीडा मिथ्या है। जगत् अभिनय, चित्र एवं क्रीड़ा है; अत: उन्हीं की भाँति सत्य है।

एक अभिनेता जितनी भी कथावस्तुओं में जितने भी पात्रों का अभिनय करता है, वे सभी कथावस्तुएँ भी सत्य रहती हैं और वे पात्र भी सत्य रहते हैं। अन्तर केवल यह होता है कि कथावस्तु का मूल पात्र उपस्थित नहीं रहता; उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति उस पात्र का अभिनय करता है और अभिनेता पात्र अपनी भूमिकायें बदलते हुए भी कभी बदलता नहीं। भूमिकायें बदलती हैं, पात्र नहीं।

स्पन्द जगत् को मिथ्या नहीं, सत्य स्वीकार करता है।

'स्पन्दशास्त्र' में भी शक्ति की कल्पना है। यह शक्ति परमशिव की शक्ति है। इसका नाम है—स्वातंत्र्य शक्ति, विमर्श शक्ति, चितिशक्ति।

परमशिव की शक्ति के पाँच रूप हैं

चित् शक्ति	आनन्द शक्ति	इच्छा शक्ति	ज्ञान शक्ति	क्रिया शक्ति

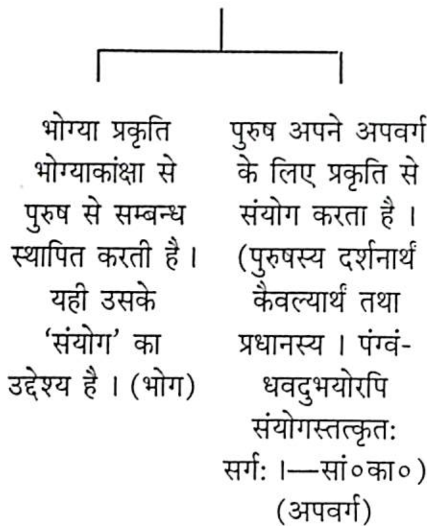
इस शक्ति के कई रूप हैं—(१) संवित् शक्ति-स्वातंत्र्य शक्ति (२) महामाया (३) माया (४) प्रकृति।

'सांख्यशास्त्र' में जगत् की उद्भाविका, नित्य किन्तु पुरुष से पृथक् (अंधी शक्ति) प्रकृति

(२) यह पुरुष से पृथक् एक नित्य एवं अनादि तत्त्व है तथा अपने अस्तित्व के लिए पुरुष पर आश्रित नहीं है।

(३) पुरुष न तो इसको जन्म दे सकता है, न नष्ट कर सकता है और न तो अपने में समवेत करके रख ही सकता है।

(४) प्रकृति और पुरुष दोनों विपरीत धर्मों वाले हैं। एक जड़ है और दूसरा चेतन, एक सक्रिय है और दूसरा निष्क्रिय, एक जान लिए जाने पर लुप्त हो जाती है; किन्तु दूसरा जान लिए जाने पर कैवल्य प्राप्त कर लेता है (लुप्त नहीं हो जाता)। दोनों के संयोग का उद्देश्य क्या है?



मात्र एक शक्ति है, जो जड़ है और अपने कार्यों के लिए एक पुरुष पर निर्भर है।

स्पन्दशास्त्र में माया की अवधारणा शांकर माया सांख्य की प्रकृति एवं Decartes (डेकार्टे) की प्रकृति—Natura, Nturata, Natura Naturans से भिन्न है। मल (क) आणव मल (ख) मायीय मल (ग) कार्म मल।

गीता की (१) परा प्रकृति (२) अपरा प्रकृति की अवधारणा भी भिन्न है।



स्पन्द और सम्पूर्ण त्रिकदर्शन या सम्पूर्ण तंत्रशास्त्र की प्रकृति की मूल अवधारणा लगभग एक जैसी है, क्योंकि तंत्रशास्त्र की कोई भी शाखा प्रकृति को मिथ्या नहीं मानती। सभी पर सांख्य के 'भोगापवर्गसाहचर्यवाद' का प्रभाव है। तंत्र कहता है—'भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'। इस प्रकार सांख्य की प्रकृति पुरुष को एक साथ—(१) भोग एवं (२) अपवर्ग दोनों देती है। स्पन्द की शक्ति का भी यही स्वभाव है।

सांख्य का पुरुष 'नट' के समान अपनी भूमिकायें निभाता है और स्पन्द का शिव भी—

(क) सांख्य का पुरुष—'नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।'

(ख) 'स्पन्द' और 'शिवसूत्र' का शिव[1] नर्तक आत्मा (शि०सू०) नानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा (शि०सू०वि०) त्वमेकांशेनान्तरात्मा नर्तक: कोशरक्षिता (देवीस्तव)।

---

१. 'प्रत्यभिज्ञा' में परमेश्वर को विश्व नाट्य का प्रवर्तयिता कहा गया है—'संसारनाट्यप्रवर्तयिता सुप्ते जगति जागरूक एक एव परमेश्वर: ।'

परमशिव कर्ता है—परमशिव अपने ही चिद्गगनात्मक आत्मा में तथा अपने शरीराङ्ग में सम्भेद-विभेद के द्वारा जगत् का निर्माण और उसका ध्वंस करता है—'स्वाङ्गे चिद्गगनात्मनि दुग्धो दधिनिभः स्वशक्तिलहरीणां संभेदविभेदाभ्यां सृजति ध्वंसयति चैष जगत् ।'[१]

प्रकाशात्मा शिव ज्ञातृता, कर्तृता, स्वतंत्रता आदि शक्तियों से युक्त है—

ज्ञातृताकर्तृतारूपयामलात्मा स्वतंत्रता ।
इच्छादिसंविच्छक्त्यैक्यमयी संघट्टरूपता ।
इत्येतच्चिन्तयात्मा च प्रकाशः सार्वकालिकः ॥[२]

सर्वशक्तिवाद स्पन्दशास्त्र की एक प्रमुख विशेषता है । शक्ति का सिद्धान्त तो प्रायः सभी दर्शनों में स्वीकृत है । हाँ, उसके स्वरूप के विषय में दृष्टिभेद अवश्य है । उदाहरणार्थ द्रव्यव्य है—

(क) योगशास्त्र—चिति शक्ति—

(१) 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।' (४।३४)

(२) चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् । (४।२२)

महामाया क्या है? 'स्वातंत्र्य शक्ति' की वह अवस्था, जिसमें अहन्तारूप में स्थित इदन्ता को भेदरूप में अवभासित करने की ओर केवल प्राथमिक संकल्पात्मक स्फुरणा होती है, किन्तु इदन्ता पृथक् नहीं रहती । यही है—स्पन्दशास्त्र की महामाया ।

(ख) सांख्यशास्त्र—प्रकृति तत्त्व—

सांख्यशास्त्र मूलतः दो तत्त्व मानता है—(१) पुरुष एवं (२) प्रकृति । चौबीस तत्त्व तो प्रकृतिस्वरूप ही हैं । तेईस तत्त्व प्रकृति के ही परिणाम हैं । प्रकृति एक स्वतंत्र जड़ शक्ति है । सांख्य दर्शन में दो शक्तियाँ हैं—(१) चेतन शक्ति = पुरुष (पशु) (२) जड़ शक्ति = प्रकृति (अंधी) : पशु (लँगड़े) एवं अंधे (प्रकृति) के संयोग से ही सृष्टि होती है । यही प्रकृति पुरुष को सात रूपों से बंधनग्रस्त करती है—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ (६३)

शक्तिस्वरूपा 'जननी'—('शक्तिस्त्रिजननी' (आ०द०); 'यन्मातापितरौ (श०सू०) 'मातरं नारदः' (शि०सू० १।१०३) ।

(ग) मातृकाचक्रविवेक की दृष्टि—इस ग्रन्थ के अनुसार परा जननी ही समुपासनीया है । वह बन्धन में बाँधती भी है और बन्धन से मुक्त भी करती है । (क) जब उसके 'इदं' अंश का समुच्छ्रय होता है तक वह बन्धन में डालती है और (ख) जब उसके 'अहं' अंश का समुच्छ्रय होता है तब वह मुक्ति प्रदान करती है—

---

१. विरूपाक्षपञ्चाशिका
२. परात्रिंशिकातात्पर्यदीपिका

तस्मात् परैव जननी समुपासनीया
व्योम्न: परस्य गतजाड्यमियंहरूपम् ।
बध्नाति चेयमिदमंशसमुच्छ्रयेण,
जन्तून्विमोचयति चोन्नमिताऽहमंशात् ॥[१]

(घ) वेदान्त शास्त्र—जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है और इससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥

माया शक्ति की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण शक्ति (२) विक्षेप शक्ति ।[२]

तांत्रिक शंकराचार्य की दृष्टि—वेदान्ती शंकराचार्य तो शक्ति को जड़, पराश्रित, सापेक्ष, सत-असत् से परे, बन्धन में डालने वाली एक शक्ति मानते हैं, किन्तु तांत्रिक शंकराचार्य तो शक्ति को ही सृष्टि का मूल, शिव की आत्मा एवं शिव की कर्तृत्वशक्ति मानते हैं और कहते हैं कि यदि शक्ति न हो तो शिव हिल भी नहीं सकते—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि ॥[३]

वामकेश्वर महातन्त्र में भी इसी मत की पुष्टि की गई है—

परोऽपि शक्तिरहित: शक्त्या युक्तो भवेद्यदि ।
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्त: शक्त एव हि ॥

शाक्त सम्प्रदायों की दृष्टि में तो शक्ति ही सब कुछ है; अत: वेदान्त के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (वे०सू०१) के स्थान पर वहाँ 'अथात: शक्तिजिज्ञासा'[४] एवं 'अथात: शक्ति-जिज्ञासा'[५] का ही स्वर श्रुतिगोचर होता है। यह शक्ति ही जगन्निर्माणादि व्यापारों की विधायिका, निष्पादिका एवं सूत्रधार है—

(क) विचित्रजगन्निर्माणादिसामर्थ्यरूपा शक्ति: । (१।१)[६]

(ख) यत्कर्त्री (१।२)[७]

हयग्रीवोक्त शक्ति के दो भेद हैं—(१) विद्या शक्ति (२) अविद्या शक्ति (शक्ति-र्द्विधा ॥ १।११ ॥ विद्याऽविद्येति । १।१२ ॥)[८]

विश्व का कारण शक्ति ही है—अत: कारणं शक्तिरेवेति हयग्रीव: ।'[९] यह शक्ति क्या माया है या प्रकृति? हयग्रीव कहते हैं—यह एक चेतन शक्ति है और वह है—भुवनेश्वरी शक्तिशब्दवाच्या भुवनेश्वरी ।[१०]

वेदों में भी शक्ति की महनीयता को स्वीकार किया गया है—

---

१. स्वतंत्रानन्दनाथ
२. शंकराचार्य : विवेकचूड़ामणि
३. सौन्दर्यलहरी
४. शक्तिसूत्रम् (अगस्त्य)
५-६. शाक्तदर्शनम् (आचार्य हयग्रीव)
७. शक्तिसूत्रम्
८-१०. शाक्तदर्शनम्

(१) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।

(२) य एतां मायाशक्तिं वेद मृत्युं जयति ।
स पाप्मानं तरति, सोऽमृतत्वमधिगच्छति ॥

(३) यो हि महामायां ब्रह्मशक्तिं वेत्ति, स मृत्युं जयति ।

(४) इसके नामों में वैभिन्न्य अवश्य है—
केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचित् जडां परे,
अज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम् ।
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः ॥

माया की शक्तियाँ—शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।

(१) विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ।
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।

(२) आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।[१]

पद्मपादाचार्य ने 'प्रपञ्चसारविवरण' में कहा है कि वह शक्ति ही अविद्या के द्वारा प्रपञ्च बन गई है—सा परापरशक्तिरविद्यया प्रपञ्चरूपतां प्राप्ता ।

संवित्प्रकाश में कहा गया है कि वाणी (शब्द) ही विश्व का सृष्टि-संहार करती है, कार्यानुरूप नाम धारण करती है एवं चराचर के जीवनयात्रा का निर्वाह करती है ।

स्पन्दप्रदीपिका (स्पन्दशास्त्र) में कहा गया है कि शक्तिसमूह अनन्त रूप में स्फुरित हो रहा है । शक्तिमान आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ जगत् हैं । शक्तियों के बल से ही आत्मा की प्रभु संज्ञा हुई है ।

परमशिव की समवायिनी शक्ति इच्छाशक्ति है और इसी से ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति तथा सम्पूर्ण जगत् (शक्ति से अभिन्न रूप में) इसी शक्ति के भीतर उत्पन्न होता है । जगत् शक्ति का ही विराट् एवं व्यक्त रूप है । 'सृष्टिस्तु कुण्डली शक्तिः' कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है ।

तत्त्वविचार में कहा गया है कि जगत् का उदय और विलय शक्ति के प्रसार एवं संकोच के साथ बँधे हुए हैं ।

स्पन्दप्रदीपिका में कहा गया है कि—उन्मेष और निमेष (सृष्टि और प्रलय) आत्मारूपी परमात्मा की शक्तियों का प्रसार एवं विराममात्र हैं । ये दोनों विमल संवित् तत्त्व के स्वाकार ।

कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया है कि—तुम्हारे उन्मेष-निमेषमात्र को ही सृष्टि-प्रलय कहते हैं । उन्मेष में ज्ञान, क्रिया आदि से गर्भित इच्छाशक्ति का निवास है और वह प्रसृत होती है । इच्छा से ज्ञान प्रवृत्त होता है और क्रिया-करण के संयोग से पदार्थों की उत्पत्ति होती है । इसका विराम ही प्रलय है ।

---

१. सरस्वतीरहस्योपनिषत्

सारांश यह कि शक्ति ही जगत् के रूप में फैल गई है। जगत् शक्त्यात्मक, शक्तिस्वरूप एवं शक्तिप्रसारात्मक है; अत: समस्त विश्व एवं विश्व के समस्त अस्तित्व शक्तिमात्र हैं।

जगत् शक्ति है, शक्तिस्वरूप है, शक्तिस्फार है। चूँकि जगत् शक्ति की सृष्टि है: अत: जगत् शक्तिरूप है—'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वर:'।[१]

स्पन्दशास्त्र की मान्यता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् स्वतंत्र चिति शक्ति में स्थायी रूप से (दर्पण में दृष्ट प्रतिबिम्ब की भाँति एवं शक्ति से अभिन्न रूप में) अवस्थित है। प्रतिबिम्ब भी दर्पण में पृथक् दृष्टिगत होते हुए भी दर्पण से अपृथक् है। उसी प्रकार पृथक् रूप से आभास्यमान दर्पणरूप शिव भी शक्ति से अभिन्न है।

त्रिपुरारहस्य के ज्ञानखण्ड में शक्ति की व्यापकता की इस प्रकार विवेचना की गई है—(१) निर्विकल्पावस्था में वही पराशक्ति चिच्छक्ति कहलाती है।

(२) अन्तर्लीनावस्था में वही पराशक्ति महामाया कहलाती है।

(३) वही पराशक्ति विकल्पात्मक अवस्था में व्यक्त होने पर जड़शक्ति कहलाती है।

यही शक्ति परमात्मा का मुख (शैवीमुखमिहोच्यते), हृदय, स्फुरत्ता, सार, चिति, प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक्, स्वातंत्र्य, स्वरसोदिता, ऐश्वर्य, महासत्ता आदि कहलाती है—

चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मन:॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन:॥[२]

यही शक्ति रूपान्तरण में मायाशक्ति भी कही जाती है और प्रकाशात्मा परमात्मा इसी मायाशक्ति के द्वारा अपने अभेद स्वस्वरूप को भेदात्मक रूप में प्रस्तुत करके विश्व को आभासित करता है— प्रकाशात्मन: परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते।[३]

मायाशक्त्या विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।[४]

भास्करराय इसे स्फुरत्ता, विमर्श एवं शक्ति कहते हैं और कहते हैं कि उसी के उद्योग से शिव जगत् की सृष्टि एवं संहार करते हैं—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्ति:।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति॥

यहाँ शक्ति के तीन कार्य बताये गये हैं—(१) सृष्टि (२) पालन (३) संहार।

शिव की यह शक्ति चार प्रकार की सृष्टि करती है—(१) अर्थमयी सृष्टि (२) शब्दमयी सृष्टि (३) चक्रमयी सृष्टि (४) देहमयी सृष्टि—

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टि:॥[५]

---

१. परात्रिंशिका
२. उत्पलदेवाचार्य : प्रत्यभिज्ञाकारिका
३. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
४. प्रत्यभिज्ञाकारिका
५. भास्करराय : वरिवस्यारहस्यम्

परमशिव की भाँति शक्ति के दो रूप हैं—

(१) विश्वात्मक रूप (२) विश्वोत्तीर्ण रूप

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः ।[1]

शक्ति के अन्य रूप

चितिशक्ति | आनन्दशक्ति | इच्छाशक्ति | ज्ञानशक्ति | क्रियाशक्ति

शक्ति का सृष्ट्यात्मक स्वरूप

अर्थमयी सृष्टि के रूप में | शब्दमयी सृष्टि के रूप में | चक्रमयी सृष्टि के रूप में | देहमयी शक्ति के रूप में

परमात्मा की यह शक्ति चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, विमर्श, महामाया, प्रकृति, अनुग्रह शक्ति, तिरोधान शक्ति एवं शक्तिचक्र आदि के रूप में स्थित है—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी, चिद्गगनचरी, शान्ता, अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, कामकला, कुण्डलिनी, महाकुण्डलिनी, नाद, अम्बिका, परावाक्, समना, उन्मना, मातृका आदि सभी हैं । वह परमेश्वरी कुण्डली एवं मातृका भी कही गई है—

इच्छाज्ञानक्रियारूपा कुण्डलीं परमेश्वरीम् ।
प्रसुप्तभुजगाकारां मातृकारूपिणीं शिवाम् ।।[2]

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—भगवती चिति शक्ति ही विश्व का वमन (बहिःप्रकाशन) करने के कारण वामेश्वरी का रूप ग्रहण करती हुई खेचरी, गोचरी, दिक्चरी एवं भूचरी रूप प्रमाता, अन्तःकरण, बाह्य करण एवं वस्तुस्वभाव के रूप में स्फुरित होती है । वही पशुभूमिका में शून्य पद को ग्रहण करके पारमार्थिकी चिद्गगनचरी का स्वस्वरूप छिपाकर किंचित्कर्तृत्वादिरूप कलादिक शक्ति के रूप में खेचरी चक्र के रूप में प्रकाशित होती है । उसकी कर्तृता शक्ति ऐश्वर्य शक्ति है; किन्तु अपने स्वरूप को छिपाकर प्रकट होने पर वही शक्ति प्राण, अपान, समान, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, देह, पुर्यष्टक बनकर संसारित्व भी प्राप्त कर लेती है ।

जब वही ऐश्वर्य शक्ति मध्य धाम में प्रवेश करती है तब सुषुम्ना पक्ष के उल्लास के रूप में उदान शक्ति, विश्वव्यापक सारशक्ति के रूप में व्यान शक्ति; आनन्दघन रूप में तुर्यावस्था एवं चिद्घनरूप में तुर्यातीतावस्था कही जाती है और फिर वही देहादिक अवस्था में भी प्रतिदशात्मक जीवन्मुक्ति बनकर प्रस्तुत होती है, किन्तु वही चित्प्रकाश के संकोच की अवस्था में संसारी पशु (जीव) भी बन जाती है । विश्व के संघटक छत्तीस तत्त्वों के रूप में भी वही शक्ति अवतरित होती है । वही संकोच की दशा में चित्त भी बन जाती है । वही संकोच के विगलित होने पर स्वस्वरूप प्राप्त करके अपनी चिन्मय परावस्था में आकर चिति का रूप ग्रहण करती है ।[3]

वही परा शक्ति कामेश्वर की कामेश्वरी, शक्तिमान की शक्ति और प्रकाश की विमर्श

१. पराप्रावेशिका : क्षेमराजाचार्य २. स्वच्छन्दतन्त्र
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

शक्ति भी है। अमृतानन्द ने दीपिका में कहा है कि—'प्रकाश-विमर्शसामरस्यरूपिणी यही परा शक्ति' संकेतत्रय में भी विभक्त है, जो निम्नांकित है—(१) चक्रसंकेत (२) मन्त्रसंकेत (३) पूजासंकेत। (प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणी परा अस्यास्त्रिविधः संकेतः)।

वही शक्ति स्वेच्छया विश्व के रूप में विराट् स्वरूप ग्रहण कर लेती है। जब वह अपनी स्फुरत्ता का साक्षात्कार करती है तब चक्रों की उत्पत्ति हो जाती है। उसका स्फुरता, ईक्षण ही चक्रों के जन्म का कारण है—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥[1]

यह शक्ति 'जगदंकुररूपिणी' है—(कामकलाविलास)

कामकलाविलास में पुण्यानन्द की दृष्टि—आचार्य पुण्यानन्द कहते हैं—

स्फुटशिवशक्तिसमागमबीजांकुररूपिणी पराशक्तिः।
अणुतररूपानुत्तरविमर्शलिपिलक्ष्यविग्रहा भाति ॥

वही कामकला चक्रात्मिका एवं महात्रिपुरसुन्दरीरूपा भी है—

इति कामकला विद्या देवी चक्रक्रमात्मिका सेयम्।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपा ॥

उसे जानकर साधक महात्रिपुटी के साथ ऐकात्म्य, तादात्म्य एवं समरसत्त्व प्राप्त कर लेता है। वही शक्ति परा वाक् भी कहलाती है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता ॥[2]

वही वामा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाक् भी है—

(१) बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी।
वामा विश्वस्य वमनादंकुशाकारतां गता ॥[3]
(२) इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ॥[4]
(३) ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा।
तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता ॥[5]
(४) प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गाटवपुरुज्ज्वला।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ॥[6]

प्रकाश कौन है? 'स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टेन दृश्यते किमपि। कथमिव तस्मिन्ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे'—वरिवस्यारहस्यम् (भास्करराय)।

विमर्शांश में विमर्श कौन है? 'तस्य देवादिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः। विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी' (श्री कालीकुल)।

१-६. योगिनीहृदय



प्रकाशांश	विमर्शांश
(१) अम्बिका और शान्ता का सामरस्य →	परवाक्
(२) वामा शक्ति और इच्छाशक्ति सामरस्य →	पश्यन्ती वाक्
(३) ज्येष्ठा शक्ति और ज्ञानशक्ति का सामरस्य →	मध्यमा वाक्
(४) रौद्री शक्ति और क्रियाशक्ति का सामरस्य →	वैखरी वाक्

जिस प्रकार बीज में वृक्ष स्थित रहता है, उसी प्रकार षट्त्रिंशदात्म विश्व परा शक्ति में तन्मात्राओं के रूप में अवस्थित रहता है—यथा बीजे वृक्षस्तथा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वं परायां कारणतायां तन्मात्रामास्थितम् ।[1] पराशक्ति ही विश्व का बीज है—स्फुरत्तात्मा पराशक्ति-र्बीजं विश्वस्य कारणमिति ।[2]

सृष्टि की दिशा में शक्तितत्त्व की भूमिका

शक्ति के भेद—



→ चित् शक्ति
→ आनन्द शक्ति
→ इच्छा शक्ति
→ ज्ञान क्रिया
→ क्रिया शक्ति

शक्तिपञ्चक (परात्रिंशिका के अनुसार)

चित् शक्ति[3] का प्राधान्य	आनन्दशक्ति[4] का प्राधान्य	इच्छाशक्ति का प्राधान्य	ज्ञानशक्ति का प्राधान्य	क्रियाशक्ति का प्रभाव
↓	↓	↓	↓	↓
तुर्यातीतावस्था	तुर्यावस्था	सुषुप्ति	स्वप्न	जागृति

---

१. अमृतानन्द : दीपिका
२. भास्करराय : सेतुबन्ध
३. 'एषणीयपूर्णतया तन्नित्याप्यानन्दशक्तिप्रधानं तुर्यम्' (आ० १०२ श्लोक १८५ : तंत्रालोक टीका)
४. चिदात्मा परमात्मा की ऐश्वर्य शक्ति—(सुषुम्ना में पहुँचने पर) उत्पन्न उदान एवं व्यान शक्ति आनन्दघन 'तुर्यदशा' एवं चिद्घन 'तुर्यातीत दशा' कहलाती है ।
निरानन्दतया सर्वसर्वात्मकपरिपूर्णस्वरूपविश्रान्तेः चिच्छक्तिप्रधानं तुर्यातीतम् (तंत्रालोक)।

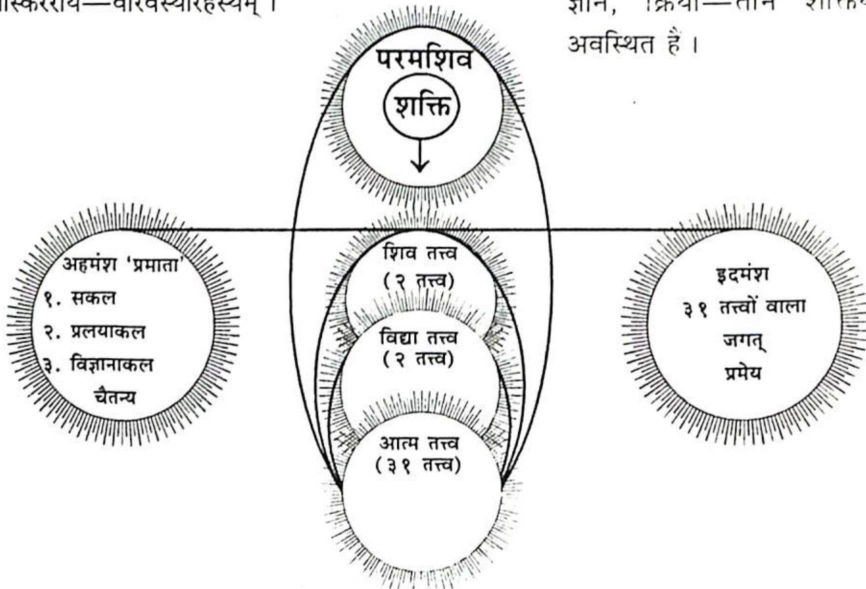
परमात्मा की शक्तियाँ

प्रकाशरूपता चिच्छक्ति	स्वातंत्र्य आनन्द शक्ति	चमत्कार इच्छाशक्ति	आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति	सर्वाकार योगित्व क्रियाशक्ति
तस्य परमेश्वरस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ।	स्वातंत्र्यम् आनन्दशक्तिः ।	तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः ।	आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः ।	सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।

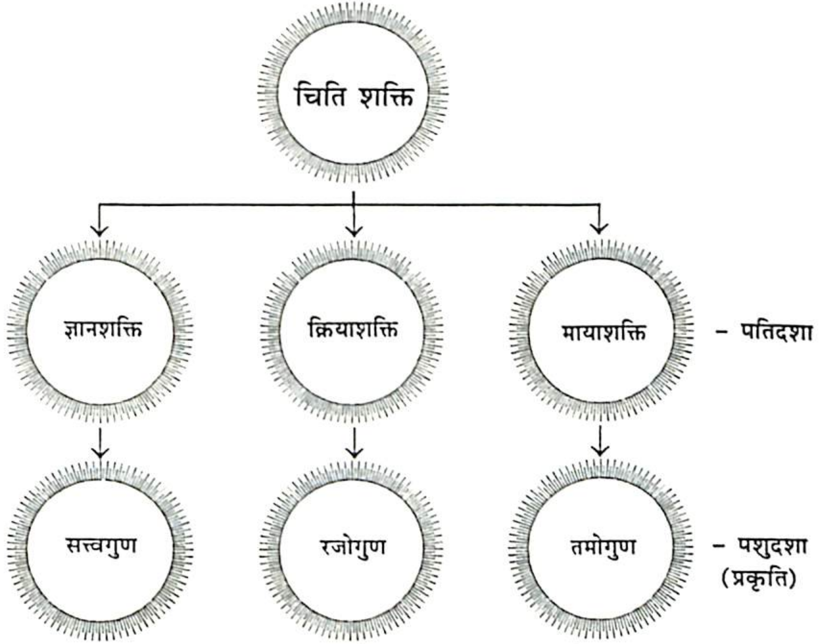
तन्त्रसार में भी इसे पुष्ट किया गया है—(१) 'प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति' (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी) (२) स्वातन्त्र्यं आनन्दशक्तिः (३) तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः (४) आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, आमर्शश्च ईषत्तया वेद्योन्मुखता (५) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः—तन्त्रसार ।

शक्ति का स्वरूप—नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः । तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयाति पाति संहरति । भास्करराय—वरिवस्यारहस्यम् ।

यह 'शक्ति' है कौन? 'मम शक्तिः स्वातंत्र्यरूपा इच्छादित्रयात्मोच्यते, (नेत्रतन्त्र) । यह शक्ति वह स्वातंत्र्य शक्ति है, जिसके गर्भ में इच्छा, ज्ञान, क्रिया—तीन शक्तियाँ अवस्थित हैं ।

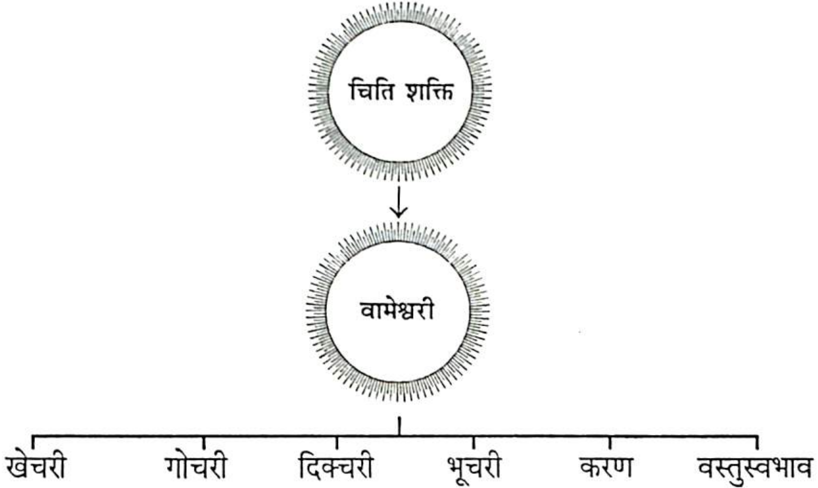


(१) शिवतत्त्व—(१) शिव (२) शक्ति
(२) विद्यातत्त्व—(१) शुद्ध विद्या (२) सदाशिव (३) ईश्वर
(३) आत्मतत्त्व—पृथ्वी से मायातत्त्व तक पृथ्वी तक ।



यद्यपि परमशिव की शक्ति एक ही है और वह है—स्वातंत्र्य शक्ति, तथापि वही एक शक्ति भिन्न भिन्न स्वरूपों में अपने को विभाजित कर लेती है—

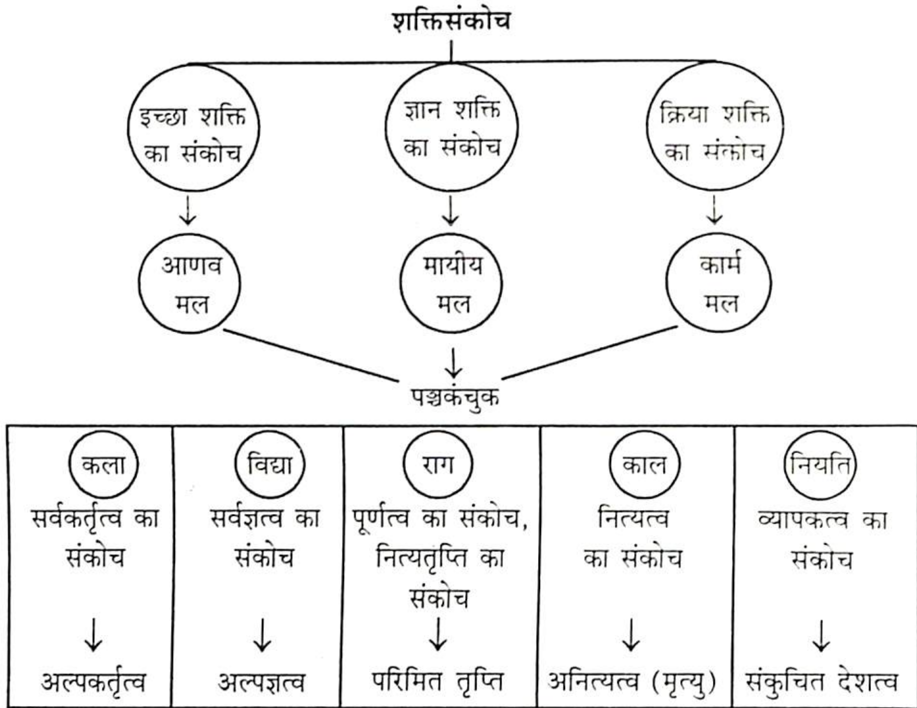
शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि! भेदैरानन्त्यसंभवैः ।। —स्वच्छन्दतन्त्र



आचार्य क्षेमराज (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

स्वातंत्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति इतिश्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ।

—(क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)



(१) आणव मल— अप्रतिहतस्वातंत्र्यरूप इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम् ।

(२) मायीय मल—ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वापत्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम् ।

(३) कार्ममल—क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपं संकोचग्रहणपूर्वं अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानं कार्मं मलम् ।

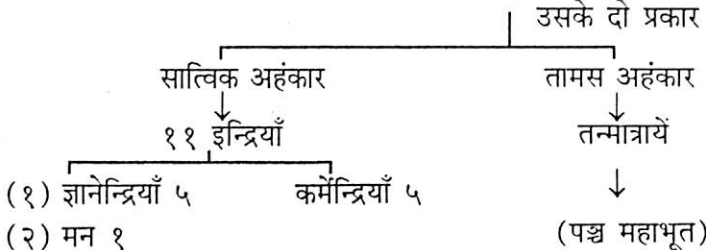
सांख्यदर्शन में सृष्टि-क्रम निम्नानुसार है—

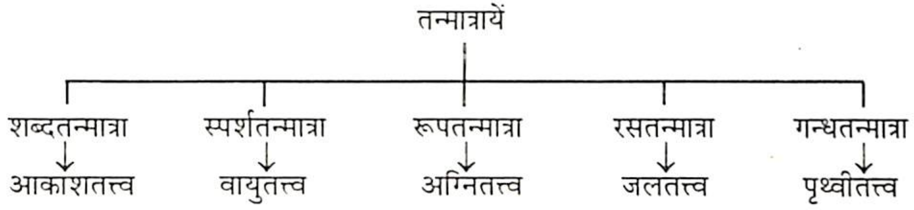
(१) मूल प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग
↓
(२) महत्तत्त्व
↓
(३) अहंकारतत्त्व (भूतादि)

अहंकार एक ही है, तथापि इनमें से

(१) सत्त्व गुण का प्राबल्य

(२) तमोगुण का प्राबल्य होने पर उसके दो प्रकार हो जाते हैं ।





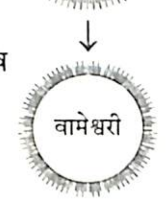
सांख्य के तत्त्व

(१)	प्रकृति	०१	
(२)	विकृति	१६	
(३)	प्रकृति विकृति	०७	
(४)	न प्रकृति न विकृति	०१	पुरुष
	तत्त्व	२५	



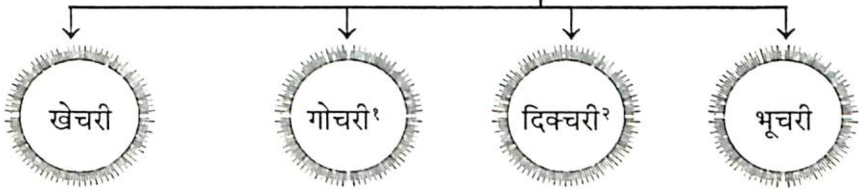
= परमशिव की समवायिनी स्वातंत्र्य शक्ति

= विश्व के बाह्य प्रसार की भूमिका में स्वातंत्र्य शक्ति का वामेश्वरी के रूप में अवतरण/रूपान्तरण



= स्वस्वरूप 'अहं' का 'इदं' के रूप में अवभासन।

निम्न शक्तियों का 'इदं' में अहं अभिनिवेशस्वरूप दुराग्रह उत्पन्न करना



'चिद्गगनचरी' का स्वरूप कलादि शक्त्यात्मक खेचरी चक्र रूप में रूपान्तरण

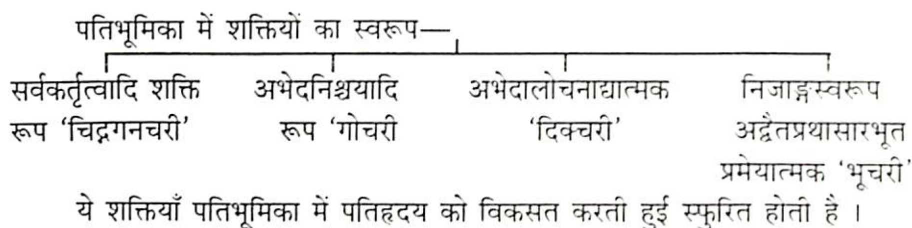
अभेद परामर्श स्वरूप पारमार्थिक स्वरूप छिपाकर भेदाभिमानप्रधान अन्त:करणों का देवीस्वरूप गोचरी चक्र के रूप में रूपान्तरण

भेदालोचन प्रधान बाह्य करणों का देवी स्वरूप दिक्चरी चक्र के रूप में अवतरण, रूपान्तरण

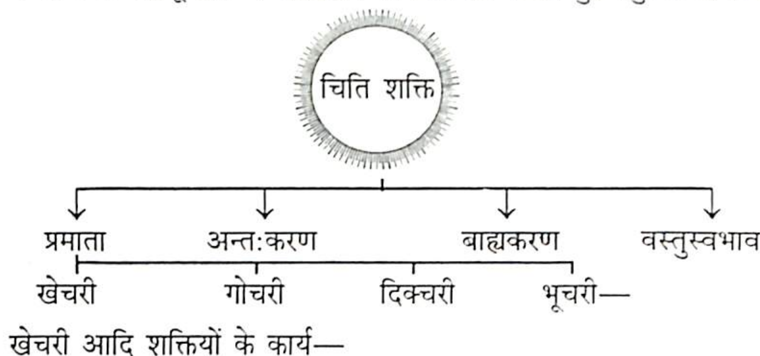
सर्वात्मस्वरूप को छिपाकर भेदाभास-स्वभाव एवं प्रमेयरूप भूचरी चक्र का अवतरण रूपान्तरण। भू: रूपादिपञ्चकं भेदपदं तत्र चरन्ति भूचरी।

खे बोधगगने चरन्ति इति खेचर्य:। शून्यप्रमातृभूमि-चारिण्य: कालकलाविद्यारागनियतिनयतया बन्धयित्र्य:॥

१. गोचरी—गौ: वाक् तदुपलक्षितासु सञ्जल्पमयीषु बुद्ध्यहंकारमनोभूमिषु चरन्ति इति गोचर्य:।
२. दिक्षु च दशसु बाह्येन्द्रियभूमिषु चरन्ति इति दिक्चर्य:।



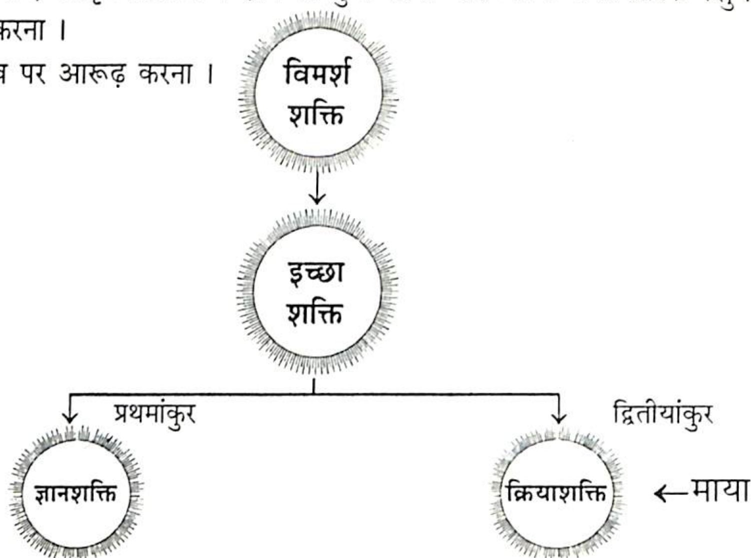
ये शक्तियाँ पतिभूमिका में पतिहृदय को विकसत करती हुई स्फुरित होती है ।



खेचरी आदि शक्तियों के कार्य—

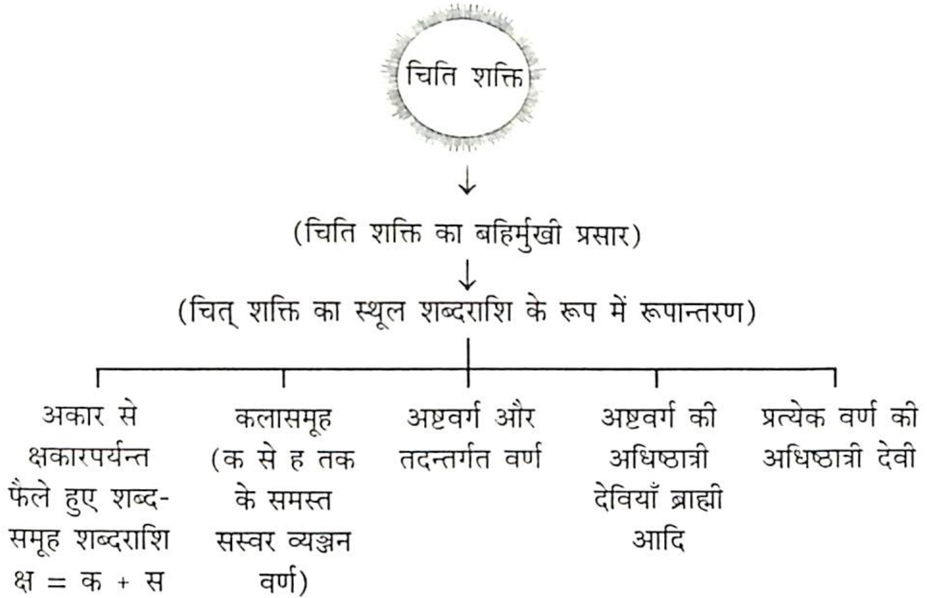
(१) विश्वात्मभाव, पञ्चकृत्यकारित्व के ज्ञान को लुप्त करना और आत्मा में सांसारिक पशुभाव उत्पन्न करना ।

(२) शिवभाव पर आरूढ़ करना ।



अ से ह-पर्यन्त प्रसृत अहंस्वरूपात्मिका विमर्श शक्ति का अवतरण—

इच्छाशक्तिः परा देवि यया सर्वमधिष्ठितम् ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारांस्तिरोभावमनुग्रहम् ॥
यया करोति देवेशः सर्वदा सर्वमध्वनि ।
तस्योत्सङ्गगता सा तु नित्यं चैवात्मवर्तिनी ।
सा चेच्छा देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः ।
स एवापररूपेण पञ्चमन्त्रमहातनुः ॥
इच्छारूपधरः श्रीमान् देवदेवः सदाशिवः ॥—(स्वच्छन्दतन्त्र)



स्पन्दकारिका—

> शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
> कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥

अ से क्ष तक की शब्दराशि चिति शक्ति का ही बहिर्मुखी प्रसार है ।

(१) 'शब्दराशि' अ से क्ष-पर्यन्त प्रसृत है और इन समस्त शब्दों को अष्टवर्गों में विभाजित किया गया है । वर्णसमाम्नाय के आठ वर्ग हैं ।

(२) प्रत्येक शब्द की एक स्वामिनी (अधिष्ठात्री देवी) होती है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक शब्दवर्ग की एक स्वतंत्र अधिष्ठात्री देवी होती है ।

(३) ये अधिष्ठात्री देवियाँ चित् शक्ति को ढककर (उनके स्वरूप पर आवरण डालकर) अवस्थित रहती हैं, जिससे चित् शक्ति के यथार्थ स्वरूप का पता ही नहीं चल पाता । इन आठ शक्तियों के परिवार को 'मातृका' कहते हैं ।

(४) 'अहं' ('अ' से 'ह' तक के वर्णसमुदाय) में ही सम्पूर्ण शब्दराशि अवस्थित है । 'अ' = शिव । 'ह' = शक्ति । इसी अहंता में सम्पूर्ण शब्दराशि स्थित है । प्रकाश-रूप 'शिव' एवं विमर्शस्वरूप 'शक्ति' की सामरस्यावस्था ही समस्त विश्व की आत्मभूत एवं आधारभूत नींव है ।

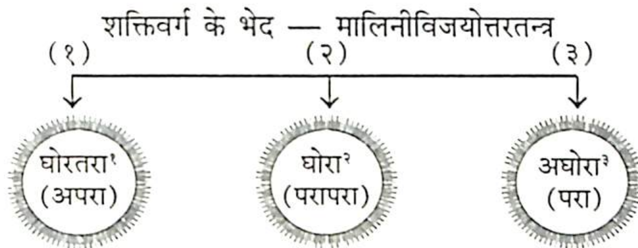
(५) इस सत्ता का स्वस्वरूप 'अहंविमर्श' (महामंत्र) ही है । 'क्ष' कूटबीज है ।

(६) शब्दराशि से आविर्भूत शक्तिवर्ग की दासता में पड़े हुए पतिप्रमाता को ही पशुप्रमाता कहा गया है । ककार आदि कलाओं ने शिव के वैभव (स्वातंत्र्य) को पूर्णतः नष्ट कर दिया है । (स्पं०का०)

भेद-भूमिका पर अवतीर्ण विमर्शशक्ति के रूप

- 'माहेशी' पीठेश्वरी कार्य
  - १. चित्शक्ति का आवरण २. विकल्प परम्परा को जन्म
  - मुक्ति
- 'ब्राह्मी' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'कौमारी' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'वैष्णवी' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'ऐन्द्री' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'याम्या' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'चामुण्डा' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति
- 'योगेशीं' पीठेश्वरी
  - १. चितिशक्ति का आवरण २. विकल्पों को जन्म
  - मुक्ति

शक्तिवर्ग के भेद — मालिनीविजयोत्तरतन्त्र



(१) अपरा (घोरतरा)—तमोगुण-प्रधान प्राणियों के लिए शक्तिवर्ग का यह रूप अत्यन्त भयप्रद है। यह उन्हें निरन्तर कामिनी, काञ्चन एवं अन्य जागतिक विषय-भोगों में निरत रखता है—

The Aparā keeps always surrounding the Rudra souls and pushes the Jivas on the downword march by attaching them to sence objects.

(२) घोरा (परापरा)—रजोगुण-प्रधान प्राणियों के लिए शक्तियों का रूप घोर भयप्रद है; किन्तु घोरतरा-जैसा भयंकर नहीं है। इस भूमिका में अवस्थित व्यक्ति के ऊपर यदि ईश्वरानुग्रह हो तो वह आत्मोद्धार स्वयमेव कर सकता है। यद्यपि घोरा शक्तियाँ मुक्ति का द्वार बन्द रखती हैं और जीवों के मन में शुभाशुभ कर्मफलों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती हैं—

Parāparā, like the former, hindens the progress of the Jivas towards their goal of life and brings about their attachment to the mixed fruit of pain and pleasure.

(३) अघोरा (परा)—सत्त्वगुणप्रधान योगियों के लिए शक्तिवर्ग का यह प्रकार अत्यन्त कल्याणकारी है। यह रजोगुणी एवं तमोगुणी व्यक्तियों को तदनुकूल फल-प्राप्ति की दिशा में अनुप्रेरित करती है, उसी प्रकार ये योगियों को शिवत्वभाव भी प्रदान करती हैं—

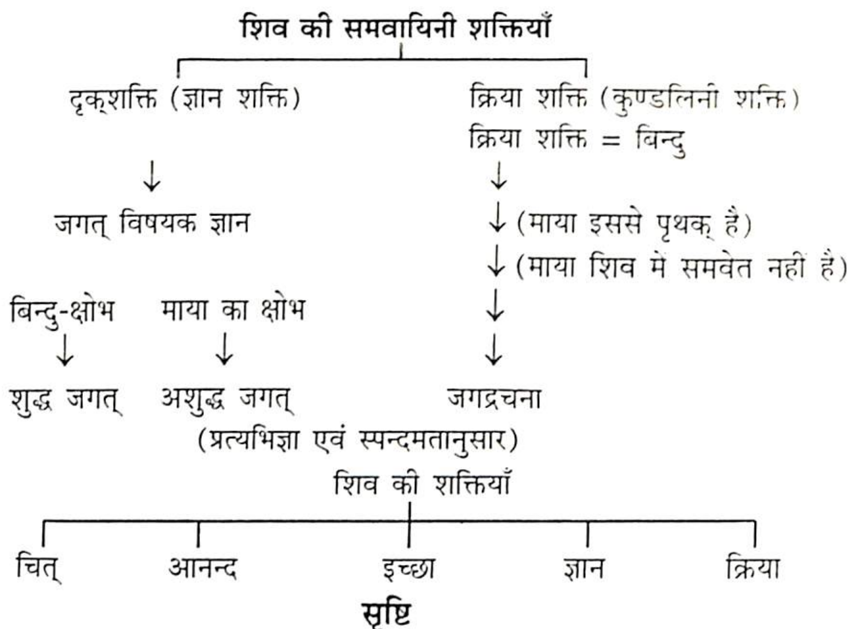
Parā occupies himself in conducting the creatures to the highest end of life, the attainment of Shiva stage.

---

१. विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून् या समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥ (मा० वि० ३.३१)

२. मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यास्ताः स्युर्घोरा परापराः ॥ (मा० वि० ३.३२)

३. पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोरा शिवशक्तयः ॥ (मा० वि० ३.३३)
वैसे तो शक्ति के अनन्त भेद हैं, तथापि कार्यभेद तीन हैं—
(१) घोरा (२) अघोरा (३) घोरतरा
अनन्तस्यापि भेदस्य शिवशक्तिर्महात्मनः।
कार्यभेदान्महादेवि! त्रैविध्यं समुदाहतम् ॥ (मा० वि०)
पीठेश्वर्यो महाघोरा नर्तयन्ति मुहुर्मुहुः। (शिवसूत्र में उद्धृत)



सृष्टि

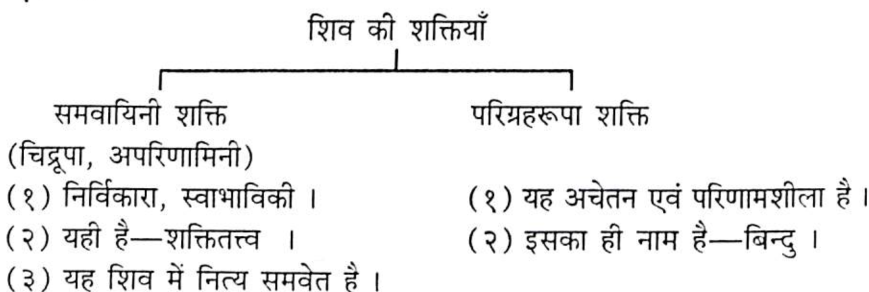
स्पन्दशास्त्र इस सारे सृष्टि-विधान को अपनी दृष्टि से देखता हुआ मानता है कि सृष्टि कोई नवसृजन नहीं है। यह है—अन्त:स्थित पदार्थों का बहि:प्रकाशन। सभी पदार्थ चिदात्मा के अन्त:स्थित हैं, जब इच्छा से सृजन होता है तो परमाणुओं की क्या आवश्यकता? सृष्टि अन्त:स्थ पदार्थों की बाह्याभिव्यक्ति-मात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है—

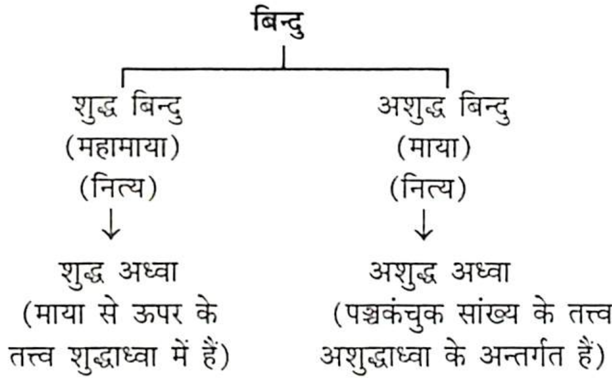
चिदात्मैव हि देवोऽन्त:स्थितमिच्छावशाद् बहि:।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

यहाँ उपादान की आवश्यकता ही नहीं है—न हि एवं वक्तुं शक्यम् परमाणवो योगीच्छया झटिति संघटिता: कार्यारप्स्यन्ते (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)। जब स्वातंत्र्यमयी संवित् में इच्छा का उदय होता है तब अहंरूप में द्रष्टा के साथ एकाकार भाव ही 'इदं' के रूप में परिस्फुट हो उठते हैं और वही 'सृष्टि' है। विश्वरूप आभास का मूल चिदात्मा की स्वातंत्र्य शक्ति, इच्छा शक्ति ही कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथाकर्तुं में सक्षम है। वही सृष्टि का मूल है, सृष्टि का मूल केन्द्र है।

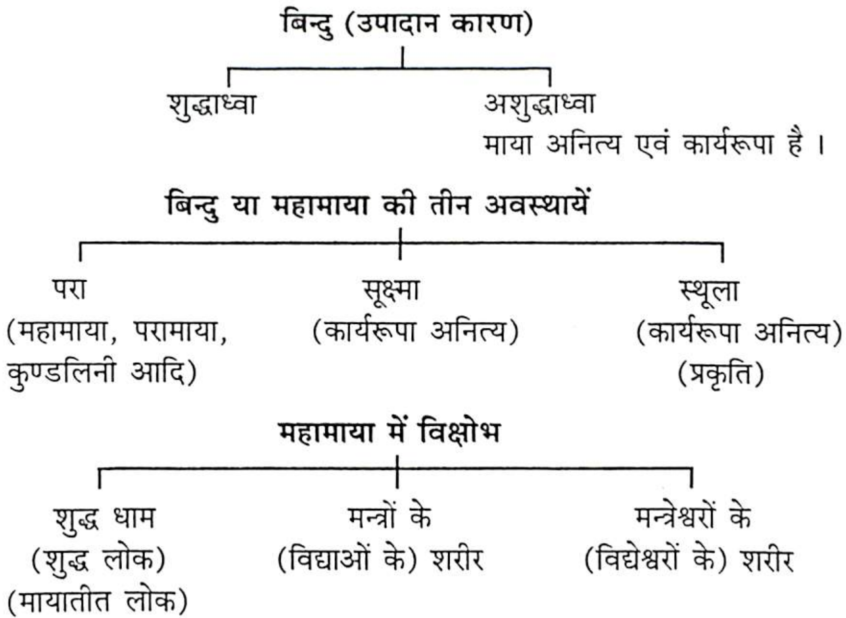
बिन्दु (महामाया) का परमेश्वर के साथ सम्बन्ध

(१) एक मत





(२) द्वितीय मत



महामाया की स्थूल अवस्था (तृतीयावस्था) प्रकृति है । यह त्रिगुणमयी है ।

(१) बिन्दु शिव में समवेत नहीं है । बिन्दु परिणामी है; अत: जड़ है ।

(३) बिन्दुसमवायवादी तान्त्रिक : तान्त्रिकों में कतिपय तान्त्रिक बिन्दुसमवायवादी थे ।

जीवों के अध:पतन में—(१) शब्दराशि (२) कलाविभव (३) शक्तिवर्ग की दासता—तीनों का कारण हैं । इसी के कारण पशुपति 'पशु' बन जाता है ।

(१) ब्राह्म्यादीनां कलाभि: ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभव: स्वस्वभावात् प्रच्यावित: पशुरुच्यते ।[१]

(२) शब्दराशिरकारादिक्षकारान्त: तत्समुद्भूतस्य कादिवर्गात्मकस्य ब्राह्म्यादिशक्तिसमूहस्य भोग्यतां गत: पुरुष: ।[२]

१-२. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व

शिवसूत्रों में भी कहा गया है—

कवर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशुमातरः । (३.४५ शिवसूत्र)

विभिन्न विमर्शावस्थाओं में कलासमूह

अन्तर्विमर्श की अवस्था में—अ, इ, उ, ऋ, ऌ : ये पाँच मूल स्वर चित्, निर्वृत्ति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया (इन पाँच माहेश्वर शक्तियों) के प्रतिनिधि हैं ।	बहिर्विमर्श की अवस्था में—पाँच मूल स्वर कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

ये ही ककारादि अक्षर 'कलासमूह' कहलाते हैं । ये कला, विद्या आदि मायीय जगत् का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

कलासमूह में स्वरवर्ण अन्तर्भुक्त क्यों नहीं हैं? कारण यह है कि स्वर एवं व्यञ्जन दोनों के पारस्परिक सम्मिश्रण से ही विकल्पों का क्षोभ उत्पन्न होता है । केवल स्वर या केवल व्यञ्जन क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते । यही है—बीज-योनिसंक्षोभ ।

(१) अ से अः तक के समस्त स्वर = बीज कहलाते हैं ।

(२) क से क्ष तक के समस्त व्यञ्जन = योनि कहलाते हैं ।

बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः ।
कादिभिश्च स्मृता योनिः .... (मा० वि ३।१०)
म बीजन्न शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते । (मा०वि ३।१२)

शब्दों के अष्टवर्ग वस्तुतः विमर्शशक्ति के ही अष्टरूप हैं—

तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम् । (मा०वि० ३।१३)

स्पन्दशास्त्रीय 'बन्धन' के सूत्रधार एवं कारक तत्त्व

शब्द राशि	शक्तिवर्ग की भोग्यता (स्प० का० ४५)	कला द्वारा वैभव (स्वातंत्र्य) का नाश	प्रत्ययोद्भव (विकल्प ज्ञान का उदय) (स्प० का० ४७) ज्ञानं बन्ध : (शिवसूत्र)	स्वरूपा-वरण (का० ४७)	प्रत्ययोद्भव के रूप—माया, कला, विद्या, राग, नियति एवं काल तत्त्व : छः तत्त्व—भेद-प्रथा षट्कंचुक	परामृत रसापाय (स्प० का० ४६) अर्थात् परामृत 'शिव' + रस 'शक्ति' का अपाय — ३६ तत्त्वों का बहिर्मुख अवभासन ।

बाह्य प्रसार की ओर शक्ति की उन्मुखता होते ही
उसका प्रत्ययोद्भव के रूप में विकास

अपनी पूर्णता एवं स्वतंत्रता के सम्बन्ध में संशयाविर्भाव

(क) स्वतंत्र ज्ञातृता की हानि

(ख) स्वतंत्र कर्तृत्व का अबोध

स्वातन्त्र्य हानिस्वरूप 'आणव मल'।

स्वातंत्र्यगत शक्ति में संदेह—चेतन ही जड़ बन जाता है, परावाक् स्थूल वैखरी वाक् बन जाती है।

शाक्तप्रसर की क्रीड़ा

आरोहण-अवरोहण	चैतन्य की चरमावस्था 'शिवभाव' (प्रारम्भ)	जड़ता की अन्तिमावस्था पृथ्वीतत्त्व (अन्त)	प्रत्ययोद्भव	स्वरूपावरण	पशुवर्तिनी स्थूल क्रिया

परामृतरसापायस्तस्य य: प्रत्ययोद्भव: ।
तेनास्वतंत्रतामेति स च तन्मात्रगोचर: ॥
स्वरूपावरणे चास्य शक्तय: सततोत्थिता: ।
यत: शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भव: ॥
सेयं क्रियात्मिका शक्ति: शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बंधयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥

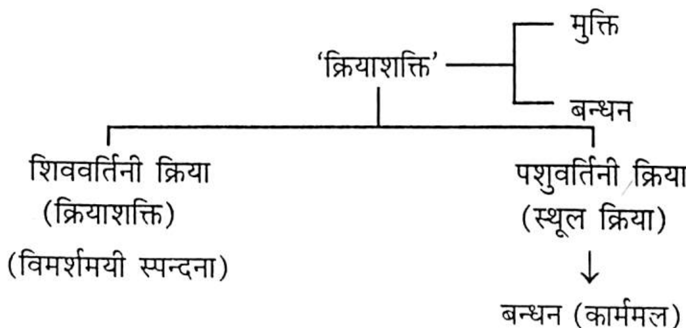
(१) प्रत्ययोद्भव = आणव मल ।

(२) स्वरूपावरण = मायीय मल ।

(३) पशुवर्तिनी स्थूल क्रिया = कार्ममल ।

शिव की पूर्णतम स्वतंत्रता का विघातक कारक (का० ४७)

परामृतरसापायस्तस्य य: प्रत्ययोद्भव: ।
तेनास्वतंत्रतामेति स च तन्मात्रगोचर: ॥ ४६ ॥



शक्ति की भूमिकायें

शिवभूमिका में स्थित शक्ति का स्वरूप = अहंविमर्शात्मिका स्पन्दना = पूर्ण स्वातंत्र्य। (यहाँ स्वस्वरूप का आच्छादन नहीं होता)	शक्ति का बहिर्मुख होकर मायाशक्ति का स्वरूप धारण करना—स्वरूप-तिरोधान। स्वरूपगोपन।

विश्वनिर्माणशक्ति = क्रियाशक्ति—

(१) किन्तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः।
तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदो यदवभास्यते ॥ (ई० प्र० २.१.८.)

(२) स्वरूपभेदेन देशक्रमकारिणा क्रियाभेदेन च कालक्रमसंपादकेन उपलक्षितो यो विज्ञातुः शून्यादेः प्रमातुः भेदोऽन्योन्यं ज्ञेयाच्च एवं घटादेः परस्परं ज्ञातुश्च स भगवता अवभास्यते, यत् तदवभासनं सा ईशितुरपि निर्माणशक्तिः क्रियाशक्तिः।
(ई० प्र० वि० २.१.८)

ककार आदि स्थूल वर्णसमूह में अधिष्ठित ब्राह्मी आदि पशु शक्तियों के द्वारा बुद्धि में भेदावभासन किया जाना है और अनात्म भावों में आत्मभाव उत्पन्न किया जाता है—

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः। (स्पन्द का० ४७)

आत्मा को अपनी ही शक्ति अज्ञात होने की अवस्था में बन्धन में डाल देती है। पुर्यष्टक भी बन्धन का कारण है। पुर्यष्टक ही प्रत्ययोद्भव का कारक है। (स्पन्द का० ५०)

· परम मुक्ति : चक्रेश्वरता की प्राप्ति के उपाय

चित्त का स्पन्द तत्त्व में लय (अन्तःबहिः एकाकार स्पन्द तत्त्वानुभूति की संप्राप्ति)	सृष्टि-संहार की शक्ति की प्राप्ति	भोक्ता बन जाना	समस्त शक्तिचक्र का स्वामी बन जाना

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ (स्पन्द का०)

'शक्तिसूत्र' में क्षेमराज भी उसी चक्रेश्वरत्व की बात करते हैं—'तदा प्रकाशानन्दसार-महामंत्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवता चक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवतीति शिवम्।'

मूल तत्त्व

विश्व-सृष्टिविषयक दृष्टियाँ—

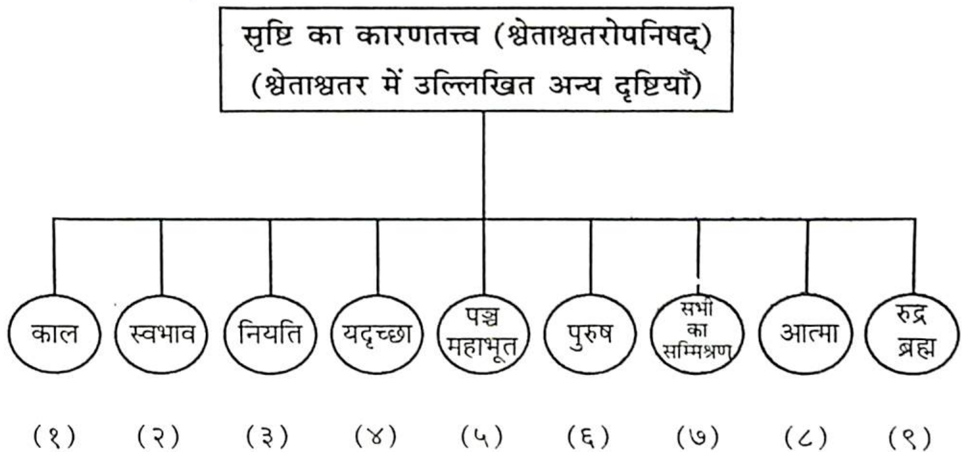
माण्डूक्योपनिषद् की दृष्टि—माण्डूक्य श्रुति में कहा गया है—

(१) ओंकार ही सर्वोच्च तत्त्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान आदि ओंकार की ही व्याख्या हैं। सब कुछ ओंकार ही है। जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी सब कुछ ओंकार ही है।

(२) यह समस्त सृष्टि विस्तार एवं जगत् का प्रपञ्चमात्र 'आत्मा' है। यह आत्मा ही ब्रह्म है और यह आत्मा ओंकार भी है—एवमोंकार आत्मैव।

(२) माण्डूक्योपनिषद् में सृष्टि का मूल तत्व मात्र ओंकार (नाद तत्त्व = शब्दतत्त्व) एवं आत्मा को ही स्वीकार किया गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि के मूल कारण तत्त्वविषयक दृष्टियों पर प्रकाश डाला गया है। उसमें आठ दृष्टियों को श्वेताश्वतर नहीं मानता। वह रुद्र की शक्ति को सृष्टि का मूल उत्स (कारणभूत केन्द्र) मानता है।



सृष्टि के मूल तत्त्व—सृष्टि के मूल कारण या मूल उत्स के विषय में अन्य दृष्टियाँ भी हैं। इनका एक साथ उल्लेख आचार्य गौड़पाद ने किया है।

(३) गौड़पादाचार्य—श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य एवं आचार्य शंकर के गुरुदेव के गुरु गौडपादाचार्य ने 'माण्डूक्योपनिषद्' की व्याख्या में कारिकायें प्रणीत की हैं। उसमें सृष्टि के मूल तत्त्व एवं मूल कारण के विषय में प्रचलित सभी मतों का उल्लेख किया गया है, वे निम्नांकित हैं—

अन्तर्मुखता एवं व्युत्थान दोनों दशाओं में चिदैक्य का विमर्श होना ही तो 'नित्योदित समाधि' है । समग्र विश्ववैचित्र्य का चिद्गगन में लय देखना ही 'उन्मीलन समाधि' है और अन्तर्मुखता का अवलम्बन ग्रहण करके चिदैक्यानुभूति करना 'निमीलन समाधि' है— ये सभी अद्वैतवाद की ही प्रतिपादिका हैं, जो कि स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र मे प्रतिपादित हैं ।

स्पन्दशास्त्र में तथा प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में जीवन्मुक्ति को साधना की सर्वोच्च उपलब्धि स्वीकार किया गया है । जीवन्मुक्ति के स्वरूप में भी अद्वैतवाद अनुस्यूत है; क्योकि स्पन्दशास्त्र की जीवन्मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) स्पन्दकारिका—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

(२) शक्तिसूत्र—'चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।

(३) प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—'चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम्—अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव जीवन्मुक्तिः, जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपविद्रावितशेषपाश-राशित्वात् ।'

समग्र जगत् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रथा का जिसको ज्ञान है, वह सारे जगत् को खेल के समान देखता हुआ सतत योगयुक्त होने से जीवन्मुक्त कहलाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि—'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः । इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् । स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः । अर्थात् 'सर्वं शिवमयं जगत्' 'न सावस्था न यः शिवः' की सर्वत्र अनुभूति और उसकी अपने में भी अनुभूति—शिव के साथ अद्वैत की अनुभूति एवं विश्व के साथ अपनी एकता की अनुभूति ही मुक्ति है । अर्थात् स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में अद्वैतवाद और मुक्ति दोनों अभिन्न हैं ।

विरूपाक्षपञ्चाशिका में भी विश्वात्मैक्य की अनुभूति को जीवन्मुक्ति कहा गया है । विश्वात्मैक्य अद्वैतवाद का एक पक्ष और ब्रह्मात्मैक्य उसका द्वितीय पक्ष है ।

अद्वैतवाद के दो पक्ष—

ब्रह्मात्मैक्य—

१. ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।
२. अहं ब्रह्मास्मि ।
३. तत्त्वमसि ।
४. शिवोऽहं शिवोऽहम् ।
५. अहं देवी न चान्योऽस्मि ।

२. विश्वात्मैक्य—

१. इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।

२. उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिता हन्तः ।
कण्ठलठत्प्राण इव व्याप्तं जीवन्मृतो लोकः ॥

३. ननूक्तनयेन सर्व एव लोको विश्वशरीरः ।

४. विश्वशरीरत्वं प्रत्यभिज्ञातम् ।

५. ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वानिष्ठा वरिष्ठा ।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानाद्भिन्नता रोपितस्य ॥[१]

६. सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति ।[२]

७. यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥[३]

स्पन्दशास्त्र में शांकर अद्वैत की यह दृष्टि स्वीकार्य नहीं है कि[४]—

(क) संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ।

(ख) माया मायाकार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम्' तो ठीक है; पर 'असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम्' ठीक नहीं है ।

स्पन्दीय अद्वैत में अहं और इदम् दो पृथक् सत्तायें नहीं हैं । यहाँ विच्छिन्न रूप में विमृष्ट इदम् की कृतार्थता संवित् स्वरूप में विश्रान्तिरूप कृतार्थता है और वही अहं है । अतः अहं और इदम् तथा संवित् तत्त्व—तीनों में तादात्म्य है । इसी भाव को उत्पलदेवाचार्य ने भी प्रतिपादित किया है—

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥[५]

इदमिति विच्छिन्नतया विमृश्यस्यास्य जडस्य या संवित्स्वरूपविश्रान्तिलक्षणकृतार्थता सोऽयमहमेव ।[६]

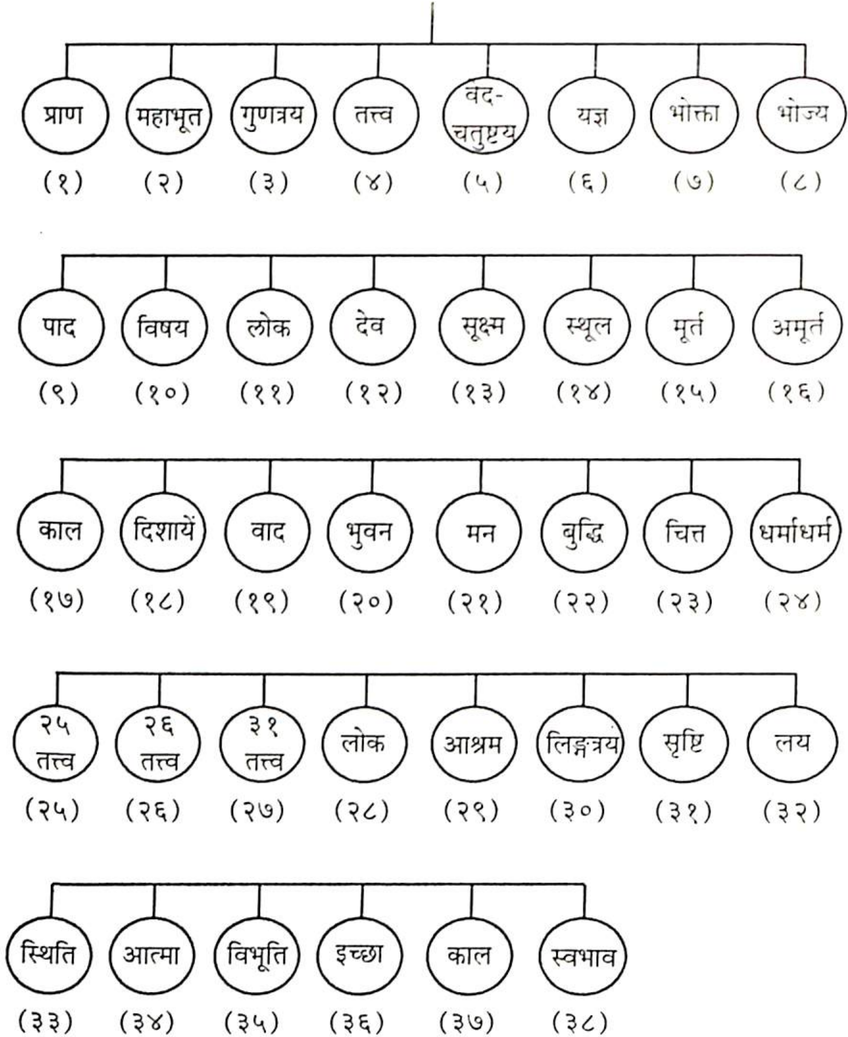
जहाँ तक जीव एवं शक्ति के अद्वैतभाव का प्रश्न है, वहाँ यही कहा जा सकता है कि अणु (जीवात्मा) स्वतः अखण्डित परमात्मा ही है । वही संविदात्मा परमेश्वर स्वेच्छापूर्वक विश्वक्रीड़ा की लालसा से प्राणादि में आत्मभाव का अवभासन करके और उसका प्रमाता बनकर तथा अपने विराट् शिवभाव को संकुचित करके 'जीव' बन जाता है—

(१) प्राणादिना निरुद्धोऽणुः परमात्मा त्वखण्डितः । (१६)[७]

(२) स एव संविदात्मा परमेश्वरः स्वेच्छया विश्वक्रीडोल्लिलासयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन संकुचीभूय जीवतामेति ।[८]

१-४. विवेकचूड़ामणि
५. अजडप्रमातृसिद्धिः : उत्पलदेवाचार्य
६. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति
७. अजडप्रमातृसिद्धि
८. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति

सृष्टि का मूल एवं कारणतत्त्व



आचार्य गौड़पाद ने इन मतों का खण्डन करके कहा है कि ये सारे वाद एवं ये समस्त दृष्टियाँ एकमात्र आत्मा में सन्निविष्ट हैं; अत: मूल तत्त्व आत्मतत्त्व ही है और वही सृष्टि का मूल कारण है—सर्वे चेह तु सर्वदा।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की भी यही दृष्टि है—

(१) सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

(२) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। सर्वमोंकार एव। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य: प्रपञ्चोपशम: शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव।

सृष्टि एवं जगत्

वैशेषिक के मत में सृष्टि एवं जगत् परमाणुओं की क्रीड़ा है। सांख्य की दृष्टि में पङ्गु (पुरुष) एवं अंधे (प्रकृति) के संयोग की घटना ही सृष्टि है। गौड़पाद का कथन है कि यदि सृष्टि हो तो उसका स्वरूप निर्धारित किया जाय। उत्पत्ति तो होती ही नहीं। अजातिवाद ही सत्य है।

सृष्टि एवं जगत् का स्वरूप—स्पन्ददर्शन में सृष्टि या जगत् को अनेक दृष्टियों से देखा गया है; अत: उसके स्वरूप का निर्धारण भी अनेक दृष्टियों से हुआ है। सृष्टि का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में निम्न दृष्टियाँ हैं—

(१) जगत् एक चित्र है और चित्रकार परमशिव है।

(क) चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे ॥[१]

(ख) योगिनीहृदय में कहा गया है कि परा शक्ति अपनी आत्मभित्ति पर स्वेच्छावश विश्वरूपी चित्र का अंकन करती है—

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम्।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥[२]

(ग) भगवान् अपनी इच्छारूपी तूलिका (ब्रश) से अपने ही भीतर जगत् रूपी चित्र का निर्माण करके उसे देखते हुए अत्यन्त प्रसन्न होता है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छतूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वर: ॥[३]

विश्वमयोल्लेख: विश्वं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं तन्मय उल्लेख:, उल्लिख्यते इति उल्लेख: चित्रम्, तेन स्वेच्छया विश्वमयोल्लेख: तेन खचितं व्याप्तं स्वेच्छातूलिकयात्मभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[४]

(घ) जिस प्रकार योगी बिना किसी बाह्य सामग्री की अपेक्षा के ही नयी-नयी सृष्टियाँ कर डालता है, उसी प्रकार परमशिव बिना किसी बाह्य सामग्री की अपेक्षा के ही अपनी आत्मभित्ति पर जगत् रूपी चित्र का निर्माण करता है—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥[५]

विश्वमयोलेखो जगदात्मकं चित्रं तेन खचितम्।[६]

(ङ.) जगत् शक्ति एवं शिव का प्रतिबिम्ब या अवभास है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण

---

१. उत्पलदेवाचार्य : शिवदृष्टिवृत्ति
२. योगिनीहृदय (चक्रसंकेत : ५०)
३-४. अमृतानन्द योगी : दीपिका में उद्धृत
५. सेतुबन्ध में उद्धृत
६. सेतुबन्ध

में ग्राम, नगर एवं वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण में एवं परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार संविद्रूप परमशिव में प्रतिबिम्बवत् दिखाई पड़ने वाला यह विश्व अभिन्न होने पर भी घट-पटादि रूप से अवभासित होता है।[१] किन्तु स्पन्दशास्त्र में बिना बिम्ब के ही प्रतिबिम्ब उत्पन्न हो जाता है ।

(२) जगत् एक क्रीड़ा है—ईश्वरायद्वयवादी स्पन्ददर्शन में सृष्टि या जगत् को अनेक दृष्टियों से देखा गया है; अतः उसके स्वरूप का निर्धारण भी अनेक दृष्टियों से हुआ है । सृष्टि का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में एक दृष्टि यह भी है कि जगत् एक 'क्रीड़ा' है । सोमानन्द एवं उत्पलदेवाचार्य का कथन है कि जगत् स्वरूपप्रच्छादनात्मक अवरोह क्रीड़ा है । यह परमशिव की क्रीड़ा है—आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन ।[२]

सोमानन्दपाद कहते हैं कि परमेश्वर शिव कभी-कभी आत्मगोपन व्यापार के द्वारा जगत् रूप क्रीड़ा किया करता है—कदाचिदात्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्याति मयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीड़ामेव ।[३]

आचार्य सोमानन्दपाद पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार राजा सारे वाहनादि, सौख्य एवं सुविधाओं के रहने पर भी मनोरञ्जनार्थ पैदल भी चलता है, उसी प्रकार परमात्मा शिव अपने मनोरञ्जनार्थ एवं क्रीड़ार्थ जगन्निर्माण किया करता है—

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ।
क्रीडन्करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥[४]

'जगत्' परमशिव की एक क्रीड़ा है । वैष्णवतन्त्र में भी बार-बार कहा गया है कि जगत् किसी की इच्छा का परिणाम नहीं; क्योंकि परमात्मा इच्छा-हीन है और उसका कोई कर्तव्य भी नहीं है, जिसको निष्पादित करने के लिए वह विवश हो—

न तस्येच्छा न कर्तव्या निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
तथापि बालवत् क्रीडन् कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥[५]

वह चिन्मात्र, परमशुद्ध, कूटस्थ एवं परमपुरुष जगत् की सृष्टि एवं संहार नहीं करता; प्रत्युत उसके कटाक्षाक्षेपमात्र से ही सृष्टि एवं प्रलय अपने-आप हो जाया करते हैं—

सृजते संहरत्येषः कटाक्षाक्षेपमात्रतः ।
चिन्मात्रः परमः शुद्धः कूटस्थः पुरुषः परः ॥[६]

स्पन्दकारिका में आँखों के उन्मेष एवं निमेष को ही सृष्टि-संहार का कारण माना गया है—यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।

(३) जगत् अपना ही स्वरूप है—स्पन्दवादी आचार्य परमशिव को ही नहीं—आत्मा को ही नहीं; प्रत्युत जगत् को भी अपना स्वरूप मानते हैं । यही मान्यता एवं इसी की अनुभूति मोक्ष का लक्षण भी है—

---

१. आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—३.२.११)
२-४. शिवदृष्टिवृत्ति
५-६. नारदपाञ्चरात्र (माहेश्वरतन्त्र)

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (प्र०का०)
स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये त एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥ (प्र०का०)
आत्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः ।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ॥ (प्र०का०)
स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥ (प्र०का०)

भगवान् शिव तो कहते हैं कि जगत् को अपना स्वानन्दभरित शरीर मानना चाहिए।

स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत् को बार-बार क्रीड़ा भी कहा गया है । यह क्रीड़ा है क्या? क्रीड़ा हर्षसंयुक्त स्पन्द है—'हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीड़ा' । जगत् को चित्र भी कहा गया है ।[१] आचार्य उत्पलदेव इसे क्रीड़ा मानते हैं—

(घ) यथैश्वर्यचमत्कारवासितः सार्वभौमो राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षणस्वभावापत्तेः पदातिसम्बन्धिचेष्टितानि आचरति, तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैस्तै-र्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति ।—उत्पलदेव : शिवदृष्टिवृत्ति ।

(ङ.) क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।
संभत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे ।
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः ॥—सोमानन्द : शिवदृष्टि ।

(३) जगत् भगवान् का शरीर है ।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा गया है—भगवान विश्वशरीरः[२] क्योंकि जगत् परमशिव से अभिन्न है—श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं'[३], 'विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव'[४], 'विश्वशरीरशिवैकरूप एव'[५] ।

(४) जगत् 'चित् शक्ति' है—

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि जगत् एवं चित् शक्ति में कोई भेद नहीं है—

(१) ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित् ।[६]

(२) चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति ।[७]

---

१. योगिनीहृदय में षट्त्रिंशदात्मक जगत् को 'उल्लेख' (चित्र) कहा गया है।
स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥ (१।५०)
इसी दृष्टि की इन शब्दों में भी पुष्टि की गई है—
जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः ॥

२-६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

७. शक्तिसूत्र

(३) चित् प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिद् उपपद्यते ।[१]

जगत् का बीज (कारण : कारणांकुर) भी एक क्रीड़ा है—यदि यह कहा जाय कि माना कि जगत्, जीव एवं ब्रह्म (शिव एवं शक्ति) अभिन्न हैं; किन्तु यदि मल के कारण वे पृथक्-पृथक् हो ही गए हैं तो उन्हें पृथक् तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि मल तो ब्रह्म है नहीं और मल ही ने अद्वैत को द्वैत, अभेद को भेद, पशुपति को पशु एवं ब्रह्म को जीव बना दिया है तो इसके विपरीत शैवाचार्यों ने यह उत्तर दिया है कि माना कि—मल संसार का अंकुर है, न कि ब्रह्म—'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्' तथापि यह भी नहीं भूलना चाहिए कि संसारांकुरकारण मल भी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है; प्रत्युत स्वकल्पित, स्व-रोपित स्वात्मप्रच्छादन क्रीड़ामात्र है—'स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।'[२]

जगत् चित् शक्ति से अभिन्न है—त्रिक दर्शन मानता है कि जगत् चित् से भिन्न नहीं है—'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किंञ्चित् । चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति' । भगवती चित् शक्ति अनन्तरूपात्मक जगत् के रूप में स्फुरित होती है । अतः स्पष्ट है कि जगत् मात्र चित् शक्ति का ही एक रूप है ।[३]

जगत् प्रकाश से अभिन्न है—स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा यह मानते हैं कि जगत् मिथ्या या भ्रान्ति नहीं है; प्रत्युत यह प्रकाश (शिव) से अभिन्न है—'जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम् । श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्' । जगत् एवं परमशिव दोनों में आत्मा की अनुस्यूतता एवं अभिन्नता के कारण दोनों में ऐकात्म्य है । जगत् परमशिव के स्वरूप से अभिन्न है ।

जगत् ब्रह्मस्वरूप है—शांकर अद्वैत में माया को जगत् का उपादान माना गया है; किन्तु तन्त्र में जगत् का उपादान ब्रह्म को माना गया है और इसीलिए जगत् के समस्त नाम एवं रूप तथा उसके अशेष व्यापार भी ब्रह्मस्वरूप ही माने गए हैं—

(१) उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र किञ्चन ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवाविद्यया ततम् ॥
ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥
यथैव व्योम्नि नीलं च यथा नीरं मरुस्थले ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥
यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् ।
पात्ररूपेण वै ताम्रं ब्रह्माण्डो वै तथाक्षरः ॥
तस्मात्प्रपञ्चविभ्रान्तां नियम्य मतिमात्मनि ॥[४]

× × × × × ×

(२) स एवेदं जगत्सर्वं स्थूलसूक्ष्ममयं च यत् ।
अज्ञानाद्रजतं भाति शुक्तिकायां यथा प्रिये ।

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी
२. मालिनीवार्तिक
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
४. माहेश्वरतन्त्र (ज्ञानखण्ड)

ज्ञानात्तद्रजतं देवि तस्यामेव विलीयते ।
तथाक्षरे परे ब्रह्मण्याभाति सकलं जगत् ॥[१]

इन समस्त कथनों का सारांश यही है कि जगत् भी मात्र ब्रह्म ही है और अन्त में (यहाँ तक की जगत् एवं समस्त जागतिक पदार्थ तथा उसकी नि:शेष सत्तायें) मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता; क्योंकि सब्र कुछ ब्रह्म ही है तो अन्त में मात्र ब्रह्म ही शेष रह जाता है । सारांश यह कि ब्रह्मैवेदं जगत्—

मोहेन केनचिद्देवि! मोहनाशे तु शांकरि ।
अवशिष्यते परं ब्रह्म साक्षादक्षरमव्ययम् ॥[२]

यदि यह कहा जाय कि जगत् का पृथक्त्व मल के कारण अनुभव में आता है, इसलिए मल के कारण जगत् को ब्रह्म से पृथक् तो मानना ही पड़ेगा तो इसका उत्तर यह है कि स्वयं मल भी स्वतंत्र नहीं है, नित्य नहीं है, परारोपित नहीं है, विवशता नहीं है; प्रत्युत यह स्वात्मप्रच्छादन की क्रीड़ा है—स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।[३]

शिव ही जगत् की आत्मा है—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि शिव ही जगत् की आत्मा है—शिव एव विश्वस्य आत्मा ।[४]

जगत् भी एक परमार्थ सत्ता है—चूँकि समस्त पदार्थों में परमार्थस्वरूप तत्त्व ही व्यक्त है; अत: जगत् भी परमार्थ है—सर्वभावेषु चिद्व्यक्ते स्थितैव परमार्थता । (शिवसंहिता)

चैतन्य ही जगत् की आत्मा है—कहा गया है कि चैतन्य तत्त्व ही जगत् की आत्मा है—'चैतन्यं परमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा इति ।' 'चैतन्यं उक्तं स एव आत्मा स्वभावः' 'भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगतः ।'[५]

जगत् बोध है—मालिनीवार्तिक में जगत् को बोध से अभिन्न कहा गया है—विश्वं हि बोधाभिन्नम् ।

चैतन्य ही जगत् का स्वभाव है—जगत् जड़ नहीं है; क्योंकि जगत् का आत्मस्वभाव ही चैतन्य है—चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः ।[६] इसीलिए कहा गया है कि मात्र जीव जगत् ही चैतन्यमय नहीं है; प्रत्युत जड़जगत् भी चेतन है, वहाँ भी चैतन्य का प्रसार है—जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः ।[७]

शिव ही जगत् की आत्मा है—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि इस सत्य की अपरोक्षानुभूति ही 'आत्मज्ञान' है कि विश्व की आत्मा शिव है और मैं शिव ही हूँ—'विश्वात्मा शिव एवास्मि ।'[८] 'देवः स एव विश्वात्मा तथारूपेण भासते' कहकर मालिनीवार्तिककार ने भी जगत् को भगवान् की आत्मा स्वीकार किया है ।

परमशिव की शक्ति ही जगत् है—'सर्वमङ्गला' में कहा गया है कि तत्त्वतः केवल दो पदार्थ हैं—(१) शक्ति (२) शक्तिमान ।

१-२. माहेश्वरतन्त्र   ३. मालिनीवर्तिक
४-६. शिवसूत्रविमर्शिनी   ७-८. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।।

जगत् एक नाट्य है—आचार्य क्षेमराज का कथन है कि स्पन्दशास्त्र जगत् को एक नाट्य मानता है—

(१) स्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति ।[1]

(२) संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् ।[2]

(३) नाट्ये सात्विकाभिनयसिद्धिर्बुद्धिकौशलादेव लभ्यते ।

जगत् का 'बीज' पराशक्ति है—'शिवसूत्र' में कहा गया है—'बीजावधानम्' । (३।१५) आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि स्फुरत्ता स्वरूपा पराशक्ति ही विश्व का कारण या 'बीज' है—बीजं विश्वकारणं स्फुरत्तात्मा पराशक्तिः ।[3]

शिव की अपनी शक्ति का प्रचय ही जगत् है—शैवाचार्यों का कथन है कि शक्ति-समूह ही जगत् है—

(१) स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् । (३।३०)

(२) स्वस्यः संविदात्मनः शक्तेः प्रचयः क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम् ।'[4]

जगत् अपना शरीर है—विज्ञानभैरव में कहा गया है प्रत्येक व्यक्ति को यही भावना करनी चाहिए कि यह समस्त जगत् अपना आनन्दपरिपूर्ण शरीर है—

सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ।। ६३ ।।

अपने शरीर को भी चिन्मय एवं अखिल जगत् के रूप में भावित करना चाहिए—

सर्वं देहं चिन्मयं जगद् वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदयः ।। ६२ ।।

जगत् भैरवस्वरूप है—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जगत् कोई पृथक् सत्ता नहीं है; प्रत्युत यह स्वयं भैरव ही है—विश्वादिभैरवं रूपं ज्ञात्वाऽनन्तप्रकाशभृत् । (८४)

एक परमशिव ही तो शिवतत्त्व से क्षितिपर्यन्त सर्वत्र अपने स्वरूप का आभासन करते हुए फैला हुआ है ।

जगत् का मूल आत्मा है—कहा गया है कि आत्मा ही सभी का कारण सुखों का उपाय एवं महाफल है—स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वम् ।

महेश्वरानन्द महार्थमञ्जरी में कहते हैं—

आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते ।
कस्य वा भवति पिपासा गङ्गास्त्रोतसि निमग्नस्य ।।

जगत् इन्द्रजाल या चित्रकर्म है—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जगत् या तो इन्द्रजाल

१-४. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी

है या चित्र—

इन्द्रजालमयं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत् । (१००)
सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः । (१२१)

जगत् शून्य है—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि ज्ञान एवं क्रिया के अभाव में जगत् शून्य है—

ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् । (१३१)

जगत् भैरव का सकल स्वरूप है—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि सकल जगत् भगवान् भैरव का सकलरूप है । यह असार, शक्रजाल, माया, स्वप्न एवं गन्धर्वनगर की भाँति वितथ है और इसकी सत्ता मात्र विकल्पनिहित प्राणियों के मन में है; अन्यथा यह पृथक् अस्तित्व नहीं है—

यत्किञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ।
तदसारतया देवि! विज्ञेयं शक्रजालवत् ॥
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ।
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ॥
अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः ।
मातृकामोदवत् सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम् ॥

यह अज्ञानियों के लिए भय का एवं ज्ञानियों के लिए माता द्वारा बच्चों को दिए गए लड्डू की भाँति आनन्दप्रद है । शिव के दो स्वरूप हैं—(१) सकल एवं (२) निष्कल । जगत् शिव का सकल स्वरूप है ।

जगदाभास का कारण या उद्देश्य क्या है? आप्तकाम, निराकांक्ष, आत्मतृप्त, पूर्णतम एवं इच्छाशून्य परमशिव को जगदाभास की इच्छा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि परमशिव का विश्वरूप से आत्मस्वरूप को आभासित करना उनका नित्य स्वभाव है और यह परमशिवता ही उनका शाश्वत स्वभाव है—

(१) महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते ।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता ॥[१]

(२) एवं स्वभावत्वादेव च अस्य नात्र परापेक्षा इति ।[२]

परमेश्वर प्रकाशात्मा है और विमर्श उसका स्वतंत्र स्वभाव है । विमर्श संज्ञा वाले अपने इस अनन्योन्मुख स्वातंत्र्य स्वभाव से परमशिव अपनी पूर्णाहन्ता के आनन्द में अहर्निश स्पन्दायमान रहता है और अपने आनन्दस्वभाव की अभिव्यक्ति हेतु आत्मस्वरूप को प्रमातृ-प्रमेय के विभिन्न रूपों में अवभासित करता है; अतः आनन्दस्वभाव परमशिव की आनन्दस्वरूपाभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति का स्फार है । शक्ति ही सृष्टि है । शक्ति की बाह्याभिव्यक्ति ही विश्वाभास है—

---

१. तंत्रालोक (भाग ९ आ० १५।२६५-२६६)
२. तंत्रालोक भाग ९

(१)　परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैस्तैर्भृतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा ।[1]

(२)　तस्मात् प्रकाश एवासौ गीतो यः परम शिवः ।
स　एवाचिन्त्यमहिमा　स्वातंत्र्योद्दामघूर्णितः ॥[2]

(३)　सर्व एवायं विश्वप्रपञ्चः आनन्दशक्तिस्फारः ।[3]

(४)　स्वस्वातंत्र्येण चैतन्यरूपोऽपि स्वयं जडाजडात्मतामाभास्य नटवत् नानाप्रभृतया स्थितः ।[4]

ख्याति का स्वरूप : (ख्याति = ज्ञान)

ख्याति के विभिन्न रूप हैं—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिख्यातिरन्यथा　।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम्　।
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि ।
नैयायिका मायिनश्च　ख्यातीः　क्रमाज्जगुः　॥

(१)　विज्ञानवाद (योगाचार) : आत्मख्याति—अर्थात् विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं ।

(२)　शून्यवाद (माध्यमिक) : असत् ख्याति—सभी पदार्थ असत् हैं ।

(३)　नैयायिक : अन्यथाख्याति—शुक्ति, रजतस्थल में दोष के प्रभाव से जैसे पाण्डुरोगी को वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार दोषवश रजत् में शुक्ति की प्रतीति होने लगती है ।

(४)　वेदान्ती : अनिर्वचनीयता ख्याति—शुक्ति में रजत का जो हमें भ्रम होता है, वह प्रातिभासिक रजत् है । जिस प्रकार स्वप्न में हम रथ आदि देखते हैं, पर जागने पर वे नहीं रहते, उसे 'प्रातिभासिक' कहते हैं । भ्रमस्थल में जब हम शुक्ति में रजत् देखते हैं तो इस रजत् के दर्शन को न तो 'सत्' कह सकते हैं और न ही 'असत्' । भ्रमज्ञान नष्ट होने पर हमें शुक्ति का ही ज्ञान रह जाता है; अतः इसे हम सत् भी नहीं कह सकते ।

इसे असत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रम ज्ञान के समय हमें रजत् ज्ञान हो रहा था, अतः इसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं ।

वेदान्तियों की ख्याति (ज्ञान) अनिर्वचनीय कहलाती है । शंकराचार्य दृश्यमान वस्तुओं का अभाव नहीं मानते । वे उसे न 'भाव' कहते हैं और न ही 'अभाव'; प्रत्युत 'अनिर्वचनीय' कहते हैं ।

शंकराचार्य की दृष्टि में जगत् न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न तो सत्

१.　शिवदृष्टिवृत्ति　　२.　मालिनीविजयवार्तिक (१।६९-७०)
३.　तंत्रालोक (भाग ३)　　४.　परमार्थसारटीका

तथा असत् से परे है । शंकराचार्य का कथन है कि वस्तु ब्रह्म है और अवस्तु है—जड़ जगत् । जड़ जगत् को वस्तु मान लेना ही दु:ख का कारण है । अवस्तु को वस्तु मानने का कारण माया है । ब्रह्म (वस्तु) संसार (अवस्तु) से भिन्न है, किन्तु हम अज्ञान के कारण ब्रह्म पर संसार का आरोप कर लेते हैं अर्थात् ब्रह्म को हम संसार समझ बैठते हैं; यथा— रज्जु को सर्प; अत: सुख एवं दु:ख की वेदनायें प्रारम्भ हो जाती हैं । दु:ख का कारण है—वस्तुरूप ब्रह्म को अन्यथा समझना और दु:खनाश का उपाय है—ब्रह्म को ब्रह्म समझना । यह अन्यथाज्ञान 'अध्यारोप' के कारण होता है । अध्यारोप-जन्य ज्ञान 'अध्यास' है । माया की दो शक्तियाँ हैं ।

आवरण शक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढ़क लेती है, छिपा लेती है; यथा—सूर्य को बादल । इससे व्यक्ति आत्मा को पहचान नहीं पाता । अज्ञान की इसी 'आवरण शक्ति' के कारण आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दु:खित्व की भावनायें (मिथ्या होने पर भी) अनुभव में आती हैं । इसी के कारण 'रज्जु' रज्जु नहीं दिखाई पड़ती । यदि मात्र 'आवरण शक्ति' ही रहती तो ब्रह्म का स्वरूप मात्र आवृत रह जाता; वह अन्यथा नहीं दिखाई पड़ता; किन्तु 'विक्षेप शक्ति' के द्वारा प्रभाव डाले जाने पर 'ब्रह्म' (ब्रह्म के विपरीत) जगत् दिखाई पड़ने लगता है; यथा—'रज्जु' में 'सर्प' दिखाई पड़ने लगता है । परिणाम होता है कि रस्सी में रस्सी एवं ब्रह्म में ब्रह्म का ज्ञान लुप्त हो जाता है ।

ख्याति के छह रूप हैं—

(१)	विज्ञानाद्वैतवादी : योगाचार	— आत्मख्याति
(२)	शून्याद्वैवादी : माध्यमिक	— असत्ख्याति
(३	मीमांसक : (अख्याति) भाट्टमी०	— अख्याति
(४)	नैयायिक :	— अन्यथाख्याति
(५)	वेदान्ती : (शंकराचार्य)	— अनिवर्चनीय ख्याति
(६)	रामानुज : (वैष्णव सम्प्रदाय)	— सत्ख्याति'
	मीमांसक भाट्ट मीमांसक	विपरीतख्याति अन्यथाख्याति सदसत्ख्याति

अभिनवगुप्त के अनुवर्ती महेश्वरानन्द ने 'ख्यातिमपूर्णम्' (विरूपाक्षपञ्चाशिका) को उद्धृत किया है । महेश्वरानन्द ने 'महार्थमञ्जरी' की टीका में कहा है—

अख्यातिर्यदि न ख्याति: ख्यातिरेवावशिष्यते ।
ख्यातिश्चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते ।।

गुरुमतसंमत अख्यातिवाद ही अभिनवगुप्त एवं महेश्वरानन्द को स्वीकार्य है । कुमारिल भट्ट का मत अध्यासवाद के अधिक निकट है । प्रभाकर-ज्ञान में भ्रम का अस्तित्व ही नहीं

है। किसी भी विषय में जो भ्रम होता है, वह उसके ज्ञान में नहीं, केवल स्मृतिदोष से ही उत्पन्न होता है। कुमारिल भट्ट कहते हैं कि भ्रम का अस्तित्व तो है; किन्तु भ्रम विषयों को लेकर नहीं, उनके संसर्गों के कारण होता है। 'रज्जु' भी सत्य है और 'सर्प' भी; किन्तु इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ना ही भ्रम उत्पन्न करता है। इसे ही 'विपरीतख्याति' कहते हैं। यह गुरुमत है। प्रभाकर की दृष्टि में स्मृतिप्रमोष के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। इसे 'अख्याति' कहा जाता है।

'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रणेता माधवाचार्य की कारणतासम्बन्धिनी दृष्टि

स्वस्वरूप-सम्बन्धिनी दृष्टियाँ

किसी भी पदार्थ या द्रव्य की कारणता के सन्दर्भ में उसका स्वस्वरूप क्या है? इस विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं।

कारण-कार्यवाद और उसका स्वरूप

'असतः सज्जायत'	'सतः असज्जायत'	'सतः विवर्तः सज्जायत'	'सतः सज्जायत'
(१)	(२)	(३)	(४)

(१) असत् से सत् की उत्पत्ति होती है — बौद्ध की दृष्टि।

(२) सत् से असत् की उत्पत्ति होती है — न्याय की दृष्टि।

(३) सत् से विवर्त की उत्पत्ति होती है — वेदान्त की दृष्टि।

(४) सत् से सत् की उत्पत्ति होती है — सांख्य की दृष्टि।

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति—

(१) असतः सज्जायते इति सौगताः संगिरन्ते।

(२) नैयायिकादयस्तु सतो सज्जायत इति।

(३) वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तु सदिति।

(४) सांख्याः पुनः सतः सज्जायत।

इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखने पर स्पन्दशास्त्र भी सतः सज्जायत (सत्कार्यवाद) को मानता है।

परमेश्वर एवं जगत् में जो सम्बन्ध है, वह है—दर्पणबिम्बवत्।

स्पन्ददर्शन के अनुसार बिना बिम्ब के ही जगद्रूप प्रतिबिम्ब उत्पन्न हो जाता है। यह स्वातंत्र्य शक्ति के कारण हुआ करता है।

स्पन्ददर्शन की दृष्टि है कि जगत् न 'विवर्त' है और न तो 'परिणाम'; प्रत्युत यह है—आभास; अतः त्रिक दर्शन की जगत् की सृष्टिविषयक (कारणविषयक) दृष्टि आभासवाद या स्वातंत्र्यवाद कही जाती है।

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन की अपनी दार्शनिक दृष्टियाँ उन्हें अन्य दर्शनों से पृथक् एक स्वतंत्र पहचान प्रदान करती हैं । ये वे व्यावर्तक विशिष्ट बिन्दु हैं, जो इन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं । उनकी प्रमुख विशेषताओं में एक विशेषता है—चैतन्यवाद । काश्मीरी शैव दार्शनिकों ने चैतन्य को ही परात्पर तत्त्व कहा है । उन्होंने इसे ही आत्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व, शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, स्पन्दतत्त्व एवं निस्पन्दतत्त्व सब कुछ कह डाला है । उपनिषदों ने भी इन्द्रियों, ऐन्द्रिय विषयों, मन एवं बुद्धि आदि सभी से परे तत्त्व को आत्मा की आख्या प्रदान की है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की विशेषतायें समान हैं; क्योंकि दोनों का दर्शन पक्ष एवं साधना पक्ष यत्किञ्चित् भेद को छोड़कर समान है । अद्वैतवाद का प्राधान्य भी दोनों दर्शनों में स्वीकृत है । आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्रं भेदव्याख्यां न तत् सहते ।
गतानुगतिकं प्रोक्तं भेदव्याख्यातमोऽपनुत् ॥
तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्योत उंभितः ।[1]

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी इसी अद्वैतवाद के प्रतिपादन में कहा है—

निराभासात्पूर्वादहमिति पुरा भासयति यत्,
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ॥[2]

सृष्टि परमात्मा की इच्छा का परिणाम है; अतः इच्छासृष्टिवाद भी स्पन्दशास्त्र का एक सिद्धान्त है—

उद्भवं भावयित्वा तु स्वेच्छया कुरुते प्रभुः ।[3]
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।[4]

शक्तिवाद एवं माया स्पन्दशास्त्र में भी स्वीकृत हैं किन्तु दृष्टि भिन्न है । यहाँ माया जड़ नहीं है, शक्ति है । इस माया के दो रूप हैं—(१) तत्त्वरूपा (२) ग्रन्थिरूपा—पारमेश्वरी शक्तिर्मायातत्त्वरूपतया ग्रन्थिरूपतया च द्विधा स्फुरिता (उद्योत)[5] । इसे 'सर्वजन्तुविमोहिनी' कहा गया है—'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी।'[6] माया समस्त पाशों की जन्मदात्री है—'माया हि सर्वेषां पाशानामुत्पत्तिभूः ।' (स्व० तंत्र = ११३८)

शिव कलानाथ कहे गये हैं; क्योंकि उन्हें जगत् रूप चित्र बनाने के लिए न किसी आधार की, न रङ्ग की, न तूलिका की, प्रत्युत अपनी इच्छामात्र की अपेक्षा होती है । जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का

१. क्षेमराज : उद्योत
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.१)
३. स्वच्छन्दतन्त्र
४. शक्तिसूत्र
५. क्षेमराज (स्व०तन्त्र)
६. स्वच्छन्दतन्त्र (११३८)

ज्ञान प्राप्त करता है; उसी प्रकार शिव भी स्वात्म शक्ति को देखकर अपनी परिपूर्ण अहंता एवं अपने प्रकाशस्वरूप को जानता है। अत: प्रकाश विमर्शात्मक है और विमर्श प्रकाशात्मक।

जागतिक जीवन के चार पुरुषार्थ बताये गये हैं; जिन्हें पुरुषार्थचतुष्टय कहा जाता है। इसमें अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, योग, वेदान्त, जैन, बौद्ध आदि सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। कोई इसे मुक्ति कहता है तो कोई निर्वाण, कोई इसे कैवल्य कहता है तो कोई परम पद की प्राप्ति। प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं और स्पन्दशास्त्र की अन्तिम सिद्धि या मुक्ति का स्वरूप यही जीवन्मुक्ति है।

अन्य शास्त्रों में सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य आदि मुक्ति-भेद बताये गये हैं। स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन इन मुक्तियों में विश्वास नहीं करते। कहा भी गया है—

पशुमात्रस्य सालोक्यं सामीप्यं दीक्षितस्य तु।
तत्परस्य तु सायुज्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी॥

इसीलिए जीवन्मुक्ति यथार्थ मुक्ति स्वीकार की गई है—

ये च स्वभ्यस्तविज्ञानमया: शिवमया हि ते।
जीवन्मुक्ता न तेषां स्यान्मृतौ कापि विचारणा॥[१]

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन में मुक्ति को भी वरेण्य नहीं स्वीकार्य किया गया; क्योंकि मुक्ति की कामना और उसकी प्राप्ति भी तो एक विकल्प ही है; किन्तु परमपद विकल्पातीत है; अत: स्पन्दशास्त्र मानता है कि बन्धन और मुक्ति यथार्थत: हैं ही नहीं। ये दोनों विकल्प-घटित हैं—

वस्तुस्थित्यां न बंधोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन॥

यहाँ पर स्वस्वरूप-परामर्श नामक चिदानन्दलाभस्वरूप स्वस्वभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है—चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्ति:।[२]

अर्थात् विश्व के साथ अभिन्नता स्वरूप समावेशात्मक चिदानन्द के प्राप्त होने पर व्युत्थान दशा में केंचुल या कोष के सदृश देह, प्राण, नील एवं सुखादिकों के आभासित रहने पर भी जिस अभेदापत्ति के संस्कारबल से एवं अन्य युक्तियों से 'उद्दीप्त अविचल चिदैक्य' प्रथित होता है वही जीवन्मुक्ति है अर्थात् प्राणों को धारण करते हुए होने वाली मुक्ति ही जीवन्मुक्ति है। इससे अपने स्वरूप की अभिज्ञा हो जाने पर समस्त पापराशि कट जाती है।[3] स्पन्दशास्त्र में भी कहा गया है—

इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशय:॥

जब ऐश्वर्य शक्ति सुषुम्नात्रय के उल्लासस्वरूप उदान शक्ति एवं विश्वव्यापक व्यान शक्ति (जो आनन्दघनस्वरूप तुर्यदशा है और चिद्घन तुर्यातीत दशा है) को उन्मीलित करती

---

१. भट्ट वामदेव : जन्ममरणविचार   २. शक्तिसूत्र
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

है तब देहादिक अवस्था में भी पतिदशात्मक जीवन्मुक्ति उपलब्ध होती है।[१] मोक्ष परमशिवीभाव की प्राप्ति है, यहाँ भोग-मोक्षसामरस्य भी स्वीकृत है।

भारत के सभी दार्शनिकों ने माना कि ज्ञान बन्धन का विनाशक एवं मोक्ष प्रदान करने वाला है। भगवान् श्रीकृष्ण ने तो ज्ञानी को अपनी आत्मा ही कह डाला है—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्; किन्तु शिवसूत्र कहता है कि ज्ञान बन्धन है—ज्ञानं बन्धः। अन्यत्र काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि षड्विकारों को अज्ञान कहा गया है; किन्तु स्पन्दशास्त्र में शक्तिवर्ग की भोग्यता, विभव-विलोप, प्रत्ययोद्भव, अशुद्धि, ग्लानि, परामृतरसापाय आदि को अज्ञान कहा गया है।

केवलाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शून्याद्वैत एवं शब्दाद्वैत आदि अनेक दृष्टियों के चिरकाल से सुप्रतिष्ठित रहते हुए भी अद्वैतवाद की अपूर्णतायें दूर नहीं हो सकीं। उसके लिए किसी दूसरी दार्शनिक दृष्टि की अपेक्षा थी और वह पूर्ण हो सकी काश्मीर के त्रिक दर्शन में—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द दर्शन में।

आत्मा का स्वरूपलक्षण क्या है? यह भी विवाद का विषय बना रहा। चार्वाक-भूमि में भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण (या पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु एवं आकाश इस पाँचों पदार्थों के एक विशिष्ट सम्मिश्रण) में आत्मा की उत्पत्ति देखी गई या चैतन्य के आविर्भाव का प्रथमांकुर अनुभव किया गया तो न्याय, वैशेषिक-भूमि में इसे स्वतंत्र पदार्थ माना गया और चैतन्य को आत्मा का एक विशेष गुण स्वीकार किया गया। चैतन्य एवं आत्मा भौतिक से अभौतिक भूमि पर आरूढ़ हो गए। फिर भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप की पहचान नहीं हो पाई; क्योंकि न्याय-वैशेषिक की भूमि में भी आत्मा को अपना आत्मधर्म चैतन्य प्राप्त नहीं हो सका। यहाँ यह स्वीकार किया गया कि मन एवं आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् रूप में जड़ हैं। इन दोनों पदार्थों में जब संयोग होता है तब उस संयोग से ही 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है। आत्मा चैतन्य का आश्रय तो है; किन्तु चैतन्य उसका आत्मधर्म एवं स्वरूपलक्षण नहीं है; क्योंकि मन का सम्पर्क टूटते ही 'आत्मा' चैतन्य-रहित हो जाती है। जिस प्रकार चार्वाकभूमि के मोक्ष में चैतन्य नहीं रहता, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक की मुक्ति की अवस्था में भी चैतन्य नहीं रहता। इसीलिए आत्मा और चैतन्य का संधान अनवरत रूप से चलता रहता। न्याय-वैशेषिक की भूमि में जिसे आत्मा समझा गया, वह भी आत्मा नहीं थी। वह प्रकृति के सत्त्वगुण का विकार महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व है। परम तत्त्व (पुरुष) से आने वाले चैतन्य का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है; अतः वह भी चेतनवत् हो जाती है; किन्तु वह आत्मा नहीं है। चैतन्य एवं आत्मा पुरुष है।

(क) चार्वाक ने आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं किया।

(ख) न्याय-वैशेषिक ने इस स्वतंत्र अस्तित्व को तो स्वीकार किया; किन्तु चैतन्य को इसका स्वधर्म नहीं माना।

(ग) सांख्यभूमि में आत्मा को अपना आत्म धर्म 'चैतन्य' तो प्राप्त हुआ; किन्तु मुक्तावस्था में भी सत्त्वगुण की अनुस्यूतता के कारण सांख्य की मुक्तात्मा भी प्रकृति से परे नहीं

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

जा पायी; क्योंकि सत्त्वगुण भी तो प्रकृति का एक गुण ही है।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप का संधान चलता ही रहा। वेदान्त की भूमि में यह पाया गया कि सांख्य का यह 'विशुद्ध सत्त्व' विशुद्ध सत्त्वप्रधाना माया शक्ति है। यही परमतत्त्व के स्वरूप को ढक कर रखती है, न तो यह ब्रह्म के समान सत् है और न तो शशशृङ्ग के समान असत्। यह अनिर्वचनीय है। सांख्य की मुक्तावस्था में रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूत करके सत्त्वगुण (अकेला) पुरुष के साथ रह जाता है। कैवल्यानन्तर भी पुरुष प्रकृति को देखता है। यह देखना सत्त्वगुण का ही धर्म है। इसी सत्त्वगुण की पुरुष के साथ सम्बद्धता पुरुष (आत्मा) के स्वरूप को उद्घाटित करने में बाधक है। शांकर वेदान्त के अनुसार इस शुद्ध स्वरूप वाली माया को अतिक्रान्त करने पर ही आत्मा को अपनी शुद्धसत्ता (शुद्धस्वरूप) प्राप्त हो पाती है। आत्मशोधार्थियों को माया से परे जाने हेतु माया को सूक्ष्मता से पहचानने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने काश्मीरीय शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द आदि) की भूमिका में देखा कि माया के मुख्यत: पाँच अङ्ग या पाँच संघटक तत्त्व (या पाँच शक्तियाँ) हैं। ये ही हैं—पञ्चकंचुक। इनको अतिक्रान्त करने पर माया स्वयमेव अतिक्रान्त हो जाती है। इस अवस्था में शुद्धविद्या का स्तर प्राप्त होता है। इस भूमिका में अहं एवं इदं के सामानाधिकरण्य की अनुभूति होने लगती है और तब पुरुष अपने को सूक्ष्म विश्व के साथ बराबर का समझने लगता है। उसका विमर्श यह होता है कि—'मैं' = 'यह' हूँ। यहाँ 'मैं' और 'यह' (जगत्) दोनों समान महत्त्व के हैं।

(१) शुद्धविद्या = मैं = यह हूँ — मैं + यह दोनों समतुल्य धरातल पर आरूढ़ हैं—
सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियो: ।[1]

बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मति: शुद्धविद्या ।[2] सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोर्भेदमति: ।[3]

शुद्धविद्या की भूमिका पर आरूढ़ होने पर भी साधक की आत्मशोध यात्रा पूरी नहीं हो पाती। वह ईश्वरतत्त्व की भूमिका में प्रवेश करता है और वहाँ यह (जगत्) के साथ तादात्म्य बोध प्राप्त करता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि इदमहं = अर्थात् यह = मैं हूँ। यहाँ 'यह' को प्राधान्य मिलता है।

इसके बाद साधक और आगे बढ़ता है और उसे अनुभव होने लगता है कि 'यह' (जगत्) 'अहं' (मैं = आत्मा) में लीन होता जा रहा है। यही विकास स्तर कहलाता है—सदाशिव स्तर। यहाँ का विमर्श है—अहमिदम् = मैं = यह हूँ। यहाँ 'मैं' प्रधान है और 'यह' गौण है।

इसके बाद भी यात्रा बन्द नहीं हो जाती। अब अनुभव में आता है—'अहमस्मि' (मात्र मैं ही हूँ)। यहाँ 'यह' 'मैं' में लीन हो जाता है। 'शक्ति' तत्त्व के इस स्तर पर 'अहं प्रत्यय' मात्र अनुभूति का विषय बनता है। यहीं परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है।[4] यही चरम भूमि है।

१-२. प्रत्यभिज्ञाकारिका   ३. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह

४. यही अद्वैत सामरस्य, पूर्णता एवं शक्ति-शक्तिमान की मिलनावस्था है।

शिवतत्त्व में चैतन्य का प्राधान्य है, अहन्ता की अन्तर्मुखता है । शक्तितत्त्व में आनन्द का प्राधान्य है, अहन्ता की बहिर्मुखता है । विश्वोत्तीर्ण शिवतत्त्व की विश्वोन्मुखता ही शक्तितत्त्व है । सिसृक्षा का भाव ही शिव को शक्तितत्त्व के रूप में परिवर्तित कर देता है—अस्य जगत: स्रष्टुमिच्छापरिगृहीतवत: परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम् ।[1] इस अवस्था में 'अहम्' के साथ 'अस्मि' की भी अनुभूति होने लगती है अर्थात् परप्रमाता की 'अहमस्मि' यह अनुभूति शक्तितत्त्व का द्योतक है । विश्व के प्रत्येक पदार्थ शक्तिस्वरूप हैं । शक्तितत्त्व विश्वबीज है । शिव में विश्वसृष्टि की इच्छा का उन्मेष ही शक्तितत्त्व है ।

जिस प्रकार जिसमें जलाने की शक्ति नहीं, उसे अग्नि नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जिसमें शक्ति नहीं, उसे शिव भी नहीं कहा जा सकता । शिवतत्त्व न तो निष्क्रिय है और न तो सक्रिय । शक्ति के बिना शिव में स्पन्दन सम्भव ही नहीं है । सर्वथा निस्पन्द शान्त समुद्र में प्रथम हल्की सी तरङ्ग की भाँति ही है—शक्तितत्त्व ।

सदाशिव की भूमिका = अहमिदम् (प्रमाता मन्त्रमहेश्वर का विमर्श) । इस प्रतीति में 'इदम्' अहं से भिन्न नहीं है । यहाँ 'इदन्ता' अहन्ता से आच्छादित रहती है । 'अहं' एवं 'इदं' अंश का अस्फुट उल्लास ही सदाशिव तत्त्व है—'तत्र यदा अहं इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता 'अहमिदम्' इति ।'[2]

सदाशिवतत्त्व (प्रमाता मन्त्रमहेश्वर) अस्फुट रेखाओं से निर्मित चित्र की भाँति है । इसमें विश्वरूप चित्र का प्राथमिक आभास तो है, किन्तु वह अंकित नहीं है । इसे 'सादाख्य तत्त्व' भी कहा गया है—'यत: प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्या याश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम् । तत्सादाख्यं तत्त्वम् ।' जगत् का प्रलय इसी अवस्था में आकर पूर्ण हो जाता है; अत: आगमों में इसे अन्त:निमेष कहा गया है—निमेषोऽन्त: सद शिव: । ईश्वर है बहिरुन्मेष और सदाशिव है आन्तर निमेष—ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सद. शिव: ।[3] सदाशिव शिव की भेदाभेद भूमिका है । इस भूमिका का अनुभविता प्रमाता मन्त्रमहेश्वर है ।

शिव के अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान की एवं उसके बहिर्मुख स्पन्द में क्रिया की अस्फुट एवं निर्विषयक अभिव्यक्ति होती है ।

(क) शिव का निमेष	(१) आन्तर निमेष = सदाशिव तत्त्व
(ख) शिव का उन्मेष	(२) बाह्योन्मेष = ईश्वर तत्त्व

वेदान्त दर्शन में केवल ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब असत् हैं । इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है । ब्रह्म आरोप का अधिष्ठान है । समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त है । स्पन्दशास्त्र मानता है कि केवल परमशिव ही सत् नहीं है; प्रत्युत उसकी शक्ति, महामाया, माया, जगत्, छत्तीस तत्त्व सभी सत् हैं; किन्तु फिर भी अद्वैत है; क्योंकि यहाँ जगत् एवं जीव परमशिव में आरोपित नहीं हैं । प्रत्युत स्वयं शिव जगत् एवं जीव का रूप धारण करके स्वयं क्रीड़ा करता है और अपनी 'स्वातंत्र्य शक्ति' द्वारा अपने को ही ढक लेता है । माया उसी की शक्ति है ।

---

१. पराप्रावेशिका : क्षेमराज
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका

अज्ञान और माया का चोली-दामन का साथ रहा है । स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा अज्ञान को संसारांकुर कारण मल मानते हैं । शंकराचार्य ने दोनों में भेद नहीं किया । विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या में अन्तर बताया और कहा—

(१) सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था 'प्रकृति' है ।

(२) प्रकृति के दो भेद हैं—माया एवं अविद्या ।

(३) रजस्-तमस् की मलिनता से रहित; अत: विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति ही 'माया' है ।

(४) मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृति ही 'अविद्या' है ।

(५) मायाच्छिन्न ब्रह्म = ईश्वर है । अविद्याच्छिन्न ब्रह्म = जीव है ।

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमाचिता ।
तमोरज:सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥[१]
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर: ॥[२]

आचार्य शंकर ने चैतन्य के भी दो रूप माने—(१) शुद्ध (उपाधिशून्य) चैतन्य (निर्गुण ब्रह्म) (२) सोपाधि चैतन्य । मायोपाधि-विशिष्ट चैतन्य । (सगुण ब्रह्म = सकल ब्रह्म = शबल ब्रह्म) । ब्रह्म जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण' है । मायोपाधि चैतन्य ही जगत् का कारण है । स्पन्द की अन्य दर्शनों से अपनी पृथक् मान्यताएँ हैं । स्पन्द की आत्मा एवं परमात्मा दोनों का अपना पृथक् स्वरूप है । मीमांसा को लें । मीमांसा एवं सांख्य दोनों ईश्वर को मानते ही नहीं । कुमारिल सृष्टि एवं प्रलय भी नहीं मानते । कुमारिल की दृष्टि में सर्वज्ञ कोई हो ही नहीं सकता । परवर्ती मीमांसकों ने ईश्वर को तो माना; किन्तु कर्ता के रूप में नहीं, विश्वस्रष्टा के रूप में नहीं । स्पन्दशास्त्र ने इन मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया । मीमांसकों ने आत्मा को कर्ता, भोक्ता, विभु, नित्य, अहंप्रत्यक्षगम्य, शुद्धज्ञानस्वरूप, देशकालापरिच्छिन्न, ज्ञाता[३] एवं प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न माना है । यह भी मानते हैं कि शरीर, मन आदि साधनों से रहित हो जाने के कारण मुक्तात्मा मुक्ति के समय आत्मज्ञान से शून्य रहती है; किन्तु उसमें ज्ञानशक्ति अवश्य रहती है । शास्त्रदीपिका में कहा गया है कि मोक्ष निरानन्द होता है—तस्मात् नि:सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्ष: । ये लोग ज्ञान को मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं मानते; जबकि शांकर मत यह स्वीकार करता है—ज्ञानान्न ऋते मुक्ति: ।

प्रभाकर के मतानुसार धर्माधर्म का क्षय एवं देह का आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है । भाट्टमत में प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है—त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्ष: ।[४] प्रभाकर कहते हैं—आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्ष: ।[५] बौद्धों का कथन है—आत्माध्वंसो हि मोक्ष: ।[६]

---

१. पञ्चदशी (१.१५)
२. पञ्चदशी (१.१६) (स्वामी विद्यारण्य)
३. श्लोकवार्तिक : शास्त्रदीपिका
४. शास्त्रदीपिका
५. प्रकरणपंजिका
६. सर्वदर्शनसंग्रह

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का मत है कि—

(१) जीवन्मुक्ति ही मोक्ष है। (२) पूर्णाहन्ता ही मोक्ष है।

(३) चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। (४) प्रत्यभिज्ञा ही मुक्ति है।

स्पन्दशास्त्र की दृष्टि अन्य समस्त दर्शनों से भिन्न है। यहाँ अपने शिवत्व की प्रत्यभिज्ञा, जगत् एवं शिव के साथ तादात्म्यानुभूति एवं पूर्णाहन्ता ही मुक्ति है।

जगत् की जड़ता एवं चेतनता

जगत् की उत्पत्ति के विषय में भी स्पन्दशास्त्र की अपनी व्यक्तिगत दृष्टि है। यह उसे न तो पारमाण्विक रचनामात्र ही मानता है और न तो निश्चेतन पदार्थों का संघातमात्र ही मानता है। स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में 'जगत्' चेतन शक्ति = 'स्पन्द' का आत्मविस्तार है।

शाक्त दर्शन बिन्दु से सृष्टि का विकास मानता है। इस बिन्दु में शिव एवं शक्ति दोनों का सामरस्य है। स्पन्दशास्त्र स्पन्द और शक्ति-स्पन्दन से जगत् की सृष्टि मानता है। जब आइन्स्टीन पदार्थ और ऊर्जा को एकस्वभाव, समस्वरूप और परस्पर परिवर्तनीय मानकर उनकी एकरूपता स्वीकार कर चुके हैं तो प्रथमतः लाइबनीज एवं स्पन्दशास्त्र का यह सिद्धान्त स्वतः स्थापित हो जाता है कि ऊर्जा (शक्ति) और पदार्थ में कोई सुनिश्चित लक्ष्मणरेखा न होने के कारण दोनों किसी न किसी स्तर पर सजातीय, समतुल्य एवं एकरूप हैं; अतः दोनों के मध्य जड़ता एवं चेतनता की अभंग्य लक्ष्मणरेखा नहीं खींची जा सकती। शक्ति की अपनी विश्रामावस्था पदार्थवत् दृष्टिगोचर होती है और शक्ति की प्रस्फुटावस्था चेतन दिखाई पड़ती है। जड़ता और चेतनता परस्पर विरोधी तत्त्व एवं विरोधी गुण नहीं हैं; प्रत्युत चैतन्य प्रस्फुटन की पृथक्-पृथक् (स्वल्पाधिक) मात्राओं की अवस्थायें हैं। व्यवहारतः भी देखा जाय तो पशुओं, पक्षियों एवं सरीसृपों में चैतन्य की मात्रा कम होती है और मनुष्यों में अधिक। मनुष्यों से अधिक देवताओं में और देवताओं से अधिक सत्यलोक के जीवन्मुक्त प्राणियों में। उनसे भी अधिक त्रिदेवों आदि में। मल के तारतम्य से भी चैतन्याभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर हैं।

स्पन्दशास्त्र भी मानता है कि परमशिव जैसे ही अपने विमर्शरूप दर्पण में अपना स्वरूप देखता है, वैसे ही विमर्श शक्ति में एक क्षोभ उत्पन्न होता है। एक स्फोटात्मक स्पन्द उठता है। यह स्फोट ही स्पन्द है, जो कि परमशिव का अहंप्रत्यवमर्शात्मक अनुभव है, सिसृक्षात्मक आद्य संकल्प है। यह सिसृक्षा ही सृष्टि का कारण है। विज्ञान एवं स्पन्द दोनों मानते हैं कि आद्य स्फोट के बाद फिर स्फोट नहीं होता, तथापि स्फोट से निर्गत स्पन्दनों से लगातार सृष्टियाँ होती रहती हैं, सृष्टि-विकास होता रहता है, नवीन ब्रह्माण्डों की रचनायें होती रहती हैं, विकास कभी रुकता नहीं है।

सन् १८०५ में ब्रिटेन के खगोलज्ञ हर्शेल ने दूरबीनों द्वारा पता लगाया कि विश्व केवल सौरमण्डल तक ही सीमित नहीं है। स्वयं सौरमण्डल भी आकाशगङ्गा का एक अंशमात्र है। आकाशगङ्गा में करोड़ों सौरमण्डल, तारे तैर रहे हैं। एक आकाशगङ्गा के अन्तर्गत १० करोड़ से अधिक तारे, अनुषङ्गी तारे और मैजेलेनीय मंदाकिनी है। इन सभी

का सम्मिलित रूप ब्रह्माण्ड है। हमारी आकाशगङ्गा की भाँति लाखों अन्य दुग्धमेखलायें हैं। ब्रह्माण्ड हवा के गुब्बारे की भाँति फैलता जा रहा है। हाइड्रा नामक तारामण्डल के तारामण्डल ५७,६०० कि०मी० प्रति सेकेण्ड की गति से भागे जा रहे हैं। हमारे ब्रह्माण्ड का व्यास २५० करोड़ प्रकाशवर्ष का है और इसके भीतर असंख्य आकाशगङ्गायें अवस्थित हैं।

ब्रह्माण्ड प्रारम्भ में एक घनीभूत गोले के रूप में था। वह प्रारम्भ में अत्यन्त संपीडित अवस्था में था, तभी तो लगातार फैलता जा रहा है। प्रत्येक घन सेण्टीमीटर स्थान मे १० करोड़ टन का पदार्थ समाहित था। जार्ज लेमेंटेर ने कहा कि करोड़ों वर्ष पूर्व यह विश्व अत्यधिक घनीभूत अवस्था में था। इसमें एक बृहत् विस्फोट हुआ। यह सघन पिण्ड टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसी से आकाशगङ्गाओं का निर्माण हुआ। डा० संडेज का कथन है कि आज से लगभग १२० करोड़ वर्ष पूर्व एक भयंकर विस्फोट हुआ और तब से विश्व विस्तृत होता जा रहा है। यह प्रसार २९० करोड़ वर्षों तक चलेगा और फिर सिकुड़न होना प्रारम्भ हो जाएगा। यह ४१० करोड़ तक सिकुड़ता जायेगा और फिर पुनः अपने भीतर सम्पीड़ित हो जायेगा। उसके बाद पुनः विस्फोट होगा और यह क्रम लगातार चलता रहेगा। आधुनिक विज्ञान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रादुर्भाव की आदि अवस्था को एक घनीभूत गोले के रूप में मानता है और उसका विस्तार एक विस्फोट के एवं उसके स्पन्दन के रूप में स्वीकार करता है। स्पन्ददर्शन भी इसी स्पन्द से सृष्टि का विकास मानता है। स्पन्दशास्त्र भी एक अतिसूक्ष्म स्पन्द से सृष्टि का विकास मानता है और इसे स्पन्द का केन्द्रबिन्दु 'महाबिन्दु' को मानता है।

पुराणों में भी सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था को हिरण्यगर्भ (एक विशाल अण्ड) के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।

यह ब्रह्माण्डरूप अण्डा एक हजार वर्षों तक निर्जीव पड़ा रहा। फिर भगवान् ने उसे जीवित कर दिया। उस अण्डे को फोड़कर एक विराट् पुरुष निकला। उसी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से समस्त लोक, सातों पाताल, सातों स्वर्ग, वाणी, अन्न, रस, इन्द्रियाँ, प्राण, औषधियाँ, सूर्य आदि पिण्ड, दिशायें, नद, नदी, समुद्र और समस्त चराचर जगत् आदि प्रादुर्भूत हुए।

हिरण्यगर्भ ने ही पृथ्वी एवं स्वर्ग को धारण किया—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। (ऋ० १०।१२१।१ यजु ३४०१३ मन्त्र ४)। यह हिरण्यगर्भ जगत् की आत्मा है—हिरण्यगर्भो जगदान्तरात्मा (अ०रा०)। हिरण्यगर्भ को बुद्धि भी कहा गया है—हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः (महाभा० १२।३४२।९६)। हिरण्यगर्भ एक चेतन तत्त्व है—हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। (महा० १२।३४९।६५) (याज्ञवल्क्य)।

पिण्डस्वरूप हिरण्यगर्भ आदि सृष्टि नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि पिण्ड, ब्रह्माण्ड के पूर्व पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए। इनसे पूर्व अहंकार उत्पन्न हुआ। उससे पूर्व महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। उससे पूर्व काल, कर्म एवं स्वभाव उत्पन्न हुए। कर्म से ही

महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से (ज्ञान, क्रिया, द्रव्यस्वरूप तमप्रधान विकाररूप) अहंकार, अहंकार से वैकारिक, तैजस एवं तामस (ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं द्रव्यशक्ति) विकार उत्पन्न हुए। किन्तु महत्तत्व से पूर्व उत्पन्न काल, कर्म एवं स्वभाव से भी पूर्व तीन गुण उत्पन्न हुए। इनसे भी पूर्व भगवान् में सिसृक्षा उत्पन्न हुई और इस 'एकोऽहं बहुस्याम्' स्वरूप सिसृक्षा के उत्पन्न होने पर भगवान् ने अपनी माया से अपने स्वरूप में स्वयं प्राप्त काल, कर्म एवं स्वभाव को स्वीकार कर लिया। इसी काल ने तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न किया। स्वभाव ने उन्हें रूपान्तरित किया एवं कर्म ने महत्तत्त्व को जन्म दिया। सारांश यह कि सृष्टि का प्रारम्भ परमात्मा की सिसृक्षारूप आद्य स्पन्द से हुआ। इसी बात को छान्दोग्य श्रुति में इस प्रकार कहा गया है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते। ३। ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त।[1]

'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ) की कामना ही सृष्टि का मूल उत्स है। यही आद्य स्पन्द है। स्पन्दशास्त्रियों ने कहा कि यह स्पन्द अन्य कुछ नहीं, परमशिव की अपने अहमाकार विराट् विश्वमय स्वरूप (जो उनमें संहृतावस्था में पड़ा था) को देखने की इच्छा या संकल्प के जल की प्रथम तरङ्ग है, आद्य गति है, सिसृक्षारूप गति है। वास्तविकता यह है कि परमशिव के स्तर पर इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों एकाकार हैं; अतः इच्छा हुई नहीं कि क्रिया प्रारम्भ हो गई। अतएव यह इच्छा क्रियागर्भिता है; अतः इच्छा होते ही शान्त समुद्रवत् परमशिव में एक क्षोभ उत्पन्न हो उठा, एक तरङ्ग ने जन्म ले लिया, एक योगिगम्य सूक्ष्म क्रिया की लहर का आर्विभाव हो गया। इसे ही शाक्त ग्रन्थों में इस प्रकार कहा गया—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः॥[2]

Big Bang theory का विस्फोट स्पन्दशास्त्र के स्फोट की प्रतिच्छाया है। उसके आद्यस्पन्द का अतिपरवर्ती भौतिक रूप है। Abbe Lemaitre ने १९५० में कहा कि ब्रह्माण्ड प्रारम्भ में अत्यधिक सघनावस्था में था और उसके केन्द्रीय Mass को Yelm कह सकते हैं, जो कि प्रोटानों, न्यूट्रानों एवं इलेक्ट्रॉनों से बना था। उसी में आद्य विस्फोट हुआ। इसी को 'बिग बैंग' कहते हैं। इस विस्फोट से क्षणों में हीलियम, लीथियम, बेरीलियम और बोरौन उत्पन्न हो गए और उनसे गैलेक्सी एवं तारे निर्मित हुए। मैटर एवं ऐन्टीमैटर के कणों के Annihilation से ही आद्यविस्फोट एवं ब्रह्माण्ड का प्रसार तथा विकास हुआ।



---

१. छान्दोग्योपनिषद् २. योगिनीहृदय

विषयानुक्रमणी

प्रथम अध्याय
(स्पन्दशास्त्र और स्पन्दतत्त्व)

द्वितीय अध्याय
(स्पन्दकारिका के प्रतिपाद्य विषय एवं स्पन्दसूत्र)

तृतीय अध्याय

(स्पन्दतत्त्व और उसका स्वरूप)

चतुर्थ अध्याय

(तत्त्वमीमांसा)

पञ्चम अध्याय

(त्रिकदर्शन एवं शैव सिद्धान्त)

षष्ठ अध्याय

(सृष्टि-विकास और उसके विभिन्न सोपान)

सप्तम अध्याय

(स्पन्दशास्त्र में बन्धन और मुक्ति का स्वरूप)

अष्टम अध्याय

(स्पन्दशास्त्र और उसकी साधना-पद्धतियाँ)

नवम अध्याय

(मोक्ष की अवधारणा : एक तुलनात्मक विहङ्गमावलोकन)

दशम अध्याय

(स्पन्दशास्त्र : तुलनात्मक विश्लेषण एवं मूल्याङ्कन)



प्रथम अध्याय
स्पन्दशास्त्र और स्पन्दतत्त्व

आचार्य सोमानन्द एवं आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दकारिका को 'स्पन्दशास्त्र' के नाम से अभिहित किया है। 'स्पन्दकारिका' किसी एक पुस्तक को तो बोधित कर सकती है; किन्तु किसी शास्त्र को नहीं। इसे 'शास्त्र' कहने के पीछे अभिप्राय यह है कि यह मात्र एक पुस्तक नहीं; प्रत्युत किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रामाणिक, आद्य, अविवादास्पद वह पूज्य ग्रन्थ है, जो कि साधना एवं सिद्धान्त—दोनों दृष्टियों से स्वयं में पूर्ण रहते हुए किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि एवं सम्प्रदाय की स्थापना करता है और उसका आधारभूत ग्रन्थ है।

स्पन्दशास्त्र स्पन्दतत्त्व एवं शैवदर्शन

'स्पन्द' का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ है—'किञ्चित् चलत्ता' (Slight shake = स्वल्प स्फुरणा, यत्किञ्चित् स्पन्दन) : किन्तु उसका पारिभाषिक एवं दार्शनिक अर्थ है—१. स्वातन्त्र्य शक्ति (Power of freedom) २. शक्ति, ३. चैतन्य शक्ति का स्फुरण, ४. उन्मेषनिमेषमयी विमर्श शक्ति, ५. अहं-विमर्शमयी (परतत्त्व में अनुस्यूत) विश्वात्मक चेतना, ६. परतत्त्व की पारमेश्वरी शक्ति।

(क) शिवसूत्र और स्पन्दशास्त्र—सोमानन्दप्रभृति दार्शनिकों ने 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' का प्रतिपादन करके शिवसूत्र प्रतिपादित परतत्त्व के प्रकाशपक्ष (शिवतत्त्व) पर बल दिया; किन्तु स्पन्दशास्त्रियों ने शिवसूत्रों की दूसरी दृष्टियों से मीमांसा करते हुए परतत्त्व के 'विमर्शपक्ष' (शक्ति = स्पन्दशक्ति, शिव की 'स्वातन्त्र्य शक्ति') पर बल देते हुए 'स्पन्द' या शक्तितत्त्व का प्राधान्य माना। निष्कर्ष यह कि एक ही शिवसूत्र दो दृष्टियों से मीमांसित होते हुए—

१. प्रकाशपक्ष के प्राधान्य के कारण—'प्रत्यभिज्ञादर्शन' एवं

२. विमर्शपक्ष के प्राधान्य के कारण—'स्पन्दशास्त्र' के नाम से अभिहित किया गया।

ग्रन्थारम्भ का प्रथम श्लोक निम्नांकित है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः॥

(We offer our salutations to that Shankara who is the fountain head of all glory manifest in the wheel of energies and at whose waking and sleeping, the world finds it's rise and dissolution.)

इस श्लोक में 'उन्मेष-निमेष' एवं 'शङ्कर' दोनों का उल्लेख किया गया है और उस शङ्कर की स्तुति की गई है, जो उन्मेष-निमेष शक्ति से समन्वित है। उन्मेष-निमेष 'शक्ति' का स्वभाव है, यह शिव की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों से शून्य शिव 'शव' है। अतः निष्कर्ष यह कि 'स्पन्दशास्त्र' के प्रथम सूत्र में ही शिव एवं शक्ति दोनों पक्षों की प्रधानता

को रेखांकित करने के बीज निहित हैं और इसीलिए स्पन्दशास्त्रियों ने स्पन्दशास्त्र को स्पन्दप्रधान (शक्तिप्रधान = 'उन्मेषनिमेषमयी' विमर्शप्रधान) माना और स्पन्दशास्त्र के प्रथम सूत्र में उल्लिखित 'शङ्कर' (प्रकाश = परशिव) को प्राधान्य नही दिया। इस प्रकाशपक्ष को प्राधान्य दिया प्रत्यभिज्ञाशास्त्रियों ने।

शिवसूत्र	स्पन्दकारिका (स्पन्दसूत्र = शक्तिसूत्र)
(प्रथम सूत्र)	(प्रथम सूत्र)
'चैतन्यमात्मा'	'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ । तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥'
(१) चैतन्य	(१) उन्मेष-निमेष
(२) आत्मा	(२) शङ्कर

स्पन्दकारिका के अन्तिम स्पन्द को 'विभूतिस्पन्द' के नाम से अभिहित किया गया है। इस नामकरण के पीछे क्या क्षेमराज का उद्देश्य—योगसूत्र के अन्तिम पाद 'विभूतिपाद' के साथ सादृश्य-स्थापन तो नहीं है ?

(ख) स्पन्दकारिका का उद्देश्य—आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दशास्त्र का उद्देश्य 'समावेश' माना है। यह 'समावेश' अन्य कुछ नहीं, मात्र 'जीवन्मुक्ति' है—

'तत्समावेश एव हि जीवन्मुक्तिफल इह प्रकरण उपदेश्यः ॥'[1] समावेश के माध्यम से साधक 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त करता है और यह 'जीवन्मुक्ति' ही प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं स्पन्ददर्शन —दोनों का अन्तिम लक्ष्य है।

(ग) परमशिव और स्पन्दतत्त्व का अन्तःसम्बन्ध—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि परमेश्वर (शङ्कर)—

१. प्रकाशात्मा महादेव हैं, २. पूर्णाहन्ता परामर्शसार हैं, ३. नित्य सदानन्दघन हैं, ४. स्फुरत्तात्मक हैं, ५. चित्स्वभाव हैं, ६. अचल हैं, ७. स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न हैं, ८. अशेष सर्ग-संहारादि परम्परा को अपनी आत्मभित्ति (शक्ति) में दर्पणनगरवत् आभासित करने वाले हैं, ९. अनधिक न होने पर भी एक ही सत्ता को अधिक रूप में अवभासित कराने वाले हैं, १०. किञ्चिच्चलत्तात्मक स्पन्दशक्ति से युक्त हैं, ११. सदा स्पन्दवान हैं १२. यदि कोई इस परमेश्वर को 'अस्पन्द' कहता है तो वह अज्ञानी है; क्योंकि तब तो शान्तस्वरूपता होने के कारण 'ईश्वर' ईश्वर ही नहीं रह जाएगा; अपितु 'अनीश्वर' हो जाएगा।

इह परमेश्वरः प्रकाशात्मा महादेवः शब्दराशिपरमार्थपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् सदैवानन्दघनस्फुरत्तात्मकोभयविसर्गारणिपराशक्त्यात्मकपूर्णस्वातन्त्र्यस्वरूपस्तत एव चित्स्वाभाव्यादचलस्यापि श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादिपरम्परां दर्पण-नगरवत्स्वभित्तावेव भाति युक्त्यानधिकामत्यधिकामिव दर्शयन्ती किञ्चिच्चलत्तात्मक-धात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता। तेन भगवान्सदा स्पन्दतत्त्वसतत्त्वोनत्वस्पन्दः, यदाहुः

१. स्पन्दनिर्णय

केचित्—'अस्पन्दं परं तत्त्वम्' इति । एवं हि शाक्तस्वरूपत्वादनीश्वरमेवैतद्भवेत् ॥'[१]

(घ) शैवागम और काश्मीरीय शैव—शैवागम की तीन दृष्टियाँ हैं—

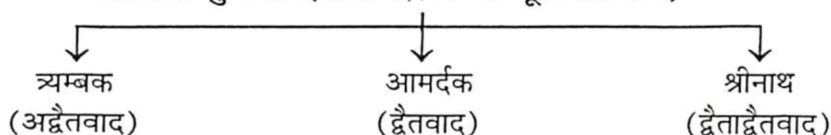
१. भेद, २. भेदाभेद, ३. अभेद— (क) भेदपरक शैवागम : 'शैव सिद्धान्त' (ख) भेदाभेदपरक शैवागम : 'वीरशैव' (ग) अभेदपरक शैवागम : काश्मीरीय शैव ।

स्पन्दशास्त्र की साम्प्रदायिक परम्परा

'स्पन्दविज्ञान' काश्मीर में प्रचलित शैवागम की एक साम्प्रदायिक शाखा है । काश्मीर का यह शैवागम तीन नामों से प्रख्यात है—(१) प्रत्यभिज्ञा, (२) स्पन्द, (३) त्रिक । 'त्रिक' नामकरण का कारण इसकी त्रयात्मकता है—अर्थात् यह दार्शनिक शाखा—(१) पशु, (२) पति, (३) पाश—इन तीन तत्त्वों को या (१) सिद्धा, (२) नामक, (३) मालिनीतन्त्र—इन तीन तन्त्रों को सर्वाधिक महत्त्व देती है ।[२] भगवान् शिव ने अपने पाँचों मुखों से निःसृत शिवागमों की द्वैतमूलक व्याख्या देखकर उसकी अद्वैतात्मक व्याख्या के उद्देश्य से इस मत का आविर्भाव किया और ऋषि दुर्वासा को इस अद्वैतपरक शैवशासन का प्रचार-प्रसार करने हेतु समादिष्ट किया ।

आचार्य दुर्वासा—इस कश्मीरीय अद्वैतवादी शैवशासन का प्रचार-प्रसार करने हेतु प्रवृत्त हुए । आचार्य दुर्वासा ने तीन मानस-पुत्रों को जन्म दिया, जो निम्न हैं—१. त्र्यम्बक, २. आमर्दक तथा ३. श्रीनाथ । ऋषि दुर्वासा ने (क) त्र्यम्बक को शैवागम की अद्वैतपरक व्याख्या, (ख) आमर्दक को शैवागम की द्वैतपरक व्याख्या एवं (ग) श्रीनाथ को शैवागम की द्वैताद्वैतपरक व्याख्या करने का आदेश दिया ।

आचार्य दुर्वासा (त्रिक दर्शन के मूल आचार्य)



त्र्यम्बक (अद्वैतवाद) | आमर्दक (द्वैतवाद) | श्रीनाथ (द्वैताद्वैतवाद)

शैवागम की इस अद्वैतवादी कश्मीरीय दृष्टि के उद्भावक त्र्यम्बक थे । अत: इस अद्वैतपरक व्याख्या वाले दर्शन को 'त्रैयम्बकदर्शन' कहा गया ।

आचार्य त्र्यम्बक के द्वारा व्याख्यात, प्रचारित एवं प्रसारित होने के कारण शैवागम की इस अद्वैतपरक दृष्टि के मूल उद्भावक आचार्य त्र्यम्बक को ही मानना चाहिए ।

प्राचीन काल में काश्मीर में मालिनीविजय, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, विज्ञानभैरव आदि तान्त्रिक शैवग्रन्थों का पुष्कल प्रचार-प्रसार था । ये ही ग्रन्थ अद्वैतवादी मत (त्रिक मत) के उपजीव्य बने ।

आचार्य वसुगुप्त इस अद्वैतवादी शैवदर्शन या त्रिकमत (त्रिकदर्शन) के वास्तविक मूल प्रवर्तक हैं । त्र्यम्बक ने जिस भूमि की नींव तैयार की, उसी नींव पर आचार्य वसुगुप्त

१. स्पन्दनिर्णय
२. अभिनवगुप्तपादाचार्य 'तन्त्रालोक' (भाग प्रथम)

ने त्रिकमत का राजसौध निर्मित किया ।

त्रिकदर्शन और उसकी साम्प्रदायिक परम्परा

१. जयरथ—त्र्यम्बक, आमर्दक एवं श्रीनाथ से प्रवर्तित यह काश्मीरीय शैव परम्परा अभिनवगुप्तपादाचार्य के 'तन्त्रालोक' की टीका 'विवेक' में भी उल्लिखित है । वह इस प्रकार है—

श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा अवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये द्वये ॥
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ।
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितक्रमात् ॥
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः ।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात् ॥

अर्थात् श्रीमान् श्रीकण्ठ से ही १. त्र्यम्बक, २. आमर्दक, ३. श्रीनाथ नामक क्रमशः अद्वयवाद, द्वैतवाद और द्वयाद्वयवाद के प्रवर्तक अत्यन्त विचक्षण सिद्ध अवतरित हुए । इनमें त्र्यम्बक की वंशपरम्परा प्रवर्तित हुई । आमर्दक की पुत्री का वंश-क्रम चला । वह सन्तान 'अर्धत्रैयम्बक' रूप से प्रतिष्ठित हुई । इस प्रकार यह तीन के स्थान पर साढ़े तीन हो गई । इनकी परम्परायें चलीं । सन्ततिक्रम से ये मठिकायें स्थापित हुई ।[1]

इस प्रसङ्ग के अनुसार श्रीसन्तति, आमर्दक, त्रैयम्बक और अर्धत्रैयम्बक—यह साढ़े तीन मठिकायें हुईं । इनमें से त्रैयम्बक मठिका से ही इस तन्त्रप्रक्रिया का प्रवर्तन हुआ—'इति वक्ष्यमाणस्थित्या श्रीसन्तत्यामर्दकत्रैयम्बकार्धत्रैयम्बकाख्यासु सार्धासु तिसृषु मठिकासु मध्याद् वक्ष्यमाणतन्त्रप्रक्रियायाः त्रैयम्बकमठिकाश्रयणेन आयातिक्रमोऽस्ति इति ।'

२. अभिनवगुप्तपाद—अभिनवगुप्तपादाचार्य भी तन्त्रालोक में इस 'त्रैयम्बक' नाम वाली अद्वैतवादी सन्तति (परम्परा) का स्मरण करते हुए कहते हैं—

त्रैयम्बकाभिहितसन्तितिताम्रपर्णी,
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाजः ।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु,
कल्लोलकेलिकलनामलकर्णधाराः ॥[2]

स्पष्ट है कि—(क) परम पाशुपताचार्य भगवान् श्रीकण्ठ ने अद्वयवादी शैवशास्त्र का प्रवर्तन किया । त्र्यम्बक उसी अद्वैतवादी परम्परा के प्रवर्तक श्रीकण्ठ के पुत्र हैं । उनसे यह परम्परा आगे बढ़ी । (ख) आमर्दक द्वैतवादी परम्परा के प्रवर्तक थे । (ग) श्रीनाथ नामक आचार्य द्वैताद्वैत परम्परा के प्रवर्तक थे ।

त्र्यम्बक से चलने वाली परम्परा को ही इस पद्य में 'त्रैयम्बिकसन्तति' कहा गया है । यह भी कहा गया है कि अन्य प्राचीन आचार्य भी त्र्यम्बक मनीषा की मौलिक माला से

१. जयरथ—'विवेक' (तन्त्रालोक की टीका)
२. अभिनवगुप्त : 'तन्त्रालोक' (आ० १। श्लोक ८)

प्रभावित थे। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

१. 'त्रैयम्बक' नाम से लोकप्रथित परम्परारूपी ताम्रपर्णी से विमर्शमयी मोतियों की राशि तन्त्रशास्त्र में प्रकट हुई।

२. उसकी शोभा से सर्वप्रथम प्रकाशित मनीषी त्र्यम्बक ने ही परमगुरु श्रीकण्ठ-प्रवर्तित उस सागरोपम गुरुशास्त्र का आडोलन किया। जिसमें विमर्श की असंख्य तरंगें उठती हैं। उनके उत्ताल उत्थान एवं पतन की क्रीड़ा सबके वश में नहीं है। फिर भी उन शास्त्रीय ऊहापोहमय तरंगों में उन्होंने अपने गुरुत्वमय व्यक्तित्व का जहाज उतार दिया। इसके साथ ही दूसरों के सन्तरणार्थ कर्णधार का भी कार्य किया।

३. ऐसे त्र्यम्बक, आमर्दक एवं श्रीनाथसदृश गुरुवर्यों की जय हो ॥[१]

इस साम्प्रदायिक परम्परा का पूर्ण वृत्त जयरथ ने 'विवेक' में इस प्रकार उद्धृत किया है—

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम्।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥
कलाप्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम्।
कलापिग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिवशासने ॥
कैलासाद्रौ भ्रमन्देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥[२]
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम्।
नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्॥
ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नतः।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥ (शिव. १०७।१११)[३]

आदिगुरु के रूप में तो श्रीकण्ठ ही विराजमान हैं—

जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि प्रथितः।
तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरो भूतिराजश्च ॥[४]

अभिनवगुप्तपादाचार्य 'तन्त्रालोक' के प्रथमाह्निक में गुरुपरम्परा का अवशिष्ट क्रम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

सोमानन्द→उत्पलदेव→लक्ष्मणगुप्त (उत्पलदेव के शिष्य एवं पुत्र दोनों) →अभिनवगुप्तपादाचार्य (पिता का नाम—नरसिंहगुप्त या चुरवुलक)।

श्रीसोमानन्दबोध श्रीमदुत्पलविनिःसृताः।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः॥

---

१. अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' (१/८)
२. जयरथ—'विवेक' (विवेक में उद्धृत)
३. जयरथ—'विवेक' (तन्त्रालोक की टीका)
४. अभिनवगुप्त : 'तन्त्रालोक' १/९

तदास्वादभरावेशबृंहितां मतिषट्पदीम् ।
गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसम्मोहिनीं नुमः ॥[१]

३. आचार्य क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी' में आचार्य क्षेमराज ने भी इस साम्प्रदायिक परम्परा का उल्लेख किया है । इसके अनुसार—

किसी समय शक्तिपातोन्मिषित, माहेश्वरभक्त्यतिशयधनाढ्य, शिवाराधनपरायण, पारमेश्वर-नानायोगिनीसिद्ध, सत्सम्प्रदायपवित्रीकृत हृदय वाले, श्रीमान् महामाहेश्वर वसुगुप्त नामक गुरु महादेवगिरि पर आविर्भूत हुए ।[२]

आचार्य वसुगुप्त ने अपने काल में कभी यह अनुभव किया (देखा) कि समस्त संसार द्वैत दर्शन से अधिवासित होता जा रहा है । 'कहीं शैवदर्शन की अद्वैत दृष्टि लुप्त न हो जाय और समस्त संसार से 'रहस्यसम्प्रदाय' का विच्छेद ही न हो जाय'—इस बात की चिन्तातुरतावश अनुजिघृक्षापरायण, करुणामूर्ति परमशिव ने वसुगुप्त को स्वप्न में अपनी कृपा से उन्मिषित-प्रतिभ बनाकर यह आदेश दिया कि—'यहाँ पर्वत की एक बहुत बड़ी शिलातल पर एक अति रहस्यमय वस्तु है । उसे तुम प्राप्त करके अनुग्रहास्पद लोगों में प्रकाशित करो ।' स्वप्न एवं निद्रा से जागकर वसुगुप्त ने उसका अनुसन्धान करते हुए एक बहुत बड़ी शिला को अपने करस्पर्शमात्र से पलट कर और अपने स्वप्न को सत्य पाकर 'शिवोपनिषद् संग्रहरूप' शिवसूत्रों को वहाँ से प्राप्त किया ।[३]

शिवसूत्र और स्पन्दसूत्र—आचार्य वसुगुप्त ने इन शिवसूत्रों को सम्यक् रीति से हृदयङ्गम करके श्रीभट्टकल्लट आदि सच्छिष्यों को (इसे 'स्पन्दकारिका' के रूप में संगृहीत करके) प्रदान किया (प्रकाशित किया) । इसी परम्परा से चले आते हुए 'स्पन्दसूत्रों' को मैंने 'स्पन्दनिर्णय' में उसके सुनिश्चितार्थों को निर्णीत किया ।[४]

४. वरदराज—इसी तथ्य को 'शिवसूत्रवार्त्तिक' में कृष्णदास वरदराज ने भी प्रस्तुत किया है—

नागबोध्यादिभिः सिद्धैर्नास्तिकानां पुरःसरैः ।
आक्रान्ते जीवलोकेऽस्मिन्नात्मेश्वरनिरासकैः ॥
रहस्यसम्प्रदायोऽयं मा विच्छेदीत्यतुच्छया ।
स्वेच्छया शिवसूत्राणि समालिख्य शिलातले ॥
महादेवगिरौ स्वप्ने माहेश्वरशिखामणेः ।
उपदिश्य प्रभुः श्रीमानुमया सम्प्रयोजितः ॥
दयया स्वयमेवासीद्दैशिको यस्य शङ्करः ।
दैशिकं दैशिकानां तं वसुगुप्तं प्रभुं नुमः ॥
महामाहेश्वरश्रीमत्क्षेमराजमुखोद्गताम् ।
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया ॥
वार्त्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः ॥[५]

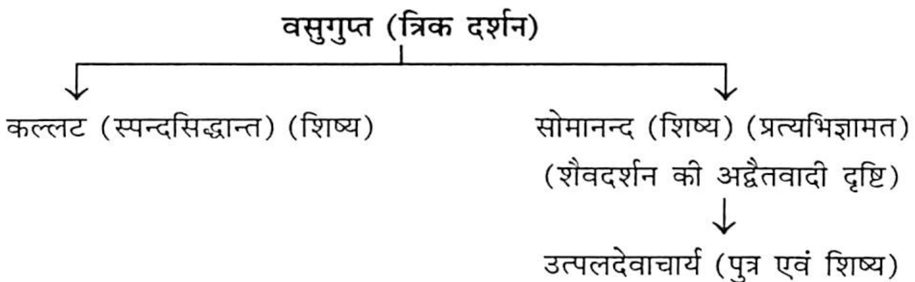
---

१. अभिनवगुप्त : 'तन्त्रालोक'
२. क्षेमराज—शिवसूत्रविमर्शिनी
३. क्षेमराज—शिवसूत्रविमर्शिनी
४. क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी'
५. क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी'

आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के आस-पास) ने महादेव गिरि पर स्थित एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण ७७ शिवसूत्रों के आधार पर ५२ कारिकाओं वाली 'स्पन्द-कारिका' की रचना की । स्पन्दकारिका में इन्हीं शिवसूत्रों के सिद्धान्तों का विशदीकरण किया गया है ।।[१]

वसुगुप्त के दो प्रधान शिष्य थे—१. महामाहेश्वराचार्य कल्लट और २. सोमानन्दपाद । वसुगुप्त के इन दोनों शिष्यों ने दो प्रकार की दार्शनिक दृष्टियों को प्रस्तुत किया—(क) कल्लट (नवम शतक का उत्तरार्द्ध)→स्पन्दसिद्धान्त (ख) सोमानन्द→प्रत्यभिज्ञामत ।

कल्लट एवं सोमानन्द दोनों की दार्शनिक दृष्टि एक ही है, तथापि छोटे-मोटे सिद्धान्तों में पार्थक्य अवश्य है ।[२] कल्लट की श्रेष्ठतम कृति—स्पन्दकारिका की वृत्ति है, जो 'स्पन्द-सर्वस्व' है । सोमानन्द की श्रेष्ठतम कृतियाँ दो हैं—शिवदृष्टि एवं परात्रिंशिकाविवृति । सोमानन्द के शिष्य एवं पुत्र—उत्पलदेव का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ—'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' है, जो कि त्रिक सम्प्रदाय का मनन-ग्रन्थ है और खण्डन-मण्डन से परे होकर साधनोन्मुख है । 'सिद्धित्रयी' 'प्रत्यभिज्ञा' 'शिवस्तोत्रावली' इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं । अतः स्पन्दशाखा का वंशवृक्ष इस प्रकार है—



५. भट्टभास्कर—शिवसूत्रवार्तिककार भट्टभास्कर ने गुरुशिष्य-परम्परा को अपने मत से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ।।
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ।।
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिकम् ।।
एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत् ।
श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च ।।
श्रीमत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्सोऽप्येवमावदत् ।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुरः ।।
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च ।

१-२. भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्यय

तस्मात्प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्त्तिकमादरात् ।
दैवाकरिर्भास्करोऽहं अन्तेवासिगणेरित: ।। ३-८ ।।[1]

६. आचार्य सोमानन्दपाद—आचार्य सोमानन्दपाद इन्हीं दुर्वासा के मानसपुत्र त्र्यम्बक की परम्परा में उत्पन्न हुए थे । त्र्यम्बक की चौदह पीढ़ियों के अनन्तर पन्द्रहवीं पीढ़ी में उत्पन्न मानसपुत्र ने विवाह कर लिया । उनसे सङ्गमादित्य का जन्म हुआ । आगे वंशक्रम इस प्रकार रहा—

सङ्गमादित्य → वर्षादित्य → अरुणादित्य → आनन्द → सोमानन्दपाद । आचार्य सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ में इस परम्परा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् .... यत्नवान्' । (कलियुग के प्रभाववश उपदेष्टाओं की गुरु-शिष्य परम्परा का ह्रास हो जाने से ह्रासोन्मुखी शास्त्रों की दुर्दशा देखकर शङ्करजी ने श्रीकण्ठमूर्ति का रूप धारण कर दुर्वासा मुनि को त्रिकमत का प्रचार-प्रसार करने का आदेश दिया । दुर्वासा→१. त्र्यम्बक, २. आमर्दक, ३. श्रीनाथ—नामक मानस सिद्ध । इनके द्वारा अद्वैत, द्वैताद्वैत एवं द्वैतमत की व्याख्या एवं प्रचार-प्रसार ।)

त्र्यम्बक की १५वीं पीढ़ी में जो मानसपुत्र हुआ, उसने विवाह कर लिया । परिणाम-स्वरूप सङ्गमादित्य → वर्षादित्य → अरुणादित्य → आनन्द → सोमानन्द → उत्पलाचार्य → (पुत्र+शिष्य) लक्ष्मणगुप्त → अभिनवगुप्त → अभिनवगुप्त के शिष्य → राजानक क्षेमराज → योगराज का प्रादुर्भाव हुआ ।

ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ।।

तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्तत: ।
सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक् त्र्यम्बकाख्यं तत: परम् ।।

तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।
खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ।।

सिद्धस्तद्वत् सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश ।
यावत्पञ्चदश: पुत्र: सर्वशास्त्रविशारद: ।।

स कदाचिल्लोकयात्रामासीन: प्रेक्षते तत: ।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ।।

रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मन: ।।

स धर्मचारिणी सम्यग् गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नत: ।।

ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविध: ।
तनय: स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् ।।

१. शिवसूत्रवार्तिक—भट्टभास्कर

नाम्ना स सङ्गमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः ।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ।।
आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः ।
तस्मादपि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ।।[१]

७. अन्य परम्परा—वसुगुप्त की द्वितीय शिष्य परम्परा का क्रम इस प्रकार है—कल्लट (विक्रम दशम शतक) → प्रद्युम्नभट्ट → प्रज्ञार्जुन → महादेव भट्ट → श्रीकण्ठभट्ट → भास्कर ।।[२]

त्रिक दर्शन के दो पक्ष

त्रिक दर्शन के दो पक्ष हैं—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द । वसुगुप्त के शिष्य सोमानन्द ने काश्मीरीय शैव दर्शन को अपनी तार्किक युक्तियों एवं तार्किक पक्ष से सुदृढ़ किया और उन्होंने इस उद्देश्य से प्रत्यभिज्ञादर्शन की उद्भावना की ।[३] भाव यह है कि त्रिक दर्शन का तार्किक पक्ष शिवदृष्टि है । सोमानन्द इसी पक्ष के उद्भावक हैं । तार्किक दृष्टि से त्रिकदर्शन की गहराई नापना हो तो सोमानन्द की शिवदृष्टि आदि रचनायें पठितव्य हैं ।

यदि त्रिक दर्शन के धार्मिक, उपासनात्मक एवं साधनात्मक पक्ष में अवगाहन करना हो तो इस श्रद्धा-पक्ष, आराधना-पक्ष एवं साधना-पक्ष के लिए स्पन्द की रचनायें पठितव्य हैं ।

इस प्रकार त्रिक दर्शन के प्राणभूत शिवसूत्रों की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई—

१. सिद्धान्त पक्ष → 'शिवदृष्टि' —सोमानन्दपाद ।

२. साधना पक्ष → 'स्पन्दकारिका'—वसुगुप्त । कल्लट, उत्पलदेवाचार्य, क्षेमराजाचार्य, रामकण्ठाचार्य आदि ।

'Kashmir Shaivism' में .... ने लिखा है कि—

(क) त्रिक दर्शन उपजीव्य—शिवविरचित आर्ष आगम,

(ख) शिवसूत्र, स्पन्दकारिका एवं

(ग) अन्य आचार्यों की रचनायें—त्रिक दर्शन का मूलाधार हैं ।

इसमें 'शिवसूत्र' तो शिव की रचना है, न कि वसुगुप्त की । विद्वानों का मत है कि 'स्पन्दकारिका' (जो कि शिवसूत्रों के सार-सूत्रों को गर्भित करके प्रणीत की गई है या जो कि शिवसूत्रों की व्याख्या है) वसुगुप्त की रचना है; किन्तु 'स्पन्दकारिका' का अन्तिम श्लोक, जो कि उत्पलदेवाचार्य की 'स्पन्दप्रदीपिका' में है (किन्तु रामकण्ठ की 'स्पन्दविवृति में नहीं है), उसमें इस ग्रन्थ के कर्ता कल्लट एवं इसके प्रथम उपदेष्टा वसुगुप्त कहे गए हैं—'स्पन्दकारिका' की श्लोकाकार रचना भट्टकल्लट ने की—

१. सोमानन्दः 'शिवदृष्टि' आ० ७ २. सोमानन्द : 'शिवदृष्टि'

३. परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञानपरस्य तर्कस्य व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्या इति । ('तन्त्रालोक' टीका)

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥[१]

शिवाद्वयवाद—वसुगुप्त एवं सोमानन्द ने काश्मीर के दर्शन में अद्वैत शैवदर्शन का सूत्रपात किया । वसुगुप्त ने मात्र उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो श्रद्धा एवं विश्वासों से उत्पन्न आन्तर अनुभूतियों (दैवीय अनुभवों) पर आधृत हैं; जबकि सोमानन्दपाद ने त्रिक दर्शन के तर्कगर्भित दर्शन की नींव डाली ।[२] शैवदर्शन अति प्राचीन है; किन्तु शिवाद्वयवाद से अनुप्राणित इसका नव्य स्वरूप विक्रम की नवम शताब्दी में ही आविर्भूत हुआ । कल्लट ने जो यह श्लोक कहा (यदि यह उन्हीं का श्लोक है तो) कि—

लब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः ।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार ॥

तो 'स्पन्दकारिका' कल्लट की ही रचना माननी चाहिए । समस्त शाक्तदर्शन एवं कश्मीरीय शैवदर्शन अद्वैतवादी है; इसीलिए तन्त्र में कहा गया है—

अद्वैतं भावयेन्नित्यं द्वैतभावं न भावयेत्।
द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवर्तते ॥[३]

अद्वैतभावनिष्णातः संसारं नैव पश्यति।
तस्माददद्वैतभावेन यः पश्यति स पश्यति ॥[४]

अद्वैत का एक रूप तो 'विश्वदेहत्व' है ।[५] उसका स्वरूप इस प्रकार है—

विषयशरीरेन्द्रियधीप्राणनिरोधप्रसिद्धयदस्मि त्वाम् ।
इत्थञ्चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ॥

विद्याचक्रवर्ती अपनी विवृत्ति में कहते हैं—'ननूक्तनयेन सर्व एव लोको विश्वशरीरः प्राप्तः ।' यही है—'वैश्वात्म्यवाद' ।

नमो विश्वशरीराय विश्वैकात्म्यावभासिने ।
नित्यप्रत्यवमर्शाय शम्भवे विश्वसिद्धये ॥

इसका दूसरा स्वरूप है—आत्मब्रह्मात्मैक्यवाद—

'विश्वात्मा शिव एवास्मि' इति यो वितर्को विचारः एतदेव अस्य आत्मज्ञानम् ।'[६]

(क) सिद्ध वसुगुप्त एवं श्री भट्टकल्लट का आविर्भाव-काल—

भारतीय मनीषियों, चिन्तकों एवं दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में अपने आविर्भाव-काल एवं आत्मवृत्तान्त पर प्रायः प्रकाश नहीं डाला है; क्योंकि वे इसे भारतीय मर्यादा का उल्लंघन मानते थे । परिणामस्वरूप इन दार्शनिकों ने भी अपने जीवन-वृत्त एवं वंशावली के विषय में प्रकाश नहीं डाला । परवर्ती रचनाकारों ने इन्हें सिद्ध गुरुओं के रूप में तो

---

१. स्पन्दकारिका (श्लोक ५३)
२. 'Kashmir Shaivism'
३. नारदपाञ्चरात्र
४. माहेश्वरतन्त्र (पटल ७)
५. विरूपाक्षपञ्चाशिका
६. आचार्य क्षेमराज— शिवसूत्रविमर्शिनी (१७.१)

उल्लिखित किया; किन्तु इसके अतिरिक्त इनके विषय में विशेष प्रकाश नहीं डाला।

आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दनिर्णय' के उपोद्घात में सिद्ध वसुगुप्त का तो नामोल्लेख किया, किन्तु भट्टकल्लट का नामोल्लेख भी नहीं किया; लेकिन 'शिवसूत्रविमर्शिनी' के उपोद्घात में उन्होंने सिद्ध वसुगुप्त को महामाहेश्वर सिद्धगुरु एवं श्री भट्टकल्लट को उनके अन्यतम शिष्य के रूप में उल्लिखित किया है।

काश्मीर के प्रख्यात लेखक कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में अन्य सिद्धों को 'आदि' शब्द से उल्लिखित करके गौणरूप में एवं श्री भट्टकल्लट का नामोल्लेख करते हुए प्रधान सिद्ध के रूप में उल्लेख किया है—

अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥[१]

परवर्ती अन्य रचनाकारों ने भी इन दोनों का गुरु-शिष्य के रूप में स्मरण किया है।

'राजतरङ्गिणी' (४.७१६) में अवन्ति वर्मा का राज्यारोहण-काल लौकिक संवत् २९०० (स्टैन के कथनानुसार ई० ८५५-५६) कहा गया है—

एकोनत्रिंशे वर्षेऽथ प्रजाविप्लवशान्तये ।
विनिवार्योत्पलापीडं तमेव नृपतिं न्यधात् ॥

श्री कल्हण श्री भट्टकल्लट को सिद्ध रूप में उल्लिखित कर रहे हैं और भट्टकल्लट तथा अन्य सिद्धों को अवन्ति वर्मा के शासनकाल में (लोकानुग्रह के उद्देश्य से) अवतीर्ण होना बता रहे हैं।

भट्टकल्लट को अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करने में यदि पचास वर्ष का कालातिपात कल्पित कर लिया जाय तो श्री भट्टकल्लट का आविर्भावकाल ९वीं सदी का पूर्वार्ध एवं श्री वसुगुप्त का प्रादुर्भावकाल ८वीं सदी का उत्तरार्ध स्वीकार किया जा सकता है।

भट्टकल्लट त्रिक दर्शन के संस्थापक वसुगुप्त के शिष्य थे। वसुगुप्त का काल ८२५ ई० से ८५० ई० के मध्य में था। भट्टकल्लट का आविर्भाव-काल लगभग ८५५ ई० माना जा सकता है।

राजतरङ्गिणी में भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मा के समकालीन माना गया है।

रामकण्ठाचार्य उत्पलदेव के शिष्य थे और अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। सारांश यह कि भट्टकल्लट एवं रामकण्ठ दोनों समकालीन थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५ ई० तक स्वीकार किया जाता है। रामकण्ठ ने भट्टकल्लट का नामोल्लेख किया है। अतः सुस्पष्ट है कि भट्टकल्लट रामकण्ठ से बड़े रहे होंगे। ऐतिह्यविदों ने रामकण्ठ का समय ९५०-९७५ई० निर्धारित किया है; किन्तु रामकण्ठ को ८७०ई० से पीछे रखना तर्कसङ्गत नहीं है।

भट्टकल्लट का सिद्धान्त यह है कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति, जो किञ्चिच्चलत्तात्मक

---

१. राजतरङ्गिणी (५.६६)

(थोड़ा गतिमय, स्पन्दमय) होने के कारण 'स्पन्द' कहलाती है, वह परमशिव का नित्य स्वभाव है। इसी स्पन्दतत्त्व में (आत्मस्वभाव में) विश्रान्ति है, जीवन्मुक्ति है। 'स्पन्द' सर्वानुस्यूत है। 'स्पन्द' शिव की आत्मशक्ति है और जगत् उसी का व्यक्त स्वरूप है या शिवाभिनय है।[१]

(ख) भट्टकल्लट की दृष्टि एवं उनकी कारिका-व्याख्या—

भट्टकल्लट आचार्य वसुगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। गुरु वसुगुप्त ने 'शिवसूत्रों' की एवं 'स्पन्दकारिका' की जो व्याख्या करके भट्टकल्लट को इन ग्रन्थों की शिक्षा दी होगी, वही व्याख्या इन ग्रन्थों की वास्तविक व्याख्या है। इस दृष्टि से भट्टकल्लट की कारिका-व्याख्या—'स्पन्दकारिकावृत्ति' या 'स्पन्दसर्वस्व' सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या मानी जानी चाहिए। आचार्य क्षेमराज, उत्पलवैष्णव और रामकण्ठाचार्य कल्लट के परवर्ती आचार्य हैं; अत: कालातिक्रम के प्रभाव से इन व्याख्याओं में मूल रचनाकार की दृष्टि को प्रस्तुत करने में भूल भी हो सकती है और गुरु की मूल शिक्षा का प्रस्तुतीकरण अपनी पृथक् व्याख्या द्वारा उपरञ्जित होने से मूल ग्रन्थकार की मूल दृष्टि से भिन्न भी हो सकता है।

'स्पन्दकारिकावृत्ति' (स्पन्दसर्वस्व)—भट्टकल्लट की व्याख्या एवं उनकी दृष्टि को ही रामकण्ठाचार्य ने भी 'स्पन्दकारिकाविवृति' में आत्मीकृत किया है।

भट्टकल्लट कहते हैं कि स्पन्दसूत्रकार ने 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ। तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः।' (१.१) इस सूत्र (श्लोक) में अपने ग्रन्थोपक्रम में दो तथ्यों को प्रस्तुत किया है—

(क) शिवात्मक शक्ति (अनुग्रह शक्ति) के द्वारा अद्वैतावस्था पर आरूढ़ करने के रूप में कल्याणस्वभाव शङ्कर स्वसङ्कल्पमात्र से अपनी विमर्शात्मक स्पन्दता द्वारा जगत् की सृष्टि-पालन-संहाररूप कार्य का सम्पादन करते हैं।

(ख) शङ्कर नामक 'स्वभाव' विज्ञानदेह (विमर्शामक स्पन्दनरूप) शक्ति-समष्टि के ऐश्वर्य (स्पन्दशक्ति की एक साथ ही अनन्त रूपों में प्रवहमान होने एवं भेदशून्य सामान्य रूप में विश्रान्त होने की स्वतन्त्र क्रियाशीलता) का मूलोद्गम है।

१. अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं,

२. विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्योत्पत्तिहेतुत्वं, — नमस्कारद्वारेण प्रतिपाद्यते॥[२]

'शङ्कर' = (स्पन्दशास्त्र के अनुसार निशे:ष नाम-रूपात्मक एवं व्यक्ताव्यक्त शिव या शङ्कर है) शिवसूत्र का प्रथम सूत्र 'चैतन्यमात्मा' (१.१) 'स्पन्दकारिका' की उन्मेष-निमेषमयी शङ्कर नामक चैतन्यात्मिका शाश्वत सत्ता है।

इस सत्ता का 'शङ्कर' नामकरण क्यों?

---

१. स्पन्द सृष्टि-संहार आदि व्यापारों को दर्पणनगरवत् स्वभित्ति पर निष्पादित करती है—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (प्र०ह०)

२. भट्टकल्लट (स्पन्दकारिकावृत्ति)

१. नाम-रूपातीत किसी परा सत्ता का नामकरण 'शङ्कर' इसलिए किया गया कि अपने सामान्य रूप में वह सत्ता स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के माध्यम से पञ्चकृत्यों का सम्पादन (सृष्टि-स्थिति-संहार-विधान-अनुग्रह का निष्पादन) भी करती है और साथ ही वह अपने अनुग्रह कृत्य के द्वारा—२. भेदज्ञानरूप अज्ञान एवं मल की अपसारणा करके स्पन्दात्मिका शक्ति भूमिका पर आरूढ करते हुए जीवों का कल्याण भी करती है। इस शक्ति को इसीलिए शं + कर = 'शम्' = कल्याण + 'कर' = करने वाला अर्थात् 'शङ्कर' कहा गया है।

'चैतन्यमात्मा'—शिवसूत्र (आदिसूत्र) में 'चैतन्य' एवं 'आत्मा' तथा 'चैतन्यरूप आत्मा' का वर्णन आता है। उसका सम्बन्ध 'स्पन्दसूत्र' की प्रथम कारिका 'यस्योन्मेष............स्तुमः' से जुड़ा हुआ है।

(ग) शिवसूत्र का 'चैतन्य' एवं स्पन्दसूत्र का 'शङ्कर'—

'चैतन्यमात्मा' (१.१) चैतन्य एवं आत्मा को स्पन्दसूत्रों में 'शङ्कर' कहा गया है। शङ्कर ही जगदात्मा है। वह चिदानन्दघन है।

(घ) 'स्पन्दसर्वस्व' या 'स्पन्दवृत्ति' का महत्त्वातिशय—

भट्टकल्लट सूत्रकार वसुगुप्त के शिष्य थे। भट्टकल्लट की दृष्टि निश्चय ही उनके गुरु वसुगुप्त का प्रतिनिधित्व करती होगी। अपने गुरु के जीवनकाल में ही यदि भट्टकल्लट ने यह वृत्ति लिखी होगी तो उनके गुरु ने उसे देखकर उसे प्रामाणिक भी स्वीकार किया होगा तथा यथावश्यक संशोधन करके उसकी प्रामाणिकता को और अधिक पुष्ट भी किया होगा। चूँकि भट्टकल्लट को जो उपदेश प्राप्त हुआ, वह सूत्रकार के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुआ; अतः भट्टकल्लट की वृत्ति ही स्पन्दकारिका की सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या होगी। अन्य टीकाकारों ने स्पन्दकारिका की जो व्याख्या की होगी, वह उतनी प्रामाणिक नहीं हो सकती, जितनी कि कल्लट की वृत्ति होगी।

अन्य टीकाकारों ने भी 'स्पन्दसर्वस्व' या 'स्पन्दवृत्ति' को उद्धृत करके भट्टकल्लट की दृष्टि को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भट्टकल्लट की दृष्टि का अनुसरण भी किया है। उदाहरणार्थ प्रथम कारिका—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ' को लें। इस अर्द्धाली में १. 'उन्मेष-निमेष', २. 'प्रलय-उदय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनकी व्याख्या पर ध्यान दें।

'उन्मेष-निमेष' = 'उन्मेष' शब्द नेत्रोन्मीलन एवं 'निमेष' शब्द नेत्र-निमीलन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कारिका का सामान्य अर्थ है कि—जिसके 'उन्मेष' एवं 'निमेष' से जगत् का 'प्रलय' एवं 'उदय' होता है। यहाँ 'उन्मेष' एवं 'निमेष' तथा 'प्रलय' एवं 'उदय' का क्या अर्थ है?

१. भट्टकल्लट—'उन्मेष-निमेष' शब्द स्वस्वभाव शिव के सङ्कल्प के द्योतक हैं—'स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पमात्रेण' ('जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वम्')।

भट्टकल्लट जीवों के 'अदृष्ट' 'परमाणु' 'प्रकृति' एवं 'ऋत्' आदि को जगत् की उत्पत्ति एवं संहार का कारण नहीं कहते; प्रत्युत वे शिव के स्वस्वभाव, शिव-सङ्कल्प या शिव के

स्वस्वभावरूप सङ्कल्प को जगत् की उत्पत्ति एवं संहार का कारण कहते हैं । इस प्रकार भट्टकल्लट 'सङ्कल्प-सृष्टिवाद' एवं 'स्वभाव-सृष्टिवाद' का प्रतिपादन करते हैं ।

२. उत्पलाचार्य (स्पन्दप्रदीपिका)— 'उन्मेष' = औन्मुख्य ('यदुन्मेषादौन्मुख्यात्')
'उदय' = प्रभव सन्तति । 'निमेष' = विश्राम । ('निमेषाद्विश्रामात् प्रलयोऽप्ययः')
'किन्त्वीशशक्तिप्रसरविरामौ प्रभवाऽप्ययौ ॥'

आत्मा के स्वरूप के विषय में उपनिषदों, पुराणों एवं वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध, जैन, लौकायतिक, कापालिक, पाशुपत, रसेश्वर, कालामुख, शाक्तदर्शन आदि की अनेक दृष्टियाँ देखकर त्रिक दर्शन के आचार्यों ने उसका स्वरूप-निर्धारण अपनी दृष्टि से किया और 'शिवसूत्र' में प्रथम सूत्र आत्माविषयक एवं उसका स्वरूप चैतन्य निर्दिष्ट करके यह सिद्ध किया कि 'न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिकाद्यभ्युपगतानि आत्मा अपितु यथोक्तं चैतन्यमेव'[१] । ठीक भी है । मृत्युजित् भट्टारक में कहा भी गया है—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनोरूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥

काश्मीर का प्राचीन तान्त्रिक शैवसाहित्य द्वैतवादी है । मृगेन्द्र एवं मातङ्ग आदि प्राचीन तन्त्रों को मधुसूदन कौल द्वैतवादी एवं अनेक तत्त्ववादी मानते हैं ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' को काश्मीरी अद्वैतवादी शैव दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जा सकता है । तान्त्रिक समाम्नाय में काश्मीरीय शैव दर्शन की अद्वैतवादी दृष्टि का प्रथम प्रतिपादन 'स्वच्छन्दतन्त्र' में ही किया गया है । परमशिव की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति या 'स्वातन्त्र्य' शक्ति के नाम पर ही इस तन्त्र का नाम 'स्वच्छन्दतन्त्र' पड़ा होगा । इस पर आचार्य क्षेमराज की टीका 'उद्योत' सर्वाधिक प्रामाणिक टीका है ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' वसुगुप्ताचार्य एवं 'शिवसूत्रों' से पूर्व की रचना है । 'स्वच्छन्दतन्त्र' 'विज्ञानभैरव' 'नेत्रतन्त्र' 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' आदि ग्रन्थ शैव-दर्शन की काश्मीरीय शाखा की अद्वैतवादी परम्परा के मान्यतम ग्रन्थ हैं ।

जे० एन० कर्कुहर महोदय के मतानुसार जब शङ्कराचार्य काश्मीर गए तो उनकी अद्वैतवादी दृष्टि का काश्मीरी शैवों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा; अत: काश्मीरीय शैव दर्शन में अद्वैतात्मक दृष्टि का प्रबल सञ्चार हुआ । कर्कुहर का यह मत समीचीन नहीं है कि शङ्कराचार्य के प्रभाव के कारण ही 'विज्ञानभैरव' एवं 'स्वच्छन्दतन्त्र' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया गया । इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ये ग्रन्थ शङ्कराचार्य के बाद लिखे गए ।[२]

काश्मीर में शैवमत पूर्व युगों में भी प्रचलित था । काश्मीर में बौद्ध मत अपने अद्वैतात्मक दृष्टि के कारण इतना प्रभावशाली हुआ कि द्वैतवादी शैव दर्शन लुप्तप्राय हो गया । इसी समय ८वीं शताब्दी में आचार्य वसुगुप्त ने प्राचीन द्वैतात्मक शैवमत की अद्वैतात्मक व्याख्या

---

१. आचार्य क्षेमराज : 'शिवसूत्रविमर्शिनी'
२. जे०एन०कर्कुहर : 'The Religious Quest of India'.

की और काश्मीर को बौद्धमत के प्रभाव से मुक्त किया । क्षेमराज ने इन बातों का उल्लेख 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में इस प्रकार किया है—'शिवाराधनपर:पारमेश्वरनानायोगिनीसिद्धसत्सम्प्रदाय-पवित्रितहृदय: श्रीमहादेवगिरौ महामाहेश्वर: श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरुरभवत् ।'

'कदाचिच्च असौ 'द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायमा विच्छेदि' इत्याशयत: अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषत्प्रतिभ: कृत: यथा 'अत्र महीभृति महते शिलातले रहस्यम् अस्ति; अत अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय' इति । .... शिवसूत्राणि तत: समाससाद । एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान् ।'

स्पन्दशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त है—'उन्मेष-निमेषवाद' । दूसरा सिद्धान्त है—'सर्वात्मवाद' । तीसरा सिद्धान्त है— 'स्वातन्त्र्यवाद' । चौथा सिद्धान्त है—पारमात्मिक पञ्चकृत्यकारित्ववाद तथा 'सर्वस्पन्दवाद' आदि । शिवसूत्र का प्रथम सिद्धान्त है—चैतन्यवाद, सर्वात्मवाद ('चैतन्यमात्मा' १.१) 'चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिद् उपपद्यत ।'[१] 'चैतन्यं विश्वस्य स्वभाव: ।'[२] 'चैतन्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यात्मैव,[३] 'जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभाव:'[४] 'एवं चैतन्यशब्देनोक्तं यत्किञ्चित् स्वातन्त्र्यात्मकं रूपं ।'[५] 'विरूपाक्षपञ्चाशिका' का प्रथम श्लोक भी चैतन्यवाद की ही पुष्टि करता है—विमतिपदमङ्गसर्वं मय चैतन्यमात्मन: शरीरमिदम् । शून्यपदादीलावधिपिण्डवत् सिद्धं—अर्थात् यह तुम्हारा विकृत ज्ञान है कि जो तुम ग्राहकाभिमानवश विश्व से स्वयं को भिन्न मान रहे हो । शिव से पृथ्वीपर्यन्त सब चिद्विलास ही तो है । चिच्छक्ति से भिन्न कुछ भी नहीं है । आत्मतत्त्व का लक्षण चैतन्य है । मेरा चैतन्य अनवच्छिन्न है । विश्वबीज चैतन्य है ।

(ङ) 'स्पन्दशास्त्र' एवं 'स्पन्दसम्प्रदाय' अभिधानों में 'स्पन्द' शब्द का औचित्य—

स्पन्द अभिधान की सोद्देश्यता क्या है ? यदि त्रिकानुशासन की किसी शाखा की आख्या 'प्रत्यभिज्ञा' रखी गई तो यह समीचीन है; क्योंकि उसका लक्ष्य अपने सत्स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा रखा गया, जिससे कि मितप्रमाता मितप्रमातृत्व से ऊपर उठकर अपने 'पर-प्रमातृत्व' को पुन: प्राप्त कर सके; किन्तु 'स्पन्द' नाम की क्या सार्थकता है? इस प्रश्न का उत्तर निम्नानुसार है—

१. सृष्टिविषयक असङ्गति का निवारण—वसुगुप्त के समय तक भारत का सर्वोच्च दर्शन शङ्कर का केवलाद्वैत दर्शन था । शङ्कराचार्य के अद्वैत में एक दुर्बलता यह थी कि वे यह सिद्ध नहीं कर सके कि यदि ब्रह्म सत्य है तो उसका जगत् असत्य कैसे हो सकता है? यदि निष्क्रिय, निर्गुण, निराकार ब्रह्म सृष्टि नहीं कर सकता तो उसकी असत् माया से जगत् की सृष्टि कैसे हो सकती है? जो अभावात्मक है, उससे भावात्मक सृष्टि कैसे हो सकती है ? माया तो जड़ है; फिर जड़ से चेतन ब्रह्म का सम्बन्ध कैसे? जड़ से चेतन की सृष्टि कैसे? इन्हीं प्रश्नों की समुत्तरित करने हेतु शैवाद्वैत की यह शाखा अपने सम्प्रदाय का नाम 'स्पन्द' रखने में एक लक्ष्य को चरितार्थ करती है । चरितार्थता है—'स्पन्द' का परमात्मा के साथ समवायि सम्बन्ध एवं उसकी चेतनता ।

१-५. शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज)

२. क्रियाशक्ति का प्राधान्य—शांकर अद्वैत का ब्रह्म निष्क्रिय है और सक्रिय है—माया। सांख्य की माया भी सक्रिय है; किन्तु विना चेतन पुरुष के सहयोग के सृष्टि नही कर सकती। सृष्टि हेतु दोनों का 'संयोग' आवश्यक है। शांकर अद्वैत मे ब्रह्म एवं माया के इस सांख्यीय 'संयोग' का भी वर्णन नही है। यह कहा गया कि 'माया' सांख्य की प्रकृति की भाँति कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; प्रत्युत यह ब्रह्म की शक्ति है। 'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' भी प्रकृति एवं माया को परमात्मा की शक्ति ही मानते है; किन्तु वे उसे परमात्मा में समवाय सबन्ध से अवस्थित, नित्य एवं चेतन 'स्वातन्त्र्य शक्ति' का रूपान्तर मानते हैं और जगत् को इसी शक्ति का विस्तार मानते है। शांकर अद्वैत में 'सृष्टि' मायिक होने के कारण मिथ्या है। मिथ्या माया (कारण) का कार्य (जगत्) मिथ्या तो होना ही चाहिए। तान्त्रिक 'जगत्' को सत्य मानते है। वे उसे शक्ति का विराट, व्यक्त, विकसित एवं सम्मूर्तित स्वरूप मानते हैं। चूँकि शक्ति 'स्पन्द' वाच्य है, वह सृष्टि की भूमिका में जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय की भूमिका में जगत् को स्वकुक्षि में विश्रान्त रखने एवं सृष्टि तथा प्रलय दोनों में स्पन्दायमान होने के स्वभाव वाली है और प्रत्येक पदार्थ एवं प्रत्येक सत्ता के सृष्टि-प्रलय दोनों दशाओं में सतत स्पन्दायमान स्वभाव और स्पन्दसत्ताक है। अत: स्पन्दशास्त्रियों ने अपने दार्शनिक मत का नाम 'स्पन्द'; दर्शन का नाम 'स्पन्ददर्शन'; ग्रन्थ का नाम 'स्पन्दसूत्र' एवं सम्प्रदाय का नाम 'स्पन्दसम्प्रदाय' रक्खा।

३. जगत् की सत्यता एवं शक्तिरूपता का प्रतिपादन—अस्पन्दित एवं विश्वातीत परमशिव को 'स्पन्दवान' एवं 'विश्वमय' बनाने वाली तथा उन्हें 'अहमस्मि' 'अहमिदं' एवं 'इदमहं' रूप से 'शिव' 'सदाशिव' एवं 'ईश्वर' के रूप में अवभासित करके स्वात्मानुभूति या 'अहं' बोध कराने वाली 'स्पन्दशक्ति' ही सृष्टि एवं संहार दोनों दशाओं में प्रधान रूप से स्फुरित है और उसके विना 'शिव' भी शव है। अत: इसी विमर्शप्राधान्य की दृष्टि से इन दार्शनिकों ने शक्ति को प्रामुख्य देकर शक्ति या 'स्पन्द' के नाम पर अपने मत का नाम 'स्पन्दमत' एवं शास्त्र या दर्शन का नाम 'स्पन्दशास्त्र' रक्खा।

४. शक्तिवाद : शिव का शक्ति पर आश्रित रहना—'प्रत्यभिज्ञा' एवं 'स्पन्द' का परमात्मा 'पञ्चकृत्यकारी' है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोधान एव अनुग्रह—ये उसके कार्य हैं; किन्तु कार्यों का निष्पादन भी वह केवल अपनी पञ्चशक्तियों—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के द्वारा ही कर पाता है। 'शक्ति' की सहायता के विना तो वह हिल भी नहीं सकता। इसके विना तो वह अपने को जान भी नहीं सकता—पहचान भी नहीं सकता एवं 'अहं' बोध भी नहीं कर सकता। ये सारी शक्तियाँ भी अनेक नहीं हैं; प्रत्युत एक ही के रूपान्तर हैं। यह एकात्मिका परा शक्ति ही 'स्वातन्त्र्यशक्ति' 'विमर्शशक्ति' 'हृदय' 'ऊर्मि' 'सार' या 'स्पन्द' कहलाती है। यह शिव का मुख है—'शैवीमुखमिहोच्यते'। कहते हैं कि शिव के ५ मुख हैं; जो निम्न हैं—

चिति, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। किसी भी व्यक्ति की पहचान उसके धड़ से नहीं, केवल मुख से ही की जाती है; अत: शिव की भी पहचान उसके 'स्पन्द' वाच्य शक्ति से ही की जा सकती है, अन्य साधनों से नहीं। इसलिए भी इस दर्शन को 'स्पन्दशास्त्र'

के नाम से पुकारा गया ।

५. सङ्कल्पवाद एवं सृष्टिवाद—उपनिषदों में कहा गया है—'एकोऽहं बहुस्याम्' 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् उसने इच्छा की या सङ्कल्प किया कि 'मैं एक से बहुत हो जाऊँ' और इसी सत्सङ्कल्प से सृष्टि हो गई । 'सृष्टि' पारमात्मिक सङ्कल्प का मूर्तिकरण है—परमात्मा की सिसृक्षा का परिणमन है या सङ्कल्प का रूपायन है । स्पन्दसूत्र के प्रथम व्याख्याकार एवं वसुगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं' अर्थात् सृष्टि का कारण सङ्कल्प है । प्रश्न उठता है कि 'सङ्कल्प' है क्या ? और उसका 'स्पन्द' से क्या सम्बन्ध है?

'स्पन्द' अहं विमर्श है, सिसृक्षा है, भगवान् की बाह्य (विश्वात्मक) रूप में स्वतन्त्र शक्तिप्रसार की ओर सङ्कल्पात्मक उन्मुखता है ('उन्मेष-निमेष' = सङ्कल्पात्मक औन्मुख्य है), सङ्कल्पात्मक गतिमयता है, अहंप्रत्यवमर्शात्मक एवं सांकल्पिक गतिशीलता या स्पन्दन है, उच्छलना है, क्रियात्मक सङ्कल्प है, विश्व को अहं रूप में विमर्श करने वाली शांकरी चित्शक्ति है, जगदात्मा है, चैतन्य की स्फुरणा है, संवित् शक्ति है, शिव का 'हृदय' स्वातन्त्र्य शक्ति है, पूर्णाहन्ताविमर्शस्वभावा चितिशक्ति (विमर्श) है, विमर्शात्मक स्फुरणा है और सिसृक्षु शिव की सिसृक्षोन्मुख सांकल्पिक स्पन्दन है । परमेश्वर के इन्हीं दो सङ्कल्परूपों को 'अन्तर्मुखस्पन्द' एवं 'बहिर्मुखस्पन्द' कहते हैं । 'स्पन्द' शक्ति की यही द्विमुखी गतिशीलता है ।

'स्पन्दवि०' में इसी सङ्कल्प को 'इच्छा' कहा गया है—'उन्मेष-निमेषशब्दाभ्यां ('यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ'—स्पन्दसूत्र) तदुपचरितवृत्तिभ्यां इच्छामात्रमेकं शङ्करसम्बन्धि प्रतिपाद्यते, स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः तस्य उन्मेष-निमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वं च उपचारात् ।'

परमात्मा की स्वाभिन्ना 'स्वातन्त्र्यशक्ति' विश्व के रूप में प्रसरण करने हेतु उन्मुख होने के समय सर्वप्रथम 'इच्छा' का रूप धारण करती है । 'इच्छाशक्ति' ही 'ज्ञानशक्ति' का एवं 'ज्ञानशक्ति' ही 'क्रियाशक्ति' का रूप धारण करती है ।

सर्वं खल्विदं स्पन्द—उपनिषदों में ब्रह्म को ही सर्वस्व मानकर कहा गया है कि—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । शाक्तदर्शन एवं 'स्पन्दशास्त्र' (शाक्तदर्शन की ओर अधिक उन्मुख) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' न कहकर 'सर्वं खल्विदं स्पन्द' में विश्वास रखते हैं । 'शिवसूत्र' का प्रारम्भ भी चैतन्यस्वरूपा आत्मशक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालने के रूप में हुआ है । प्रथम सूत्र है—'चैतन्यमात्मा' (१.१) । यह आत्मा 'स्पन्द' ही तो है । यही शिव की 'स्वातन्त्र्य शक्ति' भी है और यही 'प्रलयोदय' के सम्पादक 'उन्मेष-निमेष' से संयुक्ता एवं नित्य स्पन्दनशीला 'स्पन्दशक्ति' है । इसीलिए 'स्पन्दसूत्र' में इसे 'उन्मेष-निमेष' पदों द्वारा व्यक्त किया गया है—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।' यही वह है, जिसके विषय में द्वितीय कारिका में कहा गया है—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥ (स्पन्दसूत्र १.२)

'स्पन्द' एक गतिहीन गति है—'किञ्चिच्चलन' (स्वतन्त्र रूप में स्फुरण) है। 'स्पन्द' क्या है?

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वक:।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसञ्ज्ञक:॥
स्पन्द: स कथ्यते शास्त्रे ....॥ (तन्त्रालोक ४.१८२.८३)

वह 'स्फुरत्ता महासत्ता' है—'सा स्फुरत्ता महासत्ता' (ईश्वरप्रत्य०)। वह समस्त क्रियाओं में स्वातन्त्र्य एवं भवनकर्तृता है—'सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्' (ईश्वरप्र०)। वह उच्छलनात्मिका चित् शक्ति है—'स्वात्मन्युच्छलनात्मक:' (तं०)। वह सूक्ष्म अहंविमर्शात्मक स्फुरणा है।

समस्त जगत् स्पन्द का उल्लास है। शिव, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या, विज्ञानाकल, प्रलयाकल, सकल, माया, प्रकृति, पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत, पञ्चमहाविषय, महत्तत्व, अहंकार अर्थात् समस्त ३६ तत्त्व और सारे पदार्थ एवं स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं महाकारण जगत् माया (शक्तिरूपा, तत्त्वरूपा), शुद्धाध्व, अशुद्धाध्व, आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व एवं शिवतत्त्व, मित अहंता, पूर्णाहन्ता, बन्धन, मुक्ति, पाश, लोक, प्रमाता, प्रमेय, प्रमा, इदन्ता, अहन्ता, मल, अज्ञान, विद्या-अविद्या, गोचरी, दिक्चरी, खेचरी, भूचरी, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, षटचक्र, ७२ हजार नाड़ियाँ, कुण्डलिनी, मालिनी, अन्त:करण, करण, आरोह, अवरोह आदि सभी कुछ 'स्पन्द' ही तो है। यदि 'स्पन्द' शक्ति में स्पन्दन न हो तो किसी भी सत्ता या भाव का अस्तित्व सम्भव नहीं रह पायेगा।

चूँकि काश्मीरीय शैवाद्वैती दर्शन का प्रथम ग्रन्थ 'शिवसूत्र' आत्मा (शिव की शक्ति = 'स्पन्द') को प्राधान्य देकर एवं आत्मोल्लेखपूर्वक ग्रन्थारम्भ करके स्पन्दतत्त्व की सर्वातिशायी महत्ता स्थापित करने का लक्ष्य रखता है; अत: स्पन्दशास्त्र के आचार्यों ने त्रिक दर्शन के इसी विमर्शप्रधान दृष्टि की प्राणप्रतिष्ठा करने हेतु अपने ग्रन्थ का नाम 'स्पन्दशास्त्र' या 'स्पन्दसूत्र' रक्खा तथा उनका दार्शनिक मत 'स्पन्दमत' एवं सम्प्रदाय 'स्पन्दसम्प्रदाय' कहलाया।

शङ्कर का ब्रह्म विश्वातीत एवं निष्क्रिय है। त्रिकानुशासन का परमेश्वर भी विश्वातीत एवं निष्क्रिय है; किन्तु चूँकि उसकी शक्ति सक्रिय है; अत: वह विश्वातीत होकर भी विश्वमय एवं निष्क्रिय रहकर भी पञ्चकृत्यकारी (सक्रिय) है और उसका यह चमत्कार 'स्पन्द' की देन है; अत: इस मत को 'स्पन्दमत' एवं सम्प्रदाय को 'स्पन्दसम्प्रदाय' कहा गया।

४ 'स्पन्दकारिका' : एक विहङ्गमावलोकन

काश्मीर का अद्वैतवादी शैव दर्शन तीन भागों में विभक्त है, जो निम्न हैं—

१. 'प्रत्यभिज्ञादर्शन', २. 'क्रमदर्शन', ३. 'स्पन्ददर्शन'। इसी 'स्पन्ददर्शन' का आदि ग्रन्थ 'स्पन्दकारिका' है, जिसका मूल उत्स 'शिवसूत्र' है। 'शिवसूत्र' साधना-प्रधान है; क्योंकि उसके सारे सूत्रों को तीन साधनात्मक उपायों में विभाजित किया गया है; अत:

शिवसूत्र का अध्यायीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. प्रथम अध्याय	: 'प्रथम उन्मेष'	: 'शाम्भवोपाय'	१ से २२ सूत्र : २२ सूत्र ।
२. द्वितीय अध्याय	: 'द्वितीय उन्मेष'	: 'शाक्तोपाय'	२३ से ३२ सूत्र : १० सूत्र ।
३. तृतीय अध्याय	: 'तृतीय उन्मेष'	: 'आणवोपाय'	३३ से ७७ सूत्र : ४५ सूत्र ।
			कुल- ७७ सूत्र ।

चूँकि काश्मीरीय शैव दर्शन का मूल ग्रन्थ 'शिवसूत्राणि' ही साधना-प्रधान है; अतः उससे अनुप्राणित 'स्पन्दकारिका' का साधना-प्रधान होना तो स्वाभाविक ही है। काश्मीरीय शैव दर्शन का चिन्तन पक्ष, दार्शनिक पक्ष या सिद्धान्त पक्ष तो प्रत्यभिज्ञादर्शन है; किन्तु उसका साधना-पक्ष स्पन्ददर्शन है। इस दर्शन की आदि रचना 'स्पन्दकारिका' है।

१. प्रत्यभिज्ञा— शास्त्र, अनुमान एवं साधना के द्वारा, वर्तमान में पूर्वानुभूत ईश्वरात्मक तत्त्व के अभिमुख होने पर प्रतिसन्धान की शक्ति द्वारा 'वही ईश्वर मैं हूँ' इस प्रकार का जो आत्मपरिचयात्मक ज्ञान उदित होता है और जिससे साधक अपने को ईश्वर के रूप में पहचान पाता है, वह ईश्वरात्मक आत्मप्रत्यभिज्ञा ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। 'प्रत्यभिज्ञा' अपने विस्मृत स्वरूप की पहचान है। 'प्रतिप्रतीप' (ज्ञात होने पर भी मोहवश विस्मृत तत्त्व) का आभिमुख्य होने पर (स्फुटरूप से परिज्ञान या अनुभूति होने पर) जो ज्ञान आविर्भूत होता है, उसे 'प्रत्यभिज्ञा' ('प्रति' = प्रतीप, 'अभि' = आभिमुख्य, 'ज्ञा' = पुनर्ज्ञान) कहते हैं। अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपमिति स्वात्मावभासो हि न अननुपूर्वो अविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यत इति वक्ष्यते।'

'प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसन्धानात्मिका 'स एवायं चैत्र' इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्। लोकेऽपि एतत्पुत्र एवङ्गुण एवंरूपकयत्येवं, अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसन्धितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा इति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत् प्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति—नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति।'[१]

भास्करकण्ठ के अनुसार 'प्रत्यभिज्ञा' संस्कार एवं इन्द्रियसाक्षात्कार की समष्टि है। संस्कार द्वारा पूर्वदृष्ट व्यक्ति का स्मरण होता है और नेत्रेन्द्रिय के द्वारा उसी का साक्षात्कार होता है। स्मृति एवं स्वानुभव के आधार पर किसी व्यक्ति का जो ज्ञान होता है, वही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाता है—

स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च 'प्रत्यभिज्ञा' प्रकीर्तिता॥[२]

'मैं वही ईश्वर हूँ' इत्याकारक पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है।[३] अपने स्वस्वरूप के अपरिज्ञान

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी २. भास्करकण्ठ
३. उत्पलदेवाचार्य—'सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥ (प्र०का०)

के कारण ही जीव अपने को अनेक रूप में प्रसृत मित अणु मानता है तथा परमात्मा से पृथक् जीव मानता है—'स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान्मतः ।'

जबकि स्थित यह है कि 'स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः । विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ॥'[१]

२. क्रमदर्शन– महेश्वरानन्द ने 'महार्थमञ्जरी' की 'परिमल' नामक अपनी व्याख्या में 'महार्थ' के 'औत्तराम्नाय' 'अनुत्तराम्नाय' 'क्रमसरणि' प्रभृति पदों के द्वारा क्रमदर्शन पर प्रकाश डाला है । 'क्रमदर्शन' प्रधानतया काश्मीरीय 'त्रिकदर्शन' का अनुसरण करता है—'श्रीमहार्थत्रिकदर्शनयोर्नात्यन्तं 'भेदप्रथा' (गाथा ३७) । उन्होंने यह भी कहा कि क्रमदर्शन की कौलदर्शन से भी भिन्न दृष्टि नहीं है ।

सृष्टि एवं प्रलय (सृजन एवं संहार)—इन दोनों अन्तर्लीन भावों के परिणाम से 'अवतार' संज्ञक एक समन्वित सत्ता का प्रादुर्भाव होता है और यही 'क्रम' है—'प्रभवाप्ययोरन्तर्लोलीभावात् क्रमोऽवताराख्यः' ।

इस क्रम-पद्धति की सञ्चालिका या आदिशक्ति (जिसके द्वारा क्रमप्रक्रिया अस्तित्व में आती है) का अभिधान है—'अनाख्या शक्ति' । यह अपनी शक्ति से संवित् तत्त्व के स्वातन्त्र्य से अपने भीतर ही सृष्टि-संहार (प्रभवाप्यय) का अवभासन करती है । यही क्रिया उसका 'अन्तर्लोलीभाव' है—

१ चक्रद्वयेऽन्तः कचति लोलीभूता परा स्थितिः ।
२ प्रभवाप्यययोरन्तर्लोलीभावात्क्रमोऽवताराख्यः ।

सृष्टि एवं संहार की उभयात्मकता का यामलभाव ही लोलीभाव है । दो चक्रों के भीतर लोलीभूत परावस्था है । यह अनाख्या भगवती ही अपने भीतर सृजन एवं संहार दोनों का विधान करती है—'परैव हि अनाख्या भगवती संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनिसृष्ट्यादि अवभासयति विलाययति च ।'

यस्य नित्योदिता ह्येकाभासा कालक्षयङ्करी ।
राजते हृदयाम्भोजविकासि गगनोदरे ॥
सृष्टिस्थित्युपसंहाररूपा तद्भरणे रता ॥[२]

अर्थात् शिव की शक्ति नित्य उदित और आभासमात्र स्वभाव वाली होती है । वह काल को भी स्वात्मविलापन पद्धति से आत्मसात् कर लेती है । वह शक्ति शिव के हृदयकेन्द्ररूपी पद्म के विकासमान अन्तरावकाश के अन्तराल में उल्लसित रहती है । वह सृष्टि, स्थिति और संहाररूपिणी होती है तथा उस अन्तरावकाश के सम्भरण की क्रिया में रत रहती है ।[३]

जयरथ के गुरु कहते हैं कि क्रम, अक्रम एवं क्रमाक्रम का शश्वत् समाश्रय लेने के कारण श्रीकाली निरन्तर तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करती हुई उल्लसित होती है ।

---

१. उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञाकारिका
२. तन्त्रालोक की टीका—'विवेक' (जयरथ)　　३. विवेक (जयरथ)

यद्यपि 'क्रम' ही उसका शरीर है, प्रतीक है; फिर भी वह अक्रमदशा में भी विलसित रहती है । ऐसी सर्वैश्वर्यशक्तिमती परा भगवती काली को मैं अपने हृदय की अधीश्वरी संवित् शक्ति के रूप में हृदयमन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ—

क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या सन्ततं
क्रमत्रितयलङ्घनं विदधती विभात्युच्चकैः ।
क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या द्योतते
करोमि हृदि तामहं भगवतीं परां संविदम् ॥[1]

क्रमोदय के दो प्रकार हैं—

क्रमणं पदविक्षेपः क्रमोदयस्तेन कथ्यते द्वेधा ।
आवरणं गुरुपंक्तिर्द्वयमिदमम्बापदाम्बुजप्रसरः ॥

क्रमण → १. पदविक्षेप, २. क्रमोदय ।

पदविक्षेप = भगवती त्रिपुरसुन्दरी का अनन्तकोटिकिरणात्मक अनन्तशक्तिजनन सामर्थ्य ।

क्रमोदय = दिव्य-सिद्ध-मानवौघ रूप अनन्तप्रकाशात्मक श्रीगुरुमण्डलात्मक के रूप में प्रसरण ।[2]

अभिनवगुप्तपादाचार्य 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि संसार में भावपदार्थों का अवभासन दो प्रकार से होता है—१. क्रम से, २. अक्रम से । कार्यकारणभाव की स्थिति में क्रमिक अवभासन होता है । चित्र-दर्शन में अक्रम रूप से ही अवभासन होता है । चित्र में एक-एक अंश के दर्शन में क्रमिकता एवं समग्र दर्शन में अक्रमिकता होती है । इस प्रकार क्रम एवं अक्रममयी इस भाव-कलना को ही 'काल' कहते हैं—

अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम् ।
क्रमाक्रमौ हि चित्रैककलनाभावगोचरे ॥

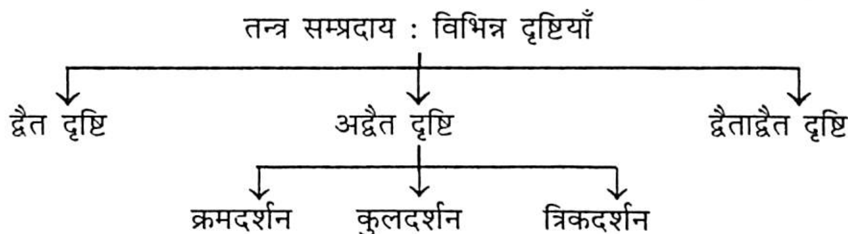
संवित्तत्त्व क्रम एवं अक्रम दोनों से परे है—

क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् ।

और क्रम-अक्रमयुक्त यह काल भी संविद् अधिकरण में ही स्फुरित होता है—

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते ।

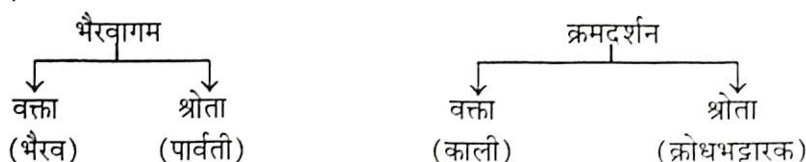
क्रमदर्शन और उसका परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—



---

१. जयरथ—'विवेक' २. काम-कला-विलास

क्रमदर्शन शाक्तोपाय पर बल देता है। यह शिव के मुख से प्रसृत है। इसे 'औत्तराम्नाय' भी कहा गया है। चूँकि भगवान् शिव के उत्तरी मुख से वाममार्गी साहित्य का भी उद्भव हुआ है और क्रमदर्शन का भी; अत: क्रमदर्शन वाममार्गी दर्शन है। यह शिव के उत्तरमुख से उपदिष्ट शास्त्र है। इसे 'औत्तार' या 'उत्तराम्नाय' भी कहा गया है। इसे ही 'कालीनय' भी कहा गया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन तो अक्रम भी मुक्ति प्रदान करता है; किन्तु क्रमदर्शन क्रमसोपान से। शिवानुग्रह से मुक्ति होती है और शिवानुग्रह क्रमानुगामी तो है नही। क्रमशास्त्र मानता है कि सोपानों को क्रमिक रूप से चढ़ते-चढ़ते ही शिखर पर पहुँचा जा सकता है; अकस्मात् नहीं। क्रमदर्शन के अनुसार मुक्ति का उपाय विकल्पों का संस्कार है। विकल्पों का संस्कार न होने तक मुक्ति सम्भव नहीं है। विकल्पों का संस्कार होने पर निर्विकल्पात्मक परतत्त्वज्ञान का उदय होता है और यही मुक्ति है। क्रम, कुल एवं त्रिक में उपासनाभेद भी है।



'कुलागम' शाम्भवोपाय है। 'क्रमदर्शन' शाक्तोपाय है। 'क्रमदर्शन' त्रिकानुयायी है और कौलदर्शन से भिन्न भी नहीं है—

अस्यामर्थस्थिति: सैव या सर्वत्र कुलागमे।
किन्तु शब्दस्य शय्यान्या नात्यन्तं सा विभिद्यते ॥[१]

'परिमल' में कहा गया है कि—१. वेदों से शैव, २. शैवों से दक्ष, ३. दक्षों से वाम, ४. वाम से कुल, ५. कुल से मत और ६. मत से त्रिक सर्वोत्तम दर्शन है—

वेदाच्छैवं ततो दक्षं ततो वामं ततो कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥[२]

महेश्वरानन्द के गुरु शिवानन्दमतसम्प्रदाय के अनुयायी या प्रतिपादक थे। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'परात्रिंशिका' की व्याख्या में 'क्रमदर्शन' को कुलशास्त्र एवं त्रिकशास्त्र एवं इन दोनों की दृष्टियों का अन्तरालवर्ती माना है।

क्रमदर्शन के प्रथम आचार्य शिवानन्द थे। काश्मीर में नाथयोग की एक परम्परा चलती रही। इसमें पराशक्ति के बारह रूपों की उपासना की जाती रही, इसे 'क्रमदर्शन' कहा गया। इसका सम्बन्ध कौलपरम्परा से है।

३. 'स्पन्द' (इसकी विवेचना आगे सविस्तार की जाएगी)।

५. 'स्पन्दकारिका' (स्पन्दशास्त्र) किसकी रचना है?

१. आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दसन्दोह' में कहते हैं—

उपदिदेश श्रीमान् वसुगुप्तगुरु:—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां प्रलयोदयौ तं शक्तिचक्रविभव-

---

१-२. परिमल टीका (महार्थमञ्जरी)

प्रभवं शङ्करं स्तुमः ।' सारांश यह कि क्षेमराज 'स्पन्दकारिका' को वसुगुप्त की रचना मानते हैं ।

२. आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दसन्दोह' में यह भी कहते हैं—

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' कारिका में वसुगुप्ताचार्य ने 'शिवसूत्र' के प्रथम सूत्र 'चैतन्यमात्मा' की व्याख्या की है—

तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते—यस्योन्मेष ..... स्तुमः ।

३. 'परमाद्वयप्रकाशानन्दमयमहेश्वरस्वरूपप्रत्यभिज्ञापनाय (समतशास्त्रगर्भां समुचितां) स्तुतिं इमाम् उपदिदेश श्रीमान् वसुगुप्तगुरुः—'यस्योन्मेष ..... स्तुमः ।'

४. आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दनिर्णय' में कहते हैं कि शिवसूत्रों की सामग्री के आधार पर श्री वसुगुप्त ने स्पन्दकारिका की रचना की ।

अतः काश्मीरीय त्रिकदर्शन के मूल में 'स्पन्ददर्शन' है । 'स्पन्दशास्त्र' का मूल ग्रन्थ शिवसूत्र है तथा बाद में इसका दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ 'स्पन्दकारिका' है ।

५. आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहते हैं—

(क) शिवोपनिषद् संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद ।

(ख) एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान् ।

६. आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि 'वसुगुप्त' ने कल्लट आदि शिष्यों को 'शिवसूत्र' के रहस्यार्थ का ज्ञान कराया और साथ ही शिवसूत्रों को स्पन्दकारिकाओं के रूप में संगृहीत किया ।'

शैव आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है कि स्पन्दसूत्रों का मूल रचयिता कौन था? सामान्यतया विद्वान् यही मानते हैं कि मूल सूत्रों की रचना स्वयं सिद्ध वसुगुप्त ने की और भट्टकल्लट ने गुरु की सूत्रात्मक भाषा की व्याख्या के उद्देश्य से इस पर वृत्ति लिखी ।

७. कतिपय अन्य आचार्यों की मान्यता है कि मूल सूत्रों की रचना श्री भट्टकल्लट ने ही की है और उसे सुस्पष्ट करने के लिए इस पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है । इस दृष्टि के प्रतिपादक 'स्पन्दप्रदीपिका' के लेखक श्री उत्पलवैष्णव एवं 'शिवसूत्रवार्तिक' के लेखक श्री भास्कराचार्य हैं ।

(क) श्री उत्पलवैष्णव कहते हैं कि श्री भट्टकल्लट को अपने तत्त्ववेत्ता गुरु वसुगुप्त से यह रहस्य प्राप्त हुआ और उन्होंने इसे श्लोकबद्ध किया—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥[१]

---

१. स्पन्दप्रदीपिका (श्लोक ५३)

(ख) तत्त्वदर्शी श्रीभास्कराचार्य ने अपने 'शिवसूत्रवार्तिक' के उपोद्‌घात में पूर्वोक्त जनश्रुति का उल्लेख करते हुए अपनी यह दृष्टि प्रस्तुत की है कि गुरु वसुगुप्त को किसी सिद्ध के आदेशानुसार महादेव पर्वत पर शिवसूत्र प्राप्त हुए थे । वसुगुप्त ने उन सूत्रों का रहस्य अपने शिष्य भट्टकल्लट को प्रदान किया । ये सूत्र चार खण्डों में विभक्त थे । श्री भट्टकल्लट ने इनमें से प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या अपने स्पन्दसूत्रों एवं अन्तिम खण्ड की व्याख्या 'तत्त्वार्थचित्तामणि' नामक टीका में की ।

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्तः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥
व्याकरोत्त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिकम् ॥[१]

इस दृष्टि की स्थापना का आधार क्या है ? यह कहीं भी उल्लिखित नहीं किया गया है । इसके विपरीत 'स्पन्दनिर्णय' में आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानघनं हृद्‌गुहान्तकृतिनिहितेः ।
वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य ॥[२]

८. रामकण्ठाचार्य अपनी विवृत्ति में जो दृष्टि प्रस्तुत करते हैं, वह भी समाधानकारक नहीं है । विवृति (संवत् १९६९का संस्करण) में 'केनापि ग्रथितां प्रसारणधिया' इत्यादि उपोद्‌घात में श्रीरामकण्ठाचार्य सूत्रावली के ग्रथन-कर्ता का नाम उल्लिखित नहीं कर रहे हैं, अतः पुनः वही सन्देहास्पद स्थिति बनी रह जाती है । उपर्युक्त श्लोक की टिप्पणी में यह अवश्य उल्लिखित किया गया है कि सर्वप्रथम श्रीवसुगुप्ताचार्य ने ही सूत्रों की रचना की है—'प्रथमं वसुगुप्तपादैः सूत्रावलिः दृब्धा ।' यह टिप्पणी किसने लिखी एवं किस प्रमाण पर लिखी—यह अज्ञात है । रामकण्ठाचार्य ने चतुर्थ निष्यन्द की समाप्ति करते हुए अपने अन्तिम श्लोक—

अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥

की विवृत्ति में गुरु के रूप में वसुगुप्त का नामोल्लेख किया है—'गुरुभारतीं वन्दे गुरोः वसुगुप्ताभिधानस्य ।' किन्तु यहाँ भी उन्होंने उन्हें सूत्रकार के रूप में उल्लिखित नहीं किया है । यदि श्रीरामकण्ठाचार्य भट्टकल्लट को ही मूल सूत्रकार मानते होते तो किसी न किसी स्थल पर इसका भी उल्लेख करते; किन्तु उन्होंने ऐसा भी नहीं किया । यह भी सुस्पष्ट नहीं है कि यदि वसुगुप्ताचार्य ने अपने शिष्य को अपना रहस्य-सूत्र प्रदान किया था तो लिखित रूप में किया था या कि मौखिक व्याख्या के रूप में ।

डा० बलजिन्नाथ श्री भट्टकल्लट को ही मूल सूत्रकार मानते हैं । वे भास्कराचार्य की

१. शिवसूत्रवार्तिक (उपोद्‌घात) २. स्पन्दनिर्णय ।

अपेक्षा क्षेमराज की दृष्टि के ही पक्षधर हैं । गुरुक्रमानुसार सिद्ध वसुगुप्त ही मूल सूत्रकार हैं ।

९. 'स्पन्दकारिका' की कारिकाओं की पूर्ण संख्या ५१ है । 'स्पन्दनिर्णय' में आचार्य क्षेमराज इसकी पुष्टि भी करते हैं । 'स्पन्दकारिका' की टीका के अन्त में ५२वीं कारिका में भट्टकल्लट जो यह कहते हैं कि—

'मैं उस विचित्र शब्दों एवं अर्थों से समलंकृत एवं अत्यन्त विलक्षण गुरु-वाणी की वन्दना करता हूँ, जो कि गम्भीर एवं असीम संशयसमुद्र के पार उतारने वाली नौका है—

अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ।।

और मैं 'गुरुभारती' की वन्दना करता हूँ—इस कथन पर यह ध्यान देने योग्य बिन्दु है कि यदि 'स्पन्दसूत्र' भट्टकल्लट की रचना होती तो क्या वे अपनी रचना को ही 'गुरुभारती' कहकर (अपनी ही रचना की) वन्दना करते ? अत: 'स्पन्दसूत्र' सोमानन्दपाद की ही रचना प्रतीत होती है ।

१०. स्पन्दकारिका (संस्करण संवत् १८७०) के अन्त में तीन अन्य श्लोकों को परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया गया है ।

६. स्पन्दसम्प्रदाय और उसका उपलब्ध साहित्य

आधुनिक भौतिक विज्ञान ब्रह्माण्ड की सृष्टि एवं उसके विकास के पीछे एक अन्यतम एवं भयानकतम महाविस्फोट (Explosion and outburst) की भूमिका स्वीकार करता है । इस महाविस्फोट से नि:सृत यह प्रकम्पन (या स्पन्दन या स्फुरण) सृष्टि के आदिकाल से अद्यप्रभृति समस्त ईथर में, समस्त परमाणुओं में, समस्त पदार्थों में एवं विश्व की प्रत्येक सत्ता तथा गति में (स्पन्दमान रूप से) तरंगित एवं आन्दोलित हो रहा है । इसी की शक्ति पाकर विश्व का विकास भी हो रहा है । इसीलिए अरविन्द घोष ने कहा था कि विश्व अब भी विकास की यात्रा में अग्रपद हो रहा है—इसका विकास रुका नहीं है । यह स्पन्दन, प्रकम्पन, स्फुरण; जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड सत्ता में आया और समष्टि-व्यष्टिगत गति, क्रिया एवं विकास प्राणान्वित हुआ एवं उसमें गति एवं विकास करने की क्षमता आ सकी—वही शक्ति का आद्यस्पन्द है—प्रकाश-विमर्शात्मक परमेश्वर का उन्मेष-निमेष है—चैतन्यशक्ति का स्पन्दन या उसका स्फुरण है—'स्पन्द' नाम वाली पारमात्मिकी दिव्य परा शक्ति का विश्वात्मक चेतना के रूप में अहंविमर्श है—विश्वात्मक चेतना में विश्वमयता का बहिर्मुखी प्रसरण है—प्रकाश-विमर्शात्मक पूर्णतम अनुत्तरभाव में समरस, चिदानन्द परतत्त्व में इच्छात्मक, ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक स्फुरण है—'एकोऽहं बहुस्याम' का स्पन्द है तथा सिसृक्षा से उत्पन्न सृष्ट्युन्मुख चैतन्य में एक अन्यतम स्फार है—'स्पन्द' का सिसृक्षु विराट क्षोभ है—'परमशिव' में विश्रान्त एवं विश्वमय 'शक्ति' में विश्वोद्भासन की इच्छा का महाविराट, अभूतपूर्व तथा ब्रह्माण्डव्यापी महाविस्फोट है ।

आधुनिक विज्ञान यह नहीं जान सका कि ब्रह्माण्डीय विकास की पृष्ठभूमि में जो आद्य

विस्फोट स्थित है, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है ? इस आद्य विस्फोट का मूल क्या है? काश्मीरीय शैवदर्शन की स्पन्द शाखा कहती है कि इस स्पन्द का मूल कारण परशिव में विश्रान्त शक्ति का सृष्ट्युन्मुख होने पर 'स्पन्द' के रूप में बाह्योल्लास है—बहिरुन्मेष या प्रकटीकरण है या उसकी इच्छाशक्ति का चैतन्यात्मक उन्मेष है । सृष्टि ही 'शक्ति' है और 'शक्ति' ही सृष्टि है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता ।' 'विश्वातीत' एवं 'विश्वमय'—ये उसके दो स्वरूप हैं ।

ब्रह्माण्ड में जितनी भी सत्तायें हैं, उनके केन्द्र में प्रत्यक्षत: 'स्पन्द' ही विद्यमान है, निस्पन्द परमशिव नहीं । विश्वातीत परमशिव भी अपनी अहन्ता का विमर्श केवल 'स्पन्द' के द्वारा ही कर पाने में सक्षम है । शक्ति (स्पन्द) से शून्य 'शिव' शव है । शिव अपने-आपकी प्रत्यभिज्ञा, अपनी पहचान, अपनी सत्ता की अनुभूति केवल शक्ति (स्पन्द) के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से ही कर पाते हैं । 'शैवीमुखमिहोच्यते' कहकर 'शक्ति' (स्पन्द) को शिव का मुख कहने के पीछे यही भाव छिपा है कि जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति के सिर को उसके धड़ से पृथक् कर दिये जाने या सिर के न रहने से उस व्यक्ति को पहचानना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शक्तिरूपी मुख के विना शिव को (मात्र धड़ रह जाने के कारण) पहचान पाना सम्भव नहीं है ।

(क) 'स्पन्द' के विना सृष्टि सम्भव नहीं है ।

(ख) 'स्पन्द' के विना शिव की सत्ता सम्भव नहीं है ।

(ग) 'स्पन्द' के विना शिव के (विश्वातीत पक्ष से पृथक् उसके) विश्वमय स्वरूप का अस्तित्व सम्भव नहीं है ।

(घ) 'स्पन्द' (शक्ति) के विना जगत् की सत्ता सम्भव नहीं है ।

(ङ) 'स्पन्द' (शक्ति) के विना इच्छा, ज्ञान, क्रिया, तिरोधान, अनुग्रह आदि सम्भव नहीं हैं ।

(च) 'स्पन्द' (शक्ति) के विना शिव न तो सृष्टि कर सकता है और न ही उसका विकास कर सकता है ।

(छ) 'स्पन्द' (शक्ति) के विना निर्गुण ब्रह्म कभी 'सगुण ब्रह्म' नहीं बन सकता ।

(ज) 'स्पन्द' (शक्ति) के विना शिव हिल भी नहीं सकता ।

शिवसूत्र—काश्मीर में अत्यन्त प्राचीन काल से अर्थात् ईसा के प्रादुर्भाव के ९००-१००० वर्ष पूर्व से अनेक शताब्दियों तक दार्शनिक अन्धकार आच्छादित रहा । अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों एवं नागबोधि के तुल्य प्रचण्ड बौद्धाचार्यों के द्वारा काश्मीरीय चिन्तन में द्वैतमूलक सिद्धान्तों की स्थापना के द्वारा सामान्य जनता भ्रान्ति में भटक रही थी । ऐसी सामाजिक मूढ़ावस्था में अनुग्रहैकमूर्ति भगवान् भूतनाथ ने वसुगुप्त नामक एक काश्मीरी सिद्ध को स्वप्न में दीक्षित करके महादेव पर्वत की उपत्यका (दाधीगाम) में वर्तमान 'शङ्करपल' पर उत्कीर्ण अद्वैत शैवसिद्धान्तोन्मुख शिवसूत्रों की स्थिति बताकर और उसमें अन्तर्निहित रहस्यों का ज्ञान देकर उन सूत्रों का उद्धार करने का आदेश दिया ।

सिद्ध वसुगुप्त ने उन शैव शिवसूत्रों को खोजकर उनका संग्रह किया और भट्टकल्लट आदि शिष्यों को उनके रहस्यों की शिक्षा दी। इन शिवसूत्रों में निहत अद्वैत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में 'स्पन्दकारिका' ('स्पन्दसूत्र' = 'शक्तिसूत्र') के रूप में ५१ कारिकाओं की रचना की गई। भट्टकल्लट ने परतत्त्व के विमर्शप्राधान्य वाले पक्ष का आत्मीकरण करके स्पन्दसूत्रों पर वृत्ति लिखी और 'स्पन्दसम्प्रदाय' की स्थापना की।

सिद्धवसुगुप्त से पूर्व भी शैवशासन अन्धकाराच्छादित हो चुका था, जिसका पुनरुद्धार भगवान् शिव ने श्रीकण्ठ के रूप में स्थित होकर ऋषि दुर्वासा के माध्यम से कराया था।

स्पन्दसूत्र—स्पन्द सम्प्रदाय का दार्शनिक वाङ्मय मुख्यतः टीकाओं के रूप में उपलब्ध होता है; यथा—('स्पन्दकारिका' की टीकायें)—

१. आचार्य श्री भट्टकल्लटप्रणीत — स्पन्दकारिकावृत्ति स्पन्दसर्वस्व

२. आचार्य श्री क्षेमराजप्रणीत — स्पन्दसन्दोह

३. आचार्य श्री रामकण्ठप्रणीत — स्पन्दकारिकाविवृत्ति

४. आचार्य उत्पलवैष्णवप्रणीत — स्पन्दप्रदीपिका

५. आचार्य भट्टलोल्लटप्रणीत — स्पन्दकारिकावृत्ति एवं

६. अन्य टीकाएँ

क्षेमराज ने स्पन्दनिर्णय के सूत्रांक १७-१८ की व्याख्या में अनेक विवृत्तियों का उल्लेख किया है—'यद्यप्यस्मिन् विवृतिगणना विद्यते नैव शास्त्रे'।

इन स्पन्दसूत्रों का मुख्य वर्ण्य विषय अखण्डरूप में स्पन्दनशीला पारमेश्वरी विमर्श शक्ति (स्पन्दतत्त्व) के स्वरूप एवं प्राधान्य पर प्रकाश डालना है।

सदाशिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त तत्त्वों का एवं जड़-चेतनात्मक समस्त विश्व का प्राणाधिष्ठान शिवशक्ति-सामरस्य है। यही चिन्मात्रस्वरूपा आत्मसत्ता भी है। इस सामरस्य में १. 'शिव' प्रकाश है, २. 'शक्ति' शिव का विमर्श है। 'विमर्श' प्रकाश का स्पन्दन है। यह स्पन्दन ही प्रकाश का प्राण है।

यदि प्रकाश में स्पन्दरूपा प्राणसत्ता (स्पन्दन) न रहे तो प्राण-शून्य प्रकाश की सत्ता ही विलुप्त हो जाएगी। जो प्रकाशरूप शिव है, उससे अभिन्न उसकी अहंविमर्शरूपात्मिका शक्ति ही 'स्पन्द' है। 'स्पन्द' ही शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति है और उसका अहंविमर्श भी है।



द्वितीय अध्याय
स्पन्दकारिका (स्पन्दसूत्र) के प्रतिपाद्य विषय एवं शिवसूत्र

'स्पन्दकारिका' अनेक 'निष्यन्दों' में विभक्त है; जो निम्नांकित हैं—

१. प्रथम निष्यन्द : 'स्वरूपस्पन्द' : १ से २५ श्लोक (का०) २५

२. द्वितीय निष्यन्द : 'सहजविद्योदयस्पन्द' : २६ से ३२ श्लोक (का०) ७

३. तृतीय निष्यन्द : 'विभूतिस्पन्द' : ३३ से ५२ श्लोका (का०) २०

(२५+७+२०) = अर्थात् ५२ कारिकायें = 'स्पन्दकारिका' 'स्पन्दसूत्र' = ५२

१. स्वरूपस्पन्द—स्पन्दकारिका का प्रथम निष्यन्द स्वरूपस्पन्द है । स्वरूपस्पन्द की पच्चीस कारिकाओं में कारिकाकार ने स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की ही मीमांसा की है । इसीलिए इस निष्यन्द को 'स्वरूपस्पन्द' कहा गया है ।

'शिव' का उन्मेष-निमेषमयी शक्ति, शक्तिचक्र तथा पञ्चकृत्यों से युक्तत्व—प्रथम कारिका में उन्मेष-निमेषात्मिका स्पन्दशक्ति से संयुक्त एवं शक्तिसमूहों के मूल केन्द्र 'शङ्कर' की वन्दना की गई है । इसमें यह भी बताया गया है कि सामान्य स्पन्दभूमि का रूप संवित् ही समस्त प्रमेयात्मक जगत् एवं उसके निःशेष पदार्थों की सत्ता में प्रवहमान है । अहमात्मक विमर्श ('अहं विमर्श') में प्रमेयगत अनेकाकारता अनादि काल से अभिन्नतया अनुस्यूत है । अहंविमर्श में सूक्ष्मात्मना अन्तर्निहित जो प्रमेयगत विभिन्नता स्थित है, उसी विभिन्नता या अनेकाकारता का बाह्यावभासन ही तो 'जगत्' है । अतः एकाकारता 'विश्वमयता' एवं 'विश्वोत्तीर्णता'—दोनों स्तरों पर अवस्थित है ।

शिव का विश्वाकारत्व, विश्वाधारत्व एवं सर्वव्यापकत्व—द्वितीय कारिका में भी समस्त कार्यों के कारणरूप एवं उसके स्थित्यात्मक आधाररूप तथा अनिरुद्धप्रसर भगवान् शिव के स्वरूप का ही विवेचन किया गया है ।

'आत्मा' का समस्त अवस्थाओं से अप्रभावित रहना—तृतीय कारिका में आत्मस्वरूप स्पन्दतत्त्व को जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति आदि भिन्न-भिन्न चेतनावस्थाओं में भी एकरस, अभिन्न, अवस्थातीत बताते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि यह आत्मतत्त्व न तो विभिन्न अवस्थाओं से प्रभावित होता है और न ही यह स्वस्वभाव से कभी स्खलित होता है ।

सभी अवस्थाओं में 'आत्मा' की अनुस्यूतता—चतुर्थ कारिका में सुख, दुःख एवं प्रेम आदि के संवेदनों एवं एतत्सम्बद्ध अवस्थाओं को शरीरादिक अनात्म पदार्थों के संवेदन एवं उनकी अवस्थायें न स्वीकार करके उनसे व्यतिरिक्त (किसी अन्य वेदक सत्ता अर्थात्) आत्मा से सम्बद्ध प्रतिपादित किया गया है; क्योंकि इन सभी में वेदक आत्मसत्ता अनुस्यूत

रहती है; अन्यथा जड़ देह एवं जड़ इन्द्रियाँ इनकी अनुभूति कैसे कर पातीं । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में एक ही अवस्थाता विद्यमान है ।

आत्मा का सुख-दुःखादिक एवं विमूढ़ता आदि से परे स्थिति का होना—पञ्चम कारिका में आत्मा को सुख-दुःख आदि अवस्थाओं, ग्राह्यता एवं ग्राहकता के भावों तथा मूढ़भाव (संवेदनहीनता) से अतीत प्रतिपादित किया गया है ।

'आत्मस्वातन्त्र्य' शक्ति का सभी की चेतना एवं शक्तियों का केन्द्रत्व—छठवीं एवं सातवीं कारिका में यह सिद्ध किया गया है कि 'स्पन्दात्मक आत्मबल' अपने स्पर्श से 'शक्तिचक्र' एवं अचेतन इन्द्रियों को भी चेतन बना देता है और उसकी स्वभावभूता स्वातन्त्र्य शक्ति सर्वानुस्यूत एवं सर्वव्यापक है । यही शक्ति जड़-चेतन सभी को सृष्टि-स्थिति-संहार की शक्ति प्रदान करती है ।

आत्मा का इच्छाक्रियागत स्वातन्त्र्य—आठवीं कारिका यह प्रतिपादित करती है कि मितप्रमाता आत्मा ईश्वरेच्छा का दास नहीं है; अपितु वह अपनी इच्छा के प्रसार एवं उसके क्रियान्वयन (क्रिया-निष्पादन) में स्वतन्त्र है ।

देहादि में अहंबुद्धिरूप क्षोभ का लय होने से परमपद की प्राप्ति—नवीं कारिका में यह प्रतिपादित किया गया है कि बन्धनप्रद 'मल' (अशुद्धि) अपनी ही स्वातन्त्र्य शक्ति से आविर्भूत होता है और उसके द्वारा जीव 'असमर्थ' बन जाता है; किन्तु मितप्रमाता का 'क्षोभ' अपने ही स्वरूप में लीन हो जाने पर यह 'परमपद' प्राप्त कर लेता है ।

वासनात्मक अभिलाषाओं के कारण मितप्रमाता (पशु) को 'आत्मबल' का स्पर्श नहीं हो पाता ।

दसवीं कारिका में यह प्रतिपादित किया गया है कि क्षोभ के विलीन हो जाने पर मित-प्रमाता (जीव-पशु) का स्वभावसिद्ध धर्म ज्ञातृत्व-कृतित्व के ऊपर चढ़ा आवरण हट जाता है; परिणामतः वह सर्वज्ञातृत्व-सर्वकर्तृत्व की शक्ति प्राप्त कर लेता है ।

सभी पदार्थों में स्व-स्वभाव की अनुस्यूतता से आवागमन से मुक्ति—ग्यारहवीं कारिका में प्रतिपादित किया गया है कि जो भी मितात्मा (स्व-स्वभावात्मक स्पन्दरूप आत्मा) विश्व के प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वभाव (आत्मा) की अनुस्यूतता देखकर विस्मित होते हुए अवस्थित रहता है; वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है ।

'अभावसमाधि' का प्रत्याख्यान—बारहवीं कारिका में कहा गया है कि 'अभाव' भावना का विषय नहीं बन सकता । अभावसमाधि में जड़ता की ही अवस्था रहती है; क्योंकि इस समाधि से व्युत्थानावस्था में आने पर योगी को इस समाधि का स्मरण शून्यावस्था के रूप में होता है, जो कि आत्मा की चिद्रूप अवस्था के प्रतिकूल है । अभावभावना मूढ़ता की दशा है ।

'अभाव' की अनुभूति आत्मा की कोई दशा या अनुभूति नहीं—तेरहवीं कारिका में कहा गया है कि 'मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की अभावभावना से प्राप्त अभावात्मक अनुभूति की अवस्था प्रगाढ़ सुषुप्ति के समान एवं कृत्रिम तथा अनित्य अवस्था है; यथा—

पशुओं में प्राप्त अवस्था । इस काल की अनुभूति 'मैं सुख से सोया था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है' के रूप में होती है । यथार्थ अनुभूति स्मर्यमाण नहीं होती; किन्तु यह (सुषुप्त्यनन्तर अनुभूति) स्मर्यमाण होती है ।

आत्मतत्त्व की दो अवस्थायें—चौदहवीं कारिका में कहा गया है कि स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की दो अवस्थायें होती हैं—कर्तृत्व एवं कार्यता । कार्यता नश्वर है, किन्तु कर्तृत्व अविनश्वर है ।

आत्मा के अभावरूपत्व का निषेध—पन्द्रहवीं कारिका में कहा गया है कि समाधिकाल में बहिर्मुखी कार्यता के प्रति उन्मुखता का प्रयास लुप्त हो जाता है और ऐसी स्थिति में अज्ञानी योगी सोचने लगता है कि 'मैं लुप्त हो गया हूँ, मेरा अभाव हो गया हूँ'; किन्तु यह भ्रम है ।

ज्ञान, क्रिया आदि का अधिष्ठान आत्मा—सोलहवीं कारिका में कहा गया है कि अन्तर्मुख (नित्य अहंरूप में स्पन्दायमान) चेतन आत्मसत्ता सर्वज्ञता आदि गुणों का आश्रय है । इसका लोप कभी नहीं होता; क्योंकि इसके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की विद्यमानता है ही नहीं ।

तीनों अवस्थाओं में अनुभूत स्पन्दात्मक आत्मा—सत्रहवीं कारिका में कहा गया है कि सुप्रबुद्ध योगी को चिद्रूप स्पन्दतत्त्व की उपलब्धि प्रत्येक अवस्था में अविराम रूप में होती रहती है; किन्तु अप्रबुद्ध योगियों को केवल अन्तिम (स्वप्न-सुषुप्ति) की अवस्थायें ही प्राप्त होती हैं ।

आत्मा की ज्ञान, ज्ञेय एवं चिन्मात्ररूप में प्राप्ति—अट्ठारहवीं कारिका में कहा गया है कि स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व जाग्रत् अवस्था में मात्र ज्ञेय पदार्थों का एवं स्वप्नावस्था में मात्र ज्ञान का रूप धारण करने वाली विमर्श शक्ति द्वारा प्रकाशित रहता है; किन्तु सुषुप्ति एवं तुर्य (अन्यत्र = अन्य अवस्थाओं में) में वह चिन्मात्ररूप में विद्यमान रहता है ।

विशेषस्पन्द चिन्मात्र स्वभाव का आवरण नहीं बनते—उन्नीसवीं कारिका में कहा गया है कि प्रकृति के तीन गुणों के रूप में प्रवहमान गुणादि स्पन्दनिष्यन्द, जो कि 'सामान्य स्पन्द' पर आश्रित हैं, आत्म आत्मज्ञ योगी के परिपन्थी नहीं बनते ।

आत्मतत्त्व के प्रतिबन्धक आवरण—बीसवीं कारिका में यह बताया गया है कि (गुणादि के रूप में प्रवहमान विशेष स्पन्द) प्रतिक्षण चिन्मात्र आत्मस्वरूप पर आवरण डालने के लिए कटिबद्ध रहते हैं । अत: ये अज्ञानी मितप्रमाताओं को दुरुत्तार 'संसारवर्त्म' में डालते रहते हैं ।

स्पन्दतत्त्वसाक्षात्कार-हेतु निष्पादित सततोद्योग—विशेषस्पन्द → (गुणादिक विशेषस्पन्द) → नील-सुखादिक, सांसारिक, बन्धनप्रद विकल्पप्रत्यय → संसार-सागर में निमज्जन । अप्रबुद्धों का इन विशेष स्पन्दों → विकल्पप्रत्ययों द्वारा अध:पतन ।

जाग्रदवस्था में ही निजभाव की प्राप्ति—इक्कीसवीं कारिका में कहा गया है कि जो योगी स्पन्दतत्त्वानुभूत्यर्थ सततोद्योगी (अविराम प्रयत्नशील) है, उसे स्पन्दतत्त्व की

अभिव्यक्ति जागृतिकाल में भी शीघ्र हो जाती है (स्पन्दतत्त्व की शीघ्र प्राप्ति मात्र सतताध्यवसाय द्वारा होती है)।

स्पन्दतत्त्व के साक्षात्कार की अन्य अवस्थायें—बाईसवीं कारिका में कहा गया है कि क्रोध, भय, हर्ष, किंकर्तव्यविमूढ़ता एवं विस्मय आदि की चरमावस्थाओं में प्रवहमान विकल्पों की गति-निरोधात्मक (शक्तिप्रत्यस्त) अवस्था में भी स्पन्दतत्त्व का उदय हो जाता है (अति क्रोध, अति हर्ष, 'किं करोमि' की अवस्था, दौड़ने आदि स्थितियों में अन्य वृत्तियों के स्तम्भित होने के क्षणिक कालखण्डों में भी अन्य चित्तवृत्तियों के अवरुद्ध हो जाने के कारण स्पन्दोदय)।

दृढ़ संकल्पबद्ध प्रबुद्ध योगी एवं मूढ़ योगी की अवस्था में अन्तर—तेईस, चौबीस और पच्चीस क्रमांकों की कारिका में कहा गया है कि साधना-निर्देशों के पालन के प्रति दृढ़ संकल्पबद्ध योगी प्रत्येक मानसिक अवस्था में सिद्धि प्राप्त करता हुआ सुषुम्णा मार्ग में सूर्य-चन्द्र को लय करता हुआ उस 'महाव्योम' (तुरीय शाक्तभूमि के अनन्त आकाश) में चिन्मात्ररूप से अवस्थित रहता है; किन्तु मूढ़ मितात्मा सुषुप्ति-जैसी प्रगाढ़तम तिमिर में विसंज्ञ के समान पड़ा रहता है।

२. सहजविद्योदय स्पन्द (सात सूत्र)—

'मन्त्र' की सर्वाधिकार शक्ति एवं आत्मबल-संस्पर्श का सम्बन्ध—छब्बीसवीं कारिका में कहा गया है कि प्रत्येक मन्त्र स्पन्दस्वरूप आत्मबल प्राप्त करके सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व आदि शक्तियाँ प्राप्त करके मनोवाञ्छित फलों को आयत्त कर लेते हैं तथा कार्यों को सिद्ध करते हुये पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेते हैं; जैसे कि मन (अपने कार्य-निष्पादन में) इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किए रहता है।

साधक का मन्त्र के साथ 'स्वभावव्योम' (चिदाकाश) में लय—सत्ताईसवीं कारिका में कहा गया है कि ये आत्मबल-प्राप्त मन्त्र (शुद्ध संवित् तत्त्वरूप मन्त्र) निवृत्ताधिकार होने पर माया-कालुष्यरहित होकर साधक-चित्त के साथ स्वभावव्योम (चिदाकाश) में लीन हो जाते हैं; क्योंकि ये शिवधर्मी (शिवस्वरूप = 'शिवात्मक') होते हैं।

मितात्मा की भी सर्वमयता—अट्ठाईसवीं कारिका में यह कहा गया है कि पशुप्रमाता ('अणु' = जीव) सर्वमय है; क्योंकि वह स्वसंवेदन द्वारा प्रत्येक भाव का सृजन करता है। अनुभव में आने वाला प्रत्येक तत्त्व संवेदन का विषय बन जाता है और प्रत्येक अनुभूत, विषय एवं पदार्थ उसका अंग बन जाता है। अत: वह सबसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है (केवल शिर, पाणि आदि से युक्त शरीर ही उसका शरीर नहीं है; प्रत्युत समस्त अनुभूयमान बाह्यार्थ भी उसके शरीर बन जाते हैं—भट्टकल्लट)।

प्रत्येक अवस्था का शिवात्मिकात्व और प्रत्येक भोग्य पदार्थ का भोक्तृत्व—उन्तीसवीं कारिका नें कहा गया है कि आत्मा का सर्वमयत्व का स्वभाव होने के कारण शब्द एवं अर्थ की ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिवस्वभाव को व्यक्त नहीं करती। सर्वत्र वेदक सत्ता (भोक्ता) ही वेद्य सत्ता (भोग्य पदार्थ) बनकर अवभासमान हो रही है। भोग्य (संवेद्य पदार्थ) भी भोक्ता (संवेत्ता) से पृथक् नहीं है। 'न साऽवस्था न य: शिव:'

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित: ।' निष्कर्ष यह कि भोक्ता, भोग्य, समस्त अवस्थायें एवं समस्त वेदक-वेद्य स्पन्द तत्त्व के ही रूप हैं (आत्मा की सर्वात्मकता । समस्त अवस्थाता एवं अवस्थाओं की शिवात्मक स्पन्दता) ।

'विश्व' आत्मा का खिलौना—तीसवीं कारिका में कहा गया है कि योगी 'मन्मयमेव जगत् सर्वम्' या 'यह समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है' ऐसा समझकर नि:शेष विश्व को अपने क्रीडनक (खिलौने) के रूप में देखता है; अत: वह जीवन्मुक्त है । प्रमेय विश्व को प्रमाता द्वारा अपने क्रीडनक के रूप में देखना ही जीवन्मुक्ति है ।

मन्त्रोच्चारण होते ही आत्मा की परमात्मा के साथ तादात्म्यापत्ति—इकतीसवीं एवं बत्तीसवीं कारिका में कहा गया है कि योगी के संवेदन का इतना तीव्र विकास हो जाता है कि मन्त्रजप के समय मन्त्रोच्चारणमात्र से मान्त्रिक का चित्त मन्त्र-देवता के साथ एकाकार हो जाता है और उसकी तीव्र एकाग्रता मान्त्रिक को शिवत्व-भूमि पर आरूढ़ कर देती है ।

अमृतप्राप्ति एवं 'आत्मग्रह'—बत्तीसवीं (सहजविद्योदयस्पन्द की अन्तिम) कारिका में कहा गया है कि ध्याता के चित्त में ध्येय का प्रत्यक्ष साक्षात्कार (अर्थात् मन्त्रोच्चारण करने की इच्छा करते ही तत्काल मन्त्र के देवता के साथ तादात्म्यापत्ति) ही अमृतत्त्व की प्राप्ति, 'आत्मग्रह' निर्वाणदीक्षा' एवं शिवसद्भाव ('परमशिवस्वरूपाभिव्यञ्जन'—कल्लट) प्राप्त हो जाता है ।

३. विभूतिस्पन्द (२० स्पन्दसूत्र)—

चिदात्मा द्वारा समस्त पदार्थों की प्रदायकता—स्पन्दकारिका क्र० ३३-३४ एवं ३५ में कहा गया है कि प्रत्येक प्राणी के भीतर अवस्थित 'धाता' (चित् शक्ति) अनभिव्यक्त स्वरूपात्म योगी (देही) के द्वारा अभ्यथित पदार्थों को सोम एवं सूर्य का उदय करके प्राप्त करा देता है । सिद्ध योगियों को स्वप्नावस्था में भी उनके आकांक्षित पदार्थों को प्रकाशित कर देता है; क्योंकि चिदात्मा योगी के सुषुम्णा मार्ग में स्फुटतर स्थिति में प्रकाशित रहता है और योगी के किसी भी अभ्यर्थित पदार्थ को प्राप्त करने की प्रार्थना को उपेक्षित नहीं करता ।

योगी को स्वप्नावस्था में भी अभीष्ट फल की प्राप्ति—यदि स्वरूप-साक्षात्कारोपरान्त भी योगी अपने आत्मभाव पर निश्चल नहीं रहता तो उसके लिए जाग्रत् एवं स्वप्न दोनों पदों में लौकिक प्राणियों की ही भाँति विकल्पात्मक लौकिक भावों की सर्जना स्वतन्त्र रूप में (निरापद) चलती रहती है ।

निष्कर्ष यह है कि भावों की स्वतन्त्रतापूर्वक उत्तरोत्तर सृष्टि करते रहना स्पन्दशक्ति का स्व-स्वभाव ही है ।

स्वरूपविस्मृति → जाग्रत् एवं स्वप्न दोनों में लौकिक विकल्प-सृजन—सारांश यह कि जाग्रत् स्वातन्त्र्य, स्वप्नस्वातन्त्र्य एवं स्वातन्त्र्य की हानि—ये तीनों अवस्थायें लौकिक पुरुषों की भाँति योगियों में भी होती है ।

स्पन्दसूत्रों की व्याख्या में टीकाकारों में मतैक्य नहीं है; अत: इन स्पन्दसूत्रों के पारिभाषिक

शब्दों की भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की हैं । 'देहिन:' = सर्वसाधारण देहधारी । भट्टकल्लट—'देहिन:' = 'अनभिव्यक्तस्वस्वरूप योगी ।' 'सोमसूर्य' = प्राणापान । भट्टकल्लट—'सोमसूर्य' = चक्षु आदि में अवधान = तीव्र अवधानात्मक शक्ति । प्रणय = प्रीति । योगिसंकल्पात्मक अभ्यर्थना । 'इच्छाभ्यर्थना' (कल्लट) । 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थित:'—('यच्च तन्मध्ये हृदयं स्फुटतरमभिव्यक्तं नित्यम्—कल्लट । 'मध्य' = सुषुम्णा, 'हृदय' = स्वरूपभूति शाक्तस्पन्द सुषुम्णा = 'मध्य' में 'हृदय' = स्वरूपात्मक शाक्त स्पन्दन का अनुभव स्फुटतर रूप में होता रहता है । अन्यथा कल्लट—'स्वरूपस्थित्यभावे' : स्वरूपानुभूति होने पर उसे विस्मृत करने की स्थिति = असावधान योगी की अनुभूति = 'आत्मबिड़ालदर्शनरूपा सृष्टि' (कल्लट) ।

'आत्मबल' के द्वारा पदार्थों का यथास्वरूप पूर्ण ज्ञान—क्र० ३६ एवं ३७ कारिकाओं में कहा गया है कि जिस प्रकार दूर स्थित पदार्थ प्रथम बार देखने पर स्पष्टता से दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु आत्मबल के संस्पर्श से स्पष्टतया दिखाई पड़ने लगता है, ठीक उसी प्रकार योगी को यथास्थिति, यथादेश एवं यथाकार रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है ।

'आत्मबल' से सर्वकृतित्व एवं सर्वज्ञातृत्व की प्राप्ति—का०क्र० ३८ एवं ३९ में कहा गया है कि जिस प्रकार दुर्बल काया वाला व्यक्ति भी आवेश की शक्ति से अशक्य कार्य को निष्पादित कर डालता है और अत्यधिक बुक्षुक्षित व्यक्ति भी (उद्योग, स्वभावानुशीलनवश) बुभुक्षा को दबा देता है; उसी प्रकार स्पन्दात्मक आत्मबल प्राप्त करके कोई भी योगी (शरीर के निर्बल होने पर एवं बुभुक्षित रहने पर भी) दुष्कर से दुष्कर कार्य को भी निष्पादित एवं क्षुधा को (यथाकांक्ष अवधि तक) शमित कर लेता है (अर्थात् क्षुधा, निद्रा, आदि शारीरिक एवं ऐन्द्रिय धर्मों पर विजय पा लेता है) ।

इस आत्मस्वभाव के अधिष्ठित होने से जूँ आदि काटने (यूका-दंशादिक) के सूक्ष्म अनुभव को शीघ्रतया जान लेने की भाँति ही योगी स्वात्मा में अवस्थित होने पर सर्वत्र सब बातों को जान लेता है ।

'उन्मेष' स्वरूप आत्मबल—कारिका क्र० ४०-४१ में कहा गया है कि 'ग्लानि' जो कि अज्ञान से उत्पन्न होती है, शरीर को नष्ट कर देती है । यदि इसे 'उन्मेष' (आत्मस्वभाव) द्वारा नष्ट कर दिया जाय तो कारण के अभाव में वह स्वयं नष्ट हो जायेगी ।

किसी भी व्यक्ति का चित्त कभी किसी प्रकार की चिन्ता में लीन होता हुआ तत्काल ही कभी-कभी अलक्षित आत्मबल के द्वारा दूसरी चिन्ता में लीन हो जाता है । इस अलक्षित तात्कालिक शक्ति के उदय को ही 'उन्मेष' समझना चाहिए एवं इसका अनुसन्धान करना चाहिए । यह उन्मेष तत्त्व इन दोनों चिन्ताओं के अन्तराल में उदित होता है ।

'उन्मेष' से सिद्धि-प्राप्ति—कारिका क्र० ४२ में कहा गया है कि उन्मेषानुशीलन करने से स्वल्प समय में ही बिन्दु, नाद, रूप एवं रस (मुखास्वादन) आदि सिद्धियाँ व्यक्त हो जाती हैं; किन्तु ये क्षोभक होती हैं ।

प्रत्येक भाव में स्वस्वरूप की अनुभूति द्वारा कष्टों का अन्त—कारिका क्र० ४३-४४ में कहा गया है कि दिदृक्षा की स्थिति में स्थित योगी जब भावों में स्वरूपत: व्याप्त

होकर अवस्थित होता है, तब वह स्वयं उस तत्त्व का साक्षात्कार करने लगता है ।

योगी को अनुभूति की अवस्था में अपने संवेदन द्वारा प्रत्येक ज्ञेय विषय का विश्लेषण करते-करते उसमें अनुस्यूत स्पन्दतत्त्व का साक्षात्कार करते हुए समस्त प्रमेय वर्ग को एक ही स्पन्दतत्त्व में लय कर देने से (योगी को) दूसरों के द्वारा कभी पीड़ित नही किया जा सकता ।

योगी को प्रत्येक कालखण्ड में परिच्छिद्य ज्ञेय पदार्थों का आलोचन करके स्वरूप-विकास की अवस्था में अवस्थित रहना चाहिए । इससे प्रत्येक वस्तु एवं पदार्थ को एक ही स्पन्दतत्त्व से अभिन्न रूप में देखना चाहिए ।

'एकत्रारोपयेत् सर्वं' = एक में सब एवं सबमें एक के अवस्थान का अनुशीलन होना चाहिए ।

'पशु' का स्वरूप—पैंतालीसवीं कारिका में कहा गया है कि अकार-क्षकारान्त शब्दसमूह से समुद्भूत एवं तद्रूप ब्राह्मी आदि शक्तियों का भोग्य बना हुआ तथा (ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा एवं योगेशी आदि) 'कला' नामक शक्तियों के द्वारा स्वातन्त्र्य-स्वरूप अपने असीम वैभव के नष्ट हो जाने के कारण 'स्वस्वभाव प्रच्यावित' मितात्मा 'पशु' कहा जाता है ।

'परामृत रस' से प्रच्युति एवं अस्वातन्त्र्य की प्राप्ति—छियालीसवीं कारिका में कहा गया है कि 'प्रत्ययोद्भव' (विकल्पात्मक ज्ञानों का आविर्भाव) ही 'परामृत' रस का 'अपाय' (विश्लेष = वञ्चित हो जाना = 'प्रच्युति') है तथा प्रत्ययोद्भव से अमृतरस से प्रच्युति एवं इससे 'स्वतन्त्रता' का हननरूप 'अस्वातन्त्र्य' की प्राप्ति होती है । प्रत्ययोद्भव के विषय तन्मात्रायें हैं ।

शाब्दी शक्तियों द्वारा स्वस्वरूप पर सदैव आवरण डालने का प्रयास—सैंतालीसवीं कारिका में कहा गया है कि ब्राह्मी, माहेशी, याम्या आदि पूर्वोक्त शाब्दी शक्तियाँ आत्मस्वरूप स्पन्दात्मक स्व-स्वरूप पर प्रति कालखण्ड में अपना आवरण डालने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं । शब्दानुवेद्य के विना प्रत्ययोद्भव (विकल्पों का आविर्भाव) सम्भव नहीं है ।

'स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य ब्राह्म्याद्या: सततम् उद्युक्ता: । शब्दरहितस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य नास्त्येव कस्यचिदुद्भव:'—भट्टकल्लट ।

क्रियात्मिका शक्ति के दो रूप : बन्धनप्रदा एवं मुक्तिप्रदा—अड़तालीसवीं कारिका में बताया गया है कि मातृका शिव की 'क्रियाशक्ति' ही है, जो कि बहिर्विमर्श की दशा में मितप्रमाता में स्थूल क्रिया बन जाने के कारण बन्धन में डालती है; किन्तु शिवमार्ग पर अवस्थित होने पर तथा स्व-स्वरूप में परिज्ञात होने पर सिद्धियाँ प्रदान करती है ।

पुर्यष्टक के बन्धन से परिबद्ध पशु की मुक्ति के उपाय—उनचासवीं एवं पचासवीं कारिका में कहा गया है कि पशुभूमिका में अवस्थित मितात्मा (पशु) 'तन्मात्रा' के स्वरूप वाले सूक्ष्म एवं उनके कार्यरूप (स्थूल) मन, अहंकार एवं बुद्धि (अन्त:करण) के द्वारा परामृष्ट 'पुर्यष्टक' के बन्धन में शृंखलित है; अत: परवशीभूत वह दासस्वरूप मितात्मा 'पशु' सांसारिक

भोगों का भोग भोगता है, पुर्यष्टक के होने से आवागमन के चक्र में पड़ता है; अतः इस संसरण के चक्रव्यूह से मुक्ति का उपाय बताया जा रहा है ।

भोक्तृत्वभाव एवं चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति का उपाय—इक्यावनवीं कारिका में कहा गया है कि योगी स्थूल या सूक्ष्म किसी भी पुर्यष्टक में अवस्थित होकर लीनचित्त होकर (स्पन्दतत्त्व में अपने चित्त का विलय करके) सृष्टि एवं प्रलय को स्वातन्त्र्यपूर्वक निष्पादित करके भोक्ताभाव प्राप्त कर लेता है और शक्तिचक्र का स्वामी बन जाता है अर्थात् सर्वाधिपति बन जाता है (कल्लट) ।

गुरुभारती की वन्दना—बावनवीं कारिका में कहा गया है कि मैं कारिकाकार विचित्रशब्दार्थगर्भिता, परमाद्भुता, संसारसागसमुत्तारिणी गुरु-भारती की वन्दना करता हूँ; क्योंकि यही संशय-सागर के पार उतारने वाली नौका है ।

स्पन्द के निष्यन्द—आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दसूत्र को तीन निष्यन्दों में निरूपित किया है—'इति त्रि:निष्यन्दमिदं स्पन्दशास्त्रम्'; जो निम्न हैं—

१. प्रथम निष्यन्द	: १-२५ कारिकायें	= स्वरूपस्पन्द	: २५ कारिकायें ।
२. द्वितीय निष्यन्द	: २६-३२ कारिकायें	= सहजविद्योदयस्पन्द	: ७ कारिकायें ।
३. तृतीय निष्यन्द	: ३३-५१ कारिकायें	= विभूतिस्पन्द	: १९ कारिकायें ।
४. चतुर्थ निष्यन्द	: १ कारिका	= ——	: ०१ कारिका ।[१]

आचार्य रामकण्ठ ने 'स्पन्दकारिकाविवृति' में स्पन्दकारिकाओं का विभाजन निम्न निष्यन्दों में किया है—

१. प्रथम निष्यन्द	: २६ कारिकायें	: व्यतिरेकोपपत्ति-निर्देशनिष्यन्द
२. द्वितीय निष्यन्द	: ११ कारिकायें	: व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धिनिष्यन्द
३. तृतीय निष्यन्द	: ०३ कारिकायें	: विश्वस्वभावशक्त्युपपत्तिनिष्यन्द
४. चतुर्थ निष्यन्द	: २१ कारिकायें	: अभेदोपलब्धिनिष्यन्द
अन्त में —	०१ कारिका —	— — — —[२]

आचार्य भट्टकल्लट ने स्पन्दसूत्रों को निम्नांकित निष्यन्दों में विभाजित किया है—

१. प्रथम निष्यन्द	: 'स्वरूपस्पन्द' निष्यन्द	— ०१-२५
२. द्वितीय निष्यन्द	: 'सहजविद्योदय' निष्यन्द	— २६-३२
३. तृतीय निष्यन्द	: 'विभूतिस्पन्द' निष्यन्द	— ३३-५२

रामकण्ठाचार्य ने प्रथम निष्यन्द 'ओं नमः स्वस्पन्दात्मसंविन्मूर्तये शम्भवे' से प्रारम्भ करके 'स्पन्दतत्त्व' को 'शम्भु के निज धर्म' 'अनुपमचमत्कारसरस' एवं 'परं शाक्ततत्त्व' विशेषणों से विभूषित करके उसकी वन्दना की है—

---

१. क्षेमराज—'स्पन्दनिर्णय'

२. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति'

निजो धर्मः शम्भोरनुपमचमत्कारसरसः,
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् । (स्पन्दकारिकाविवृत्ति)

रामकण्ठ ने 'स्पन्दकारिका' को कोई नव्य रचना न कहकर 'गिरां संग्रहः' (इत्थं दुर्लभ एव सर्वहृदयग्राही गिरां संग्रहः) कहकर सम्भवतः यह घोषित किया है कि 'स्पन्दकारिका' मूलतः किसी भी आचार्यविशेष की रचना नहीं है; प्रत्युत यह परम्परागत शिवोपदेशों का संग्रहमात्र है ।

'स्पन्दकारिका' का श्रीगणेश 'उन्मेष-निमेष' शब्दों द्वारा किया गया है । 'उन्मेष-निमेष' = सिसृक्षु परमात्मा की द्विमुखी संकल्पात्मकता के उन दो पक्षों को इंगित करते हैं, जिनमें 'उन्मेष' = विश्वोत्तीर्ण परमशिव की अपने विशुद्ध चिन्मात्र-रूप में उन्मुख होने की अवस्था है । इसे प्रलय, पारमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात या इदम्भाव का (प्रमेय भाव का) विशुद्ध चिन्मात्रस्वरूप अहंरूप प्रमाता में लयीभाव कहा जा सकता है । 'निमेष' शब्द भी पारमात्मिक संकल्प की सूक्ष्मतम गतिमयता का ही सूचक है; किन्तु इस गतिमयता में शिव अपने को अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जगत् के रूप में प्रसृत होने की दिशा में उन्मुख होता है । यहाँ चिन्मात्र विशुद्ध विश्वप्रमाता में अवस्थित प्रमेयता (माया शक्ति के कारण) पृथक् होकर विकसित होती है । इसे सृष्टि या तिरोधान भी कह सकते हैं ।

पारमात्मिक सस्पन्द (गतिमय) संकल्प ⟶ 'उन्मेष' = 'अन्तर्मुखस्पन्द', 'निमेष' = 'बहिर्मुख स्पन्द'

(संकल्प की स्पन्दहीन गतिमयता) = 'इच्छा शक्ति' । 'उन्मेषावस्था' = (प्रलय) ।

स्व-स्वरूप से भिन्न समस्त प्रमेयों का अभाव ।

'निमेषावस्था' = स्व-स्वरूप से भिन्न प्रमेय जाल की अस्तित्व में आने की अवस्था—सृष्टि अवस्था । परमात्मा की वास्तविक शक्ति का अभिधान है—'स्वातन्त्र्यशक्ति' । यह नित्य स्पन्दनशीला है; अतः इसका युगपद अन्तर्मुख स्पन्द एवं बहिर्मुख स्पन्द चलता रहता है ।

परमात्मा में सिसृक्षा संकल्प का स्पन्द उठते ही 'स्वातन्त्र्य शक्ति' अपना विस्तार (विकास) करने की ओर उन्मुखीभूत होते ही 'इच्छाशक्ति' का स्वरूप धारण कर लेती है । यही इच्छाशक्ति अगले विकासों में ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति बन जाती है—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥[१]

४. स्वभाव, स्व-स्वभाव, स्पन्द एवं आत्मसत्ता—

'स्व' का भाव अर्थात् आत्मा की नित्यात्मिका प्रकृति । जो विशिष्ट गुण, विशिष्ट धर्म, प्रकृति एवं विशेषतायें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को पृथक् करती हैं या जो स्वान्तःस्थ मनोभाव, आचरण, व्यवहार, चिन्तन, सिद्धान्त एवं आदर्श तथा नित्य जीवन शैली एक

---

१. एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥ (मा०वि० ३.८)

व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का व्यावर्त्तक बिन्दु है, वही उसका 'स्वभाव' कहलाता है। यह मूलतः जन्मजात गुण है। किन्तु वस्तुतः यह 'स्व' का भाव नहीं है; यह अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) का भाव है। स्व का भाव तो आत्मसत्ता है—स्वस्वभाव है—शिव की स्पन्दशक्ति है। जागतिक व्यवहार में व्यष्टिगत स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है और संख्या में अनन्त होता है; किन्तु स्व का भाव एक ही होता है और समष्टिगत होता है। पशु-भूमिका का स्वभाव व्यष्टिपरक एवं पति-भूमिका में समष्टिपरक होता है। यह मूलभूत, अखण्ड, एकात्मक, सर्वानुस्यूत एवं आत्मगत भाव ही वास्तविक स्वभाव या स्व-स्वभाव है और इसे ही 'स्पन्द' भी कहा जाता है।

स्पन्दसूत्रों में इसी अखण्ड, समरस, समष्टिगत एवं अनन्त जड़-चेतन सत्ताओं में एक रूप में विद्यमान, निरवच्छिन्न, कालातीत, अवस्थातीत, अक्षर, स्वतन्त्र, चिन्मात्र, स्रष्टा-पालक-संहारक एवं शिव की आत्मा (हृदय) के रूप में विद्यमान तत्त्व को 'स्पन्द' कहा गया है। यही आत्मा है। परमात्मा की सत्ता द्विपक्षीय है—प्रकाश एवं विमर्श।

'विमर्श' प्रकाश का स्पन्दन है और यह स्पन्दन प्रकाशरूप शिव का प्राण है। यह 'विमर्श' ही सिसृक्षा एवं सृष्टि है। यही जगदाकार परिणति है। यही स्पन्दसूत्र का 'स्पन्द' है। शिवरूप प्रकाश में जो अहंविमर्श है, वही उसका स्व-स्वभाव है, वही उसका स्पन्दन है—वही उसकी आत्मनिहित शक्ति है और वही 'स्पन्द' है।

स्पन्दसूत्रों में कर्तृता एवं कार्यतारूप अवस्थाद्वय—शांकर अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म में कर्तृता नहीं है। कर्तृता है तो उसकी मायाशक्ति में। स्पन्दशास्त्र में कर्तृता की शक्ति सदाशिव का स्वभाव है। सदाशिव पञ्चकृत्यकारी है। जगत् के कण-कण में स्पन्दात्मिका शैवी शक्ति की क्रीड़ा चल रही है। शिव ही पशुभूमिका में आरूढ़ होने पर एक से अनेक, अभेद से भेद, कारण से कार्य, अद्वैत से द्वैत, पूर्णाहन्ता से इदन्ता एवं विश्वातीत से विश्वमय रूप में अपनी अनन्त भूमिकाओं में अनन्त रूपों को अवभासित करता है।

'कार्यता' एक उपाधि है; क्योंकि वह प्रकाशाश्रित है। कर्तृता स्वतन्त्र है, कार्यता परतन्त्र है। ज्ञानाप्ति के अनन्तर कार्यतारूप द्वैत तिरोहित (विलीन) हो जाता है।

भेद या द्वैत अभेद या अद्वैत का बहिर्मुखी विकास है; अतः उसे आचार्य शङ्कर के स्वर में स्वर मिलाकर मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। संसार-भूमिका (पशुभूमिका) में व्यवहार का निर्वाह मात्र भेद पर ही आश्रित है। यह भेद ही कार्यता का जनक है। कार्यतावस्था कर्तृतावस्था का ही अवभास है। यदि कर्तृता की अवस्था आत्मविश्रान्ति है तो कार्यता हेय है। स्वतन्त्र कर्तृता ही अहन्ता है और परतन्त्र कार्यता ही इदन्ता है। शिव की कर्तृता पूर्णाहन्ता है।

५. स्पन्दकारिका और शिवसूत्रों का अन्तःसम्बन्ध एक विहंगमावलोवन—

आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में लिखा है कि—

१. परमशिव ने महामाहेश्वर श्रीमान् वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि काश्मीर में स्थित पर्वत की शिला पर रहस्यवाक्य अंकित हैं; अतः तुम उन्हें खोजो और

उनका प्रचार करो ।

२. वसुगुप्त ने जागने पर उनको पहाड़ पर अन्वेषित करने का प्रयास किया और उन्होंने एक बहुत बड़ी शिला को छू लेने-मात्र से पलटकर इस शिवोपनिषद् का प्रत्यक्षीकरण किया । यही शिवोपनिषद् का संग्रह 'शिवसूत्र' है ।

३. इन समस्त शिवसूत्रों का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करने के बाद इनके रहस्यों को वसुगुप्त ने अपने भट्टश्रीकल्लट आदि श्रेष्ठ शिष्यों को पढ़ाया और इन्हें 'स्पन्दकारिका' के रूप में संगृहीत किया ।

निष्कर्ष यह कि स्पन्दसूत्र (स्पन्दकारिका) शिवसूत्रों की ही व्याख्या है । 'शिवसूत्रवार्तिक' में भी इसी तथ्य को प्रमाणित किया गया है—

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्वितम् ॥

शिवसूत्रविमर्शिनी और स्पन्दकारिका : अन्तःसम्बन्ध के साक्ष्य—

शिवसूत्र	स्पन्दसूत्र
१. 'चैतन्यमात्मा' (१.१)	१. यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम् । सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः ॥ २. लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् । यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा । ३. यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः । तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ ४. तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः । भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ ५. यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् । तस्यानावृत्तरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६. जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति । निवर्त्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ७. अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः । सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ८. न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च । न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥

२. 'ज्ञानं बन्धः' (१.२)	१. निजा शुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः । यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥
	२. परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः । तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥
३. 'योनिवर्गः कलाशरीरम्' (१.३)	१. निजा शुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः । यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥
४. 'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' (१.४)	१. शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् । कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥
	२. स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यता । यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥
५. उद्यमो भैरवः (१.५)	१. एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः । उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥
६. 'शक्तिचक्र- सन्धाने विश्वसंहारः' (१.६)	१. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ । तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥
	२. यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ । नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥
७. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः (१.७)	१. जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति । निवर्त्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥
८. त्रितयभोक्ता वीरेशः (१.११)	१. तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी । नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु ॥
९. विस्मयो भोगमूमिका (१.१२)	१. तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् । स्मयमान इवस्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कृतः ॥
१०. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी (१.१३)	१. न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते । अपि स्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥
११. दृश्यं शरीरम् (१.१४)	१. भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।
१२. हृदये चित्तसङ्घट्टाद्दृश्य- स्वापददर्शनम् (१.१५)	१. तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्सर्वत्रैव भविष्यति ॥
१३. शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वाऽपशुशक्ति (१.१६)	१. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् । स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥
१४. वितर्क आत्मज्ञानम् (१.१७)	१. इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽत्मनो ग्रहः । इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥

१५. शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः (१.१९)	१. यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान् हृदि स्थितान् । सोमसूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ॥
१६. भूतसन्धानभूतपृथक्त्व-विश्वसङ्घट्टाः (१.२०)	१. दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते । आच्छादयेद्बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ॥
	२. ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः । तदुन्मेषविलुप्तं तत्कुतः सा स्यादहेतुका ॥
	३. यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि । भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥
	४. तथा यत्परमार्थेन येन यत्र यथा स्थितम् । तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात्सम्प्रवर्तते ॥
१७. 'शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्व-सिद्धिः' (१.२१)	१. दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते । तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥
	२. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः । प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥

द्वितीय उन्मेष

१८. चित्तं मन्त्रः (२.१) १९. प्रयत्नः साधकः (२.२)	१. सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः । अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि । तदात्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या ॥
२०. विद्याशरीरसत्तामन्त्ररहस्यम् (२.३)	१. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः । प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥
२१. गर्भे चित्तविकासो विशिष्टविद्यास्वप्नः (२.४)	१. अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः । प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥
२२. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था (२.५)	१. यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥
२३. गुरुरुपायः (२.६)	१. अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम् । वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥
२४. मातृका चक्र सम्बोधः (२.७)	२. सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी । बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥ यदा क्षोभः प्रलीयेत् तदा स्यात्परमं पदम् ।
२५. शरीरं हविः (२.८) २६. ज्ञानमन्नम् (२.९)	१. 'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत् ज्ञानेनालोक्य गोचरम् । एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥

२७. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् (२.१०)	१. अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः । सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ २. अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये । जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥

तृतीय उन्मेष

२८. ज्ञानं बन्धः (३.२)	१. तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना । पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ॥ भुंक्ते परवशो भोगं तद्भावात्संसरेत् ॥ २. संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं सम्प्रचक्ष्महे ॥
२९. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया (३.३)	१. अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगननोद्यताः ।
३०. यथा तत्र तथान्यत्र (३.१४)	१. लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् । यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥
३१. स्वमात्रानिर्माणमापादयति (३.१७)	१. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् । स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥
३२. स्थितिलयौ (३.३१) तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेतृभावात् (३.३२)	१. अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् । कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ २. कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते । तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥ ३. न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् । तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥
३३. सुखदुःखयोर्बहिर्मननम् (३.३३)	१. न दुःखं न सुखं यत्र ग्राह्यं ग्राहको न च । न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥
३४. त्रिपदाद्यनुप्राणनम् (३.३८)	१. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् । धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ २. तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे । सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥

(ख) स्पन्दसूत्र और शिवसूत्र—'शाक्तदर्शनम्' की जिज्ञासा है—'अथातो शक्ति-जिज्ञासा'। वेदान्त की जिज्ञासा है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। किन्तु स्पन्दसूत्र की जिज्ञासा है—अथातो स्पन्दजिज्ञासा। स्पन्दशास्त्र का जिज्ञास्य ब्रह्म नहीं; प्रत्युत स्पन्दवान शिव की शक्ति 'स्पन्द' है। स्पन्दसूत्र एवं शिवसूत्र दोनों के प्राथमिक सूत्रों में 'स्पन्द' का नाम नहीं लिया गया है।

१. शिवसूत्र का प्रथमसूत्र 'चैतन्यमात्मा' है ।

२. 'स्पन्दसूत्र' का प्रथमसूत्र है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥

यदि शिवसूत्र की व्याख्याओं पर दृष्टि डालें तो उसकी प्राचीनतम एवं अनन्यपूर्व व्याख्यायें तो वसुगुप्त एवं सोमानन्द की हैं । आचार्यो का कथन है कि आचार्य वसुगुप्त ने शिवसूत्रों को अपने शिष्यों को पढ़ाते समय उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की, वही है— स्पन्दसूत्र तथा वसुगुप्त के शिष्य सोमानन्दनाथ ने इसकी जो व्याख्या की है वही है 'शिवदृष्टि' (शिवदृष्टि = शिवसूत्र का दार्शनिक पक्ष या शिव की दृष्टि = (शिव द्वारा 'शिवसूत्र' का प्रणयव होने से शिव की दार्शनिक दृष्टि भी) शिवसूत्र का दर्शन = ही शिवदृष्टि का अर्थ है) ।

३. शिवदृष्टि का प्रथम छन्द निम्नांकित है—

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥ (१.१)

(Let Shiva who is one in substance with us offer his obeisance to Shiva, who has materialised his own nature in the form of universe by his own native power, for success in overcoming the obstacles with the help of the triple agency of Mind, Tongue and Body.)

४. स्पन्दसर्वस्व स्पन्दसूत्र की प्राचीनतम एवं प्राथमिक व्याख्या है ।

स्पन्दसूत्र की व्याख्या के रूप में स्पन्दसर्वस्व (भट्टकल्लट) स्पन्दनिर्णय (क्षेमराज) स्पन्दसन्दोह (क्षेमराज) स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) स्पन्दप्रदीपिका (उत्पल वैष्णव), भट्टलोल्लट की वृत्ति एवं अन्य अनेक विवृत्तियाँ तो लिखी गईं, किन्तु स्पन्दशास्त्र पर मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थ क्यों नहीं लिखे गए? यह एक अनुसन्धेय विषय है । स्पन्दसूत्र की इन विभिन्न व्याख्याओं में मत-वैषम्य भी रहा है और सभी व्याख्याकार किसी विशेष लक्ष्य या विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण को केन्द्र में रखकर स्पन्दसूत्र की व्याख्यायें करते रहे हैं । इस स्थिति में भी स्पन्दसूत्र को छोड़कर स्पन्दसम्प्रदाय में अन्य कोई मौलिक रचना नहीं की गई । क्या इसको अधिक महत्त्व नहीं प्राप्त है ? वस्तुतः ऐसा नहीं है । त्रिक दर्शन की 'प्रत्यभिज्ञाशाखा' भी, जो कि 'स्पन्दशाखा' से पृथक् है, स्पन्दसूत्रों को प्रामाणिक मानती है; क्योंकि शिवसूत्र एवं स्पन्दसूत्र समकालीन रचनायें हैं और वसुगुप्त के दर्शन की रचनायें हैं । स्वयं सोमानन्द ने शिवदृष्टि के प्रथम छन्द की व्याख्या में स्पन्दसूत्र—

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ (१.८)

को उद्धृत किया है और इसे स्पन्दकारिका के सूत्र के नाम से नहीं; वरन् स्पन्दशास्त्र के नाम से उल्लिखित किया है—'यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे' ।

सोमानन्दनाथ एवं भट्टकल्लट दोनों वसुगुप्त के शिष्य थे । भट्टकल्लट ने परमतत्त्व की विमर्शप्रधानता के सिद्धान्त को आत्मीकृत करके स्पन्दसूत्र पर वृत्ति लिखकर स्पन्दसम्प्रदाय का शिलान्यास किया और सोमानन्द ने शिवदृष्टि लिखकर प्रत्यभिज्ञासम्प्रदाय का शिलान्यास किया ।

शिवसूत्र का प्रथम सूत्र चैतन्यात्मक आत्मा पर प्रकाश डालते हुए चिदात्मा को प्राधान्य देता है । शिवदृष्टि का प्रथम छन्द (मंगलाचरण को छोड़कर) आत्मा पर बल देता है, जो निम्नांकित है—

आत्मैव सर्वभावेषु प्रस्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ।। (१.२)

इस ग्रन्थ का प्रथम छन्द शिवपरक है, जो निम्नलिखित है—

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ।। (१.१)

स्पन्दसूत्र के प्रथम निष्यन्द स्वरूपस्पन्द की २५ कारिकाओं में मुख्यतः स्पन्द या आत्मतत्त्व के स्वरूप पर ही प्रकाश डाला गया है । शिवसूत्र का प्रथमसूत्र (चैतन्यमात्मा) भी आत्मा से सम्बद्ध है । स्पन्दकारिका की निम्न कारिका—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ।।

एवं शिवदृष्टि का निम्न छन्द—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ।।

समानता की दृष्टि से अत्यन्त निकटस्थ है—

१. 'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं (जिस स्पन्दायमान विमर्शभूमिका या आत्मा (शक्ति) में यह समस्त कार्यजगत् अभेदरूप में अवस्थित है । जगत् कार्य है और उसका कर्ता आत्मा या शिव है) ।

२. 'यस्माच्च निर्गतम्' (इसी आत्मा से समस्त कार्यजगत् निर्गत होता है) ।

३. 'तस्यानावृतरूपत्वात्' (उस सत्ता के स्वरूप को कोई आवरण ढक नहीं सकता; अतः उसके स्वतन्त्र प्रसार में कहीं कोई निरोध (रुकावट) नहीं है ।

४. 'न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्' (आत्मा के प्रसार का कोई निरोध कहीं भी नहीं है) । 'आत्मैव सर्वभावेषु प्रस्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।' 'अनिरुद्धेच्छाप्रसरः' 'दृक्क्रियः शिवः' भी इन्हीं भावों को व्यक्त करता है ।

शिवसूत्र का द्वितीय सूत्र 'ज्ञानं बन्धः' के द्वारा बन्धन पर प्रकाश डालता है । स्पन्दसूत्रों में भी शिवसूत्र की भाँति आत्मचैतन्य पर प्रकाश डालने के बाद ही बन्धन एवं मुक्तिस्वरूप पर प्रकाश डाला गया है; यथा—

शिवसूत्र—'ज्ञानं बन्धः' (१.२) 'योनिवर्गः कलाशरीरम्' (१.२) 'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' (१.४) 'उद्यमो भैरवः' (१.५) 'शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः' आदि ।

स्पन्दसूत्र— १. निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥ ९ ॥

२. तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ १० ॥

३. तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ ११ ॥

शिवसूत्र के द्वितीय उन्मेष में शाक्तोपाय एवं तृतीय उन्मेष में आणवोपाय पर प्रकाश डाला गया है और इसी प्रकार स्पन्दसूत्र के अगले निष्यन्दों में भी शाक्तोपाय एवं आणवोपाय पर प्रकाश डाला गया है । शाम्भवोपाय को शिवसूत्र एवं स्पन्दसूत्र दोनों में पहले स्थान दिया गया है और शिवदृष्टि में भी प्रथम श्लोक 'अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे' वाले श्लोक में भी इसी शाम्भवोपाय को संकेतित किया गया है ।

शिवसूत्र	**शिवसूत्रार्थ**
प्रथम उन्मेष (शाम्भवोपाय)	
१. चैतन्यमात्मा (१.१)	१. चैतन्य ही आत्मा है ।
२. ज्ञानं बन्धः (१.२)	२. ज्ञान ही बन्धन है ।
३. योनिवर्गः कलाशरीरम् (१.३)	३. अज्ञानात्मक ज्ञान, योनि कला एवं शरीर तीन मलरूप होने के कारण बन्ध के हेतु हैं (बन्धनस्वरूप हैं) ।
४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका (१.४)	४. अज्ञानात्मक त्रिविध ज्ञान की अधिष्ठात्री मातृकास्वरूपा अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री एवं वामा हैं ।
५. उद्यमो भैरवः (१.५)	५. उच्छलनात्मक परप्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यम ही भैरवात्मक स्व-स्वरूपाभिव्यक्ति है ।
६. शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः (१.६)	६. शक्तिचक्र (षट्चक्र) का सन्धान होने पर विश्व का संहार (अपने कारण में लय) हो जाता है ।
७. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदे तुर्यो भोग-सम्भवः (१.७)	७. समाधि से व्युत्थानावस्था में आने पर जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी तुर्यावस्था का आनन्द मिलता है ।

८. ज्ञानं जाग्रत् (१.८)	८. तुर्याभोग-संयुक्त ज्ञान साधक की जाग्रत् अवस्था कहलाती है ।
९. स्वप्नो विकल्पः (१.९)	९. मन की संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था स्वप्नावस्था है ।
१०. अविवेको माया सौषुप्तम् (१.१०)	१०. माया के पाँच कञ्चुकों से आवृत विवेक-शून्य ज्ञान सुषुप्ति अवस्था है ।
११. तृतयभोक्ता वीरेशः (१.११)	११. तीनों अवस्थाओं में तुर्या के भोक्ता को 'वीरेश' कहा जाता है ।
१२. विस्मयो योगभूमिका (१.१२)	१२. 'वीरेश' को योगभूमिका में पदार्पण करने पर अहंकार एवं आश्चर्य दोनों हो सकता है ।
१३. इच्छाशक्तिः उमाकुमारी (१.१३)	१३. उक्त योगभूमिका में अवस्थित योगी की इच्छाशक्ति को 'उमा' या 'कुमारी' माना गया है ।
१४. दृश्यं शरीरम् (१.१४)	१४. जिस प्रकार द्रष्टा दृश्य को अपने से पृथक् मानता हुआ उसे 'अहं' की दृष्टि से नहीं 'त्वं' 'तत्' की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार योगी द्रष्टा भी 'शरीर' को पृथक् मानकर उसे 'दृश्य' के रूप में देखता है ।
१५. हृदये चित्तसङ्घट्टात् दृश्यस्वाप-दर्शनम् (१.१५)	१५. हृदय में चित्त के संघटित होने पर उसे समस्त दृश्य स्वप्नवत् दृष्टिगोचर होता है ।
१६. शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्वा अपशुशक्तिः (१.१६)	१६. शुद्ध तत्त्वों के अनुसन्धान से साधक का पशुभाव नष्ट हो जाता है (अर्थात् उसमें दिव्यभाव प्रादुर्भूत हो जाता है) ।
१७. वितर्क आत्मज्ञानम् (१।१७)	१७. वितर्क (समाधि) से आत्मज्ञान का उदय होता है । संकल्प-विकल्पशून्य चित्त की एकाग्रतावस्था में आत्मा पर ध्यान रखने से आत्मज्ञान होता है ।
१८. लोकानन्दः समाधिसुखम् (१.१८)	१८. उक्त सिद्ध योगी के लिए व्युत्थान दशा में दृश्य का सुख समाधि के सुख के सदृश होता जाता है ।

१९. शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः (१.१९)	१९. 'उमाशक्ति' (उपर्युक्त इच्छाशक्ति) से अनेक शरीर उत्पन्न कर सकता है ।
२०. भूतसन्धानभूतपृथक्त्वभूतसङ्घट्टाः (१.२०)	२०. ऐसे (उपर्युक्त सिद्ध) योगी में भूतों पर विजय प्राप्त होने से किसी भी तत्त्व पर सन्धानमात्र से पञ्चीकरण का पृथक्त्व एवं संघटन कर सकने की क्षमता होती है । (वह योगी स्वदेह एवं बाह्य दृश्य जगत् में परिवर्तन कर सकता है) (संघटन = शरीर-निर्माण । पृथक्त्व = शरीर का विलय) ।
२१. शुद्धविद्योदयाच्चक्रे सत्त्वसिद्धिः (१.२१)	२१. 'शुद्धविद्या' के उदय हो जाने से ब्रह्माण्डरूपी ब्रह्मचक्र के ऐश्वर्य की सिद्धि होती है ।
२२. महाह्लदानुसन्धानात् मन्त्रवीर्यानुभवः (१.२२)	२२. महाह्लद के अनुसन्धान से मन्त्र की शक्ति का अनुभव होता है । (महाह्लद—समुद्र)

द्वितीय उन्मेष : शाक्तोपाय

२३. चित्तं मन्त्रः (२.१)	२३. चित्त ही 'मन्त्र' है ।
२४. प्रयत्नः साधकः (२.३)	२४. प्रयत्न ही साधक है (शक्ति-जागरण का प्रयास ही साधक है) ।
२५. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् (२.३)	२५. विद्यारूप शरीर वाले देवता की सत्ता (स्फुरत्ता) ही मन्त्र का रहस्य है ।
२६. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्न (२.४)	२६. गर्भ (शक्ति की सुषुप्ति की अवस्था) में चित्त का विकास सामान्य स्तर पर होता है, जो कि जाग्रत् शक्ति की तुलना में स्वप्नवत् होता है ।
२७. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविको खेचरी शिवावस्था (२.५)	२७. कुण्डलिनीरूपी विद्या का जाग्रत् होना (परमाकाशरूप परमतत्त्व में प्रविष्ट होना) शैवावस्था है ।
२८. गुरुरुपायः (२.६)	२८. शक्ति-जागृति के लिए शक्तिसमर्थ गुरु की कृपा ही उपाय है ।
२९. मातृका चक्रसम्बोधः (२.७)	२९. मातृका-सिद्धि होने पर वह षड्चक्रों का ज्ञान करा देता है ।

३०. शरीरं हविः (२.८)	३०. (जागृत् शक्तिरूपी अग्नि के लिए) शरीर हवि है। चूँकि शक्ति द्वारा शरीर की शुद्धि होती है; अतः शक्तिस्वरूपा योगाग्नि के लिए शरीर हवि है।
३१. ज्ञानं अन्नम् (२.९)	३१. (बन्धनस्वरूप ज्ञान) योगी द्वारा खा लेने के कारण 'ज्ञान' अन्न है।
३२. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् (२.१०)	३२. विद्या के समाधि में लय हो जाने पर उससे अलौकिक स्वप्न एवं ज्योतिदर्शन होते हैं।

तृतीयोन्मेष : आणवोपाय

३३. आत्मा चित्तम् (३.१)	३३. चित्त ही आत्मा है।
३४. ज्ञानं बन्धः (३.२)	३४. ज्ञान बन्धन है।
३५. कलादीनां तत्त्वानां अविवेको माया (३.३)	३५. पञ्चकलाओं से निर्मित शरीरत्रय को आत्मा से पृथक् न मानने (अविवेक) को ही 'माया' कहते हैं।
३६. शरीरे संहारः कलानाम् (३.४)	३६. शरीर में कलाओं का संहार होता है।
३७. नाडीसंहारभूतजयकैवल्यभूत-पृथक्त्वानि (३.५)	३७. प्राणों का एवं इड़ा-पिंगला नाड़ियों का मध्यनाड़ी में लय होने से पञ्चभूतों पर विजय, चित्त का प्रत्याहरण एवं भूत-पृथक्त्व की प्राप्ति होती है।
३८. मोहवशात् सिद्धिः (३.६)	३८. (जिन्हें योगी विघ्न कहते हैं, वही) मोहवश योगियों द्वारा सिद्धि कही जाने लगती है।
३९. मोहजयात् अनन्तभोगात् सहजविद्या जयः (३.७)	३९. मोह (अज्ञान) पर विजय प्राप्त कर लेने पर स्वभावतः विद्या, कला आदि पर विजय मिल जाती है।
४०. जाग्रदद्वितीय करः (३.८)	४०. योगी के लिए जाग्रत् का बाह्य दृश्य, ज्ञान-प्राप्ति के लिए गौण साधन है।
४१. नर्तक आत्मा (३.९)	४१. आत्मा नर्तक की भूमिका निष्पादित करता है।
४२. रङ्गोऽन्तरात्मा (३.१०)	४२. अन्तरात्मा ही नर्तक आत्मा की रंगभूमि है।
४३. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि (३.११)	४३. (इस उपर्युक्त स्थिति में) बाह्य इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रेक्षक का कार्य करती हैं।

४४. धीवशात् सत्त्वसिद्धिः (३.१२)	४४. बुद्धि की वृत्तियों के शान्त हो जाने पर बुद्धि की शुद्धि हो जाती है ।
४५. सिद्धः स्वतन्त्रभावः (३.१३)	४५. उपर्युक्त स्थिति में सिद्ध योगी का भाव स्वतन्त्र हो जाता है ।
४६. यथा तत्र तथान्यत्र (३.१४)	४६. जैसा वहाँ, वैसा ही सर्वत्र व्यवहार करता है ।
४७. बीजावधानम् (३.१५)	४७. संस्कारों के बीजरूपी परा शक्ति पर लक्ष्य रखते हुए सावधान रहना चाहिए ।
४८. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति (३.१६)	४८. इधर-उधर बहिश्चेष्टाओं का त्याग करके अपने आसन पर स्थित रहकर सुखपूर्वक चिदाकाशरूपी ह्रद में मग्न रहता है ।
४९. स्वमात्रा निर्माणमापादयति (३.१७)	४९. वह अपनी इच्छाशक्ति से चित्त एवं दूसरे देहों का भी निर्माण कर सकता है ।
५०. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः (३.१८)	५०. अविद्या के अविनाश (नष्ट न होने) पर भी वह योगी जन्म-मरण से मुक्त रहता है ।
५१. कवर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशुमातरः (३.१९)	५१. कवर्गादि से सम्बद्ध माहेश्वरी आदि शक्तियाँ पशुभाव की जननी हैं ।
५२. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् (३.२०)	५२. तीनों अवस्थाओं को चौथी (तुरीय) से तेल की भाँति सींचते रहना चाहिए ।
५३. मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् (३.२१)	५३. ध्यानमग्न होकर चित्त के साथ समाधि में प्रवेश करना चाहिए ।
५४. प्राणसमाचारे समदर्शनम् (३.२२)	५४. प्राणों के साथ ही चित्त का लय हो जाने पर सर्वत्र समदृष्टि का उदय होता है ।
५५. मध्येऽवरः प्रसवः (३.२३)	५५. (चित्त को लिए विना प्राण के लय से) योगी समाधि में पहुँचने के पूर्व मध्य में ही रह जाता है ।
५६. मात्रास्वप्रत्ययसन्धाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् (३.२४)	५६. (उपर्युक्त योगभ्रष्ट योगी 'नष्ट योगी') को चाहिए कि पुनरुत्थान हेतु शब्द, स्पर्श आदि मात्राओं में वैराग्य रखकर आत्मचिन्तन करे, आत्मसन्धान करे ।
५७. शिवतुल्यो जायते (३.२५)	५७. ऐसा योगी शिव के तुल्य हो जाता है ।
५८. शरीरवृत्तिर्व्रतम् (३.२६)	५८. ऐसे योगी की समस्त चेष्टायें पवित्र व्रतों के समान होती हैं ।

५९. कथा जपः (३.२७)	५९. उसका बोलना ही जप है ।
६०. दानमात्मज्ञानम् (३.२८)	६०. उसका आत्मज्ञान ही उसका दान है ।
६१. योऽविपस्थो ज्ञहेतुश्च (३.२९)	६१. विक्षेपरहित (स्थिरावस्थारूढ़) योगी की स्थिरावस्था ज्ञान का कारण बन जाती है ।
६२. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् (३.३०)	६२. योगी के लिए समस्त विश्व उसके अपने 'अहं' एवं 'इदम्' का स्फुरणमात्र रहता है।
६३. स्थितिलयौ (३.३१)	६३. ऐसे योगी की व्युत्थानावस्था में स्थितप्रज्ञ एवं समाधि की अवस्था में 'लय' जैसी रहती है ।
६४. तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेतृभावात् (३.३२)	६४. उस विश्व में प्रवृत्त होने पर भी संवेदन का अभाव न होने से, उस योगी का माया ज्ञान निरस्त नहीं होता ।
६५. सुखासुखयोर्बहिर्मननम् (३.३३)	६५. ऐसे योगी को सुख-दुःखरूपी भोक्तृत्व मल के संस्कारों से मुक्त्यर्थ मनन द्वारा सुख-दुःख दोनों को अपने स्वरूप से पृथक् समझना चाहिए ।
६६. तद्विमुक्तस्तु केवली (३.३४)	६६. भोक्तृत्वभाव से मुक्त होने पर अणुत्व का अन्त होने से आत्मा शुद्धस्वरूप केवलीभाव प्राप्त कर लेता है ।
६७. मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा (३.३५)	६७. अहंरूपी मोह से युक्त देहाभिमानी कर्मात्मा होता है ।
६८. भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् (३.३६)	६८. भेद का तिरस्कार होने पर यथाभिलषित निर्मेय निर्मातृत्व की प्राप्ति हो जाती है ।
६९. करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् (३.३७)	६९. (प्रातिभ ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति में) उस योगी को इन्द्रियों की स्वतन्त्र विलक्षण शक्ति का स्वयं अनुभव होने लगता है ।
७०. त्रिपदाद्यनुप्राणनम् (३.३८)	७०. कर्मेन्द्रियों की क्रियायें (अनुप्राणन) त्रिपदादि ज्ञान के अनुसार प्रभावित होती हैं ।
७१. चित्तस्थितिवच्छरीरकरणं बाह्येषु (३.३९)	७१. चित्त की स्थिति के अनुसार ही शारीरिक इन्द्रियों की क्रिया बाह्य विषयों में अनुप्राणित होती है ।
७२. अभिलाषात् बहिर्गतिः संवाह्य॒ य (३.४०)	७२. जीव की अभिलाषामात्र से (अपने शरीर को छोड़कर अन्यत्र) बहिर्गति हो जाती है ।

७३. तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवं संक्षय: (३.४१)	७३. प्रमिति की कार्यरूपा अभिलाषा का विनाश होने पर जीवभाव का नाश हो जाता है ।
७४. भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूय: पतिसम: पर: (३.४२)	७४. पञ्चमहाभूत एवं कञ्चुकी (पञ्चकञ्चुक) से मुक्ति पाने पर पशुपति के समान पर शिव हो जाता है ।
७५. नैसर्गिक: प्राणसम्बन्ध: (३.४३)	७५. इस अवस्था में पहुँचने पर योगी का शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ जो सम्बन्ध रह जाता है, वह मात्र स्वाभाविक प्राण का सम्बन्ध रह जाता है ।
७६. नासिकान्तर्मध्यसंयमात्मित्र सव्या-पसव्यसौषुम्णेषु (३.४४)	७६. ऐसे योगी को नासिका के भीतर और मध्य इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्णा में संयम की आवश्यकता नहीं रह जाती ।
७७. भूय: स्यात् प्रतिमीलनम् (३.४५)	७७. (ऐसे योगी की दृश्य के प्रति उन्मीलन (व्युत्थान दशा) कभी नहीं आती है) योगी को चैतन्याभिमुख निमीलन (चैतन्यात्म-स्वरूपोन्मीलन) पुन: प्राप्त हो जाता है ।

शिवसूत्र का प्रारम्भ 'चैतन्यमात्मा' सूत्र से हुआ है और स्पन्दकारिका का 'यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां' से प्रारम्भ करके 'शङ्करं स्तुम:' पर अन्त किया गया है । शिवसूत्र में 'आत्मा' से एवं स्पन्दकारिका में 'शङ्कर' से ग्रन्थारम्भ हुआ । शिवसूत्र = आत्मा + चैतन्य । स्पन्दकारिका = 'शङ्कर' । क्षेमराज को शङ्का हुई कि कहीं अध्येता स्पन्दकारिका एवं शिवसूत्र के परमार्थ सत्य के सन्दर्भ में भेददृष्टि न देखने लगें; अत: उन्होंने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' के प्रारम्भ में कह डाला कि शङ्कर (स्पन्दकारिका के शङ्कर = शिव) एवं शिवसूत्र की 'आत्मा' में कोई भेद नहीं है—'चैतन्यपरमार्थत:' शिव एवं विश्वस्य आत्मा—'चैतन्यमात्मा' ।

७. शिवसूत्र और स्पन्दकारिका

१. शिवसूत्र का उपक्रम—'चैतन्यमात्मा' । १ । = 'आत्मा'

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥ (शिवसूत्रवार्तिक)

चैतन्यं चित्क्रियारूपं शिवस्य परमस्य यत्।
स्वातन्त्र्यमेतदेवात्मा ततोऽसौ परम: शिव: ॥ (शिवसूत्रवार्तिक)

१. चैतन्यं परमार्थत: शिव एव विश्वस्य आत्मा ।
२. चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा, स्वभाव: भावाभावरूपस्य ।
३. विश्वस्य जगत: । चैतन्यं विश्वस्य स्वभाव: ॥

४. चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यात्मैव ।

५. शङ्करात्मक-स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाशं परमार्थसत् अस्ति ।

६. जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः ।

७ चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति, चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः, तस्य भावः चैतन्यं, सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते । तच्च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति । (शिवसूत्रविमर्शिनी)

८. चैतन्यमेव विश्वस्य स्वरूपं पारमार्थिकम् । (शिवसूत्रवार्तिकम्)

९. परमः शिव एवात्मा प्रपञ्चस्येति कथ्यते । (शिवसूत्रवार्तिकम्)

२. स्पन्दकारिका का उपक्रम— = 'शङ्कर'

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ।। (स्पन्द० १।१)

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधर राजन्य तनये ।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमेषास्तव दृशः ।। (सौन्दर्यलहरी)

३. शिवसूत्रों का वर्गीकरण—१. शाम्भवोपाय, २. शाक्तोपाय, ३. आणवोपाय ।

४. स्पन्दकारिकाओं का वर्गीकरण—स्पन्दकारिकाओं के विभाजन का प्रत्यक्ष आधार शिवसूत्रों के 'उन्मेष' (अध्यायीकरण की इकाइयाँ) नहीं हैं । यद्यपि स्पन्दकारिकायें शिवसूत्रों की ही व्याख्या मानी जाती हैं । उत्पलवैष्णव ने तो स्पन्दप्रदीपिका का अध्यायकीरण किया ही नहीं । रामकण्ठाचार्य ने चार निष्यन्दों में अध्यायीकरण किया । क्षेमराज ने भी स्पन्दनिर्णय में कारिकाओं का अध्यायीकरण किया है । शिवसूत्र शाभवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय इन तीन खण्डों में (तीन भागों या तीन उन्मेषों में) विभाजित हैं ।

अधिकारवाद (शिवसूत्रों के सन्दर्भ में)—प्रत्येक उपाय (शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय) साधक की अपनी साधना-भूमि के अनुसार निश्चित किये जाते हैं । प्रत्येक उपाय भिन्न-भिन्न साधनास्तरों के अनुसार परिवर्तित होते जाते हैं । प्रथम उपाय दूसरे साधनास्तर पर तथा दूसरा उपाय तीसरे साधनास्तर पर व्यावहारिक नहीं रह जाता । इसलिए प्रत्येक स्तर का बन्धन, ज्ञान एवं आत्मस्वरूप की अनुभूति बदलती हुई दिखाई गई है । सूत्रों में अन्तर्विरोध नहीं है ।

'नर्तक आत्मा' (आणवोपायः ९.३) 'रङ्गोऽन्तरात्मा' (आणवोपाय १०.३) आत्मचित्तम् (आणवोपाय १.३) 'रङ्गोऽन्तरात्मा' (आणवोपायः १०.३) 'नर्तक आत्मा' (आ० ९.३) 'ज्ञानं अन्नम्' (शाक्तोपाय ९.२) 'दानमात्मज्ञानम्' (आणवोपाय २८.३) 'ज्ञानं बन्धः' (२.३) 'ज्ञानमन्नम्' (९.२), 'ज्ञानं जाग्रत्' (८.१) वितर्क आत्मज्ञानं (१७.१) ।

यह भी द्रष्टव्य है कि सूत्रकार आत्मा के सम्बन्ध में अनेक दृष्टियाँ प्रस्तुत करते हैं—

शाम्भवोपाय →	चैतन्य ही आत्मा है ।	
आणवोपाय →	चित्त ही आत्मा है ।	

बन्धन के प्रति भी दृष्टियाँ पृथक्-पृथक् हैं । साधकों के स्तर के अनुसार 'ज्ञान' 'बन्धन' एवं 'आत्मा' का स्वरूप भी बदलता जाता है ।

ज्ञान बन्धन है ।	शाम्भवोपाय है (२.१)
वितर्क आत्मज्ञान है ।	शाम्भवोपाय १७.१
ज्ञान जागृतावस्था है ।	शाम्भवोपाय ८.१
ज्ञान अन्त है ।	शाक्तोपाय
ज्ञान बन्धन है ।	आणवोपाय

१. शाम्भवोपाय—(शिवसूत्र : अभेद-उपाय) । शाम्भवोपाय सर्वोच्च उपाय है । इसमें चिन्तन का भी त्याग कर दिया जाता है । यहाँ सारे विकल्प अनुपयोगी हैं । संवित् शिव के साथ तादात्म्यलाभ ही इसका स्वरूप है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥

'चैतन्यमात्मा' (१.१) इत्युपक्रम्य तत्स्वातन्त्र्यावभासिततदख्यातिमयं सर्वमेव बन्धं यथोक्तोद्यमात्मकभैरवसमापत्तिः प्रशमयन्ती विश्वं स्वानन्दामृतमयं करोति, सर्वाश्च सिद्धीः मन्त्रवीर्यानुप्रवेशान्ता ददाति, इति शाम्भवोपायप्रथनात्मा अयं प्रथम उन्मेष उक्तः ।

आचार्य वरदराज शिवसूत्रवार्तिक में शाम्भवोपाय के परिचय में कहते हैं—

तत्र नरेशनैकात्म्यवादिनां प्रातिकूल्यतः ।
चित्क्रियात्मकचैतन्यमूर्तिर्जीवजडात्मनः ।
परमः शिव एवात्मा प्रपञ्चस्येति कथ्यते ॥

'चैतन्यमात्मा' (१।१) । इसका स्वरूप आत्मानुसन्धानात्मक ही नहीं, तादात्म्यापन्न भी है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥
तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥

२. **शाक्तोपाय**—(भेदाभेद उपाय) : भेदाभेदौ हि शक्तिता । (तन्त्रालोक)

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत् ।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।। (तन्त्रालोक)

इसे 'ज्ञानोपाय' भी कहा गया है । शाक्तोपाय में बाह्योच्चारकरण, ध्यान, वर्ण, स्थान-कल्पना अनुपयोगी होने से अभेदावस्था है और चित्त से इनका चिन्तन होते रहने से यहाँ भेदावस्था भी है ।

वरदराज वार्तिक में शाक्तोपाय के विषय में कहते हैं—

ईदृशः शाम्भवोपायं प्रदर्श्य परमेष्ठिना ।
इदानीमेतदन्तस्थ शाक्तोपायः प्रदर्श्यते ।।

तत्स्वातन्त्र्यं विविच्यादावुन्मेषान्तरमान्तरम् ।
सम्यग्दर्शयता मन्त्रस्वरूपं तावदीर्यते ।।

आचार्य क्षेमराज शिवसूत्र में कहते हैं—

अत्र तु मध्ये शक्तिस्वरूपमुक्तं, तत् शाम्भवरूपस्य शक्तिमत्ता (स्वातन्त्र्यसारता) प्रदर्शनाभिप्रायेण इति शिवम् । इदानीं शाक्तोपायः प्रदर्श्यते । तत्र शक्तिः मन्त्रवीर्यस्फाररूपा, इति प्रथमोन्मेषान्तसूत्रिततत्स्वरूपविवेचनपुरःसरमुन्मेषान्तरमारभमाणो मन्त्रस्वरूपं तावत् निरूपयति ।

'एवं चित्तं मन्त्रं' (२.१) इत्यतः प्रभृति मन्त्रवीर्य-मुद्रा-वीर्यानुसन्धिप्रधानम् । उच्चार-रहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तितम् यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।

३. **आणवोपाय**—(भेदप्रधान उपाय) : 'अणुषु भेदिषूपायेषु भवः आणवः' उच्चारण, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान आदि कल्पनाओं के भेदों से युक्त समावेश (उपाय) 'आणवोपाय' कहलाता है ।

आचार्य क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी में आणवोपाय का परिचय देते हुए कहते हैं—

इदानीमाणवोपायं प्रतिपिपादयिषुः अणोः तावत्स्वरूपं दर्शयति—'आत्मा चित्तम्' (१.३) अस्य चित्तस्वरूपस्य अण्वात्मनः ज्ञानं बन्धः । (२.३) आणवोपाय पाशव व्यापार हैं । जब प्राणी (अणु) अपने विकल्पों के संस्कार के लिए दूसरे उपाय ढूँढ़ता है, तब परिमित रूप वाले बुद्धि, प्राण आदि को उपाय के रूप में ग्रहण करके अणुत्वप्राप्त ज्ञान (आणव ज्ञान) प्राप्त करता है और इससे चित्तविश्रान्ति भी प्राप्त हो जाती है । कहा भी गया है—

पूर्वं विसृज्य सकलं कर्तृत्वं शून्यतातले ।
चित्तविश्रान्तिसंज्ञोऽयमाणवः परिकीर्तितः ।।

वरदराज कहते हैं—

इदानीमाणवोपायं क्रमेण प्रतिपादयन् ।
अतिसङ्कुचितं तावत्स्वरूपं दर्शयत्यणोः ।।
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।।

८. शिवसूत्र और स्पन्दसूत्र : अन्तःसम्बन्ध

आचार्य क्षेमराज का कथन है कि शिवोपनिषद्रूप शिवसूत्रों को महामाहेश्वर श्रीमान् वसुगुप्त ने देवगिरि नामक पर्वत पर वर्तमान एक 'महाशिला' पर उत्कीर्ण पाकर उसका उद्धार किया और उसे अपने शिष्य भट्टश्रीकल्लट आदि को पढ़ाया तथा शिवसूत्राधृत इस ज्ञान को स्पन्दकारिकाओं के रूप में संगृहीत किया—

इमानि शिवोपनिषत् संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद । एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान् ।

यदि शिवसूत्रोपदिष्ट तत्त्वज्ञान ही स्पन्दकारिकाओं के रूप में संगृहीत किया गया तो दोनों ग्रन्थों में (अर्थात् शिवसूत्रों और स्पन्दकारिकाओं में) विचारसाम्य होना चाहिए । कौन-सा शिवसूत्र किस स्पन्दसूत्र के द्वारा अपने अर्थ को व्यञ्जित कर रहा है ?—यह अनुसन्धेय है ।

शिवसूत्र—

१. चैतन्यमात्मा—

प्रतिपाद्य विषय—चैतन्यस्वरूप आत्मा का वर्णन ।

उपनिषदों में अधिकांशतः आत्मोपासना का उपदेश किया गया है । शायद इसीलिए क्षेमराज ने शिवसूत्र में सर्वप्रथम आत्मा का उल्लेख होने के कारण इसे 'उपनिषद्' (शिवोपनिषद्) की आख्या दी ।

'मृत्युजित् भट्टारक' नामक ग्रन्थ में चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही परमात्मा (शिव शङ्कर) कहा गया है—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वं शास्त्रेषु पठ्यते ॥

चैतन्य एवं शङ्कर (शिव/परमशिव) में अभिन्नता स्थापित करने हेतु आचार्य क्षेमराज ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं ।

आचार्य क्षेमराज ने इसी चैतन्य को आत्मा भी कहा है—'चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा'[१]

स्पन्दसूत्र—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥

प्रतिपाद्य विषय—सृष्टि एवं प्रलय के कारणभूत उन्मेष और निमेष के उद्भावक शक्तिचक्र के विभव के प्रभवरूप शङ्कर की स्तुति ।

प्रथम शिवसूत्र में आत्मा का वर्णन है तो स्पन्दकारिकाओं में शङ्कर का वर्णन है । फिर साम्य कैसा ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी के प्रथम शिवसूत्र की व्याख्या में कहा कि 'चैतन्यमात्मा' कहकर जिस शिवसूत्र का उपक्रम किया गया, वह चैतन्यतत्त्व पारमार्थिक दृष्टि से अन्य कोई नहीं, प्रत्युत वह मात्र 'शङ्कर' ही है और वही विश्व की आत्मा है—

चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा । अतः 'आत्मा' का जो वर्णन शिवसूत्र के प्रथम सूत्र द्वारा उपदिष्ट हुआ, वही स्पन्दकारिका के प्रारम्भ में 'शङ्कर' के रूप में उपदिष्ट हुआ । अर्थात्

१. आचार्य क्षेमराज : शि०सू०वि०

यही चैतन्य परमशिव भी है—'परमशिवरूपं चैतन्यमेव'[१]।

(क) 'चैतन्य' ही आत्मा है और वही भावाभावरूप विश्व (जगत्) का स्वभाव है 'चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा', स्वभावः ... भावाभावरूपस्य जगतः ।'[२]

(ख) शिव ही विश्व की आत्मा है, जो कि चैतन्यस्वरूप है—'चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा ।'

(ग) चैतन्य ही विश्व का स्वभाव है ।

'चैतन्य' विश्व का स्वभाव है' (चैतन्यम् विश्वस्य स्वभावः) कहकर आचार्य क्षेमराज यह भी सूचित करते हैं कि आखिर यह चैतन्य है क्या ? वे कहते हैं कि—

१. 'चैतन्य' आत्मा है,

२. 'चैतन्य' परमशिव है,

३. 'चैतन्य' विश्व का स्वभाव है,

४. 'चैतन्य' स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो कि परमशिव की सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक है ।

५. 'चैतन्य' शङ्करात्मक स्पन्दतत्त्व है, जो कि स्वप्रकाश एवं पारमार्थिक सत्य है—'शङ्करात्मकं स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यम्' ।[३]

चैतन्य ही आत्मा है—

'चैतन्यमेक एवात्मा .....'[४]

वरदराज ने 'शिवसूत्रवार्तिक' में इन सभी तथ्यों को स्वीकार किया है, यथा—

१. चैतन्यं चित्क्रियारूपं शिवस्य परमस्य यत् । स्वातन्त्र्यमेतदेवात्मा ततोऽसौ परमः शिवः ॥

२. किन्तु चैतन्यमेवात्मेत्यादिष्टं परमेष्ठिना । अथ चैतन्यमेवैतदात्मा स्वाभाविकं वपुः ॥

अर्थात् आत्मा एवं 'शङ्कर' (शिव) शाब्दिक दृष्टि से पृथक् हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से अभिन्न हैं । भाव यह कि शिवसूत्र एवं स्पन्दसूत्र दोनों में प्रथमतः आत्मोपदेश ही किया गया है ।

क्षेमराज दूसरा तर्क यह देते हैं कि शिवसूत्र में जिस चैतन्य का उल्लेख किया गया है, वह चैतन्य 'सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयपरिपूर्ण स्वातन्त्र्य है और यह 'स्वातन्त्र्य' भगवान् परमशिव की शक्तिमात्र है, अन्य कुछ नहीं—

'सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यं उच्यते' अर्थात् चैतन्य शङ्कर की शक्ति है । वे कहते हैं कि—

जीव-जडात्मक विश्व का परमशिवरूप चैतन्य ही स्वभाव है । अर्थात् चैतन्य ही परमशिव है—'जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः'[५]।

आचार्य क्षेमराज ने इसी प्रथम शिवसूत्र की व्याख्या में इससे सम्बद्ध निम्न स्पन्दसूत्रों का भी उल्लेख किया है—

(१) यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः ॥

(२) लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥

(इति कारिकाद्वयेन संगृह्य उपदेश्यान् प्रति साभिज्ञानं गुरुणा उपदिष्टं श्रीस्पन्दे ।)[६]

(३) यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥

(४) तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः
शिवःभोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।
(इति कारिकाद्वयेन संगृहीतम्) ।[७]

१-७. आचार्य क्षेमराज : शि०सू०वि०

३. चैतन्यमेव विश्वस्य स्वरूपं पारमार्थिकम् ।'[१]

४. परमः शिव एवात्मा प्रपञ्चस्येति कथ्यते ।[२]

आचार्य अभिनवगुप्त का मत—

चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः ।
संश्लेषतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः ॥

चैतन्यमितिभावान्तः स्वातन्त्र्यमात्रकम् ।
अनाक्षिप्तविशेषं सद आह सूत्रे पुरातने ॥

द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रिया वा करणं च वा ।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते ॥

द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्यते ।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्त्या निरूपितम् ॥[३]

'शक्तिसूत्र' की दृष्टि—

'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।'[४]

भास्करराय (भासुरानन्द नाथ) का मत—
'शिवश्च शक्तिश्च चिदेव तस्मात्'

विमर्शरूपी स्वयंस्फुरित 'चिति' शक्ति ही परावाणी है—'प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः ।'[५]

महार्थमञ्जरी की दृष्टि—'महार्थमञ्जरी' में भी आत्मा को ही विश्वमूल मानकर प्रस्तुत किया गया है । जिस प्रकार शिवसूत्र में 'चैतन्यमात्मा' प्रथमसूत्र के रूप में प्रस्तुत करके शिवसूत्रकार ने आत्मतत्त्व को सर्वातिशायी महत्त्व प्रदान किया है उसी प्रकार 'महार्थमञ्जरी' में भी किया गया है—

'आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽपि अर्थयते । कस्य वा भवति पिपासा गंगास्रोतसि निमग्नस्य ॥'

आत्मतत्त्व पर विशिष्ट चिन्तन—शिवसूत्रकार

(५) यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् । तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥

(६) जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति । निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥

(७) अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥

(८) न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च । न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥

यत्र स्थितम् .... इत्यादि उपक्रम्य............

...तदस्ति परमार्थतः—इत्यन्त इत्यन्तेन ग्रन्थेन शङ्करात्मकस्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाशं परमार्थ सत् अस्ति इति प्रमाणीकृतम् ।'[६]

विरूपाक्षपञ्चाशिका की दृष्टि—

इस ग्रन्थ के विश्वात्मा स्कन्ध में भी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के मूल सिद्धान्त 'चैतन्यमात्मा' इस सूत्र के सार का ही प्रतिपादन किया गया है ।

आगमशास्त्रों में ज्ञान-क्रियात्मक परिपूर्ण स्वतन्त्र 'चैतन्य' को ही आत्मतत्त्व स्वीकार किया गया है ।

इस ग्रन्थ में विश्वात्मभाव प्राप्त करने के लिए चैतन्य आत्मतत्त्व में सर्वतोभावेन सर्वथा निष्ठ होने का विधान किया गया है । सम्पूर्ण विश्व में अहंभाव करना ही विश्वात्मभाव की सिद्धि है । चितिशक्ति ही शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियमण्डल एवं प्राणवर्ग को चेष्टित करता है । कर्तृत्व शक्ति चेतन आत्मतत्त्व में ही निहित है । जिस प्रकार शरीर में अस्मिता (अहन्ता) होने पर जड़ीभूत हाथों का इच्छामात्र से

१-२. वरदराज : शिवसूत्रवार्तिकम्
३. अभिनवगुप्त
४. सौभाग्यभास्कर
५. विरूपाक्षपञ्चाशिका
६. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी

ने आत्मतत्त्व पर अत्यधिक गंभीर चिन्तन किया है, इसीलिए इसके विचारार्थ अनेक सूत्रों में इसे स्थान दिया है; यथा—

१. चैतन्यमात्मा ॥१.१ ॥

२. आत्मा-चित्तम् ॥ ३.१ ॥

३. नर्तक आत्मा ॥ ३.९ ॥

४. रङ्गोऽन्तरात्मा ॥ ३.१० ॥

५. वितर्क आत्मज्ञानम् ॥ १.१७ ॥

६. दानमात्मज्ञानम् ॥ ४.२८ ॥

यदि शिवसूत्र में 'आत्मा' को प्रथम सूत्र में स्थान देकर आत्मतत्त्व को एवं स्पन्दसूत्र में प्रथम स्थान 'शङ्कर' को देकर शङ्कर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है तो शब्द-वैषम्य भले दृष्टिगत हो; किन्तु दोनों में अर्थ-वैषम्य नहीं है ।

राजानक उत्पलदेव की दृष्टि—

द्विधा स एष एवात्मा मितोऽपरिमितस्तथा ।
प्राणादिना निरुद्धोऽणुः
परमात्मा त्वखण्डितः ॥[१]

आत्मा ही परमेश्वर भी है—

जयत्येकोऽपि विश्वात्मा प्रकाशः परमेश्वरः ।[२]

आत्मा के ही दो रूप हैं—

१. मित = अणु (जीवात्मा) ।

२. अपरिमित = अखण्ड परमात्मा ।

अतः आत्मा एवं परमात्मा (शङ्कर) दोनों एक ही तो हैं ।

शिवसूत्र में जिस आत्मतत्त्व का सर्वोच्च तत्त्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है, उसका प्रतिपादन स्पन्दकारिका में भी किया गया है ।

स्पन्दसूत्र : अन्तःसाक्ष्य—

१. द्वितीय कारिका में इस तथ्य का प्रस्तुती-सञ्चालन होने लगता है, उसी प्रकार चेतन तत्त्व में अहन्ता का समावेश होने पर पर्वतों का भी सञ्चालन सम्भव है—

देहेस्मितया यद्वज्जडयोस्फालनं मिथो बाह्वोः
इच्छामात्रेणेत्थं गिर्योरपि तद्वशाज्जगति ॥

भट्टभास्कर की दृष्टि—

'चैतन्यमात्मा' की व्याख्या करते हुये भट्टभास्कर कहते हैं—

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ।
तस्यानावृत्तरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥

नेत्रतन्त्र की दृष्टि—

परमात्मस्वरूपन्तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥

प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की दृष्टि—

इसमें कहा गया है कि अन्तःस्थित चिदात्म देव केवल इच्छामात्र से निरुपादान समस्त अर्थसमूह को उत्पन्न करता है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।

विरूपाक्षपञ्चाशिका की दृष्टि—

विमतिपदमङ्गसर्वं मम चैतन्यमात्मनः शरीरमिदम् । शून्यपदादीलावधि दृश्यत्वात् पिण्डवत् सिद्धम् ।'[३]

विषयशरीरेन्द्रियधीप्राणनिरोधप्रसिद्ध्यद-स्मित्वाम् । इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।[४]

'चैतन्य' को आत्मा क्यों कहा गया? इसलिए इसे चैतन्य कहा गया क्योंकि चैतन्य आत्मा का 'स्वरूपलक्षण' है ।

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

---

१. उत्पलदेवः 'अजडमातृसिद्धि'
२. उत्पलदेवः 'सम्बन्धसिद्धिः'
३. विरूपाक्षपञ्चाशिका—१.१; १.३;
४. विरूपाक्षपञ्चाशिका

करण किया गया है कि संसारी अवस्था में आत्मा का वैभव आच्छन्न क्यों हो जाता है?

'ननु संसारावस्थायां कथं तस्करताऽऽत्मनि। इत्याशङ्कोत्थदुर्दोषपरिहाराय तूच्यते।'[1]

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्। तस्यानावृत्तरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥'[2]

२. तृतीय कारिका में बताया गया है कि जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि अवस्थायें भले ही भिन्न-भिन्न हों; किन्तु आत्मतत्त्व इन सभी अवस्थाओं में एक रूप एवं अभिन्नतया वर्तमान रहता है। सर्ववृत्त्युपसंहारूप निरोध न होने पर भी जाग्रदादि अवस्थाओं में आत्मा अनिरुद्ध कैसे रह सकता है? इसका उत्तर देते हेतु कारिकाकार ने यह कारिका कही है—

सर्ववृत्त्युपसंहारो निरोधो मास्तु तस्य तु।
जाग्रदाद्यास्ववस्थासु कुतः स्यादनिरुद्धता॥[3]

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः।[4]

३. चतुर्थ कारिका में आत्मा की सत्ता के प्रमाण में युक्तियाँ दी गई हैं। यदि क्षणवादी बौद्ध यह कहें कि जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र में एक जान पड़ती हैं, किन्तु एक रहती नहीं; इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थाओं का तादात्म्य किसी आत्मा की अनुभूति भले ही कराये; किन्तु आत्मा की सत्ता है

१. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥

२. आत्मात एवं चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता।

३. 'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः॥'

४. स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः॥[5]

सोमानन्दपाद—(प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रवर्तक) ने भी शिवदृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।[6]
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥

'सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यमिति प्रतिज्ञा'[7]

'स्पन्दशास्त्र' में आत्मोपासना, आत्मानुसन्धान और आत्मचिन्तन पर ही सर्वाधिक चिन्तन हुआ है।

आठवीं कारिका में आत्मस्वातन्त्र्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जीवात्मा परमेश्वर की इच्छा के अंकुश का प्रेरकमात्र ही नहीं है; अपितु आत्मबल का स्पर्श होने की दशा में वह शिव (पशुपति) बन जाता है।

नवीं कारिका में कहा गया है कि अपने ही स्वातन्त्र्य से आविर्भूत अशुद्धि (आणवमल), कर्तव्यों की अभिलाषा (कार्म मल) एवं क्षोभ (मायीय मल) जब स्वरूप में लीन हो जाता है तब वह 'परमपद' प्राप्त करता है।

क्षोभ के विलीन हो जाने पर आत्मा का सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व प्रकट हो जाता है और परिणामतः उसमें सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व

१. स्पन्दप्रदीपिका : उत्पलदेव
२. स्पन्दकारिका
३. स्पन्दप्रदीपिका : उत्पलदेवाचार्य
४. स्पन्दकारिका (३)
५. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिका
६. सोमानन्दपाद—शिवदृष्टि
७. उत्पलदेवाचार्य : शिवदृष्टिवृत्ति

नहीं—इसका उत्तर देते हुए कारिकाकार का कथन है कि—

अवस्था एव विश्वान्तर्नावस्था वेति ये जगु: ।
प्रत्यभिज्ञादियुक्त्येयं तन्निरासाय कारिका ।।[1]

अहं सुखी च दु:खी च रक्तश्चेत्यादिसंविद: ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ता: स्फुटम् ।।

४. पञ्चम कारिका द्वारा यह बताया गया है कि आत्मारूप परमार्थतत्त्व दु:ख, सुख, ग्राहकत्व, ग्राह्यत्व, मूढ़भावत्व आदि से अतीत है—

न दुखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थत: ।।

५. छठवीं एवं सातवीं कारिका में आत्मा की सत्ता एवं उसके जड़त्वाभाव की पुष्टि की गई है—

अत्रास्याऽमूढत्वास्तित्वयो: सन्दानितकेनोपपत्ति माह—[2]

यत: करणवर्णोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहती:।।

लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यत: स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ।।[3]

६. आठवीं कारिका में आत्मा की इच्छासामर्थ्यरूप 'स्वातन्त्र्य शक्ति' का निरूपण किया गया है—

तदिच्छयास्तु सामर्थ्यं
करणानां स्वतन्त्रता ।
सर्वत्रोक्ताऽस्य या सा तु
भक्तियुक्तिरतस्त्वियम् ।।[4]

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ।।[5]

की क्षमता उन्मिषित हो जाती है ।

१४वीं कारिका में कहा गया है कि स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की दो अवस्थायें हैं—१. कार्यता, २. कारणता । इसमें कार्यता भोगावस्था एवं कारणता भोक्तावस्था है ।

(२) अष्टम एवं नवम कारिका—

(क) आत्मा की शक्ति का प्रभाव

अष्टम कारिका बताती है कि 'आत्मा' इच्छाप्रेषण या इन्द्रियवर्ग का प्रेरक है और आत्मबल की असीम शक्ति के स्पर्श से वह सर्वज्ञ, सर्वकर्ता एवं सर्वव्यापक आदि बन जाता है—

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।।[6]

(ख) नवम कारिका आत्मा के बन्धन एवं मोक्ष के विषय में प्रकाश डालती है ।

आत्मा भोगाभिलाषारूप इच्छात्मक मल के कारण अपनी शक्ति से हीन हो जाता है । यही उसकी मलात्मक अशुद्धि उसका बन्धन है, किन्तु जैसे ही अशुद्धिजन्य क्षोभ (देहात्मभाव) लय हो जाता है, वैसे ही उसको 'परमपद' की प्राप्ति हो जाती है—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण: ।
यदा क्षोभ: प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।।

जीवात्मा के द्वारा आकांक्षित जो इन्द्रियों के विषय हैं, वे ही उसके स्वरूपच्युति एवं परामृतरस से वञ्चित करने के कारण हैं । ये ही उसकी स्वतन्त्रता के विनाशक हैं । यही बन्धन है—

परामृतरसापायस्तस्य य: प्रत्ययोद्भव: ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचर: ।।[7]

बन्धन का प्रथम कारण (स्पन्दसूत्र)—

१-२. स्पन्दप्रदीपिका : उत्पलदेवाचार्य
४. उत्पलदेव : स्पन्दकारिका
६-७. स्पन्दकारिका (४६)
३. स्पन्दकारिका (६,७)
५. स्पन्दकारिका (८)

इस कारिका तक आत्मा के पूर्ण स्वातन्त्र्य का निरूपण किया गया—

'अनेन सर्वं स्वातन्त्र्यमुक्तमस्य च तद्भवेत् ।'[१]

७. नवम कारिका द्वारा बन्धन एवं मोक्ष का निरूपण किया गया है ।

२. शिवसूत्र : 'ज्ञानं बन्ध'—

द्वितीय सूत्र बन्धन के कारण के रूप में अज्ञानात्मक ज्ञान को प्रस्तुत करता है ।

जिस प्रकार 'शिवसूत्राणि' का द्वितीय सूत्र बन्धन का निरूपण करता है, ठीक उसी प्रकार 'स्पन्दसूत्र' भी शिवसूत्रों की भाँति आत्मस्वरूप का विवेचन करने के अनन्तर (ठीक उसके बाद) बन्धन एवं मोक्ष का निरूपण करता है । यह बन्धन क्या है? इसका स्वरूप क्या है?

अज्ञानमिति तत्राद्यं चैतन्यस्फाररूपिणि ।
आत्मन्यनात्मताज्ञानं ज्ञानं पुनरनात्मनि ॥
देहादावात्ममानित्वं द्वयमप्येतदाणवम् ।
मलं स्वकल्पितं स्वस्मिन्बन्धः स्वेच्छाविभावितः ।[२]

परमेश्वर के द्वारा अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अवभासित महामाया शक्ति द्वारा आत्मगोपन रूप जो क्रिया है और जो 'अपूर्णम्मिन्यतात्मकाणवमलसतत्त्व सङ्कुचित ज्ञानात्मा बन्धः' स्वरूप वाला है, वही बन्धन है ।[३]

'शिवसूत्रविमर्शिनी' में इस अज्ञानात्मक ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्याति लक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो यावद् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव ।'

१. भोगाभिलाषा रूप अशुद्धि या क्षोभ बन्धन का प्रथम कारण (शिवसूत्र)—

१. ज्ञान : (ज्ञानं बन्धः) । (अनात्मज्ञान । 'आणवमलः' अनात्मा में आत्माभिमान ।) स्वरूपसंकोच—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥

१. शुद्ध बोधरूप की स्वातन्त्र्य-हानि ।

२. शुद्ध स्वातन्त्र्य की अबोधता ।

३. जीव के जन्म-मरण-संसरण का मूल कारण 'कार्म मल' है (तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।)[४]

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥[५]

संसार का प्रधान कारण 'कार्म मल' माना गया है—'तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।'[६]

परमात्मा 'आणव मल' (स्वरूपतिरोधित्सा) की कल्पना के द्वारा अपने स्वरूप को सङ्कुचित करता है । इस स्वरूप-सङ्कोच के दो भेद हैं—

१. शुद्धबोधरूप की स्वातन्त्र्य हानि ।

२. शुद्ध स्वातन्त्र्य की अबोधता ।

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥[७]

स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, शिवसूत्र आदि सभी में 'मल' को आत्मप्रच्छादन की क्रीड़ामात्र ही माना गया है—

'स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।'[८]

---

१. स्पन्दप्रदीपिका : उत्पलदेवाचार्य
२. वरदराज : 'शिवसूत्रवार्तिकम्'
३. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
५-६. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिका
७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
८. मालिनीप्रत्यभिज्ञाकारिका

यही अज्ञान ही 'मल' भी कहा जाता है—
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।'[1]

इसी अज्ञान से संसार परिबद्ध है और इसी के कारण सृष्टि-प्रलय का चक्र चलता रहता है—

अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।

बन्धन का कारक जो 'मल' है, उसके तीन प्रकार हैं—आणव मल, कार्म मल एवं मायीय मल ।

आणवमल ⟶ कार्ममल ⟶ मायीय मल ।

'मल' के पर्याय—

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा ।
अहं ममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः ।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ॥

१. मल-कल्पना तो आत्मा की स्वरूपगोपन की क्रीड़ा है ।
२. अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण परिगृहीत जीवभाव को अर्थात् स्वात्मप्रच्छादनरूपिणी आत्मक्रीड़ा को जब आत्मा कल्पना न समझकर यथार्थ समझने लगती है तो वही 'बन्धन' बन जाता है ।
३. जीवभावगृहीत शिव का अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव को सम्यक् रूप से न जानना ही 'अज्ञान' है और यही 'मल' कहलाता है ।
४. 'मल' मूलतः तो एक ही है, किन्तु समझने हेतु इसके तीन भेद किये गए हैं—१. आणव, २. कार्म एवं ३. मायीय ।

१. शिवस्वरूप का संकोच ही 'आणवमल' है ।[2]

बन्धन के दो प्रकार हैं—

१. आत्मा में अनात्मा का अभिमान ।
२. अनात्मा में आत्माभिमान ॥

यही स्थिति 'आणव मल' कहलाता है ।

बोध के स्वातन्त्र्य की हानि एवं स्वातन्त्र्य का ज्ञान न होना, स्वात्मस्वरूप के अपहस्तन से होती हैं । ये दोनों 'आणव मल' हैं ।[3] ये कार्म एवं मायीय मलों के कारण हैं । संसार के बन्धन भी यही हैं । स्वच्छन्दतन्त्र भी मल को कर्म का निमित्त मानता है—

मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।
(स्व० ३.१७६)

आणवमल, कार्ममल एवं मायामल को स्पन्दकारिका ने पृथक नाम से उल्लिखित किया है, जो इस प्रकार है—

१. 'अशुद्धि' = आणव मल ।[4]
२. 'कर्तव्याभिलाषा' = कार्म मल ।
३. 'क्षोभ' = मायीय मल ।

निजशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः । यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥

क्षोभ = अहमाकार अभिमान है ।

स्पन्दकारिका में भी इसी शाब्दी शक्ति को बन्धन का कारण सिद्ध करते हुए कहा गया है कि—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥

उत्पलदेवाचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

---

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र
२. संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् (स्वच्छन्दतन्त्र टीका)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (३।७७)
४. 'शिवाभेदाख्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलतत्त्वसङ्कुचितज्ञानात्मा बन्धः । (शिव०सू०वि०)

२. अणुत्व-प्राप्त प्रमाता की भेददृष्टि ही 'मायीय मल' है (जगत को अपने से पृथक् समझने का अज्ञान)।

—'मैं अपूर्ण हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं अग्निष्टोम यज्ञ सम्पादित करता हूँ'—इत्यादि तत् तत् विकल्पक सविकल्पकावभास-परामर्शमय एवं तत् तत् वावचशब्दानुवेध के द्वारस्वरूप एवं उसके द्वारा शोक, स्मय, हर्ष तथा रागादिक को जन्म देने वाला ज्ञान।

'श्रीतिमिरोद्‌घाट' में कहा गया है करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः।

पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः॥

—इसके अनुसार 'वर्ग' 'कला' आदि की अधिष्ठात्री देवी ब्राह्मी आदि[1] शक्तियाँ एवं 'श्रीसर्ववीर' आदि आगमों में प्रसिद्ध लिपि क्रम सन्निवेशोत्थापिका—अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा आदि शक्तिचक्रचुम्बिता अधिष्ठात्री शक्तियाँ तथा उनके अधिष्ठान के कारण पूर्णाहन्ता में भेदानुसन्धि तथा चित् परामर्श से शून्य एवं क्षणमात्र के लिए भी विश्रान्ति न देने वाले बहिर्मुख अज्ञानात्मक ज्ञान बन्धन प्रदान करने वाले हैं।[2]

यदि परमार्थतः विचार किया जाय कि आत्मा की अनन्त शक्ति के सामने अपने स्वतन्त्र स्वरूप की अहन्ता लेकर खड़ा रहने वाला यह मल या अज्ञान, माया या अविद्या, अशुद्धि या बन्धन क्या यथार्थ में कोई सत्ता है? तो इसके प्रत्युत्तर में अभिनवगुप्त कहते हैं कि—

वर्णराशि ही शब्दराशि है और अकार से क्षकारपर्यन्त मातृकायें ही शब्द-जननी है, क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णात्मिका है। उन्ही से क आदि वर्ण एवं ब्राह्मी आदि शक्ति-चक्र की कलाओं के द्वारा (ककारादि अक्षरों के श्रवण एवं उच्चारण के द्वारा) व्यक्ति अपनी महाव्याप्ति का विस्मरण कर देता है और स्वभाव से च्युत हो जाता है। फलतः वह जिन शक्तियों का स्वामी है, उन्हीं का भोग्य बनकर पुरुष के स्थान पर—'पति' के स्थान पर—'पशु' बन जाता है।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सभी भाव अपनी क्रोड में अपनी अंगचेष्टा के सदृश है। उनका स्वामी ही 'प्रमाता' 'संवित्' या 'शिव' कहलाता है; किन्तु जो उन्हीं भावों में फँस जाता है वह क्लेश पाता है और कर्म-पङ्क में पड़कर 'पशु' बन जाता है। स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यताः यतः शब्दा-नुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः॥

कारिका भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है। अर्थात् शब्दरूप शक्तियाँ पुरुष के स्वस्वरूप का सदैव आच्छादन करने हेतु प्रयत्नशील रहती हैं। ये अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा सदैव आत्मा को ढँकना चाहती हैं; क्योंकि शब्दानुवेध के विना (वर्णानुगम के विना) ज्ञानसंवेदन के प्रत्यय का उदय ही नहीं होता।[3] ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है, जिसमें शब्दानुगम न हो। सभी ज्ञान शब्दानुविद्ध होते हैं।[4]

---

१. 'अघोर-घोर-घोरतरात्मिका शक्तिश्रेणि' 'वामा' = पराशक्ति, तुर्यातीता मातृकाशक्ति। 'वर्ग' = ८, कला = निवृत्ति आदि कलायें। आदि = षडध्व। आचार्यक्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी'

२. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी ३. स्पन्दप्रदीपिका

४. वाक्यपदीय

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥[१]

मोक्ष केवल अज्ञान ग्रन्थि का उन्मोचन है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति
न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभेदाशक्त्या-
भिव्यक्तता मोक्षः ॥

(३) 'योनिवर्गः कलाशरीरम्'—

'योनि' (विश्व की कारणभूत माया) से सम्बद्ध देह, भुवन आदि एवं किञ्चित्कर्तृत्व आदि कलादि क्षित्यन्त तत्त्वसमूह एवं तद्रूप मायीय एवं कला (परिच्छेदक, आवरक व्यापार) रूप शरीर वाले कार्म मल भी बन्धन हैं ।

कलादिकों के किञ्चित्कर्तृत्वादि लक्षण वाले आणव मल से पुरुष मलाच्छादित हो जाता है—

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम् ।
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा ॥
नियत्या यमितं भूयः पुम्भावेनोपबृंहितम् ।
प्रधानाशयसम्पन्नं गुणत्रयसमन्वितम् ॥
बुद्धितत्त्वसमासीनमहंकारसमावृतम् ।
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ।[२]

'मालिनीविजय' में कार्म मल को भी स्वरूपाच्छादक कहा गया है—'धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।'

मायीय मल एवं कार्ममल दोनों बन्धनकारक हैं तथा भिन्नवेद्यप्रथात्मक हैं—

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं च ... ।[३]

१. अज्ञानात्मक ज्ञान ।

२. योनि वर्ग ।

चित्तत्त्व की उन्मुखता में वाक् तत्त्व ही बाधक होता है ।[४]

केवलाद्वैतवादी शङ्कराचार्य के अनुसार—१. संसाररूपी वृक्ष का बीज है—'अज्ञान', २. अङ्कुर = देहात्म बुद्धि । ३. पत्ते = राग, ४. जल = कर्म, ५. तना = शरीर, ६. शाखायें = प्राण, ७. उपशाखाएँ = इन्द्रियाँ, ८. पुष्पविषय, ९. फल = दुःख, १०. भोक्ता पक्षी = जीव । (वि०चू०)

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥

इसमें अशुद्धि, कर्तव्याभिलाषा एवं क्षोभ आणव, कार्म एवं मायीय मल के सूचक हैं ।

स्पन्दकारिका में क्रियाशक्ति को बन्धन एवं मुक्ति दोनों का मूल कहा गया है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥

अर्थात् शिव की यह क्रियात्मिका शक्ति स्वयं शिव को पशुत्व प्रदान करती है और उसके लिए बन्धयित्री बन जाती है । ज्ञात होने पर स्वात्मा की ओर गतिशील होकर यह शक्ति मुक्तिरूपी सिद्धि प्रदान करती है । (४।१८)

शास्त्रों में कहा भी गया है कि रुद्र की जिन कर्मशक्तियों से जीव बन्धन में पड़ते हैं, उपायपूर्वक वही उसे भवबन्धन से मुक्ति भी दिलाता है । यही अनुत्तरोत्पन्न अनुत्तर चक्र है—

येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा । सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥

आचार्य शङ्कर (अद्वैतवादी वेदान्ती) ने भी अपनी दृष्टि से बन्धन एवं मोक्ष की विवेचना

१. परमार्थचर्चा
२. स्वच्छन्दतन्त्र
३. श्रीप्रत्यभिज्ञाकारिका
४. स्पन्दप्रदीपिका

३. कलाशरीर-रूप 'मल' बन्धन है[१]—

अपूर्णम्मन्यता
भिन्नवेद्यप्रथा — बन्धनमूलक 'ज्ञान'
शुभाशुभवासना

अज्ञानात्मकज्ञान-योनि-वर्गकलाशरीर-रूपस्य त्रिविधस्य मलस्य बन्धकत्वम् ।'[२]

४. 'ज्ञानाधिष्ठानमातृका'[३]

उस अज्ञानात्मक ज्ञान का अधिष्ठान मातृका (आदि क्षान्तरूपा अज्ञातानाता मातृका विश्वजननी) है, जो कि सङ्कुचित वेद्याभासात्मक वह अज्ञानात्मक ज्ञान प्रदान करती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है ।

की है, जो स्पन्दशास्त्र से एक दृष्टि से काफी साम्य रखती है । वे कहते है कि 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' से होने वाला 'असद्ग्रह' ही 'बन्धन' है—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति
विमूढस्य तमसा ।
विवेकाभावाद्वै
स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।
ततोऽनर्थव्रातो
निपतति समादातुरधिक
स्ततो योऽसद्ग्राहः
स हि भवति बन्धः शृणु सति ।

'आवरण' और 'विक्षेप' (माया की) शक्तियों से ही 'बन्धन' होता है ।[४]

३. साधना पक्ष

ज्ञानरूप बन्धन को दूर करने के उपाय—बन्धनों से मुक्त होने एवं मोक्ष पाने का प्रथम और सर्वोत्तम उपाय है—'भैरवापत्ति' । इसीलिए सूत्रकार कहते हैं—

उद्यमो भैरवः (सू० ५) अर्थात् साधना में किया गया 'उद्यम' (अध्यवसाय) तभी वास्तविक 'उद्यम' कहलायेगा, जब वह साधक को ही 'भैरव' (भगवान्) बना दे ।

वास्तविक 'उद्यम' (साधना) वही है, जो कि उद्यमी (साधक) को भैरव (साध्य = भगवान्, आराध्य) बना दे ।

अर्थात् वास्तविक साधना 'साध्य' से पृथक् होकर किया गया अध्यवसाय नहीं है; बल्कि वह अध्यवसाय है, जो कि साधक को 'साध्य' ही बना दे ।

उद्यम—साधनात्मक अध्यवसाय । मोक्ष का उपाय । साधना का उपाय । परमात्म-साधना के साधन ।

भैरव—(रुद्र, शिव) = भगवान् । साध्य, आराध्य देवता ।

विशेषार्थ—शिवसूत्रविमर्शिनीकार ने भी साधना का आदर्श 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' या 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' या 'शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं' या 'भैरवापत्ति' को ही स्वीकार किया है । अज्ञानात्मक ज्ञानरूपी, मलरूपी एवं मातृकारूपी बन्धनों का प्रशमन करने का उपाय मात्र यही है कि साधक 'उपेय में विश्रान्ति' प्राप्त कर ले । इसी उद्देश्य से सूत्रकार ने अगला सूत्र इस प्रकार कहा—'उद्यमो भैरवः' ।

१-२. शिवसूत्रविमर्शिनी   ३. विवेक चूड़ामणि
४. एताभ्यामेव बन्धः पुंसः समागतः

'अथ एतन्बन्धप्रशमोपायमुपेयविश्रान्तिसतत्त्वमादिशति'[१] पर प्रतिभोन्मेष के अवष्टम्भ (प्रारम्भ । आश्रय । दृढसंकल्प) का उपायरूप 'भैरवसमापत्ति' अज्ञानरूप बन्धन के प्रशमन का एक सर्वोत्तम हेतु (उपाय) है—'एवं झगिति परप्रतिभोन्मेषावष्टम्भोपायिकां भैरवसमापत्तिम् अज्ञानबन्धप्रशमैकहेतुम् ।'[२]

अथेदृग्बन्धसम्बन्धप्रशमोपाय उच्यते ।
परमोपेयविश्रान्तिसतत्त्वः परमेष्ठिना ॥[३]

आत्माभिज्ञान के लिए संसार का प्रशम अत्यावश्यक है और इसके लिए सर्वोच्च उपाय 'हठपाकक्रम' या 'शाम्भवोपाय' है । यह उपाय अभेदात्मक है—

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् ।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता ॥

'भैरव' किसी अन्य देवता की संज्ञा नहीं है, प्रत्युत अपने आत्मा की ही संज्ञा है । जो अपने इस भैरवरूप का भावन (अन्तर्मुखी विमर्शन) करता है, उसके समस्त मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं—

आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुषः ।
तस्य मन्त्राः प्रसिध्यन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि ॥[४]

'भैरव' का क्या अर्थ है?

१. भीरवः = संसारचकिताः प्राणिनः, तेषामयमभयप्रदायितया सम्बन्धीति वा ।

२. भीः = संसारचाकित्यं तन्निबन्धनो रवः = प्राणिनामाक्रन्दस्तस्य प्रवर्तक इति वा ।

३. भयं पशुसम्बन्धिनीमुद्दिश्य रवणं यच्छब्दनं तत्स्वभावानां माहैश्वर्यादीनां वर्गाधिष्ठात्रीणां स्वामीति वा ।

४. लोकसम्बन्धिनीं भियं रौति, दातव्यतया परामृशतीति भीरुर्मृत्युकालादिरद्यवच्छिन्नो भयङ्करवर्गस्तस्यापि भयङ्कर इति वा ।

५. भानि = नक्षत्रोपलक्षितानि चन्द्रसूर्यादीनि ज्योतींषि तानीरयति = प्रेरयति भेरः = कालः, तं वाययन्ति = शोषयन्ति इति भेरवाः = कालग्रासरसिकाः = महाकालयोगिनस्तेषामधिष्ठातेति वा ।

६. विश्वं प्रति भरणरमणवसनानां प्रयोजयितेति वा भैरव इत्युच्यते ।

७. यदुक्तं क्षेमराजेन—

भीरूणाभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः ।
भेरं वायति यः सुयोगिनिवहस्तस्य प्रभुर्भैरवो
विश्वस्मिन् भरणादिकृद्विजयते विज्ञानरूपः शिवः ॥[५]

१-२. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी
३. वरदराज : शिवसूत्रवार्तिकम्
४. स्वच्छन्दतन्त्र
५. महेश्वरानन्द : परिमल

८. भैरव इति भरणवरणवमनरूप: ।

९. भीरूणाम् अभयम् इति संसारिणाम् अभयद: ।

१०. भिये पशुजनत्रासाय रव: शब्दराशिसमुत्थाकारादिकलाविमर्शो यासां खेचर्यादिसंविद्देवीनां ता भीरव: तासामयं स्वामी भैरव: ।

११. भैरवो भीषण: संसारवृत्तविघटनपर: ।

१२. संसारभयविमर्शनस्य अयं शक्तिपातवशेन उत्थापक: ।

१३. विश्वस्य भरणाद्रमणाद्वमनात्सृष्टिस्थितिसंहारकारी भैरव: परमशिव: ।[1]

१४. भैरव: सर्वशक्तिभरित: । तथा च शिवसूत्रे—'उद्यमो भैरव:'[2]

१५. उद्यमोन्त: परिस्पन्द: पूर्णाहम्भावनात्मक: ।
स एव सर्वशक्तीनां सामरस्यादशेषत: ॥
विश्वतो भरितत्वेन विकल्पानां विभेदिनाम् ।
अलं कवलनेनापीत्यन्वर्थादेव भैरव: ॥[3]

१६. भैरवो भयङ्कर: सर्वनियन्तोच्यते—'भीषाऽस्माद्वात: पवते' इति श्रुते: । 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इत्यादिश्रुतौ अत: भयङ्करत्वम् ॥[4]

१७. योऽयमुक्त: स्वसंवित्तेरुद्योगो भैरवात्मक: ।
अस्यास्ति महती शक्तिरतिक्रान्तक्रमाक्रमा ।'[5]

'चैतन्यमात्मा' एवं 'ज्ञानं बन्ध:' इन दोनों सूत्रों द्वारा—

(क) आत्मा में आत्मत्व के ज्ञान का अभाव तथा (ख) अनात्मा में आत्मत्व का ज्ञान का होना 'आणव मल' है और यही प्रसिद्ध (मुख्य) बन्धन है ।[6]

'तस्य बन्धो यस्मात्तदुद्युक्तमुद्योग उद्यं इति यावत् तस्य या: शक्तय: सामर्थ्यानि तासां सेनया समूहेन समन्वितेति रहस्यार्थ: ।' तथा च शिवसूत्राणि—'उद्यमो भैरव: ।'[7]

१८. उद्यमो भैरव इति प्रोक्तरूपं स्फुरद्वपु: ।
तुर्यं नाम परं धाम तदाभोगश्चमत्क्रिया ।[8]

१९. जो प्रसरणशील स्वरूप वाली (विश्वरूपी प्रसार वाली) अर्थात् 'विश्वमय' एवं 'विश्वोत्तीर्ण' अर्थात् अनुत्तर स्वरूप संवित्तत्व का जो आनन्दरूप 'विमर्श' है ('उन्मेष' है अर्थात् स्वरूप-विकासरूप विमर्श है), उस विमर्श से युक्त संवित्तत्व का जो उच्छलनात्मक परप्रतिभोन्मज्जनरूप 'उद्यम' है, वह समस्त शक्तियों के

---

१. अमृतानन्द : यो०हृ० की टीका 'दीपिका'
२. भास्करराय : सेतुबन्ध ३. वार्तिक
४. सेतुबन्ध (भास्करराय) ५. वार्तिक
६. भास्करराय—'सौभाग्य भास्कर' (श्लोक ७५ की टीका)
७. भास्करराय—'सौभाग्य भास्कर' ८. शिवसूत्रवार्तिक

सामरस्य के कारण और समस्त विश्व में भरे होने के कारण 'भैरव' है । यह भैरवात्मक स्व-स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण है । यह इसलिए भी 'भैरव' है; क्योंकि यह समस्त जगत् रूपी कुल को कवलित कर लेता है ।[1]

'मालिनीविजय' में भी इसी भैरवापत्ति की बात कही गई है—

आकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ।।

यही 'शाम्भवोपाय' है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ।।
न कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढ़त्वशालिना ।।
तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयक्तिकरण्यतः ।
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ।।
परतद्रूपता शम्भोराद्या शक्त्यविभागिनः ।
तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयं प्रोन्मिषत्स्वयम् ।
न विना निश्चयेन द्राङ् मातृदर्पणबिम्बितम् ।
मातारमधरीकुर्वन् स्वां विभूतिं प्रदर्शयन् ।
आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ।।

सारांश—योऽयं विमर्शरूपायाः प्रसरन्त्याः स्वसंविदः ।
झटित्युच्छलनाकारप्रतिभोन्मज्जनात्मकः ।।

१. उद्यमोऽन्तः परिस्पन्दः पूर्णाहम्भावनात्मकः ।

२. स एव सर्वशक्तीनां सामरस्यादशेषतः ।
विश्वतो भरितत्वेन विकल्पानां विभेदिनाम् ।
अलं कवलनेनापीत्यन्वर्थादेव भैरवः ।।[2]

इस उद्यमरूप भैरवत्व की प्राप्ति ('भैरवापत्ति') समस्त बन्धनों को प्रशमित करता है—

अथेदृग्भैरवापत्तेर्बन्धप्रशमकारणात् ।[3]

इतना ही नहीं; प्रत्युत इसके द्वारा 'व्युत्थान' एवं 'भेदाभास' भी शान्त हो जाते हैं—

व्युत्थानं च भवेच्छान्तभेदाभासमितीर्यते ।[4]

विश्व का भरण, रवण-संहार एवं वमन-उल्लासन करने वाले परम शिव ही 'भैरव' कहलाते हैं । नर, शक्ति एवं शिव—ये तीन भेद उन्हें 'त्रिशरो भैरव' संज्ञा प्रदान करते हैं ।

---

१. शिवसूत्रवार्तिक ('उद्यमो भैरव' की व्याख्या)
२-४. वरदराज—शिवसूत्रवार्तिक

तथा तथा दृश्यमानानां शक्तिसहस्राणामेकसंघट्टः ।
निजहृदयोद्यमरूपो भवति शिवोनाम परमस्वच्छन्दः ।।

('महार्थमञ्जरी'—महेश्वरानन्द)

श्लोक में 'निजहृदयोद्यमरूपो शिवो नाम परमस्वच्छन्दः ।' 'स्वहृदयोद्योग-स्वभावतयाऽनुभूयते ।' (परिमल)

'शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः' (शि०सू० ६)

शरीरस्थ षट् चक्रों का अनुसन्धान करने से उन भावों का विलीनीकरण होने पर समाधि होती है । समाधि से ही विश्व का संहार होता है; अतः उसके वशीभूत न होकर उसको सुषुम्ना में विलीन कर देना चाहिए ।

स्पन्दकारिका में भी इसकी विवेचना की गई है—

(क) शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः । (स्पन्दकारिका ४५)
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिता ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः । (स्पन्दकारिका ४७)

अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामा आदि शक्तियाँ स्वरूपावरण में सहायक भी हैं । वैसे ब्राह्मी आदि शक्तियाँ बन्धन में डालने वाली प्रमुख शक्तियाँ हैं ।



तृतीय अध्याय
'स्पन्दतत्त्व' और उसका स्वरूप

स्पन्दतत्त्व—सिद्धपरम्परा में प्राचीन काल से परमतत्त्व का एक नाम 'स्पन्द' चलता-चला आ रहा है। इसके विभिन्न नामान्तर हैं; यथा—शुद्धात्मा, शङ्कर, शिव, स्वभाव, ज्ञाता एवं सामान्य। स्वयं परमतत्त्व 'स्पन्द' ही शब्द के द्वारा अपने को व्यक्त करता है (आगम रहस्य एवं षाड्गुण्यविवेक)। जिस प्रकार सतमञ्जिले महल पर चढ़ने के लिए सोपान और नदी को पार करने के लिए नाव की आवश्यकता होती है, वैसे ही भगवान् शास्ता के अधिगम के लिए शास्त्र की अपेक्षा होती है (पञ्चरात्र)।

स्पन्द एवं किञ्चित् चलत्ता—इस ग्रन्थ में 'स्पन्द' वाच्य है और 'शब्द' वाचक है। 'स्पन्द' का अर्थ है—किञ्चित् हिलना। निस्तरङ्ग परमात्मा में एक साथ सर्व रूप से उन्मुख होने की जो शक्ति है, वही किञ्चित् हिलना या किञ्चित् चलत्ता है। इस किञ्चित् चलत्ता से परमात्मा की निर्विकल्पकता भंग नहीं हो जाती।

इच्छा, परा, अघोरा, वामा, ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी, सौरी, बौद्धी, खेचरी आदि समस्त शक्तियों का मूल कारण स्पन्दस्वरूप भगवान् ही हैं।

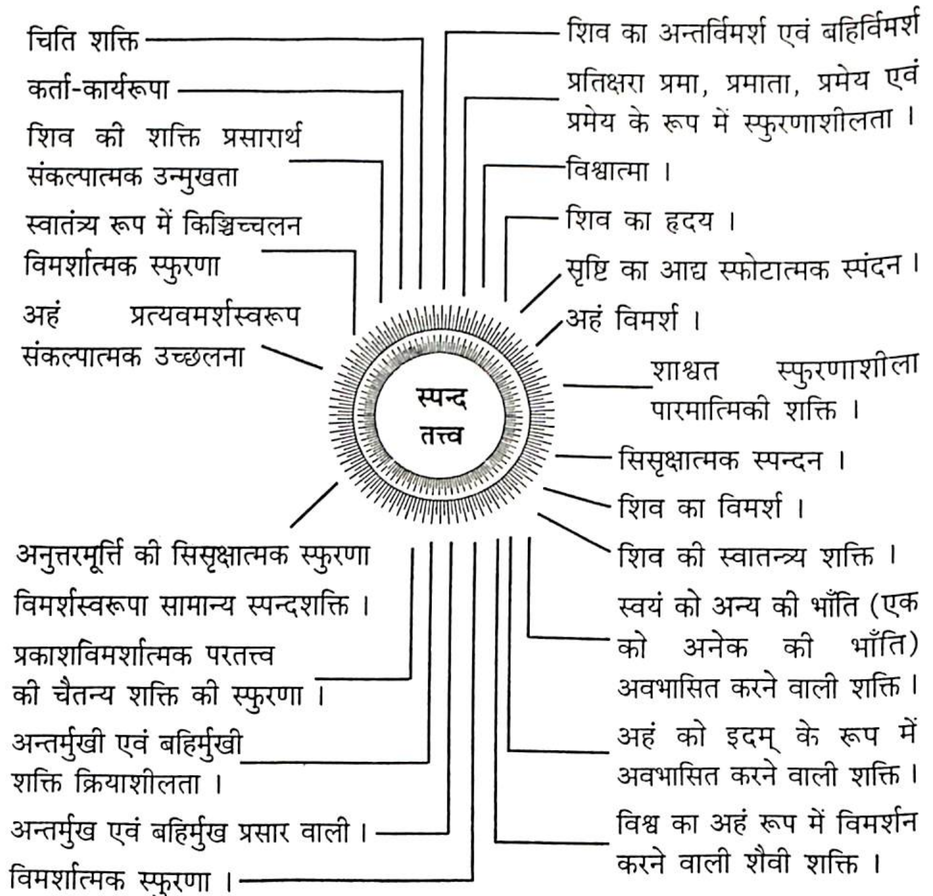
स्पन्दशक्ति, आत्मा एवं संवित्—समस्त विश्व में सर्वत्र शक्तिसमूह ही स्फुरित हो रहा है। शक्ति शक्तिमान की आत्मा है—हृदय है। शक्तिमान आत्मा ही महेश्वर हैं। शक्तियाँ ही जगत् हैं। परमात्मा की चिन्मात्रता ही जगत् के रूप में सर्वत्र छलक रही है। स्पन्दतत्त्व में ही यह सम्पूर्ण जगत् (कार्यरूप विश्वप्रपञ्च) ज्ञानरूप से शक्त्यात्मक होकर अवस्थित है। निमेष दशा में भी वह ज्ञानरूप होने के कारण अनाच्छादित ही रहता है। यह (स्पन्दतत्त्व) अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता; क्योंकि वह उपलब्धा है। अत: तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। भेद मात्र अवस्थाओं में होता है, अवस्थाता में नहीं। स्पन्द अवस्थाता है। संवेत्ता एक ही रहता है; भले ही संवेदन परिवर्तित होकर अनेकाकार हो जायँ। जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान जलतरङ्गों के साथ प्रतिबिम्ब भी नाचता है; किन्तु आकाशशस्थ चन्द्रमा नहीं। इसी प्रकार अवस्थायें नाचती हैं—अपना रूप बदलती रहती हैं; किन्तु अवस्थाता आत्मा नहीं। इन्द्रियों के द्वारा अर्थ ग्रहण 'जाग्रत्' है, मन से अर्थग्रहण 'स्वप्न' है और जहाँ न मन है न अर्थ है और न ही उसका ग्रहण है, वह 'सुषुप्ति' है; किन्तु आत्मा (स्पन्द) बोधैकस्वरूप है—ज्यों का त्यों है और यही है—उसकी तुरीयता। वह सारी अवस्थाओं, सारी वृत्तियों, सारे व्यापारों का साक्षी है, अवस्थाहीन, परिवर्तनहीन, अविकार तथा अविचल है। स्पन्दतत्त्व पारमार्थिक है; क्योंकि नित्य है। इसकी दो अवस्थायें अवश्य कही गई हैं—कार्य-कर्ता, भोग्य-भोक्ता, दृश्य-द्रष्टा, संवेद्य-संवेत्ता एवं स्मर्तव्य-स्मर्ता।

मूर्खों के लिए 'स्पन्द' के निष्यन्द उनके चित्स्वरूप के आच्छादक बन जाने से बन्धन बन जाते हैं; क्योंकि स्पन्द-निष्यन्द अज्ञानी वर्ग को अविराम पतनोन्मुख बनाने हेतु अविश्रान्त प्रयासरत रहते हैं; किन्तु ये ज्ञानी वर्ग के लिए मुक्ति के मार्ग हैं । 'स्पन्द' अपने भीतर बल का सञ्चार करता रहता है ।

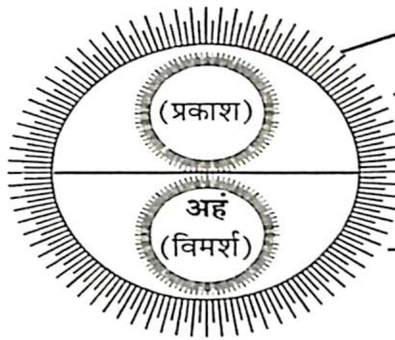
स्पन्ददर्शन के अनुसार आत्मा ही जगत् है । 'इदम्' के रूप में प्रतीयमान यह समस्त जगत् आत्मा ही है । वेद्य का कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जो कि वेदक (ज्ञाता आत्मा) से भिन्न हो । वेद्य वेदक है और वेदक संवित् तत्त्व है । संवित् ही आत्मा है ।

आचार्य क्षेमराज शि०सू०वि० में कहते हैं कि 'चैतन्य' को शङ्करात्मक स्पन्दतत्त्व कहा है—'शङ्करात्मकस्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यम्' । चैतन्य क्या है? 'जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभाव:' । चैतन्य है—स्थावर-जंगमात्मक विश्व का परमशिवरूप स्वभाव ।

स्पन्दतत्त्व और उसका स्वरूप



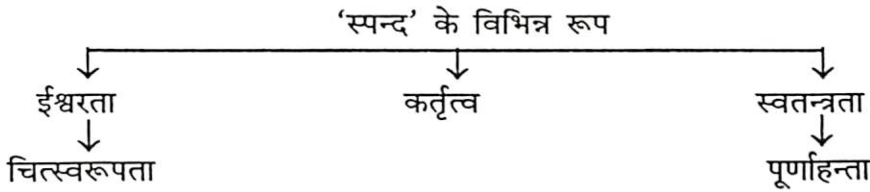
परिपूर्णा अनुत्तर भाव = (सामरस्य की अवस्था) = प्रकाश + विमर्श का सामरस्य



परतत्त्व (परमशिव, शिव)

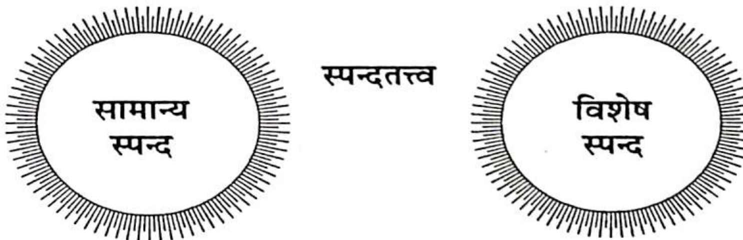
प्रकाश (विश्वातीत) प्रकाश पक्ष की ओर अधिक उन्मुख 'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र'

विमर्श (स्पन्दतत्त्व) = स्वातन्त्र्यशक्ति = विश्वमय (विमर्श) पक्ष की ओर अधिक उन्मुख = स्पन्दशास्त्र = स्पन्द



ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपा चेति ।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यते ॥—विरूपाक्षपञ्चाशिका

ये सभी अहन्ता के पर्यायवाची शब्द भी हैं ।



परतत्त्व में जो अहंविमर्श' है, वह उसमें विश्वात्मक चेतना रूप वाली 'स्पन्दशक्ति' है ।

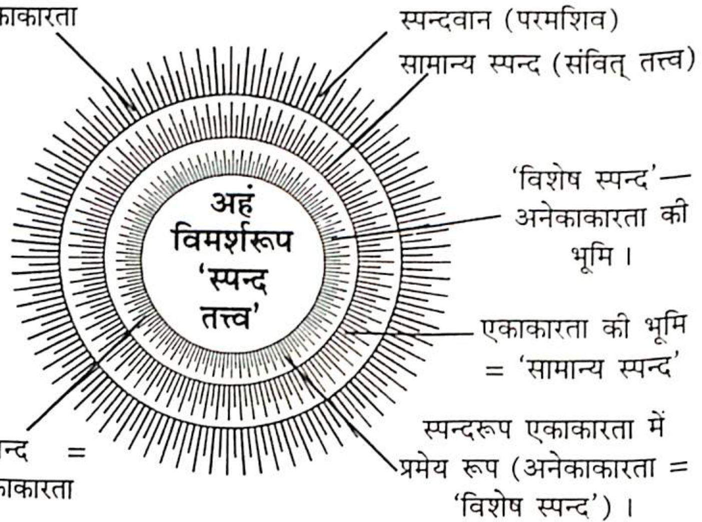
सारांश—शिव में स्थित विश्वात्मक चेतना की स्फुरणा ही 'स्पन्दतत्त्व' है । 'स्वातन्त्र्य' = परमात्मा की मुख्यशक्ति = 'विमर्श' = 'स्पन्द' = 'हृदय' = 'सार' = 'चिति' = 'चैतन्य' = 'आत्मा' = 'संवित्' = 'ऊर्मि' ।

'स्पन्दतत्त्व'-अवस्थायें एवं विभिन्न रूप

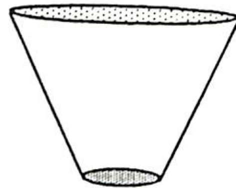
गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् । (स्पन्दकारिका १९)

(क) आरोह क्रम-(प्रलय)

१. सामान्य स्पन्द = अनेकाकारता में एकाकारता



२. विशेष स्पन्द = एकाकारता में अनेकाकारता

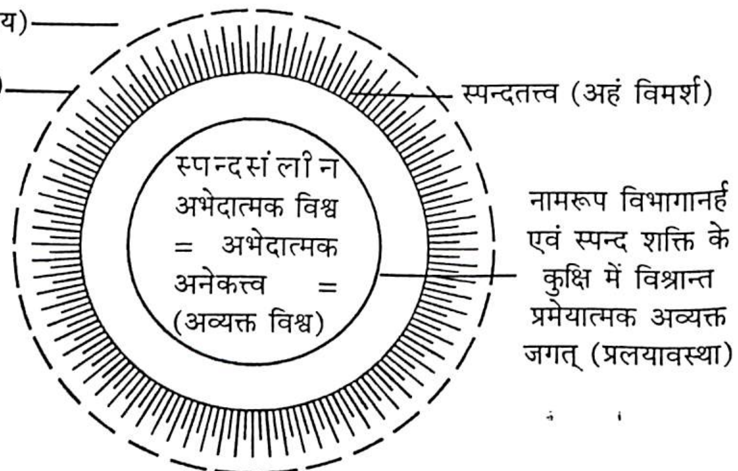


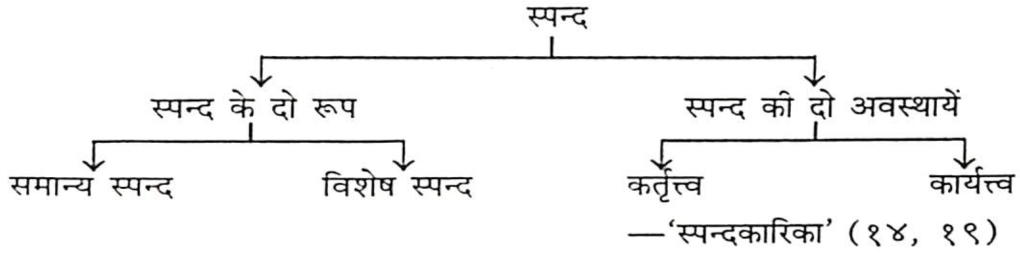
(१) गमलों के अनन्त रूपों में अनेककारता न देखकर सभी में मृत्तिकागत एकता देखना = 'सामान्य स्पन्द' की भूमि ।

(२) एक मृत्तिका मात्र से बने अनन्त मृण्मय पात्रों में मृत्तिकागत एकता न देखकर अनेकता देखना = 'विशेष स्पन्द की भूमि' ।

आरोह क्रम (प्रलय)

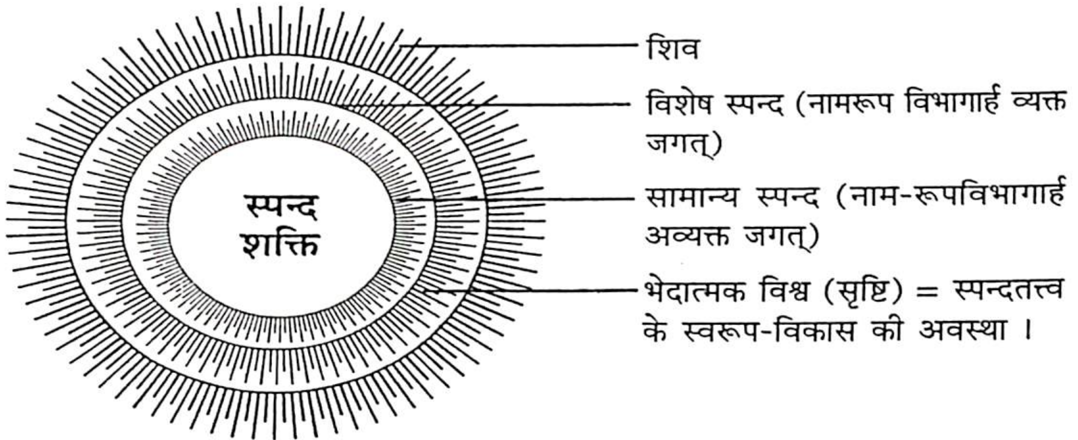
स्पन्दवान (शिव)





—'स्पन्दकारिका' (१४, १९)

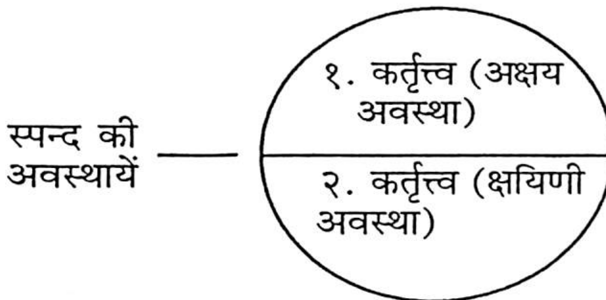
(ख) अवरोह क्रम (सृष्टि क्रम) बाह्योन्मुख दशा



= 'शक्ति' का स्वरूप = पूर्ण अहं विमर्श एक ही शक्ति का अनन्त रूपों में स्फुरित होकर विश्व के अनन्त रूपों में अवभासन ।

= 'स्पन्द' = शाश्वत रूप में स्फुरणशील = किञ्चित् चलन = सूक्ष्म अहं विमर्शात्मक स्फुरणा । शक्ति प्रसार (विश्वात्मक रूप में शक्ति प्रसार) की ओर सङ्कल्पात्मक उन्मुखता = सङ्कल्पात्मक गतिमयता = अहं प्रत्यवमर्श = उच्छलना = 'विमर्श' ।

(ग) स्पन्द की अवस्थायें—स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व



अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्त्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।।—स्पन्दकारिका

ध्यातव्य बिन्दु—

१. चिदानन्द पयोधि में इच्छात्मक, ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक स्फुरणा रूप तरङ्गें सदैव उठती रहती हैं ।

२. 'अहंविमर्श' = परतत्त्व में विश्वात्मक चेतना के रूप में नित्य अवस्थित स्पन्दशक्ति । 'स्पन्द' = पारमेश्वरी शक्ति ।

३. 'परिपूर्ण अनुत्तर भाव' = प्रकाश एवं विमर्श की समरसावस्था । 'प्रकाश' = विश्वातीत पक्ष । 'विमर्श' = विश्वमय पक्ष । भगवती चिति ही चित्त बन जाती है ।

जब वह चिति अपने स्वरूप को छिपाकर सङ्कोच का आलम्बन ग्रहण करती है तब उसकी दो प्रकार की गति होती है—कभी तो वह उल्लसित सङ्कोच को गौण करके चित्प्राधान्य को लेकर स्फुरित होती है और कभी सङ्कोच की प्रधानता से । चित्प्राधान्यपक्ष में प्रकाशमात्र प्रधान होने पर विज्ञानाकलरूपता विकसित होती है और प्रकाश एवं विमर्श दोनों की प्रधानता में विद्यातत्त्व में अवस्थित प्रमातृता प्राप्त होती है ।

प्रकाश और विमर्श के प्राधान्य में भी क्रमशः सङ्कोच के और क्षीण हो जाने पर आत्मा को 'ईश्वर' 'सदाशिव' और 'अनाश्रित शिवरूपता' प्राप्त होती है ।

चित्सङ्कोच की प्रधानता होने पर शून्यप्रमातृता (प्रलयाकलरूपता) एवं सकलप्रमातृता का विकास होता है ।

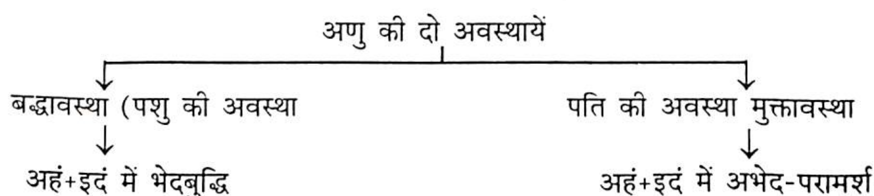
चिति ही संकुचित ग्राहकरूपता धारण करके अर्थग्रहण की ओर उन्मुख होकर चित्त का रूप धारण करती है ।

परमेश्वर की स्वांगभूत शक्ति ज्ञान, क्रिया एवं माया ही पशुदशा में सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण बन जाती है । स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया एवं मायारूप होकर पशुदशा में सङ्कोच प्रकर्ष से सत्त्व, रज एवं तमस् के स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है ।

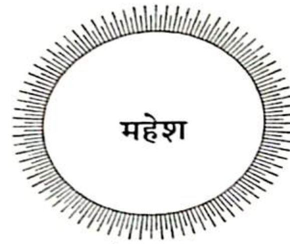
स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

पतिस्तर पर जो ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति है, वही पशुस्तर पर सतोगुण एवं रजोगुण बन जाती है ।

'अणु' व्युत्थानावस्था एवं सांसारिक जीवन में ही अवस्थित क्यों न हो; किन्तु वह विश्वात्मभाव की स्थिति में स्वयं महेश ही है । अतः अणु की दो दशायें हैं—







सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।। (प्रत्यभिज्ञाकारिका)

'महेशत्व' = यही है विरूपाक्षपञ्चाशिका का 'विश्वदेहत्व' । 'विषयशरीरेन्द्रियधीप्राण-निरोधप्रसिद्ध्यदस्मित्वाम् इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।'

स्पन्द

'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'स्पन्द' शब्द किञ्चिच्चलनात्मक (अल्प गतिशील) अर्थ देता है ।[१]

स्पन्द विकारार्थक भी है—'तेन षोडशस्पन्दाः षोडशविकारा भूतेन्द्रियमनांसि तेषां सन्दोहः 'षोडशस्पन्दसन्दोहे' इति ।[२]

स्पन्द पराशक्ति का तत्त्वरूप में प्रसार है—स्पन्दो नाम परायास्तत्त्वरूपेण प्रसारः । प्रमाण के रूप में 'परापञ्चाशिका' के निम्न श्लोक को देखिए—

सिसृक्षोः प्रथमस्पन्दः शिवतत्त्वं प्रभोः स्मृतम् ।

स्पन्द प्रसरणशील के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—'ये स्पन्दाः स्पन्दनशीला प्राणाः प्राणापानादयः पञ्च, एकादशेन्द्रियाणि इत्येवं 'षोडशस्पन्दसन्दोहे' ।[३] १० प्राण एवं ११ इन्द्रियों के मध्य वायु का चलना ही 'स्पन्दन' है । इन्द्रियों में स्वविषयाभिमुख्य ही स्पन्दन है । अतः ये सभी 'स्पन्द' हैं ।[४]

अभिनवगुप्तपाद 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि शून्य-प्रमाता ही अभिलाषारूपी मल के प्रभाव से आणव मल-ग्रस्त हो जाता है । वह भेदवाद की भूमि पर गिर पड़ता है । उसमें स्वात्म-विमर्श का संस्कार शेष रहता है । विमर्श के कारण उसमें उच्छलन प्रारम्भ होता है । यह आद्य स्पन्द का आदिम रूप है । पतन एवं उच्छलन दोनों में ऊर्मियों का उल्लास ही 'प्राणस्पन्दोर्मि' कहलाता है—

स एव स्वात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः ।
पतन्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः ।।

---

१. 'दीपिका'—अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय के चक्रसंकेत के श्लोक ११ की व्याख्या । (यो०हृ० पूजासंकेत श्लोक १३० की व्याख्या)

२. 'दीपिका'—अमृतानन्दनाथ ।

३. सेतुबन्ध (भास्करराय) तत्रैव ।

४. सेतुबन्ध

'किञ्चिच्चलनात्मनः स्वविमर्शरूपस्य स्पन्दनस्यैवायमाद्यः प्रसरः ।'[१]

परासंविद् का जो आद्य परिस्पन्द है, वह एक आन्तर उद्योग है । इस आन्तर उद्योग की इच्छा प्राणना वृत्ति में सदैव रहती है । इसे ही स्पन्द, स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृदय एवं प्रतिभा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है—

इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता ॥ (६.१३)

जब जहाँ जिस अवस्था में समस्त शक्तियों का लय हो जाता है, वहाँ स्पन्दतत्त्व उदित दिखाई पड़ता है । क्रोध, हर्ष, भय, शोक, शून्यारण्य में भय-सञ्चार, घनघोर संग्राम, कौतूहल, क्षुधा-पिपासा की अन्तिमावस्था किंकर्तव्यविमूढ़ता एवं विस्मय आदि की अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियों के लय के साथ प्रगाढ़ एकाग्रता ही 'स्पन्द' है, जो कि आत्मा का स्पर्श करने लगता है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किंकरोमीति वा मृशन् ।
धावन्व यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ (स्पन्दकारिका)

इस स्पन्दावस्था को प्राप्त करने हेतु २३, २४ एवं २५ क्र० की कारिकायें कही गई हैं ।

चैतन्य (शिव) के साथ उसके आनन्द-स्फुरण के रूप में उसकी अपनी अभिन्न शक्ति के रूप में जो क्रिया है, वही 'स्पन्द' है । स्पन्द शिव के अपने आनन्द-स्फुरण की सहज क्रिया है । स्पन्द के तीन प्रधान लक्षण हैं—

१. यह आयासहीन है, उद्देश्यहीन है और स्वाभाविक क्रिया है ।

२. यह आनन्द का स्फुरण है ।

३. इसमें स्वातन्त्र्य निहित है, इसमें परवशता नहीं है ।

४. स्पन्दरूप यह क्रिया कर्म नहीं है; क्योंकि कर्म सायास होता है, किसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से निष्पादित किया जाता है; किन्तु शिव की स्पन्दरूप क्रिया शिव की अपनी स्वसमवेत शक्ति है और उसकी क्रिया—सृजन (जगत्) भी उसी का स्पन्द है, उसी का 'नर्तन' है, उसी की अपनी शक्ति है, उसी की अपनी क्रिया है, उसी की आनन्दस्फुरत्ता है, स्वात्मोच्छलन है ।

स्पन्दतत्त्व अनेकार्थक है । इसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है ।

योगिनीहृदय में भगवती को 'स्पन्दरूपिणी' कहा गया है—

तन्मयीं परमानन्दनन्दितां स्पन्दरूपिणीम् ।
निसर्गसुन्दरीं देवीं ज्ञात्वा स्वैरमुपासते ॥ (१८)

स्पन्द का अर्थ क्या है? अमृतानन्द योगी की दीपिका में स्पन्द का अर्थ 'शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्वस्पन्दरूपेण' व्याख्या द्वारा निरूपित किया गया है । स्पन्द =

---

१. तन्त्रालोक (आ०६ श्लोक ११), विवेक—जयरथ ।

शिवादिक्षित्यन्त ३६ तत्त्व ही स्पन्द है ।[१] आचार्य भास्कर के सेतुबन्ध में स्पन्द का अर्थ 'षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वम् तद्रूपिणीं तदभिन्नं स्पन्दरूपिणीम्' है । इस व्याख्या द्वारा इस प्रकार निरूपित करके 'स्पन्द' शब्द को षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक विश्व का पर्याय स्वीकार किया गया है ।[२]

सारांश—'स्पन्द' शिव से क्षितिपर्यन्त ३६ तत्त्व या षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक विश्व है ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

(क) संसार में भी विविध वैचित्र्ययोग होने पर भी अपने स्व-स्वरूप से अच्युत (अस्खलित) व्यक्ति गम्भीर स्पन्दवान् कहलाता है ।

(ख) 'स्पन्दन' किञ्चित् चलने का नाम है—'स्पन्दनं च किञ्चित् चलनम्' ।

(ग) 'स्पन्दन' में जो किञ्चिच्चलत्व है, वह है—'किञ्चिद्रूपता' ।

स्पन्दनं च किञ्चित् चलनम् एषैव च किञ्चिद्रूपता ।

(घ) 'किञ्चिद्रूपता' का स्वरूप इस प्रकार का है कि न चलता हुआ भी चलते हुए के समान दृष्टिगत हो—'एषैव च किञ्चिद्रूपता यदचलमपि चलमाभासते इति' ।

(ङ) जो प्रकाशस्वरूप है, वह प्रकाश से रञ्चमात्र भी पृथक् नहीं रह सकता; किन्तु ऐसा होता हुआ दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार अचल वस्तु भी आभासभेदयुक्त दिखाई पड़ने लगती है—'प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति ।' इसीलिए कहा भी गया है—

१. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दिक्क्रियः शिवः ॥

२. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ (स्प० २२)

३. स्पन्दतत्त्वविविक्तये । (स्प० २१)

४. गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः (स्प० १९)

(च) यह शक्तितत्त्व 'स्फुरत्ता' है । 'स्फुरत्ता' से क्या तात्पर्य है? 'शक्ति' स्फुरद्रूप है; क्योंकि उसमें स्फुरद्रूपता विद्यमान है । प्रश्न उठता है कि यदि हम यह कहते हैं कि 'यहाँ घट है' तो इसका क्या अर्थ है? यहाँ घट क्यों है? यहाँ खपुष्प क्यों नहीं है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाएगा कि—'घट मेरे समक्ष स्फुरित हो रहा है, अन्य नहीं (खपुष्प नही) । 'स्फुरण' स्पन्दन है—'स्फुरणं स्पन्दनम् आविष्ट इति ।'[३]

यदि 'किञ्चिच्चलन' स्वरूप से वस्त्वान्तराक्रमण है तब तो वह किञ्चित् चलना नहीं; प्रत्युत सम्पूर्ण चलना हो जाएगा । अतः यहाँ 'चलन' यह संकेतित करता है कि इससे

---

१. योगिनीहृदय की टीका ('दीपिका'—अमृतानन्द योगी) ।
२. भास्करराय—'सेतुबन्ध' (यो०हृ० की टीका)
३. अभिनवगुप्त—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४) : स्फुरत्ता साक्षात्कारः ।

स्व-स्वरूप में थोड़ा भी परिवर्तन या वस्त्वन्तरण नहीं होता; इसीलिए शक्ति को स्फुरत्ता कहा गया है।

उत्पलदेवाचार्य

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥

जो ज्ञरूप है, शक्तीश एवं स्वबल है, जिसके सङ्कल्प से लय एवं उदय होते हैं, वही 'स्पन्द' है—

यत् परापरभूस्पर्शि यत्सङ्कल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ॥ (स्पन्दप्रदीपिका)

(क) परमात्मा की निर्विकल्पात्मक सर्वत्र औन्मुख्यवृत्तिता ही 'स्पन्द' है।

(ख) शुद्धात्मा, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता आदि सभी शब्द 'स्पन्द' के ही वाचक हैं।

(ग) आत्मबल, चिद्रूप, शक्तीश, प्रतिभोदय आदि शब्द 'स्पन्द' के ही पर्याय हैं।

१. 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'स्पन्द' का अर्थ है—स्पन्दनशील। क्योंकि—'स्पन्दनात् स्पन्दः।'

२. निस्तरङ्ग परमात्मा की एक साथ होने वाली निर्विकल्पात्मक सर्वत्र औन्मुख्यवृत्तिता ही 'स्पन्द' है—'स्पन्दनं च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता।'

३. शुद्धात्मा, शङ्कर, शिव, भाव, स्वभाव, तत्त्व, ज्ञाता एवं स्पन्द—सभी एक ही तत्त्व के पर्याय हैं—

स्पन्दः सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्मा शङ्करः शिवः ।
भावः स्वभावस्तत्त्वञ्च ज्ञातेत्याद्यभिधाः स्मृता ॥ (स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत)

४. चिद्रूप, आत्मबल, शक्ति, ईश आदि सभी व्यपदेश 'स्पन्द' के ही पर्याय हैं—

शान्तषाड्गुण्यरूपस्य यत् स्फुरन् प्रतिभोदयः ।
स चाऽत्मबलशक्तीशश्चिद्रूपः स्पन्दसंज्ञकः ॥

महामहेश्वरानन्द—महार्थमञ्जरी की टीका 'परिमल' में महेश्वरानन्द ने स्पन्द तत्त्व का अनेक स्थलों पर उल्लेख करके उसकी व्याख्या की है। उदाहरणार्थ वे प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—परमेश्वर का जो 'पारमैश्वर्य' है और जिसके अन्तर एवं बाह्य में ज्ञान एवं क्रिया विद्यमान है और विश्व का विलासत्व जिसके प्रतिबिम्बन से अनुप्राणित है, वही स्वातन्त्र्य शक्ति, स्पन्द एवं स्फुरत्ता आदि अभिधानों द्वारा व्यक्त की गई है। आगमों में इनके ये ही नाम हैं—

एतदेव हि परमेश्वरस्य तत् पारमैश्वर्यम् । यदन्तर्बहिश्च ज्ञानक्रियाप्रतिबिम्बनानुप्राणिताशेषविश्वविलासत्वम् । तच्च स्वातन्त्र्यस्पन्दस्फुरत्तोद्यमादिशब्दैरागमेषूद्घोष्ये ।'[१]

(क) स्पन्द स्वातन्त्र्य शक्ति या स्फुरत्ता है ।

(ख) स्पन्द परामर्शात्मा-चमत्कार है—स्पन्दः परामर्शात्माचमत्कारः ।

(ग) स्पन्द पर्यालोच्यमान कलाओं का प्रमात्रंशमय आदि स्फुरण है—'पर्यालोच्यमानाः प्रमात्रंशमयः कश्चिदाद्यः स्पन्दः ।' उसके पीछे कार्य करने वाली प्रसरणौन्मुखा शक्ति है । उसका प्रमाण स्फुरणरूप कोई इन्द्रियमय परिस्पन्द है ।

(घ) स्पन्द = विमर्श है । 'विमर्श' शिव का स्वभाव है । इसे ही शक्ति, ऐश्वर्य, उद्यम, स्वतन्त्रता, स्फूर्ति, ऊर्मि, ओज, कला एवं स्पन्द कहते हैं—

औन्मुख्यमनयोरिच्छाविश्वमेतद्विजृम्भितम् ।
तस्माद् विमर्शो देवस्य स्वभावोऽस्माभिरुच्यते ।।

भवन्त्यस्यैव पर्यायाः शक्तिरैश्वर्यमुद्यमः ।
स्पन्दः स्वतन्त्रता स्फूर्तिरूर्मिरोजः कलेऽप्यपि ।।

(ङ) 'स्पन्द' परमस्वातन्त्र्यलक्षणात्मक उन्मेष-निमेष ही 'स्पन्दतत्त्व' है—उन्मेषनिमेषौ नाम परमेश्वरस्य परमस्वातन्त्र्यलक्षणं स्पन्दतत्त्वम् ।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।

तत्र च यदाहन्तोन्मेषस्तदानीमिदन्ताया निमेषः इदन्तोन्मेषे चाहन्ताया निमेष इति ।[२]

(च) 'स्पन्द'—('पूजारहस्य' नामक ग्रन्थ के अनुसार) बोधभैरव, देवाधिदेव शिव की शक्तियों में १. औन्मुख्य, २. इच्छा, ३. ज्ञान एवं ४. क्रिया—ये चार मुख्य शक्तियाँ हैं । ये सभी देवाधिदेव शिव के स्पन्दन हैं—

औन्मुख्यमिच्छा ज्ञानं च क्रियेत्येतच्चतुष्टयम् ।
स्पन्दनं देवदेवस्य बोधभैरवरूपिणः ।।[३]

उत्पलदेवाचार्य (स्पन्दप्रदीपिका)—

(क) आचार्य उत्पल ने 'स्पन्दप्रदीपिका' के मंगलाचरणात्मक प्रथम श्लोक में 'स्पन्द' की वन्दना की है—

यत् परापरभूस्पर्शि यत्सङ्कल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ।।

जो परापरभूस्पर्शी है और जिसके सङ्कल्पमात्र से सृष्टि एवं प्रलय हो जाया करते हैं, उस सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, शक्तियों के स्वामी एवं स्वबल 'स्पन्द' नामक शिवतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ ।

---

१. महेश्वरानन्द : महार्थमञ्जरी (परिमल) श्लोक-१
२. महेश्वरानन्द (महार्थमञ्जरीः 'परिमल' श्लोक १५)
३. 'परिमल' (श्लोक १४)

स्व-स्वरूप में थोड़ा भी परिवर्तन या वस्त्वन्तरण नहीं होता; इसीलिए शक्ति को स्फुरत्ता कहा गया है।

उत्पलदेवाचार्य

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥

जो ज्ञरूप है, शक्तीश एवं स्वबल है, जिसके सङ्कल्प से लय एवं उदय होते हैं, वही 'स्पन्द' है—

यत् परापरभूस्पर्शि यत्सङ्कल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ॥ (स्पन्दप्रदीपिका)

(क) परमात्मा की निर्विकल्पात्मक सर्वत्र औन्मुख्यवृत्तिता ही 'स्पन्द' है।

(ख) शुद्धात्मा, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता आदि सभी शब्द 'स्पन्द' के ही वाचक हैं।

(ग) आत्मबल, चिद्रूप, शक्तीश, प्रतिभोदय आदि शब्द 'स्पन्द' के ही पर्याय हैं।

१. 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'स्पन्द' का अर्थ है—स्पन्दनशील। क्योंकि—'स्पन्दनात् स्पन्दः।'

२. निस्तरङ्ग परमात्मा की एक साथ होने वाली निर्विकल्पात्मक सर्वत्र औन्मुख्यवृत्तिता ही 'स्पन्द' है—'स्पन्दनं च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता।'

३. शुद्धात्मा, शङ्कर, शिव, भाव, स्वभाव, तत्त्व, ज्ञाता एवं स्पन्द—सभी एक ही तत्त्व के पर्याय हैं—

स्पन्दः सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्मा शङ्करः शिवः ।
भावः स्वभावस्तत्त्वञ्च ज्ञातेत्याद्यभिधाः स्मृता ॥ (स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत)

४. चिद्रूप, आत्मबल, शक्ति, ईश आदि सभी व्यपदेश 'स्पन्द' के ही पर्याय हैं—

शान्तषाड्गुण्यरूपस्य यत् स्फुरन् प्रतिभोदयः ।
स चाऽत्मबलशक्तीशश्चिद्रूपः स्पन्दसंज्ञकः ॥

महामहेश्वरानन्द—महार्थमञ्जरी की टीका 'परिमल' में महेश्वरानन्द ने स्पन्द तत्त्व का अनेक स्थलों पर उल्लेख करके उसकी व्याख्या की है। उदाहरणार्थ वे प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—परमेश्वर का जो 'पारमैश्वर्य' है और जिसके अन्तर एवं बाह्य में ज्ञान एवं क्रिया विद्यमान है और विश्व का विलासत्व जिसके प्रतिबिम्बन से अनुप्राणित है, वही स्वातन्त्र्य शक्ति, स्पन्द एवं स्फुरत्ता आदि अभिधानों द्वारा व्यक्त की गई है। आगमों में इनके ये ही नाम हैं—

एतदेव हि परमेश्वरस्य तत् पारमैश्वर्यम् । यदन्तर्बहिश्च ज्ञानक्रियाप्रतिबिम्बनानुप्राणिताशेषविश्वविलासत्वम् । तच्च स्वातन्त्र्यस्पन्दस्फुरत्तोद्यमादिशब्दैरागमेषूद्घोष्ये ।'[१]

(क) स्पन्द स्वातन्त्र्य शक्ति या स्फुरत्ता है ।

(ख) स्पन्द परामर्शात्मा-चमत्कार है—स्पन्दः परामर्शात्माचमत्कारः ।

(ग) स्पन्द पर्यालोच्यमान कलाओं का प्रमात्रंशमय आदि स्फुरण है—'पर्यालोच्यमानाः प्रमात्रंशमयः कश्चिदाद्यः स्पन्दः ।' उसके पीछे कार्य करने वाली प्रसरणौन्मुखा शक्ति है । उसका प्रमाण स्फुरणरूप कोई इन्द्रियमय परिस्पन्द है ।

(घ) स्पन्द = विमर्श है । 'विमर्श' शिव का स्वभाव है । इसे ही शक्ति, ऐश्वर्य, उद्यम, स्वतन्त्रता, स्फूर्ति, ऊर्मि, ओज, कला एवं स्पन्द कहते हैं—

औन्मुख्यमनयोरिच्छाविश्वमेतद्विजृम्भितम् ।
तस्माद् विमर्शो देवस्य स्वभावोऽस्माभिरुच्यते ॥
भवन्त्यस्यैव पर्यायाः शक्तिरैश्वर्यमुद्यमः ।
स्पन्दः स्वतन्त्रता स्फूर्तिरूर्मिरोजः कलेऽप्यपि ॥

(ङ) 'स्पन्द' परमस्वातन्त्र्यलक्षणात्मक उन्मेष-निमेष ही 'स्पन्दतत्त्व' है—उन्मेषनिमेषौ नाम परमेश्वरस्य परमस्वातन्त्र्यलक्षणं स्पन्दतत्त्वम् ।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।

तत्र च यदाहन्तोन्मेषस्तदानीमिदन्ताया निमेषः इदन्तोन्मेषे चाहन्ताया निमेष इति ।[२]

(च) 'स्पन्द'—('पूजारहस्य' नामक ग्रन्थ के अनुसार) बोधभैरव, देवाधिदेव शिव की शक्तियों में १. औन्मुख्य, २. इच्छा, ३. ज्ञान एवं ४. क्रिया—ये चार मुख्य शक्तियाँ हैं । ये सभी देवाधिदेव शिव के स्पन्दन हैं—

औन्मुख्यमिच्छा ज्ञानं च क्रियेत्येतच्चतुष्टयम् ।
स्पन्दनं देवदेवस्य बोधभैरवरूपिणः ॥[३]

उत्पलदेवाचार्य (स्पन्दप्रदीपिका)—

(क) आचार्य उत्पल ने 'स्पन्दप्रदीपिका' के मंगलाचरणात्मक प्रथम श्लोक में 'स्पन्द' की वन्दना की है—

यत् परापरभूस्पर्शि यत्सङ्कल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ॥

जो परापरभूस्पर्शी है और जिसके सङ्कल्पमात्र से सृष्टि एवं प्रलय हो जाया करते हैं, उस सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, शक्तियों के स्वामी एवं स्वबल 'स्पन्द' नामक शिवतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ ।

---

१. महेश्वरानन्द : महार्थमञ्जरी (परिमल) श्लोक-१
२. महेश्वरानन्द (महार्थमञ्जरीः 'परिमल' श्लोक १५)
३. 'परिमल' (श्लोक १४)

(ख) स्पन्दशास्त्र का जो वाच्य है, वही 'स्पन्द' है—स्पन्दाभिधोऽर्थोऽत्र वाच्यः । स्पन्द नामक जो अर्थ है, वही स्पन्दकारिका का वाच्य है । वाचक है—स्पन्दकारिका और वाच्य है—स्पन्द ।

(ग) स्पन्द शब्द 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से निष्पन्न हुआ है । अतः स्पन्द का अर्थ है—स्वल्प मात्रा में चलना, हिलना, रञ्चमात्र गति करना । स्पन्दन करने के कारण ही इसे 'स्पन्द' कहा गया—स्पन्दनात् स्पन्दः ।

(घ) निस्तरङ्ग परमात्मा की जो एक साथ प्रवर्तित होने वाली निर्विकल्पा सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता है, वही 'स्पन्दन' कहलाती है—

स्पन्दनं च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता[1] अर्थात् तरङ्गशून्य परमात्मा में जो एक साथ सर्वरूप से उन्मुख होने की योग्यता है, वही उसका किञ्चित् हिलना है—किञ्चिच्चलन है—स्पन्दन है । इससे उसकी निर्विकल्पता भंग नहीं होती ।

(ङ) जो शान्त 'स्पन्द' षाड्गुण्य रूप वाला है, जिससे प्रतिभा का उदय होता है (या जो प्रतिभा एवं उदय का स्फुरित् स्वरूप है), जो आत्मबलस्वरूप है, जो अनन्त शक्तियों का स्वामी है और जो चिद्रूप है, उसे ही 'स्पन्द' कहा गया है—

शान्तषाड्गुण्यरूपस्य यत् स्फुरन् प्रतिभोदयः ।
स चाऽऽत्मबलशक्तीशश्चिद्रूपः स्पन्दसंज्ञकः ॥[2]

'प्रतिभा' क्या है? 'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।'[3]

(च) शुद्धात्मा, शङ्कर, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता आदि सभी 'स्पन्द' के विविध अभिधान हैं । 'स्पन्द' का अर्थ है—शुद्धात्मा, भाव, स्वभाव, शिव, शंकर आदि—

स्पन्दः सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्मा शङ्करः शिवः ।
भावः स्वभावस्तत्त्वं च ज्ञातेत्याद्यभिधा स्मृताः ।[4]

इसके अन्य पयार्य भी हैं; यथा—चित्, संविद्, ज्ञान, बोध—

अन्यच्च चित् संविद् ज्ञानं बोधश्चेति पर्यायाः ।

लिङ्गपुराण : यज्ञवैभव खण्ड—भगवती त्रिपुरा की जो पञ्चशक्तियाँ हैं; उसमें क्रियाशक्ति के पाँच भेद बताये गए हैं; वे हैं—१. स्पन्द, २. परिस्पन्द, ३. प्रक्रम, ४. परिशीलन और ५. प्रचार—

स्पन्दश्च परिस्पन्दः प्रक्रमः परिशीलनः ।
प्रचार इति विद्वद्भिः कथिताः पञ्च ताः क्रियाः ॥

१-२. उत्पलदेव : स्पन्द प्रदीपिका
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा　　४. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलदेव)

वासिष्ठ रामायण—शिव शान्त एवं अवाच्य शिव की जो इच्छामूलक शक्ति है, उसे ही स्पन्दशक्ति कहा जाता है और यही समस्त दृश्याभासों का रचना-वितान खड़ा करती है—

शिवं ब्रह्मविदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ।
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेयं दृश्याभासं तनोति सा ।।

स्पन्दसन्दोह : आचार्य क्षेमराज—

(क) क्षेमराज का कथन है कि प्रकाशात्मा, निर्मल एवं अद्वैत परमात्मा की एक ही 'परामर्श शक्ति' किञ्चित् चलत्ता एवं भासरूप में स्थित है । यही शक्ति 'स्पन्द' कहलाती है—'इह परमेश्वरस्य महाप्रकाशात्मनो विमलस्यापि एकैव परामर्श-शक्तिः किञ्चिच्चलत्ता भासरूपतया 'स्पन्दः' इति । आगमों में इसके अनेक नाम हैं; यथा—

(क) किञ्चिच्चलत्ता इति (ख) स्फुरत्ता इति
(ग) ऊर्मिः इति (घ) बलम् इति
(ङ) उद्योग इति (च) हृदयम् इति
(छ) सारम् इति (ज) मालिनी इति
(झ) परा इति—अनन्तसंज्ञाभिः आगमेषु उद्घोष्यते ।[1]

(ख) आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दसन्दोह' के मङ्गलाचरण में उस शिव की जय मना रहे हैं, जो अत्यन्त महिमान्वित, क्ष्मादि सदाशिवान्त विश्व को अपने हृदय में चित्रित करता है, 'सृष्टि-संहार-लीला' का प्रवर्तक है और स्वप्रतिष्ठ एवं स्पन्दवान है—

अकलितमहिमा यः क्ष्मादिसादाशिवान्तं,
कलयति हृदि विश्वं चित्रसंयोजनाभिः ।
प्रथयति च विचित्राः सृष्टि-संहारलीलाः,
स जयति शिव एकः स्पन्दवान् स्वप्रतिष्ठः ।।

यहाँ 'स्पन्दवान' का अर्थ है—स्पन्दशक्ति से युक्त शिव ।

(ग) 'स्पन्दनिर्णय' में क्षेमराज कहते हैं कि—१. जो स्व-स्वरूप से पूर्णतया स्वतन्त्र है, २. जो अपने स्वच्छ स्वात्मभित्ति पर धरणी से लेकर शिवपर्यन्त समस्त विश्व को मुकुरनगरवत् स्वात्मस्वरूप के रूप में चित्रित करती है, ३. जो 'सतत समुदिता' (सर्वकालोदिता) है, ४. जो शब्दराशि को अपनी आत्मा के रूप में धारण करती है, ५. जो पूर्णाहन्तास्वरूपिणी है, ६. जो अनन्त स्फुरत्ता है, ७. जो शङ्कर भगवान् की नित्य, अक्षर पराशक्ति है, ८. जो दृग्देवी है, ९. जो मन्त्रवीर्य है, वही 'स्पन्दशक्ति' है ।[2]

---

१. स्पन्द सन्दोह (क्षेमराजाचार्य) २. क्षेमराजाचार्य : स्पन्दनिर्णय

सर्वस्वात्मस्वरूपं मुकुरनगरवत्स्वस्वरूपात् स्वतन्त्रं
स्वच्छस्वात्मस्वभित्तौ कलयति धरणीतः शिवान्तं सदा या ।
दृग्देवी मन्त्रवीर्यं सततसमुदिता शब्दराश्यात्मपूर्णा
हन्तानन्तस्फुरत्ता जयति जगति सा शाङ्करी स्पन्दशक्तिः ॥[1]

(घ) आचार्य क्षेमराज अपने 'स्पन्दनिर्णय' में 'स्पन्दतत्त्व' के निम्न लक्षणों पर प्रकाश डालते हैं—

१. इस स्पन्दतत्त्व का 'शिवसूत्रों' के प्रतिपाद्य या वाच्य तत्त्व के साथ पूर्णतया समन्वय है, २. यह शिवोपनिषद् है, ३. शिवसूत्रों में निहित रहस्य-तत्त्वों को विविध उदाहरणों एवं युक्तियों से उपन्यस्त करके उसे स्पष्टार्थगर्भित बनाते हुए जिस शास्त्र में प्रस्तुत किया गया है और ४. जो श्रीरूप है, वही 'स्पन्द' है—

सम्यक् सूत्रसमन्वयं परिगतिं तत्त्वे परस्मिन्परां
तीक्ष्णं युक्तिकथामुपायघटनां स्पष्टार्थदव्याकृतिम् ।
ज्ञातुं वाञ्छथ चेच्छिवोपनिषदं श्रीस्पन्दशास्त्रस्य तत्
वृत्तावत्र धियं निधत्त सुधियः स्पन्दश्रियं प्राप्नुत ॥[2]

(ङ) 'स्पन्दनिर्णय' में क्षेमराज कहते हैं कि 'स्पन्दतत्त्व' अमृत है और इसका थोड़ा-सा आस्वादन तो 'स्पन्दसन्दोह' के माध्यम से किया गया; किन्तु उससे तृप्ति न होने के कारण इस अमृत की पूर्णचर्वणाभोग हेतु 'स्पन्दनिर्णय' का प्रणयन किया गया ।

(च) 'स्पन्दनिर्णय' में ही आचार्य क्षेमराज तो यह भी कहते हैं कि वसुगुप्ताचार्य ने शिवावेशावस्था में स्वप्नोपलब्ध शिवादेश के आधार पर 'महादेव पर्वत' की महाशिला पर उत्कीर्ण रहस्यमय शिवसूत्रों को प्राप्त करके उन्हें ५० श्लोकों में निबद्ध कर दिया । अतः यह स्पन्दसूत्र केवल शिवोपदेशों का वह संग्रह है, जो कि प्रथमतः शिवसूत्रों के रूप में प्राप्त किया गया; किन्तु बाद में इन्हें श्लोकों के रूप में संगृहीत किया गया—'इह हि विश्वानुजिघृक्षापर-परमशिवावेशोन्मीलितमहिमा स्वप्नोपलब्धोपदेशः श्रीमान्वसुगुप्ताचार्यो महादेवपर्वताद्भगवदिच्छयैव महाशिलातलोल्लिखितान्यतिरहस्यानि शिवसूत्राण्यासाद्य प्रसन्नगम्भीरैरेकपञ्चाशता श्लोकैरागमानुभवोपपत्त्यैकीकारं प्रदर्शयन्संगृहीतवान् ।'[3]

अर्थात् शिवसूत्र-उपदिष्ट उपदेश ही स्पन्दशास्त्र है और शिवसूत्र का वाच्य स्पन्दकारिका का भी वाच्य है ।

(छ) 'स्पन्दसन्दोह' में क्षेमराज कहते हैं कि उपदिदेश श्रीमान् वसुगुप्तगुरुः—
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।

---

१. क्षेमराजाचार्य : स्पन्दनिर्णय
२. स्पन्दनिर्णय (क्षेमराज) ३. स्पन्दनिर्णय (क्षेमराज)

स्पष्ट है कि क्षेमराज 'स्पन्दसन्दोह' में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि 'स्पन्दकारिका' वसुगुप्त की रचना थी । सारांश यह कि शिवसूत्रों का दर्शन एवं प्रतिपाद्य स्पन्दशास्त्र का भी दर्शन एवं प्रतिपाद्य था । चूँकि शिवसूत्रों का प्रथम जिज्ञास्य तत्त्व चैतन्य एवं आत्मा है (प्रथमसूत्र है—'चैतन्यमात्मा' १.१); अत: स्पन्दशास्त्र का प्रथम जिज्ञास्य तत्त्व चैतन्य एवं आत्मा है; इसीलिए 'स्पन्द' शब्द आत्मा (परमचैतन्य) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

(ज) आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दसन्दोह' में कहते हैं कि 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ'[१] । अत: इस दृष्टि से भी स्पन्द आत्मा का वाचक है ।

(झ) आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दनिर्णय' में कहते हैं कि 'शिवसूत्रों की सामग्री के आधार पर श्री वसुगुप्त ने 'स्पन्दकारिका' का प्रणयन किया ।' इससे भी सिद्ध होता है कि काश्मीरिक त्रिक दर्शन के मूल में 'स्पन्ददर्शन' है । स्पन्ददर्शन का मूल ग्रन्थ 'शिवसूत्र' है तथा इसकी परवर्ती स्पन्द-कृति 'स्पन्दकारिका' है ।

(ञ) क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी में कहते हैं कि १. 'शिवोपनिषद्संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि तत: समाससाद ।' २. 'एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान् ।' —अर्थात् वसुगुप्त ने कल्लट आदि शिष्यों को 'शिवसूत्र' के रहस्यार्थ का ज्ञान कराया और साथ ही शिवसूत्रों को स्पन्दकारिकाओं के रूप में संगृहीत किया ।

ये समस्त तथ्य दो संकेत देते हैं—

१. शिवसूत्रों के रचयिता वसुगुप्त नहीं थे; अपितु भगवान् शिव थे । वसुगुप्त ने उनका उद्धारमात्र किया था । 'शिवोपल' पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों को ढूँढ़कर उन्हें प्रचारित-प्रसारित किया था ।

२. 'स्पन्दकारिकायें' वसुगुप्त की रचना थीं, जिसे उन्होंने शिवसूत्रों की दार्शनिक दृष्टि एवं उसके संघटक मूल तत्त्वों को अन्तर्गर्भित करके निर्मित किया था ।

अत: स्पन्दविज्ञान एवं शिवसूत्र दोनों का प्रतिपाद्य एवं वाच्य एक ही तत्त्व था, जिसे शिवसूत्रों में 'चैतन्यस्वरूप आत्मा' कहा गया एवं 'स्पन्दकारिका' में शाङ्करी स्पन्दशक्ति के रूप में स्थापित किया गया ।

(ट) 'षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह' में आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि शिवोन्मीलन की आद्या इच्छाशक्ति (सिसृक्षारूपा) ही 'शिवतत्त्व' है और इसी को 'स्पन्द' कहते हैं—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्द: प्रथमशिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञै: ।।

---

१. परमाद्वय प्रकाशानन्दमय महेश्वरस्वरूप प्रत्यभिज्ञापनाय समस्त शास्त्रगर्भां समुचितां स्तुतिं इमाम् उपदिदेश श्रीमान् वसुगुप्त गुरु:—यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ ।।

(ठ) 'स्पन्दनिर्णय' (१.५) में आचार्य क्षेमराज कहते है कि 'स्पन्द' पारमार्थिक शक्तिरूप तत्त्व है अर्थात् सर्वोच्च सत्ता 'स्पन्दतत्त्व' के रूप मे प्रतिष्ठित है—

एवमनेन सूत्रेण सुखाद्याकारसंवित्सन्तानवादिनां सुखादिकलुषितप्रमातृतन्त्ववादिनां ग्राह्यग्राहकनानात्ववादिनां सर्वेषाम् अभाववादिनां निष्परामर्शप्रकाशब्रह्मवादिनां च मतमनुपपन्नत्वादसत्त्वेन अनूद्य पारमार्थिकं स्पन्दशक्तिरूपमेव तत्त्वमस्तीति प्रतिज्ञातम् ।' क्षेमराज ने इसी प्रसंग में १. संवित्सन्तानवादियों, २. प्रमातृतत्त्ववादियों, ३. नानात्ववादियों, ४. अभाववादियों एवं ५. ब्रह्मवादियों का खण्डन करके उन सबके प्रतिपाद्य तत्त्व से पृथक् एवं उच्चतर तत्त्व के रूप में स्थित 'स्पन्दतत्त्व' का प्रतिपादन किया ।

'स्पन्द' एक पारमार्थिक शक्तितत्त्व है ।

क्षेमराज की दृष्टि में—This is the path of Shankara in which pains appear as pleasure, poison as nector and the whole world of life and death as liberation—

दु:खान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्ग: स शाङ्कर: ॥[1]

आचार्य क्षेमराज ने 'गुरुभारती' (गुरुगिरा) को 'परमा स्पन्दभूमि' का अभिधान दिया है—

ग्रन्थान्ते परमां स्पन्दभूमिं गुरुगिरं स्तौति । (स्पन्दनिर्णय)

(ड) आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दनिर्णय' में परमात्मा की 'स्वातन्त्र्य शक्ति' को 'स्पन्द' का अभिधान देते हुए कहते हैं कि परमात्मा की जो अघटनघटनापटीयसी, उपादाननिरपेक्षा, कारणान्तरनिरपेक्षा, चिद्रूपा स्वातन्त्र्य शक्ति है, वही 'स्पन्द' है । परमशिव की जो विमर्शरूपता है, वही उसकी स्वात्ममयी स्वातन्त्र्य शक्ति है । स्वभावरूपा 'स्वातन्त्र्य शक्ति' को स्पन्दशास्त्र में 'स्पन्द' अभिधान दिया गया है—श्रीभगवत: स्वातन्त्र्यशक्ति: किञ्चिच्चलनात्मक: धात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।[2]

'स्पन्द' अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्न समरस भाव से रहने वाली एवं चाञ्चल्य जैसी कोई उमंग है । इसे परमेश्वर के प्रकाशन की विमर्शरूपता कहा गया है । स्पन्द परमेश्वर का एक उमंग है । यह परमेश्वरता के विलास का प्रत्यवमर्श (बोध) है और अपने-आपमें परिपूर्णता का उसका प्रत्यवमर्श (अहन्ता परामर्श) ही उसका पूर्ण आनन्द है ।

अशेष सर्ग-संहारादिक के विलास को दर्पणनगरवत् स्वभित्ति पर ही स्वयमेव दिखाती हुई अचल परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्ति किञ्चिच्चलसत्ताक होने के कारण 'स्पन्द' कही जाती

१. स्पन्दनिर्णय में उद्धृत
२. क्षेमराज : स्पन्दनिर्णय

है । स्पन्द या विमर्श परमशिव का नित्य स्वभाव है । स्पन्दस्वरूप (आत्मस्वभाव) में विश्रान्ति ही 'जीवन्मुक्ति' है । यह 'स्पन्दतत्त्व' सर्वानुस्यूत है (स्प०नि०) ।

सभी व्यक्ति अपने स्पन्द शक्तिमय शङ्करात्मक स्वभाव की अनुभूति कर लें; इसी का साधन—प्रतिपादन-हेतु वसुगुप्त ने इस शास्त्र को 'स्पन्द' कहा । स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सिद्धान्तों में तत्त्वत: न कोई भेद है और न तो कोई विरोध । उत्पलाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में जिस प्रत्यभिज्ञा का विवेचन किया है, उसी के साधनभूत शिवसूत्रों एवं स्पन्दकारिकाओं के तीन उपाय हैं ।[१]

'अनुपाय' ही परिपूर्ण प्रत्यभिज्ञा है । उपायत्रय मलप्रक्षालनार्थ हैं या मलशुद्धि के साधन हैं । ये तीन उपाय हैं—आणवोपाय, शैवोपाय एवं शाक्तोपाय । मल-प्रक्षालन से आत्मप्रकाश स्वयमेव चमक उठता है ।

एक साथ ही अपने अन्तर्गत विश्वोन्मेष (सर्जन) एवं निमेष (संहार) करने वाली इस पारमेश्वरी इच्छाशक्ति को स्पन्दशास्त्र में 'स्पन्द' कहा गया—१. श्रीभगवत: स्वातन्त्र्यशक्तिरविक्त्याप्यशेषसंसर्गसंहारादिपरम्परां दर्पणनगरवत्स्वभित्तावेव भावियुक्त्यानधिकामत्यधिकामिव दर्शयन्ती 'स्पन्द' इत्यभिहिता (स्पन्दनिर्णय) । २. सा चैषा स्पन्दशक्ति: युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी (स्पन्दनिर्णय) ।

यह एक होते हुए भी कार्यभेद से अनेक उपाधिरूप होकर नानात्व धारण करता है और फिर भी अद्वयरूप ही रहता है । यही उसकी दुर्घटसम्पादनलक्षणा स्वतन्त्रता है, जिससे परमेश्वर नित्य स्वातन्त्र्य स्वभाव वाला (स्पन्दवान्) है । परमशिव की स्पन्दशक्ति स्वयं एक होकर भी चिन्तामणि के समान अनेकत्व ग्रहण करती है—

सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
अर्थोपलब्धिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥[२]

इसकी असंख्यरूपता के विचार से ही 'तन्त्रसार' में परमेश्वर की असंख्य शक्तियाँ बताई गई हैं—शक्तयश्च अस्य असंख्येया: ।[३]

चिदात्मा परमेश्वर की इन असंख्य शक्तियों में उसकी पाँच शक्तियाँ ही मुख्य हैं—तत्र परमेश्वर: पञ्चभि: शक्तिभि: निर्भर: ।

स्वातन्त्र्य शक्ति ही 'स्पन्द' है । एक परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित हो रहा है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है—

तस्मादनेकभावाभि: शक्तिभिस्तदभेदत: ।
एक एव स्थित: शक्त: शिव एव तथा तथा ॥[४]

शिव परम कारण है (शिव: परमकारणम्) ।[५]

---

१. स्पन्दनिर्णय (क्षेमराज)
२. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र
३. तन्त्रसार
४. शिवदृष्टि (सोमानन्दपाद)
५. अभिनवगुप्तपादाचार्य : 'तन्त्रसार' (तन्त्रालोक आ० १.८८)

उस परमशिवरूपी परम कारण का लीलाविलास ही यह समस्त जगत् है ।

(क) प्रकाशस्वरूप का प्राधान्य होने से वह 'विश्वोत्तीर्ण' है ।

(ख) विमर्शस्वरूप का प्राधान्य होने से वह विश्वमय है ।

परमशिव की विमर्शरूपता ही उसकी स्वात्ममयी स्वातन्त्र्यशक्ति है । स्पन्दशास्त्र में परमशिव की इस स्वभावरूपा स्वातन्त्र्य शक्ति की ही आख्या है—'स्पन्द' ।

'पराप्रावेशिका' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि चित् तत्त्व, चैतन्य, स्वरसोदिता परा वाक्, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, स्पन्द सभी एक भाव के पर्याय हैं; एक विमर्श के विविध रूप हैं—'एष एव च विमर्शः—चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परा वाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्घोष्यते ।'[1]

यह स्पन्द अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्न समरस भाव से रहने वाली एक चञ्चलता जैसी कोई उमंग है, जिसे परमेश्वर के प्रकाशरूप की विमर्शरूपता कहा गया है ।

तन्त्रालोक (तृतीय) में कहा गया है कि—

किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदि तया विना ॥

स्पन्दनिर्णय में स्वातन्त्र्य शक्ति को किञ्चिच्चलनात्मक धातु से निष्पन्न स्पन्द का पर्याय कहा गया है—श्रीभगवतः स्वातन्त्रशक्तिः किञ्चिच्चलसत्ताकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।

'स्पन्द' एक चञ्चलता-जैसी उमंग है । 'जैसी' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया कि इसे न तो योगी ही समझ सकता है और न तो अन्य व्यक्ति ही । यह केवल आत्मसमाविष्ट शैवों की अन्तःस्वानुभूति-मात्र का विषय है । भाषा उसके यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है । यह शान्त समुद्र में प्रबलाघात से उठने वाली तरङ्गों की भाँति परम शिव के इस स्पन्द को 'क्षोभ' नहीं समझना चाहिए; क्योंकि जहाँ सर्वत्र परमशिव ही परमशिव है और उससे भिन्न कुछ है ही नहीं; वहाँ क्षोभक भी कौन हो सकता है?

स्पन्द कोई क्षोभ नहीं है । क्षोभ का मूल कारण तो अपने से भिन्न विषयों की इच्छा है; किन्तु परमेश्वर तो सर्वत्र परिपूर्ण है । परमेश्वर से भिन्न वस्तु की इच्छा कैसे सम्भव है?

तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में जयरथ ने भी स्पन्द की वही व्याख्या की है—किञ्चिच्चलनं हि नामैतदुच्यते यद् बोधस्यानन्दापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनं परतोऽस्य न प्रकाशः अपितु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः ।[2]

परमेश्वर में जो स्पन्दरूपात्मिका उमंग है, वह तो उसकी अपनी ही परमेश्वरता के विलास का 'प्रत्यवमर्श' (बोध) है और अपने-आपमें परिपूर्णता का उसका यह 'प्रत्यवमर्श' (अहन्ता-परामर्श) ही उसका पूर्णानन्द है । इस स्वात्मानन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द

---

१. पराप्रावेशिका
२. विवेक भाग-३

के अतिशय से 'स्पन्दमान' (छलकता-सा) रहता है। उसका यह आनन्दस्पन्दन (छलकना) ही विश्व बन जाता है।

परमशिव के आनन्दोच्छलन से अवभासित यह विश्व परमशिव में उसी प्रकार अभिन्नतयावस्थित रहता है; जैसे कि हमारी इच्छावस्था में इष्यमाण पदार्थ हमसे सर्वथा अभिन्न रहता है—यथा हि पुरुषस्य इच्छावस्थायां इष्यमाण: पदार्थ: स्वरूपाव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते तथा भगवत: शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते।[१]

एक: प्रकाश: स्वातन्त्र्याच्चित्ररूप: प्रकाशते।
वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ नाचित्रो भेदभूषणात्॥[२]

सृष्टि एवं प्रलय परमेश्वर में प्रतिक्षण अभिन्न रूप से स्पन्दित होते रहते हैं। यह स्पन्द ही परमेश्वर की इच्छा है। स्पन्दरूपात्मक अपनी इस स्वतन्त्र, अन्यनिरपेक्ष एवं स्वात्माश्रित स्वतन्त्र इच्छामात्र से ही परमेश्वर अपने पूर्ण शिवभाव के भीतर ही अभिन्न रूप से असंख्य विश्वों का उल्लासन करता हुआ परिमित जीवभाव का अवभासन करता है। यह उसकी अवरोहण-कल्पना की क्रीड़ा है। जीवभाव का अवभासन परमशिव का स्वकल्पित स्वरूप-प्रच्छादन है और जीवभाव का विलापन उसका स्वरूप-प्रकाशन है। यह उसकी आरोह-कल्पना की क्रीड़ा है। बन्धन उसकी अवरोह लीला है और मोक्ष उसकी आरोह लीला है। इस प्रकार—स्वातन्त्र्य कल्पना →

१. अवरोह लीला की कल्पना → बन्धन।

२. आरोह लीला की कल्पना → मुक्ति।

'योगिनीहृदय' में परमानन्दनन्दिता एवं निसर्गसुन्दरी देवी को स्पन्दरूपिणी कहा गया है—

तन्मयीं परमानन्दनन्दितां स्पन्दरूपिणीम्।
निसर्गसुन्दरीं देवीं ज्ञात्वा स्वैरमुपासते॥

'स्पन्दरूपिणी' शब्द का अर्थ क्या है? अमृतानन्द योगी कहते हैं कि 'शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वस्पन्दरूपेण व्यक्तनिजविभवां निसर्गसुन्दरीं......... देवीं महात्रिपुरसुन्दरीम्।[३]

भास्कराचार्य 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि 'स्पन्द: षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वम्, तद्रूपिणीं तदभिन्नाम् स्पन्दरूपिणीम्।'[४]

कैसी महात्रिपुरसुन्दरी? 'स्पन्दरूपिणीम्।' 'देवी'—सर्वप्राणिष्वात्मतया परप्रेमास्पदीभूतां देवीं महात्रिपुरसुन्दरीं प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणीं पराम्।'[५]

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' २. भा०वि० (१.७६)
३. अमृतानन्द योगी—'दीपिका' ४. सेतुबन्ध—भास्कराचार्य
५. 'दीपिका'—अमृतानन्द योगी। (श्लोक १८)

'तन्त्रालोक' के चतुर्थ आह्निक में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

१. अहमात्मक परामर्श केवल 'हृदय' ही नहीं, प्रत्युत शास्त्रों में 'स्पन्द' भी कहा गया है ।

२. 'स्पन्दन' में कुछ न कुछ उच्छलन स्वाभाविक है ।

३. यह सामान्य स्पन्द ही विमर्श है ।

४. यह विमर्श ही उच्छलन के कारण 'स्पन्द' है । अवभास का स्वभाव ही विमर्श है ।

५. स्वबोध में स्वात्म का विमर्श बाहर प्रसृत समग्र संसार को स्वात्मसात् कर लेता है । किसी विशेष के अभाव एवं शान्ति के कारण इसे 'सामान्य' कहते हैं । स्पन्दशास्त्र में इसे 'स्पन्द' कहा गया है ।

६. विमर्श संवित्स्पन्द ही तो है ।

७. यही इदमात्मक विमर्श है, यह 'विशेष स्पन्द' है । इसे ही 'औन्मुख्य' भी कहा गया है । 'विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ।'

अभिनवगुप्तपादाचार्य के 'तन्त्रालोक' के श्लोक—

तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥[1]

(अर्थात् 'परबोधमय देवाधिदेव (शिव) की सब कुछ जानने वाली सर्वज्ञानशालिनी परा शक्ति ही 'विमर्श' है') की व्याख्या करते हुए टीकाकार जयरथ 'विवेक' में कहते हैं कि इस उक्ति के अनुसार संवित् शक्ति का यही सर्वोत्तम वैलक्षण्य है कि उसमें समस्त परामर्श शाश्वत रूप में उल्लसित है । उसे ही विमर्श, स्पन्द, हृदय एवं विसर्ग आदि अनन्त संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—

१. इह खलु इदमेव संविदः सवित्त्वं यत् पराम्रष्टृत्वं नाम यस्य विमर्शः 'स्पन्दो' हृदयं विमर्शः—इत्यादयो सहस्रशः व्यपदेशः ।

२. विमर्श संवित् 'स्पन्द' ही है—

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि सामान्येतरसुन्दरः ।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा सङ्कोचप्रविकासवान् ॥

जयरथ 'विवेक' में कहते हैं—स एव हि संवित्स्पन्दोऽन्तः परप्रमात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेषस्वीकारात् सामान्यतया, अतएव प्रविकासवान् अहमिति : 'बाह्ये' मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा ।

सारांश यह कि यही इदमात्मक विमर्श है, यही 'विशेष' नामक 'स्पन्द' है और इसे ही 'औन्मुख्य' भी कहते हैं—यदिदमिति विमर्शनं स विशेषाख्यः स्पन्दस्तत्तदर्थक्रिर्थितातारतम्येन

---

१. अभिनवगुप्तपाद : तन्त्रालोक

प्रवृत्तेः औन्मुख्यसंज्ञितं औन्मुख्यशब्दव्यपदेश्यः स्यादित्यर्थः ।

यह इदमात्मक विशेष विमर्श, जिसे स्पन्द और औन्मुख्य कहा गया है; वस्तुतः विच्छिन्न विमर्श है ।

अहमात्मक परामर्श ही 'स्पन्द' है (अभिनवगुप्तपादाचार्य)[१]—

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं विशेषाख्यं स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ।। (८१)

जयरथ इसकी व्याख्या करते हुए 'विवेक' में कहते हैं कि यह अहमात्मक परामर्श हृदय ही नहीं, स्पन्द भी कहा गया है—[२] न केवलमयमहंपरामर्शः शास्त्रे हृदयैतयैव उक्तो यावत् स्पन्दादिरूपतयापि ।

परावाक् रूप संवित्ति का स्वभाव ही परामर्शात्मक है । 'परामर्श' तो अहमात्मक नाद (ध्वनि) है । यह स्वरसोदित ध्वनि है । यही 'नित्यपरामर्श विमर्श' कहलाता है । यही संवित् का 'स्वातन्त्र्य' है । इसका कोई उच्चारण नहीं कर सकता । इसको कोई रोक भी नहीं सकता । यह स्वयम्भू है । यह प्राणियों के हृदय में स्थित है—

नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ।।[३]

यह शाश्वत रूप में नित्योदित है । वही परासंविद् का सार रहस्य है । यही संविद् का 'हृदय' है । चिति प्रत्यवमर्शात्मक होती है । चिति का शाश्वतोल्लास ही उसका स्वातन्त्र्य है, यही परमात्मा का परमैश्वर्य है । यह महासत्ता की स्फुरणशीलता देश-काल की विशेषताओं से ऊपर है । यही सार है । यही परमेष्ठी का हृदय है । चिति का परामर्शात्मक सदोदित नाद ही मन्त्रवीर्यात्मक हृदय है और यह अहमात्मक परामर्श ही शास्त्रों में 'हृदय' एवं 'स्पन्द' दोनों कहा गया है ।[४]

यह सामान्य स्पन्द ही 'विमर्श' है और यह विमर्श ही उच्छलन के कारण 'स्पन्द' है—

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः ।। १८२ ।।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ।। १८३ ।।[५]

'स्पन्द' आत्मा है । चूँकि यह आत्मा माया के तम-तोम से आच्छन्न होने के कारण प्रकाशित नहीं होती; अतः इसी के प्रकाशनार्थ 'स्पन्दप्रदीपिका' का प्रणयन किया गया— 'स्पन्दपदव्यपदेश्य आत्मा मायातमःस्तोमेन आच्छन्नतया न प्रकाशते, अतः तत्प्रकाशनाय कृतोऽयं ग्रन्थः स्पन्दप्रदीपिका ।'[६]

आचार्य रामकण्ठ 'स्पन्दविवृत्ति' के मंगलाचरण में कहते हैं—

---

१. अभिनवगुप्त—तन्त्रालोक २-४. जयरथ—'विवेक'
५. अभिनवगुप्त : 'तन्त्रालोक' ६. बदरीनाथ शुक्ल

दशा दिक्कालाद्यैरकलितचिदालोकवपुषः
सदा तादृक्स्वात्मानुभवविवृतया विस्फुरति यः ।
निजो धर्मः शम्भोरनुपमचमत्कारसरसः
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति यत् ।।

जो शिव का स्वाभाविक धर्म है, जो उनका चमत्कार-रस है, जिसके द्वारा स्वात्मानुभव विस्फुरित होता है, वह परम शाक्त तत्त्व ही 'स्पन्द' है ।

काश्मीरीय शैवदर्शन के अनुसार परमेश्वर की अपनी निजी नित्य समवायिनी शक्ति ही स्पन्द है । स्पन्द ही परमेश्वर का नित्य स्वभाव है ।

शिवानन्द 'ऋजुविमर्शिनी' टीका (नित्याषोडशिकार्णव की टीका) में कहते हैं—महाप्रकाशरूपाऽनुत्तरशिवात्मनः स्वरूपभूता विमर्शशक्तिः बीजोच्छूनादिव महास्फुरत्ताऽनुभवैकगम्या स्पन्दशक्तिरुज्जृम्भितेत्यर्थः ।

अर्थात् महाप्रकाशरूप अनुत्तर शिवात्मा की स्वरूपभृता शक्ति 'विमर्श शक्ति' है । जिस प्रकार फूले हुए बीज से अङ्कुर फूटते हैं, उसी प्रकार अनुभवैकगम्य महास्फुरत्ता स्पन्दशक्ति उज्जृम्भित हुआ करती है ।

अमृतानन्दयोगी 'सौभाग्यसुधोदय' में कहते हैं

रविशशिसञ्चरणवशाद्यथैव विकसन्ति सन्ततं तिथयः ।
तन्मयसर्गस्पन्दादुन्मिषितास्ते स्वरास्तदात्मानः ।।
यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया निखिलमपि जगत्स्त्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमं शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ।।

'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व में चरम सत्य, अद्वैत में विश्वमय विश्वातीत एवं दोनों से परे तत्त्व में, नित्य आत्मस्वरूप महासत्ता में सहसा एक 'स्पन्द' सा उठता है; किन्तु इस स्पन्दन का उदय होने पर भी महासत्ता की निस्पन्दता ज्यों की त्यों बनी रहती है ।

यह 'स्पन्द' का उदय वस्तुतः प्रणव का ही उल्लास है अर्थात् परब्रह्म सत्ता में शब्दब्रह्म का आविर्भाव है । यह विशुद्ध सत्त्वमय महामाया का उन्मेष है, जिसके प्रभाव से परब्रह्म के स्वरूप का सन्धान, ज्ञान और साक्षात्कार होता है । यह नित्यसिद्ध अवस्था है । अविभक्तस्वरूप, भावातीत, गुणातीत एवं निस्पन्द है ।

स्पन्दतत्त्व और सुप्रबुद्धता—सुप्रबुद्धता के लिए स्पन्दतत्त्व का समावेश आवश्यक है । स्पन्दतत्त्व में समावेश के साधन हैं—निमीलन समाधि एवं उन्मीलन समाधि । तृतीय निष्यन्द के सोलहवें श्लोक में कहा गया है—

स्पन्दतत्त्वस्यैव बन्धमोक्षोभयपदाक्रान्तिरुक्ता ।[१]

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—अहमात्मक परामर्श 'हृदय' एवं 'स्पन्द' दोनों कहा जाता है—'न केवलं अहं परामर्शः शास्त्रे हृदयतैव उक्तो, यावत स्पन्दादिरूपतयापि, इत्याह—

---

१. सुप्रबुद्ध (Perfectly enlightened) को ही स्पन्दतत्त्व की प्रत्यभिज्ञा हो पाती है—'सुप्रबुद्धस्य सततं स्पन्दतत्त्वोपलब्धिः ।' इसलिए एतदर्थ सतत उद्योग आवश्यक है—'अतः सततमुद्युक्तः ।'

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तं भावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥[१]

स्पन्द, हृदय, ऊर्मि एवं विमर्श—'हृदय' बोध का ही पर्याय है (हृदयं बोधपर्यायः)। इसमें (स्वबोध में) स्वात्मा का विमर्श बाहर फैले (द्रावित) समस्त जगत् को स्वात्मसात् कर लेता है। संसार की उत्पत्ति की आदिम वेला से संहारपर्यन्त यह शाश्वत रूप से उच्छलित है। किसी विशेष के अभाव एवं शान्ति के कारण इसे 'सामान्य' कहते हैं। स्पन्दशास्त्र में इसे 'स्पन्द' कहते हैं—'सामान्यशब्दवाच्यः स्पन्दशास्त्रौ स्पन्दः कथ्यते ।' स्पन्दन में कुछ उच्छलन 'स्पन्द' कहलाता है (किञ्चिच्चलनात्मकोच्छलत्ता 'स्पन्द' शब्दाभिधेयतया उच्यते)। यह स्वाभाविक है। यह सामान्य स्पन्द ही 'विमर्श' है। यह विमर्श ही उच्छलन के कारण 'स्पन्द' है।[२]

बोध का उच्छलन उसका स्वाभाविक स्फुरण है। यह उसका स्वात्मप्रकाशन मात्र है। इसे ही स्पन्दशास्त्र में 'स्पन्द' कहते हैं और श्रीमदूर्मिकीलशास्त्र में बोध महासिन्धु की तरङ्ग के समान होने के कारण इसे 'उर्मि' कहते हैं। इसके विना संविद् नहीं कही जा सकती सबका परामर्श संविद् का स्वभाव है। अवभास के स्वभाव को ही विमर्श कहते हैं। विमर्श चेतन एवं अचेतन समस्त चराचर जगत् का प्राण है। यही सबका सार जीवस्थानीय है।

'समना' से परे 'उन्मना' के अन्तिम छोर पर 'ऊर्ध्वकुण्डलिनी' के अधिष्ठान में 'विसर्ग' का साम्राज्य है। उसमें शाश्वत 'स्पन्द' का उच्छलन होता रहता है। परबोधमय देवाधिदेव की सब कुछ जानने वाली, सर्वज्ञानशालिनी पराशक्ति ही विमर्श है—

तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥

संवित् शक्ति की यही सर्वोच्च विलक्षणता है कि उसमें सर्वपरामर्श शाश्वत उल्लसित है। उसे ही विमर्श, स्पन्द, हृदय एवं विसर्ग आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है—'इह खलु इदमेव संविदः संवित्वं यत् पराम्रष्टृत्वं नाम, यस्य—विमर्शः, स्पन्दो, हृदय, विसर्ग इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः ।[३] संवित् की अपेक्षा विमर्श को ही विश्रान्तिस्थान के रूप में प्रधानता दी जाती है। विमर्श संवित् स्पन्द ही है। यह परप्रमाता (शिव) में सामान्य रूप से एवं (माया से पृथ्वी तक) भेदभूमि में विशेष रूप से शाश्वत रूप में उल्लसित है।

इदमात्मक विमर्श ही 'विशेष' नामक स्पन्द है। इसे ही 'औन्मुख्य' भी कहते हैं—[४]

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥[५]

यह इदमात्मक विशेष विमर्श, जिसे 'स्पन्द' और 'औन्मुख्य' कहा जाता है, विच्छिन्न

१. तन्त्रालोक की टीका—'विवेक' जयरथ ।
२. विवेक—जयरथ (४।१८२-१८३)
३. विवेक—जयरथ
४. ५ विवेक ५.८१
५. तन्त्रालोक—अभिनवगुप्त

यह इदमात्मक विशेष विमर्श, जिसे 'स्पन्द' और 'औन्मुख्य' कहा जाता है, विच्छिन्न विमर्श है। इदं विमर्श की उपयोगिता मात्र इतनी है कि इसमें 'सोऽहं' विमर्श बना रहे, स्वात्मविश्रान्ति हो सके।[१] अन्तर्लक्ष्य योगी बाह्य औन्मुख्य मे भी अहमात्मक विमर्श में विश्राम करता है।

बीज शब्द वाच्यार्थहीन होते हैं; किन्तु स्वात्मविश्रान्त होने के कारण इनमें संविद् का स्पन्द अन्तर्मुखी रहता है। उनका स्वात्मविस्फार शाश्वत रहता है। शून्यप्रमाता अभिलाषा (मल) के कारण 'आणव मल' से ग्रस्त हो जाता है और भेदभूमि पर गिर पड़ता है। उसमें स्वात्मविमर्श का संस्कार रहता है, अत: विमर्श के कारण उसमे उच्छलन प्रारम्भ हो जाता है। पतन एवं उच्छलन दोनों में ऊर्मियों का उल्लास ही 'प्राणस्पन्दोर्मि' कहलाता है—[२]

स एव स्वात्मा मेयोऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुख: ।
पतन्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञित: ॥[३]

प्रथमत: संवित् 'प्राण' रूप में परिणत हुआ 'तेनाहु: किल संवित्प्राणे परिणता तथा'[४] आन्तर उद्योग की इच्छा प्राणवृत्ति में सदैव रहती है। इसे ही स्पन्द, स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृदय एवं प्रतिभा आदि कहते हैं—

इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्द: स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो ह्यत्प्रतिभा मता ॥[५]

प्राण के 'स्पन्द' को ही यत्न कहते हैं। इस 'स्पन्द' से शरीर में अवयवों में गति शीलता एवं स्फूर्ति बनी रहती है—'यत्न: इति प्राणीय: स्पन्द:।' स्वारसिक प्राणीय स्पन्द कन्द से उत्पन्न होता है; किन्तु अस्फुट रहता है। 'संवेद्य स्वारसिक यत्न जीवनात्मक स्पन्द से ही सुन्दर प्राणरूप बनता है।

परमेश्वर शिव की तीन शक्तियों (वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री) में से कोई एक आत्मा एवं प्राण—सभी मिलकर प्राणस्पन्द को जन्म देते हैं—प्रभुशक्तिरात्मा प्राणश्चेति त्रय: सम्मिलिता: प्राणस्पन्दं विदधति।[६]

प्राण में 'स्पन्द' होता है। स्पन्द से संयोग-विभाग भी अपने-आप होते हैं। प्राण-स्पन्द के अभाव में इसका भी अभाव हो जाता है। बाहर जो भी 'स्पन्द' है, वह संवित् तत्त्व का उल्लास है। सृष्टि एवं संहार भी एक प्रकार का 'स्पन्द' है। 'स्पन्द' अनन्त है—

अत: संवित्प्रतिष्ठानौ यतो विश्वलयोदयौ ।
शक्त्यन्तेऽध्वनि तत्स्पन्दासंख्याता वास्तवी तत:॥

'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि विश्वात्मा परमात्मा की स्वात्मप्रतिष्ठारूपा शक्ति 'हृदय' कहलाती है और उसे ही चिति, प्रत्यवमर्श, आत्मा, सार, परावाक्, स्वरसोदिता, स्वातन्त्र्य एवं ऐश्वर्य आदि कहते हैं—

---

१. तन्त्रालोक (५.८३)
२. विवेक—जयरथ
३. तन्त्रालोक—अभिनवगुप्तपाद
४. विवेक : जयरथ (६.१३)
५. तन्त्रालोक—(६.१३)
६. जयरथ—विवेक (६.५२)

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।।[१]

प्रकाश की मुख्य आत्मा 'प्रत्यवमर्श' है (प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शः) ।[२]

स्पन्द के विभिन्न पक्ष

(क). युगपत् उन्मेष-निमेषमयी इच्छाशक्ति के रूप में—आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दनिर्णय में कहा है—'सा चैषा स्पन्दशक्तिः युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी ।' भगवान् शिव की अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु मुख्यतः पाँच शक्तियाँ हैं— अस्ति संविदात्मा महेश्वरः । १. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ।

२. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः । ३. तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः ।
४. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः । ५. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।

इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते ।[३]

इनमें स्वातन्त्र्य (आनन्दशक्ति) एवं इच्छाशक्ति (चमत्कार) का विशेष महत्त्व है । क्षेमराज इसी इच्छाशक्ति की अपर आख्या 'स्पन्द' के रूप में स्वीकार करते हैं । भगवान् परमशिव की स्वतन्त्र इच्छा स्वयं अविभक्त रहते हुए भी अपने से अव्यतिरिक्त अशेष सृष्टि-संहार आदि रूपों को दर्पणनगरवत् अपने अन्तर्गत ही व्यतिरिक्तवत् (भिन्नवत्) प्रकाशित करती है । वे अपने अन्तर्गत एक साथ उन्मेष (सृष्टि) एवं निमेष (प्रलय) करने वाली इस पारमेश्वरी इच्छाशक्ति से समवेत हैं और उनकी यही शक्ति 'स्पन्द' है ।

यह शक्ति एक होकर भी कार्य-वैभिन्न्य के उद्देश्य से अनेक उपाधियों को धारण करके नानात्मक बन जाती है; किन्तु फिर भी अद्वयरूपा ही रहती है । उसकी यह अघटनघटनापटीयसी स्वातन्त्र्य शक्ति ही स्वातन्त्र्यस्वभाव शिव को स्पन्दवान (स्वतन्त्र) बनाती है । यह परमशिव की 'स्पन्दशक्ति' अद्वैत होकर भी अनेकरूप बन जाती है । इसकी असंख्यरूपता के कारण ही शिव की अनन्त शक्तियाँ कही गई हैं—शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः ।[४]

परमात्मा की प्रकाशरूपता ही 'चित् शक्ति' है । प्रकाशरूपता परमशिव की शुद्ध संविद्रूपता है । अपने इसी प्रकाशस्वरूप द्वारा वह सर्वत्र प्रकाशित होता है और इसी प्रकाश से समस्त विश्व को प्रकाशित करता है । आत्मा की यह प्रकाशरूपता सर्वव्यापक है । प्रकाशस्वरूप आत्मा का इच्छास्फुरण जगत् भी प्रकाशस्वरूप है—'प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो'[५] यदि आत्मा (परमशिव) अप्रकाश हो जाय तब तो समस्त विश्व ही अन्धा हो जाय—'प्रकाशमानता स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः ।' प्रकाशरूपता विमर्शरूपता

---

१. उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.४४-४५)
२. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (उत्पलदेव)
३. भट्टवामदेवाचार्य : जन्ममरणविचारः
४. अभिनवगुप्त : तन्त्रसार
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग (१-१.५.३)

से अनुप्राणित है। प्रकाशरूपता एवं विमर्शरूपता अग्नि एवं दाहात्मकता की भाँति भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। 'विमर्श' चिदात्मा के प्रकाशस्वरूपता की प्रतीति है। यह विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है। निरपेक्ष आत्म-पूर्णत्व की प्रतीति ही उसका 'आनन्द' है—'स एव परानपेक्षः पूर्णत्वानन्दरूपो'। स्वातन्त्र्य ही परमशिव का आनन्द है—'स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।'[१] चिदंश शिवभाव है और आनन्दांश शक्तिभाव है। इन दोनों का सामरस्य ही परमभाव है।

स्वात्मानन्द-विश्रान्त परमशिव का स्वरूप-परामर्शरूप चमत्कार या स्वातन्त्र्यस्वभाव अपने को विश्वात्मभाव से उल्लसित करने हेतु सृजन हेतु उन्मुखवत् होता है तब उसकी सूक्ष्माकांक्षा की उन्मुखता को 'औन्मुख्य' कहा जाता है—

यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया।
विचित्ररचना नानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः॥

अभिलाषा की सृजन-शक्ति का प्रवृत्त्यारम्भ एक कर्म है। 'औन्मुख्य' इस कर्म से अवच्छिन्न है, किन्तु आनन्द शक्ति में प्रवृत्ति-आरम्भरूप कर्म नही रहता। यही दोनों में भेद है—'कर्मावच्छिन्ना निर्वृत्तिरौन्मुख्यम्, अनवच्छिन्ना निवृत्तिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्।'[२] औन्मुख्य का उत्तरवर्ती भाग ही 'इच्छाशक्ति' है। निस्तरङ्ग शान्त जल की अतितरंगित अवस्था की ओर उन्मुख होने पर जिस प्रकार प्रथमतः उसमें एक अति सूक्ष्म कम्पन आविर्भूत होता है, उसी प्रकार स्वात्म-विश्रान्त पूर्ण संवित् में सिसृक्षा-हेतु एक सूक्ष्माकांक्षा आविर्भूत होती है, जो कि संवित् की आनन्दोच्छलित स्वभावक्रीड़ामात्र है, वह (सूक्ष्माकांक्षा) सिसृक्षारम्भ 'औन्मुख्य' कहलाता है, जो कि इच्छा का प्रथम भाग है—'तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या। तस्य हि योऽसौ उत्तरो भागः सेच्छा व्यवस्थिता।' परमात्मा का विश्व-चिकीर्षारूप इच्छात्मक परामर्श ही 'इच्छाशक्ति' है।

(ख) स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में—काश्मीरीय शैवागम के अनुसार शिव से अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ या स्वतन्त्र सत्ता का अस्तित्व नहीं है। वही परमशिव विभिन्न रूपों से विस्फुरित हो रहा है। वह नित्य प्रकाशविमर्शस्वरूप रहता है। प्रकाशस्वरूप का प्राधान्य उसे 'विश्वमय' एवं विमर्शस्वरूप का प्राधान्य 'विश्वोत्तीर्ण' बना देता है।

स्पन्दशास्त्र में परमशिव की इसी स्वभावरूपात्मिका स्वातन्त्र्य शक्ति को 'स्पन्द' संज्ञा दी गई है—एष एव च विमर्शः—चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते।'[३] भगवान् परमशिव की किञ्चिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता।'[४]

यह स्पन्द निश्चल एवं शान्त परमशिव के भीतर शाश्वत एवं अव्यतिरिक्त समरसाभावापन्न एक चाञ्चल्य जैसी कोई तरङ्ग है, जो कि शिव के प्रकाशरूप की विमर्शरूपता है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भाग-१)
२. शिवदृष्टि (१.७-८) सोमानन्द
३. शिवदृष्टिवृत्ति
४. शिवदृष्टिवृत्ति

किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरिषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥[१]

परमेश्वर की स्पन्दरूपा उमंग उसकी अपनी परमेश्वरता के विलास का प्रत्यवमर्श (बोध) है । उसकी परिपूर्णता का यह प्रत्यवमर्श (अहन्ता परामर्श) ही उसका पूर्ण आनन्द है । उसका आनन्द-स्पन्दन ही विश्व बन जाता है ।

(ग) स्वात्मानन्द-स्पन्द से विश्वोल्लासन—स्वात्मानन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द के अतिशय से स्पन्दमान (छलकता हुआ) रहता है और उसका यह आनन्द-स्पन्दन (छलकना) ही 'विश्व' बन जाता है । विश्वोन्मीलन की ओर उन्मुख परमेश्वर की आद्या इच्छावस्था का पारिभाषिक नाम 'प्रथम स्पन्द' है । स्पन्द स्वातन्त्र्य से प्रकाशरूप परमेश्वर का विभिन्न रूपों में प्रकाशन हुआ करता है । यह स्पन्द ही परमेश्वर की इच्छा है, जो कि वेद्योन्मुखी न होकर स्वरूपोन्मुखी है; क्योंकि परिपूर्ण परमेश्वर से भिन्न कोई वेद्यभाव नहीं है । स्पन्दरूपात्मक अपनी इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से ही परमेश्वर अपने पूर्ण शिवभाव के भीतर ही अभिन्न रूप से असंख्य विश्वों का उल्लासन करता हुआ जीवभाव का भी अवभासन करता है ।

अद्वैत वेदान्त भले ही अपने को औपनिषद दर्शन का अनुवर्ती मानता हो, किन्तु उसका निष्क्रियतावादी सिद्धान्त उपनिषत्-सम्मत नहीं है । उपनिषदों में 'स्पन्द' (क्रिया) की अवधारणा विद्यमान है । सृष्टि को ब्रह्म के आनन्द का स्फुरण कहा गया है और आनन्द से ही सृष्टि होती है—'आनन्दात् ह एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते ।' हाँ; उपनिषदों में स्पन्द (क्रिया) को दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में विकसित नहीं किया गया है । यह कार्य तन्त्र (आगम) में किया गया है । इस दृष्टि से तन्त्र वेद (उपनिषद्) के पूरक हैं । एक तरह से तन्त्र ने वेदों के अपूर्ण कार्य को पूरा किया । वेद और तन्त्र दोनों मिलकर एक पूर्ण दर्शन का प्रस्तुतीकरण करते हैं और दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का मूलाधार प्रस्तुत करते हैं ।

'स्पन्द' मुख्यतः द्व्यर्थक है—१. किञ्चित् चलत्ता (Slight shake) २. स्वातन्त्र्यशक्ति (Power of freedom) ।

'स्पन्दनिर्णय' में स्वरूपस्पन्द-सहजविद्योदय स्पन्द एवं विभूतिस्पन्द के रूप में स्पन्द-वर्गीकरण करके क्षेमराज ने कहा कि—'त्रिःनिष्यन्दमिदं स्पन्दशास्त्रम्' ।

स्पन्दसिद्धान्त की दो अवस्थायें

इसकी दो अवस्थायें निम्नांकित हैं—विषयी एवं विषय (पदार्थ) अर्थात् इसके दो पक्ष हैं—

विषयी	**विषय (पदार्थ)**
कर्ता	कार्य
ज्ञाता	ज्ञेय

१. परा प्रावेशिका

ध्याता	ध्येय
स्रष्टा	सृष्टि
अनुभविता	अनुभूयमान पदार्थ
परमात्मा	जगत्
आद्यसिसृक्षा-सङ्कल्प (काम)	काम्य पदार्थ
वेदक	वेद्य

एक विद्वान् ने इसकी इन शब्दों में व्याख्या की है—Here in the doctrine of the Spanda principle the couple of states is styled—1. Subjectivity, 2. Objectivity. Their differentiation is found purely in the use of words. The two infact represent the unitary principle of the form of Shankar, who is free and full of light. This principle of Spanda, being pervaded by action identical with light is not separate from the existence of the doer, agentship. When manifest as identical with that action, it assumes the form of the category, the world, the body and their absence etc, and is called the 'object'. Because casuality cannot be attributed to anything else than that principle.

The objectiveness of this world consists in this that the principle of Spanda brings into being like the reflections in a mirror and seperate from nature of consciousness such endless manifestations as body, blue etc. by gradual process of uniting and separating such emanations as place, time etc. although there emanations are not separate from consciousness. Of the two (objectivity and subjectivity) the former is perishable and the latter, as identical with the nature of consciousness, is deathless. Even at both the emanation and absorption of the world, the reality does not deviate from the real nature.

स्पन्द की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ, जो कि गुणों के साथ प्रारब्ध होती हैं एवं जिनकी सत्ता Genenic Spandatattva पर आधृत हैं, ज्ञाता का विरोध कभी नहीं करतीं—

गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्या परिपन्थिनः ॥

गुणादि स्पन्द : 'विशेष स्पन्द' । (गुण = सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) । 'परिपन्थी' = आच्छादक, स्वस्वभावाच्छादक) ।

सत्त्व, रज एवं तम—ये तीन गुण और महान्, अहङ्कार आदि के जो स्पन्द हैं, उन्हीं के निष्यन्द (प्रवाह) सुख, दुःख, मोह आदि की तरङ्गें हैं । ये सामान्य स्पन्द के अन्तर्लीन अनन्त विशेषों का आलम्बन प्राप्त करके ही सत्तावान होते हैं । तत्त्वज्ञ योगी के स्वरूप में उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता । वे योगी के विरोधी नहीं हैं; प्रत्युत स्वरूप के विलास

में उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता । वे योगी के विरोधी नहीं हैं; प्रत्युत स्वरूप के विलास हैं । जैसे पुष्प का रस उसके स्वभाव का आच्छादक (परिपन्थी) नहीं है, उसी प्रकार स्पन्द के निष्यन्द पङ्कज के मकरन्द के समान ही हैं । एक सिद्ध का कथन है—

'प्रकाश के महल में प्रकाश्य वस्तु नहीं दीख पड़ती । अनन्त संवित् में संवेद्य भी संविद्रूप ही दीख पड़ता है ।'[१]

कारिकाकार ने ठीक ही कहा है—

> गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
> लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्या परिपन्थिनः ।।

ये ही स्पन्द-निष्यन्द मूढ़ पुरुषों के लिए चित्स्वरूप के आच्छादक होने के कारण आच्छादक बन जाते हैं; क्योंकि मूढ़ पुरुष अपने को गुणात्मक ही देखता है; शुद्ध बुद्ध नहीं (कारिका २०)।[२]

स्पन्द के निष्यन्द अज्ञानी प्राणी को सदैव पतित बनाने के लिए उद्यत रहते हैं; अतः अपने विकस्वर स्वभाव से स्पन्दतत्त्व का विवेक करने हेतु सर्वदा उद्योग करते रहना चाहिए। अपना स्वरूप उद्योक्ता है, विकस्वर है और शिव है । इसी से स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है । शिवसूत्रों में 'उद्योग' को ही शिव कहा गया है ।[३]

शक्ति और स्पन्द

तन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है—परमतत्त्व (शिव) में शक्ति की अवधारणा । शिव चैतन्य तत्त्व है । उस चैतन्य तत्त्व में ज्ञान तो है ही; साथ ही साथ क्रिया भी है । शिव (परम चैतन्य) सक्रिय (Dynamic) है और उसकी सक्रियता का नाम ही है—'शक्ति' ।

शिव में जो क्रियाशक्ति है, उसी का नाम है—'शक्ति' । शिव की सक्रियता का नाम है—'शक्ति' । क्रिया एवं कर्म में अर्थों की जो विभिन्नता है, वह यह है कि—'क्रिया' । किसी अपूर्णता का द्योतक नहीं है; किन्तु 'कर्म' है । यह 'क्रिया' स्वरूप के आनन्द का स्वाभाविक स्फुरण है । शिव किसी कमी की पूर्ति के लिए क्रिया नहीं करता; प्रत्युत उसके आनन्द स्पन्दन के रूप में क्रिया उत्थित होती है । इसीलिए उस 'क्रिया' को 'स्पन्द' कहते हैं ।

'स्पन्द' में तीन बातें एक साथ हैं—

(क) एक तो इसमें हमें आयास नहीं करना पड़ता । यह आयासरहित (Effortless) स्वाभाविक क्रिया है ।

(ख) इसमें आनन्दोदय एवं आनन्दरूपता है, इसमें आनन्द एवं आनन्द का स्फुरण है ।

---

१. उत्पलाचार्य : स्पन्दप्रदीपिका
२. उत्पलाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका (का० २०)
३. स्पन्दप्रदीपिका (का० २१)

(ग) इसमें स्वातन्त्र्य (Freedom) होता है, हम इसमें परवशता का अनुभव नहीं करते । प्रत्युत हमारे स्वातन्त्र्य में क्रिया उत्थित होती है । दार्शनिक भाषा में जिसे 'कर्म' कहते हैं, जो बन्धन का कारण है, वह किसी अभाव या उद्देश्य (Motive) की पूर्ति के लिए किया जाता है और उसमें प्रयत्न (Effort) करना पड़ता है । स्पष्ट है कि 'क्रिया' कर्म से तत्त्वतः भिन्न है ।

एक शिशु जब आनन्दपूर्वक कोई खेल खेलता है या हम आनन्द मे नृत्य करने लगते हैं या कवि आनन्द या भावमग्नता में काव्य-सृजन करता है तो यह 'कर्म' नहीं क्रिया है—सहज क्रिया है—इसे हम 'स्पन्द' कहते हैं; क्योंकि इसमें 'स्पन्द' की झलक मिलती है ।

अद्वैत वेदान्त एवं त्रिक दर्शन (क्रिया एवं कर्म)

आचार्य शङ्कर का 'परमतत्त्व' (ब्रह्म) केवल ज्ञानरूप है, क्रियारूप नहीं । वह निष्क्रिय है । उसमें क्रिया नहीं है । वेदान्तियों की दृष्टि में ब्रह्म में निष्क्रियता मानने का कारण यह है कि ब्रह्म में क्रिया मानने से ब्रह्म को अपूर्ण मानना पड़ेगा । वेदान्ती समस्त क्रियाओं को 'कर्म' मानते हैं ।

जिसे हम अपनी किसी कमी, किसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से सम्पादित करते हैं या सोद्देश्य निष्पादित करते हैं, वह हमारी अपूर्णता का द्योतक है और 'कर्म' कहलाता है । क्रिया ('स्पन्द') सहज कर्म है, निरुद्देश्य सञ्चालित होता है, आनन्दोच्छलन का क्रियान्वयन है, सहज स्फुरण का क्रियात्मक रूपायन है ।

अद्वैतवादी जीवनानुभवों में उपलब्ध 'स्पन्द' (सहज क्रिया) की ओर अपना ध्यान आकृष्ट नहीं करते, शुद्ध क्रिया की सम्भावना पर चिन्तन एवं विचार नहीं करते; इसलिए वे अपूर्णता की आशङ्का से बचने के लिए ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हैं । वे यह मान लेते हैं कि ब्रह्म सृष्टि कर ही नहीं सकता । हम अविद्या के कारण भ्रमवश रज्जु में सर्प की भाँति ब्रह्म में सृष्टि को देखते हैं । जगत् ब्रह्म के ऊपर (रज्जु पर सर्प की भाँति) आक्षिप्त भ्रम है, स्वयं ब्रह्म तो रज्जु की भाँति तटस्थ, निष्क्रिय एवं उदासीन है ।

तन्त्र में परमशिव की जो 'इच्छा' है, वही उसका 'ज्ञान' माना जाता है और उसका जो ज्ञान है वही उसकी 'क्रिया' मानी जाती है—

तदिच्छा तावती ज्ञानं तावत्तावत्क्रिया हि सा ।
सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ।।[१]

'माहेश्वरतन्त्र' (नारदपाञ्चरात्र) ज्ञानखण्ड, प्रथम पटल में कहा गया है कि परमात्मा में कोई इच्छा नहीं होती । वह निर्गुण है, प्रकृति से परे है; लेकिन फिर भी वह क्रियावान है । जिस प्रकार बालक विना किसी उद्देश्य के मात्र अपनी आनन्दानुभूति के लिए खेल खेलता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी ब्रह्माण्डों की सृष्टि करता है—

न तस्येच्छा न कर्तव्या निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
तथापि बालवत् क्रीडन् कोटि ब्रह्माण्डसंहतीः ।।

---

१. मालिनीविजय

सृजते संहरत्येष कटाक्षाक्षेपमात्रतः ।
चिन्मात्रः परमः शुद्धः कूटस्थः पुरुषः परः ॥[1]

'माहेश्वरतन्त्र' (ज्ञानखण्ड, प्रथम पटल) में कहा गया है कि ब्रह्म क्रिया तो करता है, किन्तु वह कोई कर्म नहीं करता; बल्कि 'बाललीला-विनोद' की भाँति निर्विकार, निरीह एवं निष्क्रिय ब्रह्म अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि करता है—

चिद्रूपं ब्रह्म परमं नित्यमक्षरमव्ययम् ।
बाललीलाविनोदेन कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥

सृजते संहरत्येव निर्विकारं तथापि यत् ।[2]
अक्षरात्मा तु भगवान् या लीला सृजते प्रभुः ॥[3]

एवं विश्वमयं चित्रं आत्मभित्तिमधिष्ठितम् ।
न पृथक् देवि कुत्रापि पृथक् जानन्त्यपण्डिताः ॥[4]

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः ॥[5]

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म या परमेश्वर अकर्मक होता हुआ भी क्रियावान है । उसकी क्रिया—

१. किसी अभाव के पूर्त्यर्थ नहीं है । किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं है ।

२. यह सहज, सहजात एवं स्वाभाविक क्रिया है ।

३. यह आनन्दोल्लासोत्पन्न एक आनन्दक्रीड़ा है, लीला है, चित्रकार का चित्र-निर्माण है, आत्मभित्ति पर विश्वरूप आत्मस्फुरण के चित्र का अङ्कन है । यह बालक के द्वारा निरुद्देश्य खेली जाने वाली आनन्द-क्रीड़ा है । यह कर्म प्रतीत होते हुए भी कर्म नहीं है, प्रत्युत सहज क्रिया है, आनन्दोल्लसित आत्म क्रीड़ा है, जो कि किसी भी उद्देश्य के पूर्त्यर्थ या अभाव-पूर्ति के लिए कभी निष्पादित नहीं की जाती ।

४. यह निर्विकल्प, निष्प्रयास, निरुद्देश्य, निरीह क्रिया है और इसका प्रवर्तन आनन्दोल्लासजन्य है । यह क्रिया भी 'स्पन्द' है ।

५. 'स्पन्द' शुद्धात्मा शङ्कर एवं शिव है—स्पन्दः सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्मा शङ्करः शिवः ।

६. 'स्पन्द' आत्मबल, शक्तीश एवं चिद्रूप है—स चात्मबलशक्तीशश्चिद्रूपः स्पन्दसंज्ञकः ।

७. 'स्पन्द' आद्य सिसृक्षा से होने वाला स्पन्दन है—'...........जगत्स्रष्टुं । पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ।'—यही स्पन्द शिवतत्त्व है ।

---

१. नारदपञ्च (माहेश्वरतन्त्र) ज्ञानखण्ड
२. माहेश्वरतन्त्र (७ पटल)
३-४. माहेश्वरतन्त्र (८ पटल)
५. बोधपञ्चदशिका

मन्त्र और 'स्पन्द' का अन्त:सम्बन्ध

'मन्त्र' स्पन्दसारात्मक है। मन्त्र साररूप में स्पन्द के साथ अभिन्न है। इसीलिए कहा गया है—

दृग्देवी मन्त्रवीर्या सततसमुदिता शब्दराश्यात्मपूर्णा।
पूर्णाहन्ता अनन्तस्फुरत्ता सा शाङ्करी स्पन्दशक्ति: जगति जयति॥

कारिकाकार कहते हैं—

तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: सर्वज्ञबलशालिन: ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिन: ॥

अर्थात् उस सुषुम्ना के बल को प्राप्त करके सर्वज्ञतादि समस्त शक्ति वाले मन्त्र साधक के अधिकार में आ जाते हैं। जैसे शरीर के अवयव हस्त-पादादिक के द्वारा व्यक्ति स्वेच्छानुसार अपने कार्यों का निष्पादन करता है (अर्थात् उन्हें जो आदेश दिया जाता है, उसे वे अवश्य करते हैं), उसी प्रकार व्यक्ति सर्वज्ञता आदि शक्तियों से सम्पन्न मन्त्रों को अपने अधिकार में लेकर उनके द्वारा यथावाञ्छित समस्त कार्य निष्पादित कराया करते हैं।[1]

'मन्त्र' यदि पशुभाव में स्थित हैं तो वे मात्र 'वर्ण' हैं, 'मन्त्र' नहीं है। इन वर्णात्मक (अर्थात् चैतन्य-शून्य, शक्तिपातरहित एवं शब्दाक्षरमात्र) मन्त्रों की उपासना जब तक की जाती है तब तक साधक मात्र 'पशुभाव' में रहता है। अर्थात् 'पशु' (पशुत्वारूढ़ साधक) का मन्त्र पशुभाव का मन्त्र है और वर्णात्मक है; न कि चैतन्याधिष्ठित देवतास्वरूप। जब यह सुषुम्णा नाड़ी से उच्चरित होने लगता है तब चैतन्यानुप्राणित एवं देवस्वरूप बन जाता है और उस समय वह 'पशुपति' बनने के कारण 'पतिभाव' में स्थित हो जाता है—

पशुभावे स्थिता मन्त्रा: केवला वर्णरूपिण: ।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिता: पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ॥[2]

इस प्रकार 'मन्त्र' की दो दशायें हैं—पशुभाव एवं पतिभाव। सुषुम्णा नाड़ी में एक बार भी मन्त्र का उच्चारण होने से वह एक लक्ष जप से भी अधिक फल प्रदान करता है।[3]

१. वैखरी वाणी से उच्चरित होने पर : द्वैतभावारूढ़: मन्त्र।
२. मध्यमा वाणी से उच्चरित होने पर : द्वैताद्वैतभावारूढ़ : मन्त्रेश्वर।
३. पश्यन्ती वाणी से उच्चरित होने पर : अद्वैतभावारूढ़ : मन्त्रमहेश्वर।

सुषुम्णा-विकास में दृढ़विमर्श समावेश होने पर शब्दतन्मात्रा के रूप में प्रस्फुरित मन्त्र 'मन्त्रमहेश्वर' कहलाता है।

यही मन्त्र साधक को शिवतत्त्व प्रदान करके शान्त निरञ्जनरूप साधक के चित्त के साथ निष्कल रूप में परिणत हो जाता है; अत: मन्त्र 'शिवधर्मी' कहे जाते हैं—

---

१. स्पन्दकारिका (२६) २. हंसपारमेश्वर तन्त्र
३. जयातन्त्र

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥

सुषुम्णा नाड़ी में एक बार भी मन्त्रोच्चारण ('मन्त्रनाथ' का जप) होने पर एक लक्ष जप से भी अधिक फल होता है—

एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च ।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसंख्याधिकं मुने ॥

इन्द्रियों का संयम करके अन्तर में नादोच्चारण करना चाहिए; क्योंकि यही वास्तविक 'जप' है; बाह्य जप वास्तविक मन्त्र-जप नहीं है—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेद् नादमन्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तः न तु बाह्यजपो जपः ॥

निरञ्जनतत्त्वोदय : 'प्राणापान' की प्रशान्ति → आत्मदर्शन ।

भोगमोक्ष प्रदीपिका : १. हृदय में सोम-सूर्य का सञ्चार → कामसिद्धि । २. हृदय में सोम-सूर्य की प्रशान्ति → निरञ्जन तत्त्व की प्राप्ति । इसी अवस्था में सहज मन्त्र का उदय होता है—

कामाख्ये विषतत्त्वे निरञ्जनाह्वे क्रमाच्च सिद्धिः स्यात् ।
सूर्ये सोमे हृदयात्तयोः शमाच्चेति शास्त्रसर्वस्वम् ॥

—यही शास्त्र का सर्वस्व है ।

सभी शक्तियों का मूल कारण स्पन्दरूप भगवान् है—स्पन्दरूपो भगवान् । (स्पन्दप्रदीपिका) ।

जिसमें आत्मबल का सञ्चार हो जाता है, उसके द्वारा उच्चारित 'मन्त्र' पुस्तक के पृष्ठों पर लिखे मन्त्र नहीं होते; प्रत्युत वे अमोघ वीर्य (शक्ति) बन जाते हैं । इसे 'शिवसूत्र' के 'शाक्तोपाय' में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—इदानीं शाक्तोपायः प्रदर्श्यते । तत्र 'शक्तिः' मन्त्रवीर्यस्फाररूपा इति प्रथमोन्मेषान्तसूचिततत्स्वरूपविवेचनपुरःसरमुन्मेषान्तरमारभमाणो मन्त्रस्वरूपं तावत् निरूपयति—'चित्तं मन्त्रः' (१.२) ।

'मन्त्र' क्या है? आचार्य क्षेमराज कहते हैं—चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं, पूर्णस्फुरत्ता सतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मन्त्र्यते गुप्तम्, अन्तर अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा 'मन्त्रः' । अतएव च परस्फुरत्तात्मकमनन-धर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते ।

'मन्त्र' के दो विशेष लक्षण हैं—मनन एवं त्राण ।

'परस्फुरत्तात्मक मननधर्मात्मता' तथा 'भेदमय संसार की प्रशमनात्मक त्राणधर्मता'—ये ही 'मन्त्र' के दो प्रधान पक्ष हैं । आराधक का चित्त ही 'मन्त्र' है । वर्णों का विचित्र संघट्टन मात्र 'मन्त्र' नहीं है—'न तु विचित्रवर्णसंघट्टनामात्रकम् ।' मन्त्र क्या है? मन्त्र का देवता विमर्शपरत्व के द्वारा उसके साथ सामरस्य प्राप्त करके जब चित्तारूढ़ हो जाता है, तब आराधक

का चित्त भी मन्त्र कहलाता है—'मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः' (शिवसूत्रविमर्शिनी)।

इच्छाशक्ति और स्पन्द

विश्वोन्मीलन की आद्य इच्छाशक्ति ही शिवतत्त्व है और इसे ही 'स्पन्द' कहा गया है—यदयमनु .... तज्ज्ञैः।'[१] इस प्रकार सिसृक्षारूपा इच्छाशक्ति एवं शिवतत्त्व दोनों का वाच्य है—स्पन्द।

स्पन्दन एवं स्पन्द—निस्तरङ्ग परमात्मा में जो एक साथ सर्वरूप से उन्मुख होने की योग्यता है, वही है—किञ्चित चलन। 'स्पन्द' का अर्थ है—किञ्चित् चलन। जो यह किञ्चित् चलन है, वही है—स्पन्द।

परमतत्त्व स्पन्द स्वयं ही शब्द के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। जिस स्पन्दतत्त्व में यह सम्पूर्ण कार्यजगत् ज्ञानरूप से शक्त्यात्मक होकर अवस्थित है और निमेषदशा में भी वह ज्ञानरूप होने के कारण अनावृत एवं अनाच्छादित ही रहता है, उसका कभी, कहीं और किसी भी प्रकार का निरोध नहीं होता।[२]

स्पन्दतत्त्व क्या पाषाणवत् मूढ़ एवं शून्य है? नहीं। वह जड़ नहीं है। वह स्वप्रकाश एवं सर्वाविभासक है।[३]

जाग्रदादि अवस्थायें परिवर्तित होती रहती है, किन्तु वे सभी आत्मसंवित् से अभिन्न हैं। अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होने पर भी स्पन्दतत्त्व अपने निज उपलब्धिमात्र स्वभाव से स्खलित (च्युत) नहीं होता; क्योंकि वह उपलब्धा है। उपलब्धा तीनों अवस्थाओं में रहता है। भेद तो अवस्थाओं में होता है, अवस्थाता में नहीं। जल की तरङ्गों के साथ प्रतिबिम्ब हिलता रहता है; किन्तु चन्द्रमा के साथ उस क्रिया का स्पर्श नहीं होता। अवस्थायें नाचती हैं, अपना रूप बदलती हैं; किन्तु परमात्मा से उनका अपना कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार अंग की कोई चेष्टा अंग से अभिन्न है, उसी प्रकार भेद भी परमात्मा की अंगचेष्टा है।

द्रष्टा इन्द्रियों से अर्थ ग्रहण करता है। यही है—जाग्रदवस्था। इन्द्रियों के विना केवल मन जब अर्थ-ग्रहण करता है तब वह है—स्वप्नावस्था। जहाँ न अर्थ ही है और न तो स्मरण ही, वह है—सुषुप्ति अवस्था। किन्तु आत्मा तो शुद्धबोधैक स्व-स्वरूप है और उसकी अवस्था है—तुरीय अवस्था। उसकी परिपक्व अवस्था है—तुरीयातीतावस्था। स्पन्द इन सभी अवस्थाओं में अनुस्यूत है; फिर भी अवस्थाओं से अतीत है।

वह स्पन्द तत्त्व परमार्थतः सत्ताशील है, पारमार्थिक सत्य है; क्योंकि वह नित्य है। उसमें न तो आध्यात्मिक दुःखादिक हैं और न तो वैषयिक सुखादिक। वह विकल्पों से परे है—

---

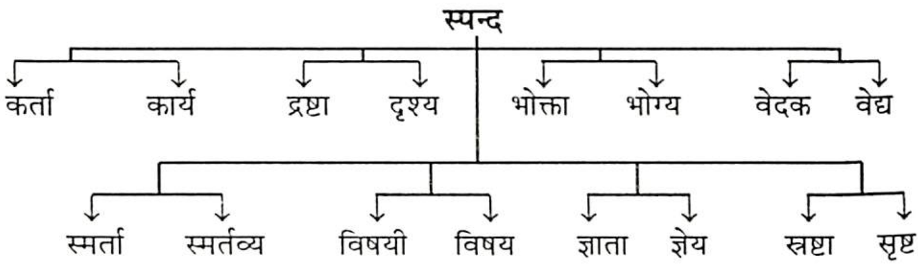
१. आचार्य क्षेमराज : षट्त्रिंशत् तत्त्व सन्दोह

२. कारिका (द्वि०)   ३. कारिका-५

न दु:खं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढ़भावोऽपि तदस्ति परमार्थत:।।[१]

स्पन्दतत्त्व की दो अवस्थायें

स्पन्दतत्त्व की दो अवस्थायें हैं—



अत्यन्त क्रुद्ध होने पर, अत्यन्त प्रसन्न होने पर 'मैं क्या करूँ?'—इस प्रकार के एकनिष्ठ चिन्तन (विमर्शन) करते रहने पर, पलायन करते रहने पर व्यक्ति जिस मानसिक अवस्था में अवस्थित होता है, वह एकाग्र, एकनिष्ठ, अनन्यावस्था ही स्पन्द है, वह पद ही स्पन्द है—

अतिक्रुद्ध: प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्द: प्रतिष्ठित: ।।[२]

'यत्पदं यां भूमिकां अतिक्रुद्धो गच्छेत्, यत्पदं अतिप्रहृष्टो गच्छेत्, 'किं करोमि?' इति मृशन् यत् पदं गच्छेत्, क्रुद्धेन राज्ञा 'किं करोमि? एवं मृशन् यत्पदं गच्छेत्, धावन्वा यत्पदं गच्छेत्, तस्मिन् पदे, तस्मिन् भूमिकायां प्रतिष्ठितस्पन्दोपलब्धि: ।'[३]

१. द्वेष या अमर्ष के उद्दीप्त होने पर अत्यन्त क्रुद्ध मनुष्य जिस अवस्था में पहुँचता है, उसकी चित्तवृत्ति जिस स्फार या उन्मुखता का स्पर्श करने लगती है,
२. शुचि, आगत या प्रिय व्यक्ति के दर्शन आदि से हर्ष प्राप्त करके व्यक्ति जिस परमानन्द को ग्रहण करता है,
३. अनेक कर्तव्यों के कल्लोल में फँसकर 'यह करूँ या कि वह करूँ?'—इस प्रकार की संशयास्पद मन:स्थिति में परामर्श करके जिस दशा में अवस्थित होता है,
४. अपनी प्रेयसी के आह्वान पर या भ्रमवश दौड़कर जाते हुए जिस मानसिक अवस्था में पदार्पण करता है, उसमें आत्मस्वरूप (आत्मस्वभाव) स्पन्द उपलब्ध होता है ।[४] क्रोध एवं हर्ष की विवशता की पराकाष्ठा में, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विमर्श में, एक भाव का स्पर्श होने से पूर्व स्थित अवस्था में 'स्पन्द' अपने भीतर शक्ति का सञ्चार करता रहता है ।[५]

---

१. स्पन्दकारिका-५ २. स्पन्दकारिका
३-४. रामकण्ठाचार्य : स्पन्दकारिकाविवृति ५. रहस्यस्तोत्र

(क) स्पन्द की दो दशायें हैं—विशेष स्पन्द एवं सामान्य स्पन्द ।

प्रतिष्ठित स्पन्द—निरालम्बनचित्तवृत्तिर्या भूमिकामधिष्ठेत् तत्र प्रतिष्ठित स्पन्दोपलब्धिरित्यर्थः ।

(ख) **मुख्य स्पन्द**—स्वभावमात्राधारः सामान्यरूपो मुख्यस्पन्दः ।

जब समस्त वृत्तियाँ किसी एक वृत्ति में लीन हो जाती हैं तब उस अवस्था में 'स्पन्द' का स्पर्श होता है । यथा—क्रोधावेश में प्रेम, मोह, ममता, भय, पलायन, सुख, दुःख, करुणा आदि सभी वृत्तियाँ क्रोध में लय हो जाती है, याद रहता है तो केवल क्रोध । यह सर्ववृत्तिनिरोधात्मक एकवृत्तिनिष्ठ एकाग्रता की अवस्था ही स्पन्दावस्था है । इस दशा में ही परतत्त्वोपलब्धि हो पाती है, अन्य में नहीं—'समस्तवृत्तिप्रत्यस्तमये सति, संवित्तुरीयां दशामवश्यमेवाविशति तत्प्रत्यवमर्शाभ्यासात् परतत्त्वोपलब्धिः ।'[1]

स्पन्द का मुख्य लक्ष्य

एकाग्रतारूप स्पन्दावस्था का परमोद्देश्य परमतत्त्व की उपलब्धि ही है । यही विश्रान्तिलाभ भी है—अनेन उपदेशेन प्रत्यभिज्ञापिततुरीयदशाप्रत्यवमर्शाभ्यासकाष्ठाधिरोहिणः प्रबुद्धस्य निखिलबाह्याभ्यन्तराध्वातिक्रान्तपरमपदविश्रान्तिलाभः इति ।[2]

स्पन्दतत्त्व के उदय के उपाय

'स्पन्दकारिका' में स्पन्दतत्त्व के उदय के निम्न साधन बताये गये हैं—

यामवस्थां समालम्ब्य यदाऽयं मम वक्ष्यति ।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ।।

तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि ।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ।।

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ।।

स्पन्दतत्त्व के नामान्तर

'स्पन्दतत्त्व' के अभिधानान्तर हैं—१. किञ्चिच्चलत्ता, २. स्फुरत्ता, ३. ऊर्मि, ४. बल, ५. उद्योग, ६. हृदय, ७. सार, ८. मालिनी, ९. परा आदि अनन्त संज्ञायें—'अनन्तसंज्ञाभि आगमेषु उद्घोष्यते ।'[3] शक्ति, स्वातन्त्र्य, क्रिया, इच्छा आदि अभिधान भी इसके लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

स्पन्दतत्त्व के विविध स्वरूप

आचार्य क्षेमराज ने स्पन्दतत्त्व के दो पक्षों का उल्लेख किया है—विध्यात्मक (Positive aspect) एवं निषेधात्मक पक्ष (Negative aspect) ।

---

१. रामकण्ठाचार्य : स्पन्दकारिकाविवृति
२. रामकण्ठाचार्य : स्पन्दकारिकाविवृति ३. क्षेमराज : स्पन्दसन्दोह

स्पन्दतत्त्व के दो पक्ष

'स्पन्दतत्त्व' के दो पक्ष हैं—विध्यात्मक पक्ष (Positive aspect) एवं निषेधात्मक पक्ष (Negative aspect)।

(क) 'स्पन्दतत्त्व' का विध्यात्मक पक्ष (Positive aspect)—That power of consciousness which influences life into the physical senses, otherwise appearing insentient is called Spanda.

इस शक्ति का साक्षात्कार उसे हो पाता है, जो अपनी स्वतन्त्र चेतन प्रकृति का निरीक्षण करता है। इस तरह का प्रयास 'भैरव' कहा जाता है। यही स्पन्दशक्ति इन्द्रियों को चेतना प्रदान करती है, सजीव बनाती है एवं सृष्टि, संहार का कार्य इसी के द्वारा निष्पन्न होता है।

(ख) स्पन्दतत्त्व का निषेधात्मक पक्ष (Negative aspect)—यह स्पन्द की वह दशा है, जहाँ न सुख है, न दुःख। यह एक अज्ञात एवं अज्ञेय तत्त्व है।

स्पन्दतत्त्व दो सम्बन्धों पर आधृत है—व्यक्ति एवं पदार्थ का सम्बन्ध : (Subject-object relation) जब स्पन्दतत्त्व प्रकाश के साथ अभिन्न होकर रहता है तब विषयी पक्ष में रहता है। जब स्पन्दतत्त्व सुव्यक्त क्रियाओं के साथ एकीभाव (तादात्म्य) स्थापित कर लेता है तब यह विषयपक्ष का रूप (Form of object) धारण कर लेता है।

स्पन्दतत्त्व के दो रूप

स्पन्दतत्त्व के दो रूप हैं—सामान्यस्पन्द एवं विशेषस्पन्द।

(क) सामान्यस्पन्द—शुद्धाहन्ता का यह जो उन्मेष है, यही वस्तुतः 'सामान्यस्पन्द' का स्फुरण है। एक बार स्फुरण होने पर इसकी कभी निवृत्ति नहीं होती। सुषुप्ति अवस्था आत्मा की स्पन्दहीन अवस्था है। तुरीयावस्था ही वस्तुतः चैतन्यावस्था है। शक्तिपात होने से किसी भी स्थान से वास्तविक रूप में स्पन्दसाधना का आरम्भ हो सकता है।

शुद्धाहन्ता का उदय अर्थात् 'सामान्यस्पन्द' का सन्धान पाने पर भी योगी बहुधा इसे पकड़कर नहीं रख सकते। मन जब तक उसमें संलग्न नहीं रहता तब तक मन की बहिर्मुख क्रिया चलती ही रहती है; अतः मन को बार-बार स्पन्द में संलग्न रखना होता है। मन उस स्पन्द में संलग्न भी रहता है तो एक क्षण से अधिक देर तक उसे स्पर्श किए हुए नहीं रह सकता; क्योंकि 'सामान्यस्पन्द' अशुद्ध मन को स्वभावतः विकर्षित करता है; मानो ढकेल देता है।

(ख) सामान्यस्पन्द एवं विशेषस्पन्द—विश्वसृजन के विषय से सम्बद्ध इस 'विशेषस्पन्द' की ओर मन अपने-आप आकृष्ट होता है और इसीलिए मन बहिर्मुख होता है। मन बहिर्मुख हो तो बार-बार उसे 'इदन्ता' की ओर से हटाकर शुद्धाहन्ता रूप में सामान्य स्पन्द की ओर उन्मुख करना चाहिए। उन्मेष तत्त्व का यही रहस्य है। उस समय प्रथमवत् 'सामान्यस्पन्द' में संलग्न रहता है, किन्तु वह प्रथमवत् एक क्षण के लिए भी स्थिर रहकर पुनः बहिर्मुख हो जाता है। इस प्रकार पुनः-पुनः चलते-चलते मन भी चिदात्मक हो जाता

है और वह आत्यन्तिकी विशुद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसे मे मन होते हुए भी नही होने-सा जान पड़ता है अर्थात् 'सामान्यस्पन्द' मे संलग्न रहने से स्वयमेव 'सामान्यस्पन्द' के साथ एकीभूत हो जाता है, 'सामान्यस्पन्द' हो जाता है। यही उन्मनी अवस्था का स्वरूप है। ऐसी स्थिति में मन पुनः बहिर्मुख नही रहता और 'विशेषस्पन्द' का 'इदम्' रूप में भान भी नहीं रह जाता। एक ही साथ मन की निवृत्ति और विषय की चिन्मयता-प्राप्ति हो जाती है, उस स्थिति में एक विराट् अहं-प्रतीति ही अखिल विश्व का ग्रास करके प्रकाशित हो पड़ती है। इसी का अभिधान है—पूर्णाहन्ता अर्थात् भगवान् का आत्मप्रकाश। यही अवस्था है—सुप्रबुद्धावस्था। यही है—प्रबुद्ध से सुप्रबुद्ध होने की विशिष्टावस्था।

यही है—शाक्तों की साधना का लक्ष्य। भगवत्कृपा के पूर्व उन्मेष का परिणाम प्रबुद्धावस्था की अवाप्ति और उसके चरमानुग्रह की निष्पत्ति है अर्थात् सुप्रबुद्धावस्था की है। प्रतिपत्ति (समुपलब्धि) यही है। परमशिवत्व की आपत्ति (उपलब्धि) या शाक्तमतानुसार जीवन्मुक्ति।

जिस स्वातन्त्र्य शक्ति की अपर आख्या स्पन्द है, उसका अभिधानान्तर परावाक्, पूर्णाहन्ता, परमैश्वर्य आदि भी है। आत्मा कभी भी अपनी परमावस्था में शक्तिशून्य नहीं रहती। यह शक्ति जिसकी अन्य संज्ञा स्पन्द है, इसके दो भेद हैं—सामान्यस्पन्द एवं विशेषस्पन्द।

(क) सामान्य शक्ति ही 'सामान्यस्पन्द' कहलाती है।
(ख) विशेष शक्ति ही 'विशेषस्पन्द' कहलाती है।
(ग) सामान्य शक्ति से ही विशेष शक्ति का आविर्भाव होता है।

इसका कारण आत्मा के स्वातन्त्र्य का उल्लास है। जब हम विश्वसृष्टि की ओर आत्मा की चर्चा करते हैं तो हम इस विशेष शक्ति के उद्भव एवं क्रिया का अनुभव करते हैं; किन्तु उसके पीछे सृष्टि की इच्छारूप स्वातन्त्र्य शक्ति का विलास विद्यमान रहता है। इस अवस्था में आत्मा का सामान्य स्पन्द अक्षुण्ण ही रहता है; किन्तु उसको आश्रय करके अनन्त 'विशेषस्पन्द' का आविर्भाव होता है। हम जगत् में बाहर एवं भीतर, बाह्य पदार्थ एवं भावरूप में जो कुछ भी अनुभव करते हैं, वह 'सामान्य स्पन्द' से उत्पन्न 'विशेष स्पन्द' का फल है।

सामान्यस्पन्द विशुद्धाहङ्कार में स्फुरित होता है, किन्तु विशेषस्पन्द अहंरूप में स्फुरित होने के स्थान पर इदम् रूप में स्फुरित होता है। जो विशेषस्पन्द है, वह सामान्य स्पन्दात्मक पूर्ण अहं के निकट नहीं होता; क्योंकि उस अहं से इदं भाव का सम्बन्ध नहीं है। वह पूर्ण अहंरूपात्मक एवं अपरिच्छिन्न है। उसका प्रतियोगी इदम् नहीं माना जा सकता। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'—यही उसका प्रकाश है। वह अद्वैत है। इस स्थिति में दूसरे का कोई स्थान नहीं है। उस विराट् अहं के निकट पृथक् विश्व या जगद्रूप में कुछ नहीं रह सकता। अत: इदम् रूपी अर्थ एवं भावपूर्ण पूर्णाहं के निकट प्रकाशित नहीं होता। वह परिच्छिन्न अहं के निकट ही प्रकाशित होता है और यह **'अपरिच्छिन्न अहं' ही क्षेत्रज्ञ,** जीव, पशु आदि कहलाता है।

यद्यपि अपरिच्छिन्न अहं या परमात्मा एवं परिच्छिन्न अहं या जीवात्मा मूलतः अभिन्न एवं एक ही आत्मा है, तथापि व्यवहारतः भिन्न हैं। परमात्मा में सङ्कोच नहीं है; किन्तु लीला के लिए सृष्टि-काल में सङ्कोच ग्रहण करके जीवात्मा के रूप में आत्मप्रकाशन करते हैं, देहादिक उपाधि का आश्रय लेकर उनका अहंभाव प्रकाशित होता है; अतः उन्हें परिच्छिन्न प्रमाता या जीव कहा जाता है। परमात्मा की परा शक्ति के ही दो रूप हैं—वेद्य (ज्ञेय) एवं वेदक (ज्ञाता)। स्वातन्त्र्यवश परमात्मा ही अपने को परिच्छिन्न करके जीवात्मा रूप धारण कर लेता है।

स्पन्दशक्ति में स्वातन्त्र्यरूपकर्तृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व

स्पन्दशास्त्र सदाशिव में अनन्त शक्तियों की अनुस्यूतता मानते हुए भी उनमें मुख्यतः पाँच शक्तियों का ही उल्लेख करता है—१. चितिशक्ति, २. आनन्द (निवृत्ति) शक्ति, ३. इच्छाशक्ति ४. ज्ञानशक्ति एवं ५. क्रियाशक्ति। इन्हें शक्ति के पाँच मुख कह सकते हैं। यद्यपि शक्ति तो एक ही है; किन्तु उसको विभिन्न दृष्टियों (पक्षों) से देखने पर उसमें भिन्नता दिखाई पड़ने लगती है। मूल शक्ति है—चित् शक्ति।

१. चिन्मात्रता (चित्ता) = चित् शक्ति का स्थूलरूप आनन्दशक्ति है।
२. आनन्दशक्ति का स्थूल रूप इच्छाशक्ति है।
३. इच्छाशक्ति का स्थूल रूप ज्ञानशक्ति है।
४. ज्ञानशक्ति का स्थूल रूप क्रियाशक्ति है।

सदाशिव पञ्चकृत्यों का सम्पादक है, सृष्टि-स्थिति-तिरोधान-अनुग्रह का विधायक है; क्योंकि—

(क) उसमें ज्ञान है (वह जानता है)।
(ख) वह जानता है; क्योंकि उसमें इच्छा है।
(ग) उसमें इच्छा है (वह चाहता है); क्योंकि उसमें आनन्द है।
(घ) उसमें आनन्द है; क्योंकि उसमें चैतन्य (पूर्णचैतन्य) है।

इस प्रकार शिव का मूलस्वरूप स्वतन्त्र चिति शक्ति (चिन्मात्ररूपता) है और यह (चैतन्य → आनन्द → इच्छा → ज्ञान → क्रिया) सदाशिव में चैतन्य एवं आनन्द इस प्रकार समवेत है कि उन्हें पृथक् करना सम्भव ही नहीं है; इसीलिए उसे 'चिदानन्द' कहते हैं। चिदानन्दात्मकता ही शिव का मूल स्वभाव है। चिन्मात्रता एवं आनन्द तो शिव में अपृथक् रूप से समवेत हैं ही; साथ ही उसकी 'इच्छाशक्ति' भी शिवत्व में विश्रान्तावस्था में अवस्थित है इच्छा में भी बहिरुन्मखता नहीं है। शेष रह जाते हैं—१. ज्ञान एवं २. क्रिया।

ज्ञान और क्रिया—इन्हीं दो रूपों में शक्तिस्पन्द पशुभूमिका एवं पतिभूमिका (सदाशिव के स्तर पर) पर स्पन्दित है। निष्कर्ष यह कि मुख्यतः ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व (सर्वज्ञातृत्व+सर्वकर्तृत्व का स्वातन्त्र्य) ही स्पन्दतत्त्व का यथार्थ स्वरूप है। इसी स्वतन्त्रता की शक्ति के द्वारा स्पन्दशक्ति ग्रहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य—तीनों भूमिकाओं में एक साथ स्पन्दित, तरंगित एवं प्रवहमान है।

स्पन्दशास्त्र में प्रमाता और प्रमेय तत्त्व

स्पन्दशास्त्र की अपनी दृष्टि तो यह है कि स्वस्वभाव, चिद्रूप, परचैतन्य तो एक ही है और वही समस्त जगत् में व्याप्त है और वही है—मूल प्रमाता। इसी परप्रमाता के दो रूप हैं—पतिप्रमाता एवं पशुप्रमाता। पतिप्रमाता शिवप्रमाता है तथा उसके अतिरिक्त सभी बद्ध जीव पशुप्रमाता हैं।

(क) विश्वमय विकास का विश्वोत्तीर्ण रूप पतिप्रमाता है।

(ख) विश्वोत्तीर्ण का विश्वमय विकास पशुप्रमाता है।

पशुप्रमाता के ही अनेक प्रकार हैं; यथा—अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध एवं सुप्रबुद्ध। सदाशिव से पृथ्वीपर्यन्त समस्त चेतन सत्तायें पशुप्रमाता हैं।

पतिप्रमाता के लिए तो समस्त जड़-चेतनात्मक विश्व इस परप्रमाता से अभिन्न रूप में स्थित रहकर अहंरूप में ग्राह्य है। विश्व ही उसका अहं है—विश्वोऽहं। पशुप्रमाता के ग्राह्य विषय दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर एवं बाह्य। आभ्यन्तर ग्राह्य विषयों में सुख, दु:ख, मूढ़ता (अन्त:करण के धर्म) आदि स्थित हैं तथा बाह्य ग्राह्य विषयों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि स्थूल पदार्थ अन्तर्भूत हैं। आभ्यन्तर विषय मानसिक अनुभूतियाँ हैं तथा बाह्य विषय पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत हैं। नील आदि बाह्य विषय एवं आभ्यन्तर ग्राह्य विषय सुखादिक हैं। पतिप्रमाता की अपेक्षा पशुप्रमाता स्वयं भी ग्राह्य कोटि है।

१. **अबुद्ध प्रमाता**—इसके चार वर्ग हैं—अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध एवं सुप्रबुद्ध।

चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च .... ॥ (मा०वि० : २.४३)

'मालिनीविजय' में प्रमाताओं की यही श्रेणी दी गई है।

अबुद्ध प्रमाता तिरोधान शक्ति के कारण संहार की अवस्था में विद्यमान रहकर, गुणत्रय की साम्यावस्था के गर्भ में स्थित रहकर, अजगरों की भाँति संज्ञाहीन जैसे रहकर, सुख-दु:खादि की संवेदनाओं से भी परे रहकर प्रगाढ़ अन्धकार में निमग्न रहते हैं।

२. **बुद्ध प्रमाता**—अबुद्ध प्रमाताओं में से जो जीव कर्मपरिपाक होने के कारण अपने सञ्चित कर्मानुसार फलभोग-हेतु स्थूल शरीर धारण करके अनेक योनियों में भटकते रहते हैं, ये ही संसारी जीव 'पशु' कहे जाते हैं। उनका उद्देश्य मात्र विषयोपभोग है और ये आत्मचिन्तन से विरत रहते हैं।

३. **प्रबुद्ध प्रमाता**—परमात्मानुग्रह से शाङ्कर भक्ति के उन्मेष के द्वारा विषयोपरति, सद्ज्ञानाविर्भाव, आत्मानुसन्धान की तीव्र उत्कण्ठा होने पर भगवान् शिव ही गुरु बनकर शाङ्कर मार्ग में दीक्षित करके जिन प्रमाताओं को कृतार्थ करते हैं, वे ही हैं—प्रबुद्ध प्रमाता।

४. **सुप्रबुद्ध प्रमाता**—प्रबुद्ध प्रमाता ही एकनिष्ठ निश्चल भक्ति के द्वारा शङ्करस्वरूप गुरु से शैवी दीक्षा प्राप्त करके, योगारूढ़ होकर सुप्रबुद्ध प्रमाता बन जाता है।

इस अवस्था में 'तुर्यावस्थारूढ' शाक्त भूमिका की अनुभूति होती है और ऐसा साधक भगवान् के तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व एवं भुवन—इन छह मार्गों से विरज एवं अमल शिवभाव के आनन्दरस में निमग्न रहता है ।

स्पन्द के ज्ञान का अधिकारी

पशुभूमिका में जो चार प्रमाता स्थित हैं, उनमें जो प्रबुद्ध प्रमाता की श्रेणी में स्थित हैं, वे ही प्रमाता स्पन्दशास्त्र के उपदेश के पात्र हैं । अबुद्ध एवं बुद्ध प्रमाताओं को स्पन्दज्ञान की पात्रता ही नहीं है । सुप्रबुद्ध प्रमाता को उपदेश या ज्ञान देना भी निरर्थक है; क्योंकि उन्हें प्राप्तव्य अधिगत रहता है । प्रबुद्ध प्रमाता शाक्त भूमिका के प्रवेशद्वार के अत्यन्त निकट स्थित रहता है ।

स्पन्दशास्त्र में पाश का स्वरूप

पशु, पाश, पशुपति—ये तीन दार्शनिक त्रिक हैं । विश्वात्मक एकत्व को भुलाकर वैयक्तिक अनेकत्व की गहराइयों में लय हो जाना ही बन्धन है । नारदपाञ्चरात्र में कहा गया है कि विकल्प के अतिरिक्त अन्य कोई बन्धन नहीं है । बन्धन, बन्धनकर्ता एवं बद्ध ये तीनों एक ही हैं । सभी अपने विकल्पों से बँधे हैं । अज्ञान ग्रन्थि बन्धन है और उसका उद्भेद ही मोक्ष है—अज्ञानग्रन्थिभेदो यः स मोक्ष इति कथ्यते ।

पशु कौन है? जो स्वातन्त्र्यरूप वैभव से रहित है, जो शब्दसमूह का दास है और पतिप्रमाता से गिरकर पशुप्रमाता की कोटि में आ गया है । वही पशु है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो यः गतः स पशुः स्मृतः ।।

स्पन्द एव प्रत्यभिज्ञा के विशिष्ट सिद्धान्त

ज्ञान-क्रियाभेदवाद (ज्ञान-क्रियासामञ्जस्यवाद)—जो ज्ञान है, वही क्रिया है । काश्मीर का त्रिकदर्शन ज्ञान और क्रिया में अभेदता मानता है । उसके सिद्धान्तानुसार जो ज्ञान है, वह क्रियाशून्य नहीं है और जो क्रिया है, वह ज्ञानशून्य नहीं है—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया । (नेत्रोद्योत)

ज्ञान और क्रिया पारमेश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है । परमशिव की चिकीर्षास्वरूप इच्छा में ही सारे भाव, सारे प्रमेय, सारे प्रमाता, समस्त षट्त्रिंशदात्म जगत् अन्तर्भूत हैं—'परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेदकल्पेनास्ते ।' (ई.प्र.वि.)

इसीलिए कहा गया है कि परमशिव का जो विमर्श है, उसमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों अभिन्न रूप में अवस्थित हैं—'विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः' (ई.प्र.वि. १।८।११)। इसीलिए सोमानन्दनाथ शिवदृष्टि में कहते हैं—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरदृक्क्रियः शिवः ।। (शिवदृष्टिः २.२)

अर्थात् आत्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त प्रमेयों के रूप में सर्वत्र अभेदभाव से स्फुरित हो रही है ।

निष्कर्ष—१. वह 'ज्ञान' ज्ञान नहीं है, जो क्रियात्मक न हो ।

२. वह 'क्रिया' क्रिया नहीं है, जो ज्ञानात्मक न हो ।

शक्ति या आत्मा का इच्छा-प्रसार : जगत् (सर्वात्मवाद)—परमशिव की शक्ति (आत्मा, चिति, संवित्, विमर्श, स्पन्द) ही शिव से पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्वों के रूप में अभेदात्मना स्फुरित हो रही है । शक्ति (आत्मा) का इच्छा-प्रसार ही जगत् है । चूँकि यह शक्ति परमेश्वर की अपनी अभिन्न शक्ति है; अतः जगत् शिव भी है और शक्ति भी है; क्योंकि जगत् के रूप में दोनों का ही रूप स्फुट हो रहा है और वह भी उसी शिव एवं शक्ति के भीतर—'स्वयं प्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्तजगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च' (पराप्रावेशिका) ।

जगत् शक्ति का स्फार है—क्रियाशक्तिरेव अयं सर्वो विस्फारः' (ई.प्र.वि.) ।

शिवसूत्र में जगत् को शक्तिप्रचय कहा गया है—स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् (शिवसूत्र ३.३०) ।

जगत् प्रकाश है—क्योंकि जगत् शिव की अपनी शक्ति का स्फार है; अतः जगत् प्रकाश (शिव) से अभिन्न है—

प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते । (तन्त्रालोक २, आ० १.५४)

परमशिव ही समस्त विश्ववैचित्र्यों के रूप में (विश्वभाव से) स्फुरित हो रहा है । शिव विश्वमय (विश्वात्मक) है; अतः जगत् भी विश्वात्मक है तथा जगत् की कोई ऐसी अवस्था है ही नहीं, जो शिव न हो—'न सावस्था न यः शिवः ।' किन्तु शिव का विस्तार जगत् तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत वह विश्वातीत भी है—अतएव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः (तन्त्रालोक भाग-१) ।

जगत् की सृष्टि (अवभासन) चिदात्मा की 'इच्छा' का परिणाम है—यही है—इच्छोत्पत्तिवाद । 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः' (प्रत्य०हृ०) कहकर आचार्य क्षेमराज ने विश्वोल्लास का कारण चिदात्मा की इच्छा ही संकेतित किया है । चिदात्मा अपनी प्रकाशरूपता में विश्वात्मक रूप से जो प्रकाशित होता है, उसका कारण चिदात्मा की अपनी इच्छा (शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति) मात्र है । परमशिव विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों है ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा एवं पारमेश्वरी इच्छा ही जगत् का उपादान कारण है—घट के निर्माण के लिए मृत्तिका, घटकार, चक्र, दण्ड आदि भिन्न-भिन्न (उपादान, निमित्त एवं सहकारी) कारणों की अपेक्षा होती है और ये सभी परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं; किन्तु जगत् के निर्माण में भूमि (प्रदेश या स्थान) सामग्री, साधन, निर्माता, निर्माण का मानचित्र आदि सभी एक पारमेश्वरी इच्छामात्र हैं । 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (प्र०हृ०) कहकर आचार्य क्षेमराज ने इसी 'इच्छासृष्टिवाद' का प्रतिपादन किया है ।

परमशिव की स्वतन्त्र स्वेच्छा अविभक्त रहते हुए भी अपने-आपसे अव्यतिरिक्त समस्त सृजन-संहार आदि अनेक रूपों को 'दर्पणनगरन्याय' से अपने भीतर भिन्नवत् अवभासित करती है। अपने भीतर युगपद् विश्वोन्मेष एवं विश्वनिमेष का सम्पादन करने वाली पारमेश्वरी इच्छाशक्ति को ही स्पन्दशास्त्र 'स्पन्द' के नाम से अभिहित करता है—

१. सा चैषा स्पन्दशक्तिः युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी (स्पन्दनिर्णय)।

२. श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादिपरम्परां दर्पणनगरवत्स्वभित्तावेव भावियुक्त्यानधिकामप्यधिकामिव दर्शयन्ती 'स्पन्द' इत्यभिहिता (स्पन्दनिर्णय)।

'आनन्द' ही सृष्टि का मूल उपादान कारण है (आनन्दसृष्टिवाद)। परमात्मा की पाँच शक्तियाँ हैं। इनमें 'आनन्दशक्ति' भी एक शक्ति है। परमात्मा की एकात्मिका शक्ति 'विमर्श' पदवाच्य है। 'विमर्श' है—प्रकाश (शिव) को अपने प्रकाशरूपता की प्रतीति कराने वाली शक्ति। उसकी यह 'विमर्श' शक्ति ही उसकी ('कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं, स्वशक्ति वाली) स्वातन्त्र्य शक्ति। स्वातन्त्र्य है—पूर्णनिरपेक्षता के साथ सर्वकर्तृत्व। इसी से आत्मा परनिरपेक्ष होकर स्वात्ममात्रैकसंस्थित, स्वात्ममात्र के पूर्णत्व में विश्रान्त रहता है। आत्मपूर्णता की वह प्रतीति, जो कि किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती 'आनन्द' कही जाती है— 'अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः' (ई.प्र.वि. १ भाग-१)।

जीवों के सारे आनन्द परापेक्ष हैं। उनका आनन्द आत्मविश्रान्त नहीं, परविश्रान्त है। स्वातन्त्र्य का पूर्णतम विमर्श ही परमशिव का स्वातन्त्र्य है और वही उसका 'आनन्द' है— 'स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः' (तन्त्रसार)।

'परमशिव' के दो प्राथमिक रूप हैं—शिव एवं शक्ति। शिव = प्रकाश का चिदंश। शक्ति = शिव का आनन्दांश (विमर्श)। चित् अंश + आनन्द अंश (प्रकाश+विमर्श) का सामरस्य = परमभाव।

'स्वातन्त्र्य' ही परमानन्द है, परमशक्ति है और जगत् का मूल है—काश्मीर के अद्वैतवादी शैव दार्शनिकों ने कहा कि 'स्वातन्त्र्य' ही समस्त जगत् का उपादान कारण, निमित्त कारण एवं सहकारी कारण है तथा यही सर्वोच्च पारमात्मिक आनन्द है। यही सृष्टि का मूल कारण भी है।

अनन्यनिरपेक्ष सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, नित्यत्व, सर्वव्यापकत्व आदि इसके वैशिष्ट्य हैं। निरपेक्षता ही आनन्द है।

परासत्ता (परमशिव) अवाच्य है—यह तत्त्वातीतावस्था है। इसे न तो शिव कह सकते हैं, न शक्ति; न यह 'विश्वमय' है और न ही 'विश्वातीत'।

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥

दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशा विशेषिणी।
व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः॥

अन्त:स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मन: ॥[१]

यह 'व्यपदेष्टुमशक्य' है, किन्तु 'अन्त:स्वानन्दगोचर' है ।

'जगत्' चित् शक्ति से अभिन्न है—'जगत्' एक प्रतिबिम्ब है, एक आभास है, चिति शक्ति का व्यक्तरूप है, एक क्रीड़ा है, एक चित्र है, परमशिव की आनन्दलीला है । शक्ति दर्पण है और जगत् उसी में प्रतिबिम्बित है । जगत् शिव-शक्ति के यामल (संघट्ट) की परिणति है, जगत् शिव की स्फुरणा है । जगत् शक्ति का रूपान्तर या व्यक्त रूपायन है । जगत् भगवान् की इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है ।

ज्ञान के मुख्य स्वरूप तीन हैं—(क) अहमस्मि, (ख) अहमिदम्, (ग) इदमहम् ।

'अज्ञान' ज्ञान का अभाव नहीं है, प्रत्युत अपूर्ण ज्ञान है—अपूर्ण ज्ञान बन्धन है । इसीलिए शिवसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान बन्धन है; क्योंकि यह अपूर्ण ज्ञान है । 'पूर्णाहन्ता' ही पूर्ण ज्ञान है । 'ज्ञान' आत्मा का स्वभाव है । 'ज्ञानशक्ति' के रूप में यह परमात्मा की आत्मिक शक्ति है । पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति (इच्छाशक्ति) के उल्लासोपरान्त शिवस्वरूप के गोपन से ही अज्ञान का उद्भव होता है । 'यह वस्तु ऐसी ही है, इससे अन्यथा नहीं है'—इस प्रकार ज्ञापन कराने वाली शक्ति ही ज्ञान है—

एवमेतदिदं वस्तु नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥ (तन्त्रालोक भाग-१)

भेदप्रथा ही 'पाश' है, बन्धन है । शिव से जो कुछ भी भिन्न है, वह सब 'पाश' है—'भेदप्रथात्मकम् शिवादन्यत्तदेव बहि:' (तन्त्रालोक) ।

शक्ति के द्वारा ही शिव का ज्ञान होता है । चूँकि शिव अपने ज्ञान (अहंबोध = अपनी पहचान = 'कोऽहं?' का ज्ञान) के लिए स्वयं शक्ति पर ही आश्रित हैं; अत: ज्ञान के लिए शक्ति का आलम्बन आवश्यक है । शैवीमुखमिहोच्यते = शक्ति शिव का मुख है (शिव को अपना परिचय पाने का साधन है) ।

समस्त पदार्थ शिवामृत से परिप्लुत है । सम्पूर्ण पदार्थों का प्राणपद तत्त्व आत्मा या चैतन्य है । पदार्थों में इसी आत्मा की खोज की जानी चाहिए । सभी पदार्थ अमृतात्मक हैं; क्योंकि वे शिव की आत्मा 'शक्ति' से अनुस्यूत हैं ।

साधना का मार्ग 'मध्यम प्रतिपदा' (शून्यावस्था = भावाभाव के मध्य की अवस्था) । मध्यदेशगामी बनकर 'रामस्थ' हो जाना चाहिए । 'रामस्थ' करने का मार्ग 'सुषुम्ना मार्ग' है ।

क्रिया+ज्ञान एवं योग+क्रिया में भेद नहीं है; दोनों अभिन्न हैं—

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हि तत्तथा। (तन्त्रालोक)
योगो नान्य: क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मति: ।

---

१. विज्ञानभैरव

स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥ (तन्त्रालोक)

तत्त्वों में चिति की योजना ही 'योग' है—

क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ।

तत्त्वानां चिति योजनात् 'योगः' स्यात् इति नानयोर्ज्ञानातिरेकः ।

योगो नान्यः क्रिया नान्या । (तन्त्रालोक)

पदार्थों से प्राप्त आनन्द शिवानन्द का आभास है । जिस प्रकार समस्त पदार्थों का सत् एवं चित् शिव का ही सत् एवं चित् है, उसी प्रकार पदार्थों में प्राप्य या प्राप्त आनन्द भी शिवानन्द के आभास के अतिरिक्त कुछ नहीं है । इनका लक्ष्य ब्रह्मानन्द की ओर उन्मुख करना है ।

'अनाख्य' की सिसृक्षा ही शिव-शक्ति की उद्भाविका है ।

'सृष्टि' परमात्मानुग्रहजन्य है । इसका लक्ष्य जीवोद्धार है ।

'अहं' शिव+शक्ति का मिथुनीभाव है और विश्व का मूल केन्द्र है ।

'बिन्दु' (प्रकाश) 'शब्द' रूप में प्रकट होकर (नाद बनकर) जीव कला रूप में अवस्थित है ।

'शब्द' है क्या? शब्द का अर्थ है—स्व से विश्व का अभेदपूर्वक परामर्श । बिन्दु सृष्टि का कारण है । शब्द कुण्डलिनी शक्ति का रूप ही तो है; अतः सृष्टि का आश्रय है, जगत् का उद्भावक है । शब्दसृष्टिवाद—इसी सिद्धान्त का अभिधान है ।

भैरव की चित् शक्ति (विसर्गशक्ति = क्रियाशक्ति) सम्पूर्ण विश्व को अपने में गर्भीकृत करके कुण्डलिनी के नाम से अवस्थित है । वर्णों में ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियाँ निहित हैं ।

आत्मसाक्षात्कार के चार उपाय हैं—१. अनुपाय, २. शाम्भवोपाय, ३. शाक्तोपाय एवं ४. आणवोपाय ।

प्रत्यभिज्ञा, जीवन्मुक्ति, समावेश, पूर्णाहन्ता या शिवभाव की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है । 'तर्क' ही इसका साधन है । ('शिवोऽहं' की वृत्ति उत्पादिका शक्ति ही 'तर्क' है) अद्वैतभाव ही 'तर्क' है । 'स्वच्छ विकल्प परामर्श' (स्वभावपरामर्श) उत्कृष्ट साधन है । 'भावना' (तत्त्वपरामर्श) शाक्तोपाय में तो आवश्यक है; किन्तु शाम्भवोपाय में नहीं । विवेक (स्वपरामर्श) से ही मुक्ति प्राप्त होती है ।

आत्मज्ञान के लिए ६ मार्ग हैं । इन्हें 'अध्वा' कहते हैं । 'प्राण' भी चिति शक्ति का रूप है । परमतत्त्व का काल से योगरूप काली का काल से संयोग होने पर वह प्राणरूप से स्फुरित हो उठती है । स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिर्मुख होकर स्पन्दित होना ही 'प्राण' है । प्राणशक्ति का इस प्रकार अवधारण करके पुनः-पुनः तत्त्वपरामर्श करना ही 'ध्यान' है । यही प्राण का शिखाबन्धन है । अजपा जप ही कालध्वा या प्राणाध्वा है । क्रिया के रूप में तत्त्व का आभास अर्थात् 'कालाध्वा' (क्रियारूप—वर्ण, मन्त्र, पद) । मूर्तिरूप में

तत्त्वाभास अर्थात् 'देशाध्वा' (कला, तत्त्व, पुर)।

मलों (आणव, मायीय, कार्म) से ही अशुद्ध सृष्टि का उद्भव होता है। अभिलाषा → आणवमल। लोलिका → कार्ममल। मल → भेदभाव → चैतन्यस्मृति।

तत्त्व ३६ हैं, जो शुद्धाशुद्ध है—

(क) शुद्ध तत्त्व— शिव। शक्ति। सदाशिव। ईश्वर। विद्या।

(ख) शुद्धाशुद्ध तत्त्व— काल। नियति। कला। अविद्या। राग। पुरुष।

(ग) अशुद्ध तत्त्व— प्रकृति। बुद्धि। अहङ्कार। मन। ज्ञानेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ। तन्मात्रायें। पञ्चभूत।

(शुद्ध तत्त्व = जहाँ चैतन्य प्रधान। अशुद्धतत्त्व = चैतन्य की अप्रधानता।)

पूर्णता की अभिलाषा मल (लोलिका) एवं शिवस्वभाव (पूर्णता) या शिवरूपता की अनुभूति ही पूर्णता है।

षडध्व—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के मत से सम्पूर्ण सृष्टि वाच्य-वाचकरूप है। वाचक शब्द + वाच्य अर्थ।

वाचक शब्द के ३ मार्ग — वर्ण, पद, मन्त्र — कालाध्वा।

वाच्य अर्थ के ३ मार्ग — कला, तत्त्व, भुवन — देशाध्वा।

कला—शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, निवृत्ति। कलाओं में शिव से पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्व अन्तर्भूत। सदाशिव से अनन्त तक ११८ भुवनों का समाहार।

(शान्त्यतीता = भुवनशून्य) = २२४ भुवन।

निवृत्तिकला में १०८, प्रतिष्ठाकला में ५६, विद्याकला में २७, शान्ता कला में १७ भुवन। शान्त्यतीता कला में १६ भुवन (स्वच्छन्दतन्त्र)।

मतङ्गतन्त्र के अनुसार ३६४ भुवन हैं।

वर्णाध्वा अर्थात् प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता का विश्रान्ति धाम। वर्ण—१. अमायीय, २. मायीय। अमायीय → मायीय वर्ण (मायीय वर्णों में अमायीय वर्णात्मक वाचक शक्ति अग्नि में तापवत् निहित)। (तन्त्रालोक अ० ११)

निवृत्तिकला — क्षितिरूप वाच्य हेतु क्षरूप वर्ण पद एव मन्त्र है।

प्रतिष्ठाकला — ह से ट = २३ वर्ण वाचक। ५६ भुवन। ५ पद। ५ मन्त्र।

विद्याकला — ञ से घ तक ७ वर्ण वाचक हैं। २८ भुवन।

शान्ता कला — शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव के लिए ग, ख, क—३ वर्ण। १८ भुवन।

शान्त्यतीता कला — ३६वें तत्त्व शिव के लिए विसर्ग से अ तक १६ वर्ण। १ पद, १ मन्त्र।

'जगत्' परमात्मा का एक प्रतिबिम्ब या आभास है । शङ्कराचार्य जगत् को रज्जु में सर्पभ्रान्ति की भाँति एक मिथ्या भ्रान्ति मानते हैं; किन्तु शैवदार्शनिक उसे आभास या प्रतिबिम्ब मानते हैं ।

बन्धन—बन्धन कोई यथार्थ वस्तु नहीं; प्रत्युत आत्मगोपन की क्रीड़ा का एक अंग है । बन्धन कोई यथार्थ एवं स्वतन्त्रसत्ताक वस्तु नहीं है, प्रत्युत आत्मप्रच्छादन (स्वगोपनात्मक क्रीड़ा) की स्वनिर्मित आत्मकल्पना है ।

इसे स्वेच्छापरिगृहीत आवरण भी कह सकते हैं । यह बन्धन भी नित्यानित्य है । परमेश्वर विश्वमय है; अत: 'विश्वोत्तीर्ण' द्वारा विश्वमयता का आच्छादन-ग्रहण भी तो आत्मगोपन की क्रीड़ा है और यह नित्य चलती रहने के कारण नित्य है; किन्तु मितप्रमाता इस आच्छादन, आत्मगोपनात्मक क्रीड़ा को स्व-स्वरूप मानने लगता है और यही भ्रान्ति उसके लिए बन्धन है । बन्धन केवल कल्पना है । यह एक अभिनय है । परप्रमाता इस अभिनय को मात्र अभिनय मानता है; अत: उसके लिए यह बन्धन नहीं, प्रत्युत स्वानुभव की क्रीड़ात्मक लीला है या आत्मज्ञानार्थ कल्पित अभिनय है । चूँकि बन्धन स्वरचित आँखमिचौली की क्रीड़ा है; अत: इस क्रीड़ा को बन्द करके पूर्वावस्था में पुन: आना कोई नयी भूमिका तो है नहीं; किन्तु इसे ही मुक्ति कहा गया है स्वकल्पित पशुभूमिका का त्याग करके अपने स्व-स्वरूप (पशुपतिरूप) में प्रत्यावर्तन ही तो मुक्ति है । अत: मुक्ति कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ।

इस दर्शन में अपने को जान लेना ही मोक्ष है—'इह आत्मज्ञानमेव मोक्ष:' (तन्त्रालोक 'विवेक' १.१६१) । भेद से भेदाभेद एवं भेदाभेद से अभेद (स्व-स्वरूप की अद्वैतावस्था) में प्रत्यावर्तन ही तो मोक्ष है । अभिनेता तब तक बन्धन में नहीं है, जबतक कि बन्दर की भूमिका को अभिनय मात्र माने ।

क्रीड़ावाद—जगत् एक क्रीड़ा है । यह क्रीड़ा द्विरूपात्मिका है—आरोहण कल्पना की क्रीड़ा एवं अवरोहण कल्पना की क्रीड़ा ।

अपने पूर्ण अहं में अभिन्नतया इदंरूपात्मक विश्व का अवभासन परमशिव की अवरोहण कल्पना की क्रीड़ा है ।

आरोहण कल्पना की क्रीड़ा के द्वारा परमशिव इदम् (विश्व) को अपनी अहन्ता में इस प्रकार लय कर लेता है कि इदन्ता का नाम तक शेष नहीं रह जाता । 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ' कहकर कारिकाकार ने जिस उन्मेष-निमेष का उल्लेख किया है, वे परमशिव की क्रीड़ायें हैं । इदन्ता का अहन्ता में सर्वथा लयीकरण एवं परमशिव की प्रकाशरूपता का उन्मेष एवं विमर्शरूपता का निमेष है । स्वात्मरूप में इदन्ता का अवभासन प्रकाशरूपता का निमेष एवं विमर्शरूपता का उन्मेष है । विमर्श का उन्मेष सृष्टि का पर्याय है एवं विमर्श का निमेष प्रलय का पर्याय है । परमेश्वर में प्रतिक्षण सृष्टि एवं प्रलय स्पन्दित हो रहे हैं ।

(क) अवरोहणकल्पना की क्रीड़ा—परमशिव अपने पूर्णतम शिवभाव के भीतर अपनी स्पन्दरूपात्मक स्वतन्त्र इच्छा से असंख्य विश्वों का उल्लासन किया करता है । यही उसकी अवरोहण कल्पना की क्रीड़ा है ।

(ख) आरोहकल्पना की क्रीड़ा—परमशिव के द्वारा जीवभाव का अवभासन स्वकल्पित स्वरूप-प्रच्छादन है और स्वकल्पित जीवभाव का विलापन परमशिव का स्वरूप-प्रकाशन है। यह स्वरूप-प्रकाशन परमशिव की आरोह कल्पना की क्रीड़ा है। इसमें जीवभाव की परिमितता का सर्वथा लोप एवं परमेश्वरता का प्रकाश होता है।

भेद-प्रत्यवमर्श ही दुःख है। इसी भेदानुभूति से पति पशु बन जाता है। समरसता की अप्रतीति ही दुःख है। शिव होकर भी पशु से तादात्म्य, शिवता से पार्थक्य, सामरस्य से दूरी ही दुःख है। सारे दुःखों, द्वन्द्वों एवं अतृप्तियों का कारण समरसता का अभाव है। शिव की स्वात्मीभूता समरसता सभी में स्थित है; किन्तु अज्ञात रहने एवं भेदपरामर्श ही दुःख का प्रधान कारण है। भेदप्रत्यवमर्श के कारण आनन्दस्पन्दनात्मा सामरस्य का तिरोभाव हो जाता है और यह तिरोभाव ही दुःख है।

सामरस्यावस्था के परामर्श का स्वरूप अहं (पूर्णाहन्ता, अपनी विश्व के साथ अद्वैतभावात्मिका दृष्टि) है। यही विश्वात्मैक्य दृष्टि आनन्द है। परमात्मा अपनी पूर्णाहन्ता के आनन्द में अहर्निश स्पन्दित रहता है।

चिन्मयी शक्ति नादात्मा है और जगत् इसी नाद एवं ज्योति का रूप है। शक्ति अनाहत नादरूपा है, वर्णरूपा है, शब्दब्रह्मरूपा है और जगत् इसी का विवर्त है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

जगत् का 'अवरोहण' तीन स्तरों में विभक्त है—विवर्ततेऽर्थभावेन—१. अभेद, २. भेदाभेद, ३. भेद। अभेद ही वह स्तर है, जहाँ सब कुछ समरस है। यही परमशिवावस्था है, आनन्द एवं चैतन्य का पूर्णतम स्तर है।

आगमिकता के विशिष्ट बिन्दुओं में निम्न बिन्दु प्रधान हैं—

(क) दो का सामरस्य ही यथार्थ अद्वैत है—अद्वैतवाद की नव्य परिभाषा।

(ख) सङ्कोच-प्रसारात्मिका चिन्मयी शक्ति की स्वीकृति।

(ग) सामरस्य की स्वीकृति।

(घ) व्युत्थान एवं समाधि में भी समान स्थिति की मान्यता।

(ङ) पञ्चविध शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, वैन्दव एवं शाक्त शरीरों की मान्यता।

(च) पूर्णावस्था में चिन्मयीकरण द्वारा समस्त विकल्पों का अमृतीकरण।

(छ) सृष्टि एवं प्रलय—पञ्चकृत्यकारी शिव का आनन्दमय विलास।

(ज) शुद्धाध्वा की परिकल्पना।

(झ) श्वेत एवं रक्त बिन्दु से सृष्टि होने की कल्पना।

(ञ) 'विश्व' शक्ति के रूपान्तरण या शक्तिरूपात्मक होने की मान्यता।

(ट) प्रत्येक जड़ परमाणु में मूलशक्ति की स्पन्दनात्मकता।

(ठ) अवरोहण में लीला (रसात्मकता) दृष्टि।

(ड) आत्मा के स्वरूपलक्षण के रूप में चैतन्य का ग्रहण ।

(ढ) मुक्ति के रूप में समावेश (जीवन्मुक्ति) की स्वीकृति ।

(ण) जगत् की नित्यात्मकता—शक्त्यात्मक नित्यता ।

(त) बन्धन-मोक्ष, सुख-दुःख, सृष्टि-प्रलय—सभी की शक्त्यात्मक विलास के रूप में कल्पना ।

जगत् एक चित्र है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः ॥

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

जगत् 'शक्ति' है—जगत्शक्ति का अपना व्यक्त रूप है—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥ (यो०हृ०)

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । (प्र०हृ०)

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः । (प्र०हृ०)

भगवान् विश्वशरीरः । (प्र०हृ०)

(क) स्वरूप-प्रच्छादन की क्रीड़ा = अवरोह = सृष्टि = बन्धन ।

(ख) स्वरूपोन्मीलन की क्रीड़ा = आरोह = प्रलय = मुक्ति ।

बन्धन एवं मोक्ष—परमशिव के स्वातन्त्र्य की कल्पना है । यह स्वतन्त्र चिद्धन की कल्पनामात्र है । 'स्वातन्त्र्य' परमशिव (परमेश्वर) का ऐश्वर्य है । सृष्टि-प्रलय एवं बन्धन-मुक्ति की कल्पना परमशिव का स्वातन्त्र्य-स्वभाव है । इसी कारण (स्वातन्त्र्य के कारण) शैव परमशिव को पूर्ण स्वतन्त्र कहते हैं । इसी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा परमशिव क्रम, अक्रम, अभेद, भेदाभेद एवं भेदपूर्वक आरोहावरोह की क्रीड़ा का अभिनय करता रहता है । अभिनेता होने के कारण वह नर्तक कहा गया है । शिव की स्वातन्त्र्य लीला या आत्मगोपन की क्रिया द्वारा वह प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमा आदि नाना रूपों में अपने को कल्पित करके अनतिरिक्त को भी स्वात्मभित्ति पर अतिरिक्तवत् आभासित करता है ।

परमात्मा का कर्तृत्व एवं आभासन—जगत् का आभासन एवं आभासित जगत् का अपने भीतर विलापन ही परमशिव का स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व है ।

स्वेच्छावश अपने अनाच्छादित स्वरूप को आच्छादित करना एवं इस आच्छादन को आत्मस्वरूप में विगलित करना एवं अपने शुद्ध स्व-स्वरूप को प्रकाशित करना, कल्पित प्रमातृभाव से अपने को परिबद्ध करने, उससे अपने को मुक्त रखने आदि सभी क्रियायें

स्वातन्त्र्य शक्ति की क्रीड़ा, लीला या परप्रमाता का अभिनय है।

शैवों का दु:खसम्बन्धी दर्शन—सामरस्य शिव एवं शक्ति की अद्वैतात्मक अवस्था है। यह शिवता का पर्याय भी है। यहाँ दु:ख भी सुख है और विष भी अमृत है—

दु:खान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्ग: स शाङ्कर: ॥

सामरस्य में अवस्थित योगी जगत् को स्वातन्त्र्य का स्फुरण स्वीकार करता है, अत: उसे (जगत् को) मधुमय मानता है। वह दु:खों को भी मधुमय मानता है। शैव दार्शनिक कहते हैं कि दु:ख कहीं (यथार्थत) हैं ही नहीं। दु:खों का मूल कारण वैषम्य है और वैषम्य है—स्वरूप-सङ्कोच। स्वरूपसङ्कोच ही दु:ख का कारण है।

समत्वभाव—सामरस्य में अद्वैत दृष्टि है। चैतन्य की अखण्डित समरसता ही जगत् में अनन्त प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एवं प्रमा आदि रूपों में अवभासित होती है। शिव सदा समरस हैं। परम सत्ता सदा समरस है। इसमें शिव एवं शक्ति का सामरस्य है। शिव की शिवता (शक्ति) उसकी नित्य समरसता है। नित्य समरस शिव की स्वभावरूपा शिवता (समरसता) या समरसता नित्य सत्ता है। समरसता का प्रसार ही अनन्तरूपात्मक विश्व है। लहरों की भासमान भिन्नता के गर्भ में जलत्व की समरसता अवस्थित है। चैतन्यांशों के मूल में समरस शिवरूप चैतन्य की समरसता नित्य भाव से स्थित है। तरङ्गें समुद्र से अभिन्न हैं तथापि भिन्नवत् प्रतीत होती हैं, तद्वत् नित्य समरस परमशिव अपने नित्य समरस चैतन्यस्वरूप को प्रमेय आदि के रूप में अनन्त रूपों का अवभासन करता है। तरङ्गों में स्थित जलत्व की समरसता के समान अनन्त जीवों की अनन्तरूपता में चैतन्यस्वरूप की एक समरसता विद्यमान है। सभी के मूल में समरसता स्थित है। इसकी अनुभूति से दु:खों का अन्त हो जाता है। सभी में एक ही आत्मचैतन्य विद्यमान है।

सभी में आत्मचेतना के समत्व का दर्शन—सर्वत्र आत्मरूपता की समरसता की अनुभूति (अनुभवात्मक बोध) ही स्वात्मपूर्णता की वह आनन्दानुभूति है, जिसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। समरसतास्वरूप चिद्घन भूमि में अवस्थित जीव लौकिक जीवन में भी शिवरूप बन जाता है। इस स्थिति में जय-पराजय, सुख-दु:ख, साम्य-वैषम्य, अनुकूल-प्रतिकूल आदि समस्त द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—'न हि चिद्घनानां भूमिमनुप्रविष्टस्य द्वन्द्वाभिभव: ।' समरस आत्मा में विश्रान्ति ही तो आनन्द है—'स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्' (परमार्थसार)। प्राणियों के समरस चित्स्वभाव का सङ्कोच ही दु:ख का कारण है। जीव का स्वभाव आनन्दमय (शिव-शक्ति की एकता या समरसता) है अर्थात् समरसता या आनन्दमयता जीव का तात्त्विक स्वभाव है।

शिव-शक्ति का समरसत्व—सामरस्य ही जगत् की सृष्टि का भी मूल है। यह समत्वभाव को भी आलिङ्गित करता है (सभी में एक आत्मचैतन्य के दर्शन की दृष्टि)।

सारांश—१. शैवों की आनन्दवादी दृष्टि में सुख-दु:ख दोनों समभाव से आस्वाद्य है।

२. विश्व चिति की आनन्दलीला है, फिर जगत् में दुःख कहाँ है?

संविद्रूप समरसता का बोध हो जाने पर प्रमाता के लिए दुःख भी सुख बन जाते हैं । संसार ही मोक्ष एवं आनन्दोत्सव बन जाता है—

मोक्षायते च संसारः यत्र मार्गः स शाङ्करः ।

साधना एवं साधनांग स्वात्मपरामर्श से भिन्न नहीं है—स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र दोनों अनुभूतिपरक होने के कारण साधना एवं साधनांगों को अपने पारम्परिक रूढ़ अर्थों में गृहीत न करके उन्हें वैज्ञानिक, मौलिक एवं स्वात्मपरामर्श के अंग के रूप में गृहीत करते हैं । यथा—

१. जप—मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही शिव हूँ—इस अनाहतनादरूपी शब्द (सोऽहं हंसः) की निरन्तर भावना ही 'जप' है—

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।। (विज्ञानभैरव-१४२)

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् (स्वच्छन्दतन्त्र ४।३९९) ।

इस प्रकार से अहर्निश स्वाभाविक रूप से प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपा जप का विमर्श ही जप है—

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।

इत्यादिरूपा भाव्यते सम्पाद्यते इति जपः ।

२. ध्यान—निश्चल (अत्यन्त स्थिर), निराकार (अनेकात्मक आकारों की कल्पना से शून्य, विकार-रहित = नाना परिमाणों से मुक्त), निराश्रय (मूलाधार, हृदय, द्वादशान्त आदि आश्रय ग्रहण न करने वाली) बुद्धि ही इस शास्त्र में 'ध्यान' पदवाच्य है—

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ।। (१४३)

किसी देवता के शरीर, आँख, मुख एवं हाथ आदि की कल्पना ध्यान नहीं है । विज्ञानभैरव की उपर्युक्त उक्ति द्वारा ध्यान की सगुण, साकार कल्पना का निषेध किया है ।

३. होम—यज्ञ में स्थूल सामग्री की आहुतियाँ देना ही होम है; किन्तु इस शास्त्र में इसे होम नहीं स्वीकार किया गया । यहाँ होम का अर्थ कुछ भिन्न ही है । यहाँ होम का अर्थ है—महाशून्यालयरूपी हुताशन में भूताक्ष विषयों का हवन । यही होम है, जो कि चेतना के स्रुवा से सम्पन्न किया जाता है—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ।। (वि०भै० १४६)

बोधभैरवरूपी वह्नि (महाशून्यालय वह्नि) में ५ महाभूत, ११ इन्द्रिय, अनेक विषय, भुवनतत्त्व आदि सङ्कल्प-विकल्पात्मक जगत् एवं मन की आहुति होम है । यह आहुति भी चिति नामक पात्र में रखकर दी जाती है । इस चैतन्य के पात्र में समस्त जगत् एवं समस्त

जागतिक पदार्थों को रखकर बोधभैरवरूप अग्नि में हवन किया जाता है। इससे मात्र शुद्ध स्वात्मस्वरूप शेष रह जाता है। अद्वयनय की दृष्टि में यही यथार्थ होम है, जिससे कि शुद्ध अद्वय तत्त्व के अतिरिक्त सब कुछ भस्म हो जाता है।

योगिनीहृदयदीपिका में भी यही भाव व्यक्त किया गया है—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ॥ (ज्ञानार्णवतन्त्र-२१.२९)

नैदानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः ।
मदहन्तां करोमीदं विश्वं हव्यपुरस्सरम् ॥ (सुभगोदयवासना ३९)

गीता में भी कहा गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ (गीता)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (गीता)

जप—जप भी कोई शारीरिक व्यापार नहीं है, प्रत्युत इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को रोककर आन्तर अनाहत नाद की भावना करना ही जप है। विकल्पात्मक नाना वर्णों के संघात से निर्मित मन्त्रों का बाह्योच्चारण जप नहीं है—

संयमेन्द्रियसञ्चारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥ (यो०हृ०दी०)

'तन्त्रालोक' (१.९०) में अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ।

शिव के परावाक्स्वभाव, अनाहतनादमय स्वरूप का बार-बार परामर्श करना ही जप है। (आचार्य जयरथ) परावाक्-स्वभाव अनाहतनाद का जप कैसे सम्भव है? अपनी प्राणशक्ति के इस स्वाभाविक व्यापार को केवल एक बार पहचान लेने पर फिर बार-बार इसको पहचानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

पूजा—पुष्पादिक स्थूल सामग्रियों के द्वारा परमात्मा की जो सेवा, आराधना आदि की जाती है, वह यथार्थ पूजा नहीं है। इस अद्वयात्मक दर्शन की साधनापद्धति में पुष्प, धूप, गन्ध आदि बाह्य उपकरणों से पूजा नहीं की जाती; प्रत्युत निर्विकल्पक महाकाश (परचिदाकाश) बोधभैरव के प्रति दृढ़ आस्था ही यहाँ पूजा पदवाच्य है—

पूजानाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥ (वि०भै०-१४४)

'संकेतपद्धति' नामक ग्रन्थ में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम् ।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः ॥

'तन्त्रालोक' (अभिनवगुप्तपादाचार्य) में कहा गया है—

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ॥ (४.१२१)

शिवस्तोत्रावली (भट्ट उत्पल) में कहा गया है कि उच्चार, करण, ध्यान आदि प्रयत्नसाध्य, आणव आदि उपायों के सहारे से सम्पन्न होने वाली विविध बाह्य विधियों को छोड़कर अनुपाय प्रक्रिया से सहज विधि से सम्पन्न होने वाला स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार ही भक्तजनों की वास्तविक पूजा-विधि है—

ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वस्पर्शनोत्सवः ।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे ॥ (१७.४)

भट्टनारायण 'स्तवचिन्तामणि' में कहते हैं कि हे भगवन्! मैं आपकी पुष्पादि बाह्य सामग्रियों से तो नित्य पूजा किया करता रहता हूँ, किन्तु आप मेरे लिए वह स्थिति उपस्थित कीजिए कि जिससे मैं आपके सामने उस ज्ञानरूपी दीपक को लेकर धर्माधर्मप्रभृति जागतिक परम्परा को आगे बढ़ाने वाले समस्त संस्कारों को भस्म कर देने वाला बनूँ। भेदबुद्धि का त्याग करके अद्वय आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा ही पूजा है—

मलतैलाक्तसंसारवासनावर्तिदाहिना ।
ज्ञानदीपेन देव त्वां कदा नु स्यामुपस्थितः ॥ (११३)

'शिवसूत्र' (२.८) में शरीर को ही 'हवि' कहा गया है।

याग—समाधि अवस्था में अनुभूयमान आनन्दजन्य सन्तुष्टि ही याग (देवयजन) है। पशुरूपी प्रमाता को जब पूर्व उपदिष्ट किसी उत्कृष्ट भावना के माध्यम से पतिरूपी रुद्रप्रमाता (अनाश्रित शिव) की शक्ति में समावेश (तन्मयीभाव, तन्मयता) क्षेत्र (तीर्थ हैं)।

योगेऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा ।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति ॥ १४७ ॥

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ १४८ ॥

पञ्चोपचार—

मन्त्र	—	मन्त्र चित् तत्त्व की रश्मियाँ हैं—मन्त्राश्चिन्मरीचयः।
गन्ध	—	धर्मज्ञानप्रदानाच्च गन्ध इत्यभिधीयते।[1]
धूप	—	परमानन्दजननाद् धूप इत्यभिधीयते।[2]
दीप	—	परतत्त्वप्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते।[3]
स्नान	—	.... नवतत्त्वस्य धारणात्।
		पावनात् परमेशानि स्नानमित्यभिधीयते॥

१-३. कुलार्णवतन्त्र

पुरश्चरण — पञ्चाङ्गोपासनेनेष्टदेवताप्रीतिदानतः ।
पुरश्चरति भक्तस्य तत्पुरश्चणं प्रिये ।।[1]

आसन — आत्मसिद्धिप्रदानाच्च सर्वरोगनिवारणात् ।
नवसिद्धिप्रदानाच्च आसनं कथितं प्रिये ।।[2]

न्यास — न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात् ।
सर्वरक्षाकराद्देवि! न्यास इत्यभिधीयते ।।[3]

ध्यान — यावदिन्द्रियसन्तापमनसा सन्नियम्य च ।
स्वान्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते ।।[4]

मन्त्र — मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः ।
त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः ।।[5]

शक्ति-शक्तिमान अभिन्न है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ।। (श्रीबोधपञ्चदशिका)

समस्त प्राणियों का यथार्थ स्वभाव परमेश्वर है—

स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः ।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ।। (श्रीबोधपञ्चदशिका)

चिदात्मा की बाह्याभिव्यक्ति ही जगत् है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १.५.७)

यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति ही जगत् है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

अपने आत्मारूपी दर्पण में जगत् के रूप में भैरव ही भरा हुआ है—

स एव भैरवो देवो जगदाभरणलक्षणः ।
स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिम्बितम् ।। (बो०पं०द०)

भैरव सभी प्राणियों के स्वभाव हैं—

भैरवः सर्वभावानां स्वभावः परिशील्यते । (बो०पं०-१५)

पारमार्थिक दृष्टि से संसार, बन्धन एवं मुक्ति आदि सभी मिथ्या हैं—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का ।
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।।

१-५. कुलार्णवतन्त्र

मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो ।
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थित: ॥

आदर्श तो यह है कि न तो किसी का त्याग किया जाय और न तो किसी को ग्रहण किया जाय—

मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थित: ।

(प्रतिबिम्बवाद) : भैरवीय चिदम्बररूप स्वच्छ दर्पण में विश्वभैरव का प्रतिबिम्ब-मात्र है—

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीये चिदम्बरे ।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादत: । (तं० ३.६५)

परमेश्वरता या शिवता के धरातल पर बन्ध-मोक्ष अभिन्न हैं—

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपत: ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वत: परमेश्वरे ॥ (बोधपञ्चा० १४)

अज्ञानग्रन्थि का भेदन एवं मोक्ष दोनों अभिन्न हैं—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यच्च।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्ष: ॥ (प०सा० ६०)

अवभास का स्वभाव विमर्श है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा । (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १.५.१०)

परमात्मा की क्रीड़ारसोत्सुकता ही सृष्टि का आधार है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुक: ।
विचित्रान् सृष्टि-संहारान् विधत्ते युगपद्विभु: ॥ (बोध०पं० ६)

परतत्त्व का ज्ञान हो जाय तो सारी साधनायें व्यर्थ हैं—

यावत्तत् परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि ।
तावत् पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम् ॥

विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये ।
क्व पूजा क्व जपो होम: क्व च लिङ्गपरिग्रह: ॥ (प्रभाकौल)

अहन्ता ही ईश्वरता है (विरूपाक्ष०)—

ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपं चेति ।
एतेऽहन्ताया: किल पर्याया: सद्भिरुच्यते ॥



चतुर्थ अध्याय
तत्त्वमीमांसा

तत्त्व का स्वरूप—'तत्त्व' किसे कहते हैं? तत्त्व पद दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है—तत् + त्व = तत् का भाव = तत्त्व ।

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावत: ।
तत्तत्त्वं क्रमश: पृथिवी प्रधानं पुंशिवादय: ॥

पारमार्थिक रूप को 'तत्त्व' कहते है (जयरथ-विवेक) ।

स्वकीय कार्य में, धर्मसमुदाय में या स्वसमान गुण वाले वस्तु मे, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं । अलग-अलग दर्शन में अलग-अलग तत्त्व मान्य हैं; यथा—न्याय में—१. भाव, २. अभाव ।

१. चार्वाक—तत्त्व ४ हैं—पृथिवी । जल । तेज । वायु ।
२. जैनदर्शन—'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्' (किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिए उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ण, समाज आदि का ज्ञान आवश्यक है । इन सत्तात्मक धर्मों के वस्तु का नाम 'स्वपर्याय' है । व्यावर्तक एवं वस्तु के निषेधात्मक धर्म अनन्त होते हैं । इयत्ताहीन निषेधात्मक धर्मो को 'परपर्याय' कहते हैं । प्रत्येक वस्तु (जैनदर्शन में) स्वपर्याय एवं परपर्याय का समुच्चय है । प्रत्येक पदार्थ के दो अंश होते हैं—१. शाश्वत अंश, २. अशाश्वत अंश ।
३. न्यायदर्शन में १६ तत्त्व हैं ।
४. वैशेषिक दर्शन में तत्त्व ०७ हैं ।
५. सांख्यदर्शन में तत्त्व २५ हैं ।
६. वेदान्त में तत्त्व ०१ है या ३ (केवलाद्वैत वेदान्त में १ विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ३)।
७. शैव-शाक्ततन्त्र में तत्त्व ३६ या ३७ है ।
८. पाशुमत मत में ५ पदार्थ माने जाते हैं—कार्य, कारण, योग, विधि, दु:खान्त ।

रत्नत्रय—द्वैतशैवागम के अनुसार ३ तत्त्व निम्न हैं—१. शिव, २. शक्ति, ३. बिन्दु ।

समस्त सृष्टि के अनन्त विस्तार एवं उसके अनन्त आकार-प्रसार, अनन्त रूप-प्रपञ्च के निर्माण (रचना, संघटन) के मूल में सन्धान करने पर यह पता चलता है कि इस अनन्त रूप, अनन्त आकार, अनन्त अस्तित्व एवं अनन्त स्वरूपों के गर्भ में जो मूलभूत निर्माणक

तत्त्व हैं, वे अनन्त नहीं हैं, बल्कि वे अत्यल्प हैं और उन्हीं के पारस्परिक संघटन, संयोजन-वियोजन द्वारा ही अनन्तरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है और प्रलय होता है। सृष्टि एवं प्रलय का विधान रचने वाले एवं संसार की समस्त सत्ताओं के गर्भ में उनके संघटक तत्त्व बनकर अनुस्यूत रहने वाले ये मूल द्रव्य ही 'तत्त्व' कहलाते हैं। 'तत्' का अर्थ है—'वह'। 'वह' का अर्थ है—जिसको मात्र संकेतित किया जा सकता है; किन्तु जो अपने मूल रूप में आकार-रूप-गुण-स्वरूप से अतीत है और जो सृष्टि की अत्यन्त रहस्यात्मक एवं सूक्ष्मतम इकाई हैं—उनके प्राणस्थानीय द्रव्य हैं और समस्त पदार्थों में अनूस्यूत हैं और जिनका संयोजन पदार्थों का जन्म है और जिनका वियोजन पदार्थों का (पदार्थात्मक समस्त जगत् का, सम्पूर्ण सृष्टि का) प्रलय है। सृष्टि के ये ही मूलभूत द्रव्य 'तत्त्व' कहलाते हैं। इन्हें भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी दृष्टियों के वैशिष्ट्य (या वैभिन्न्य) के कारण पृथक्-पृथक् स्वरूपों एवं पृथक्-पृथक् संस्थाओं में उल्लिखित किया है। यथा—विशिष्टाद्वैत वेदान्त तीन तत्त्व मानता है; यथा—१. चित् तत्त्व, २. अचित् तत्त्व, ३. परमात्मा। केवलाद्वैत वेदान्त केवल एक तत्त्व अर्थात् ब्रह्म को ही मानता है। अद्वैतवादी शैव शाक्त द्वयात्मक अद्वयवाद मानते हुए भी छत्तीस या सैंतीस तत्त्व मानते हैं।

काश्मीरीय शैवदर्शन में मात्र एक ही तत्त्व है और वह है—शिव। शेष सभी तत्त्व शिव से ही अभिव्यक्त होते हैं। इस शैवदर्शन में सांख्यदर्शन के २५ तत्त्व (स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति एवं पुरुषपर्यन्त २५ तत्त्व) स्वीकृत हैं। साख्य दर्शन में 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' स्वतन्त्र हैं और नित्य हैं; किन्तु शैव शैवदर्शन में ये परतन्त्र एवं अनित्य हैं। शैवदर्शन में प्रकृति 'माया' है और इसके साथ पाँच तत्त्व हैं—कला, विद्या, राग, काल एवं नियति। इन पञ्चकञ्चुकों में प्रविष्ट होकर उनका स्वरूपज्ञान करते ही व्यक्ति 'माया' से परे 'शुद्ध विद्या' के सम्पर्क में आता है। 'सद्विद्या' ईश्वरतत्त्व में लय हो जाती है और योगी ईश्वरतत्त्व में अनुभूति करने लगता है।

ईश्वरतत्त्व सदाशिव तत्त्व में, सदाशिव तत्त्व शक्ति तत्त्व में एवं शक्ति तत्त्व परम शिवतत्त्व में परिणत हो जाता है। यही है 'पूर्णावस्था'—

> यत्तत्त्वस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशतः।
> तत्पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता ॥ (श्रीबोधपञ्चदशिका-१३)

यही है शिव-शक्ति में सामरस्य। इस दर्शन में माया से शिव तत्त्वपर्यन्त ग्यारह तत्त्व नवीन हैं। सांख्यदर्शन के २५ तत्त्व एवं शैवदर्शन के अपने ११ तत्त्व मिलकर काश्मीरीय शैवदर्शन में ३६ तत्त्व हैं।

शिव—सूत्रकार ने 'शिवसूत्र' के प्रथम सूत्र में 'चैतन्यमात्मा' (१.१) कहकर जिस आत्मा की ओर इंगित किया है; वह कोई अन्य नहीं प्रत्युत प्रत्येक प्राणी में स्थित 'शिव तत्त्व' है। यही शिव तत्त्व 'आत्मतत्त्व' है। इसे ही (चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही) परासंवित्, शिव, परमशिव एवं परमेश्वर भी कहा जाता है। यह तत्त्व जड़ एवं चेतन या समस्त सत्ताओं में (व्यष्टि-समष्टि दोनों रूपों में) स्थित है। यह अनन्तरूपात्मक होते हुए भी एक है और एक होते हुये भी अनन्तरूपात्मक है। यह एक रहते हुये भी सभी में है। देशकालातीत

होते हुए भी यह देश-काल में स्थित है। यह नित्य, असीम, सर्वव्यापक, चेतन, स्वस्वभाव, स्वतन्त्र, विश्वमय, विश्वातीत आदि सभी है।

समस्त तत्त्व उसी एक परम तत्त्व के रूप में है। सभी तत्त्व उससे अभिन्न है।

परमशिव स्वयं ३६ तत्त्वों के रूप में जगत् में भासित होता है। यह प्रकाशैकघन, चिद्रूप, आनन्दघन, शिवतत्त्व ही शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त (अभिन्न रूप में) प्रत्येक तत्त्व के रूप में स्फुरित होता है—'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति' (प्र०हृ०)। इस शिवतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्राह्य एवं ग्राहक नहीं है।

श्रीबोधपञ्चदशिका में इसी शिवतत्त्व के विषय में कहा गया है कि यह समस्त प्राणियों का स्वभाव है। स्वतन्त्र चिद्घन परमार्थस्वरूप परमेश्वर समस्त प्राणियों (शिवादिसकलान्त प्रमातृवर्ग) तथा समस्त प्रमेय वर्ग (समस्त ग्राह्य-ग्राहक) का स्वभाव है—

भैरवः सर्वभावानां स्वभावः परिशील्यते ।
स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः ॥

समस्त जगत् 'शक्ति' है और महेश्वर शक्तिमान है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

शिव शक्ति से अभिन्न है; यथा—अग्नि एवं दाहकता—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥ (बो०पं०-३)

वह स्वात्मदर्पण में शक्ति द्वारा प्रतिबिम्बित होता है—

स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिम्बितम् । (बो०पं० ४)

इसी संवित्प्रकाश भैरव की वैश्वरूपा स्वातन्त्र्य शक्ति 'परादेवी' दर्पणनगरादिवत् भेदाभेद रूप में विश्व को अपने से बाहर स्वरूपामर्शन के रूप में प्रस्तुत करती है—

तस्यैवैषा परा देवी स्वरूपामर्शनोत्सुका ।

स्पन्दशास्त्र में परमात्मा का स्वरूप

स्पन्दशास्त्र में प्रतिपादित परमात्मा का जो स्वरूप है, वह है तो अद्वैतवादी दृष्टि पर आधृत; किन्तु फिर भी वह विज्ञानाद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद एवं कैवलाद्वैतवाद के अनुकूल नहीं है। स्पन्दशास्त्र में जिस परमसत्ता का प्रतिपादन किया गया है; उसकी विशेषतायें निम्न हैं—

१. यह सत्ता 'द्वयात्मक अद्वय' है।

२. यह पञ्च कृत्यों का निष्पादन करती है।

३. इसका स्वभाव 'प्रकाशविमर्शात्मक' है।

४. यह सत्ता 'विश्वमय' एवं 'विश्वातीत' दोनों एक साथ है।

५. जगत् इसी सत्ता का स्वस्वरूप है—आभास है—इसकी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' द्वारा किया गया बाह्योल्लास है—एक भी अनेकाकाराकारित अभिव्यक्ति है।

६. इस सत्ता की अनन्त शक्तियाँ हैं; फिर भी मुख्यतः पाँच शक्तियाँ हैं—१. चित्

शक्ति, २. आनन्दशक्ति, ३. इच्छाशक्ति, ४. ज्ञानशक्ति, ५. क्रियाशक्ति ।

स्पन्दकारिकाकार ने कहा है कि—

१. इस सत्ता का नाम है—शङ्कर ।

२. इसके 'उन्मेष-निमेष' से जगत् में 'प्रलय' एवं 'उदय' हुआ करते हैं ।

३. यह परा सत्ता 'शक्तिचक्र-विभव' की जन्मदात्री है—

> यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
> तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥ (१.१)[१]

स्पन्दकारिकाकार ने ऐसे ही 'शङ्कर' की वन्दना की है ।

इसी आत्मस्वभाव चिदानन्द परमात्मा में सम्पूर्ण कार्यजगत् विश्व स्थित है और उसी से यह निःशेष जगत् आविर्भूत हुआ करता है । समस्त प्रपञ्च में इसकी आवश्यक शक्ति कोई भी नहीं है—

> यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
> तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ (१.२)[२]

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें तो परिवर्तित होती रहती हैं; किन्तु यह सभी अवस्थाओं में अवस्थाता के रूप में अवस्थित रहता हुआ भी अवस्थातीत होने से अप्रभावित रहता है । सुख, दुःख, प्रेम आदि जो भी मानसिक अवस्थायें उत्पन्न एवं तिरोहित होती हैं, उन समस्त अनन्त मानसिक अवस्थाओं के अनन्त संवेदनों के साथ प्रतिक्षण संलग्न रहने पर भी यह संवेदनों के परिवर्तनों, रूपान्तरणों एवं विभिन्न आकारों के साथ भी अपरिवर्तित, अरूपान्तरित, एकाकार एवं एकरस रहता है ।[३] अनन्त संवेदनों का सहवर्ती एवं सहचर रहता हुआ भी यह संवेत्ता समस्त संवेदनों से पृथक् है । यह संवेदनातीत एवं अवस्थातीत है । अन्तःकरण एवं जड़ इन्द्रियों को (अपने) कार्यों को निष्पादित करने की शक्ति भी यही प्रदान करता है । यह परा सत्ता ही परमात्मा, संवित्, परमशिव, स्पन्द, परसंवित्, स्वभाव, चिति् शक्ति आदि नामों से प्रख्यात है ।

इसी परा सत्ता का प्रकाशपक्ष 'शिव' है और उसी का विमर्शपक्ष 'शक्ति' है । शिव शक्ति-परिणद्ध है । शिव-शक्ति में चन्द्र-चन्द्रिका एवं अग्नि-दाहकता के समान अपृथक् सम्बन्ध है । 'शक्ति' के विना 'शिव' शव है ।

शिव सर्वाधिष्ठान है ।[४] यह नित्योपलब्ध शाश्वत सत्य है ।[५] ज्ञान और ज्ञेय उसी के दो रूप हैं ।[६] कोई भी ऐसी अवस्था है ही नहीं, जो कि शिव न हो—'न साऽवस्था न यः शिवः ।'[७] वही भोक्ता भी है और वही भोग्य भी है, वही द्रष्टा भी है और वही दृश्य भी है ।[८] जगत् उसका क्रीडनक है ।[९]

१-३. स्पन्दकारिका
४. स्पन्दकारिका ११
५. स्पन्दकारिका १७
६. स्पन्दकारिका
७. स्पन्दकारिका १८
८. स्पन्दकारिका २९
९. स्पन्दकारिका ३०

अद्वैतवाद (स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में)

अद्वैतवाद (अभेदवाद)—जिस प्रकार 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कहकर श्रुति अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है, उसी प्रकार काश्मीरीय शैवदर्शन भी अभेदवाद या अद्वैत का प्रतिपादन करता है । अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—'भेद' बोधात्मा भैरवस्वरूप से पृथक् नहीं है; क्योंकि स्वसंविद् घन शिव एक है और सारे प्रतीयमान ग्राह्य-ग्राहक भेद उसी के अवभास हैं (उससे भिन्न नहीं है)—

इत्थं स्वसंविद्घन एक एव शिव: स विश्वस्य पर: प्रकाश: ।[१]
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्यग्रहीतृप्रविभागभेद: ॥ ३ ॥

अत: 'भेद' अभेदात्मा भैरव से भिन्न नही है—

भेद: स चायं न ततो विभिन्न: स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्न: ।[२]
प्रासादहस्त्यश्वपयोदसिन्धुगिर्यादियद्वन्मणिदर्पणादे: ॥ ४ ॥

विश्व शक्ति या शिव से भिन्न नहीं है—'वस्तुतो विश्वं नाम न किञ्चिद्भिन्नं वस्तु, न कदाचित्सृष्टं सृज्यते, संहृयते वा केवलं स्वैश्वर्यातिशयत: शिव एव तथा तथाऽऽभासपरमार्थेन स्वेच्छोद्भासितवेद्यवर्गेण परितो विजृम्भमाण ..... ।'[३]

समस्त सृष्टि एवं संहार तथा उसके सभी प्रतीयमान भेदावभासों के अनन्त प्रकार परमशिव के ही आत्मगत भेद हैं—

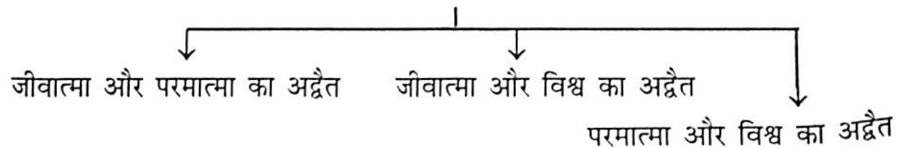
एवमस्य स्वतन्त्रस्य निजशक्त्युपभेदिन: ।
स्वात्मगा: सृष्टिसंहारा: स्वरूपत्वेन संस्थिता: ॥ (बोध पं०)

समस्त भावों का स्वभाव केवल भैरव है—

भैरव: सर्वभावानां स्वभाव: परिशील्यते । (बोध० १५)

जब सभी अस्तित्वों का स्वभाव (स्व का भाव = अपना वास्तविक अस्तित्व) स्वयं 'भैरव' है तो कोई भी पदार्थ भैरव से भिन्न कैसे हो सकता है?

अद्वैतवाद के विभिन्न स्वरूप



शांकर अद्वैत में प्रथम प्रकार का अद्वैत तो स्वीकार्य है; किन्तु अद्वैतवाद के ये दो अन्य स्वरूप स्वीकार्य नहीं हैं; लेकिन स्पन्दशास्त्र में हैं । यह अद्वैत ही शिव को शिवत्व प्रदान करता है और उसका अभाव ही जीव को शिवत्व से पशुत्व की कोटि में पहुँचा देता है—

---

१. अभिनवगुप्त : परमार्थचर्चा २. परमार्थचर्चा
३. परमार्थचर्चाविवरण (हरभट्टशास्त्री)

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशं कर्मादिकलुषः पशुः ॥[१]

भेदग्रन्थिविभेदे हि कर्मात्मैक्यं प्रपद्यते ।
सोऽविज्ञातः पशुः प्रोक्तो विज्ञातः पतिरेव सः ॥[२]

जब शक्ति एवं शक्तिमान् दो ही पदार्थ हैं और जगत् मात्र शक्ति है तब तो भेद के लिए अवसर ही कहाँ बचा? पारमेश्वर में कहा गया है—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥

परमार्थ-दृष्टि से कहीं भी भेद है ही नहीं; क्योंकि जगत् की सृष्टि एवं संहार तथा जगत्—दोनों ही शिव से भिन्न नहीं हैं—'अनेन आत्मन एव शिवस्य स्वेच्छामात्राधीनौ जगतः प्रलयोदयौ जगदपि तत्स्वरूपाभेदात् तस्य स्वशक्तिचक्रमयो विभव इति .... एकमेव तत्त्वं स्वरूपपरामर्शमात्राव्यभिचारधर्मकं परमार्थ सत् अतो व्यतिरिक्तं किञ्चित् न सम्भवति इति उपपादितम् ।'[३] कहा भी गया है—

परमार्थे तु नैकत्वं पृथक्त्वाद्भिन्नलक्षणम् ।
पृथक्त्वैकत्वरूपेण तत्त्वमेकं प्रकाशते ॥

ब्रह्माद्वैतवाद एवं ईश्वराद्वयवाद

त्रिक शासन के आचार्यों ने ब्रह्माद्वैतवाद को शान्तब्रह्मवाद का अभिधान दिया है। अद्वैतवाद के अनेक प्रस्थान एवं अनेक स्वरूप हैं; यथा—

१. व्याकरण का 'शब्दाद्वैतवाद' ।

२. माध्यमिकों का 'शून्याद्वैतवाद' ।

३. योगाचारियों (विज्ञानवादियों) का 'विज्ञानाद्वैतवाद' ।

४. रामानुजीय वेदान्त का 'विशिष्टाद्वैतवाद' ।

५. वल्लभाचार्य का 'शुद्धाद्वैतवाद' आदि ।

काश्मीरीय शैव दर्शनिकों ने अपनी अद्वैत दृष्टि को 'ईश्वराद्वयवाद' का अभिधान दिया। तन्त्रालोक (तन्त्र का इन्साइक्लोपीडिया) में अभिनवगुप्त ने इसका पुष्कल प्रतिपादन किया है ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिकदर्शन, माहेश्वरदर्शन काश्मीरीय शैवदर्शन के विभिन्न पर्यायवाची शब्द हैं । इसी के अन्दर 'स्पन्द' एवं 'क्रम' भी अन्तर्भुक्त हैं । काश्मीरी शैवों ने अपनी जिस अद्वैतवादी दृष्टि की स्थापना की; उसी का अभिधान है—ईश्वराद्वयवाद ।

ब्रह्माद्वैत एवं ईश्वराद्वयवाद का मुख्य व्यावर्तक बिन्दु है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा २. स्पन्दप्रदीपिका
३. स्पन्दकारिकाविवृति : रामकण्ठाचार्य

१. ईश्वराद्वयवाद का परमशिव कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, व्यापकत्व, सर्वशक्तिपूर्णत्व, नित्यत्व, आप्तकामत्व आदि गुणों से पूर्ण है । शङ्कराचार्य के ब्रह्म में कर्तृत्व है ही नहीं । ब्रह्म निर्गुण, निराकार, शुद्ध, साक्षी, अधिष्ठानरूप, चैतन्यस्वरूप और कर्तृत्वहीन है । काश्मीरी शैवों का परमशिव स्वतन्त्र, चिन्मय, ज्ञानस्वरूप तथा कर्तृत्वस्वरूप है ।

२. शांकर ब्रह्मवाद में जगत् मिथ्या है और मात्र ब्रह्म ही सत्य है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

काश्मीरी शैवदर्शन में जगत् चिद्रूप, नित्य एवं शिव में समवेत परा शक्ति का ही अपना व्यक्त स्वरूप होने के कारण सत्य है ।

३. शांकर ब्रह्मवाद में माया या अज्ञान किसी के अधीन नहीं है, किन्तु सृष्टि का कर्तृत्व उसी में है । सांख्य में भी पुरुष निष्क्रिय है । सक्रिय तो केवल जड़ प्रकृति है । प्रत्यभिज्ञा-दर्शन (स्पन्दक्रम एवं प्रत्यभिज्ञा) में भी अज्ञान एवं माया दोनों हैं; किन्तु यह स्वतन्त्र नहीं है । यह शिव के अधीनस्थ है । उसकी लीला अज्ञान के सृजन एवं लय दोनों की सम्पादिका है । अज्ञान का उदय होने पर भी शिव का स्वरूप परिवर्तित एवं प्रभावित नहीं होता । माया एवं सृष्टि दोनों परमशिव की लीला या क्रीड़ा है । जगत् आप्तकाम (इच्छाशून्य, किन्तु इच्छाशक्ति-समन्वित) शिव का क्रीड़ाङ्गण है ।

जगत् की सृष्टि किसी प्रयोजन-सिद्धि के लिए नहीं की गई है; क्योंकि यह मात्र क्रीड़ा है । क्रीड़ा का कोई प्रयोजन नहीं होता, क्रीड़ा तो मनोरञ्जन एवं आनन्दाप्ति हेतु होती है । इसी प्रकार जगत् एवं सृष्टि भी आन्दोल्लासमात्र है; अतः निष्प्रयोजन एवं अहेतुक है । परमात्मा इच्छारहित है, पूर्णकाम है । अतः जगत् एवं उसकी सृष्टि के पीछे परमात्मा का कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता ।

४. शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द आदि) में विमर्श ही शिव का स्वभाव कहा गया है । शांकर ब्रह्मवाद इसे स्वीकार नहीं करता ।

५. त्रिक दर्शन यह मानता है कि शिव के इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया में कोई पृथकत्त्व नहीं है । उसकी क्रिया ही ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृत्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है । इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम इच्छा है । इसी कारण आत्मा इच्छामय है या इच्छा, ज्ञान क्रिया—इन तीनों शक्तियों से युक्त स्वातन्त्र्यमय है (गोपीनाथ कविराज : शिवांक) ।

६. काश्मीरीय त्रिक शासन में आत्मा स्वभावतः सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह, विलय की सम्पादिका है । शांकर ब्रह्मवाद इसे स्वीकार नहीं करता । प्रत्यभिज्ञाहृदय में आचार्य क्षेमराज ने कहा है कि—त्रिक शासन की आत्मा में सृष्टि, स्थिति,

संहार, अनुग्रह एवं तिरोधान की शक्तियाँ निहित हैं—शिव (जगदात्मा) पञ्चकृत्यकारी है; किन्तु शङ्कराचार्य के वेदान्त का ब्रह्म ऐसा नहीं है । शांकर अद्वैतवाद के ब्रह्म में आत्मा का यह स्वस्फुरण नहीं है । इसीलिए वह सत्य होते हुए भी असद्वत् एवं सर्वशक्तिशाली होते हुए भी क्रियाशील न होने के कारण नि:शक्त-सा दृष्टिगत होता है ।

महेश्वरानन्द महार्थमञ्जरी में कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्माद्वैतवाद भी अद्वैत तो है; किन्तु वस्तुत: उसे द्वैत ही समझना चाहिए । संविदुल्लास की भी यही दृष्टि है ।

७. शांकर ब्रह्मवाद में शिव और अन्य आत्मायें तो चेतन या चिद्रूप हैं; किन्तु माया एवं जगत् चिद्रूप नहीं है; अन्यथा शङ्कराचार्य उसे मिथ्या कैसे कहते? वे यह कैसे कहते कि—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।

८. शांकर अद्वैतवाद में माया ब्रह्म के अधीन है, किन्तु यह उनकी समवायिनी एवं आत्मभूता शक्ति नहीं है । यह चेतन भी नहीं है । यह न तो सत् है और न ही असत् । यह अनिर्वचनीया है । अद्वैतवादी शैवमत में (ठीक इसके विपरीत) परमशिव की विमर्श शक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति चेतन है, सत् है और शिव के साथ इतना तादात्म्यभाव रखती है कि उससे (चन्द्र-चन्द्रिकावत्) अभिन्न है ।

९. शिव को अपनी प्रत्यभिज्ञा, आनन्दाप्ति तथा 'मैं कौन हूँ' के ज्ञान के लिए (अपनी सत्ता के आभास या बोध के लिए) शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है; किन्तु वेदान्त के ब्रह्म को अपनी शक्ति-माया का इस प्रकार आश्रय नहीं लेना पड़ता । त्रिक शासन का सिद्धान्त—'शैवीमुखमिहोच्यते' शांकर वेदान्त में सत्य नहीं है ।

१०. इसी शक्ति के सहारे शिव अपने में 'अहं' का बोध करते हैं ।

११. शांकर ब्रह्मवाद में ब्रह्म सृष्टि नहीं करता; माया सृष्टि करती है । शांकर वेदान्त में माया एवं अज्ञान एक ही अर्थ के परिचायक हैं । अत: उनमें कोई भेद नहीं है । परवर्ती वेदान्ती विद्यारण्य ने कहा कि—

(क) गुणत्रय की साम्यावस्था ही प्रकृति है और इसके दो भेद हैं—१. माया, २. अविद्या—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरज:सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविद्या च सा ।। (पञ्चदशी : १.१५)

(ख) रजस्, तमस् की मलिनता से रहित; अत: विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति ही माया है ।

(ग) मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृति ही अविद्या है । मायाच्छन्न ब्रह्म ईश्वर एवं अविद्याच्छन्न ब्रह्म जीव कहलाता है—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ।। (पञ्चदशी १.१६)

यह माया न तो त्रिकालाबाधित है, न सत् है, न नित्य है, न असत् है; प्रत्युत अनिर्वचनीय है । यह त्रिगुणात्मिका है । यह ज्ञान-विरोधी है । तत्त्वज्ञान होते ही इसका नाश हो जाता है ।

माया की दो शक्तियाँ हैं—

१. आवरण शक्ति—आवरण शक्ति से युक्त अज्ञान आत्मा को आच्छादित करता है । इसके कारण तत्त्व ढक जाता है और वस्तु के अपने सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता ।

२. विक्षेप शक्ति—सत् में असत् का आरोपण करके असत् की सृष्टि करना; यथा—रज्जु में सर्प की सृष्टि । 'विक्षेप शक्ति' के कारण ही आत्मा में विश्व का मिथ्यारोप करके प्राणी निर्विकार, अकर्ता, अभोक्ता आत्मा को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि मानता है । इसी शक्ति के द्वारा आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त जगत् की सृष्टि होती है ।

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् । (वाक्यसुधा : १४)

फिर सृष्टि कैसे होती है? माया की दोनों शक्तियों से आवृत्त चैतन्य (आत्मा) में क्रिया होती है । क्रिया तो रजोगुण का धर्म है और माया की प्रकृति है; अतः क्रिया तो रजोगुण के रहने के कारण माया में होती है; किन्तु अज्ञान के कारण अज्ञान का धर्म (क्रिया) आत्मा में आरोपित होता है; अतः यह आत्मा ही क्रिया प्रतीत होती है और इसी क्रिया द्वारा जगत् की सृष्टि होती है ।

'वेदान्त' क्रिया को आत्मा में अध्यारोपित मानता है; किन्तु त्रिक शासन में इसे आत्मा एवं परमात्मा दोनों का स्वस्वभाव माना गया है । शांकरमत में मायावच्छिन्न चैतन्य ही जगत् का कारण है । शैवमत में शिव जब मायावच्छिन्न नहीं रहता, फिर भी स्वात्मभित्ति में आन्तर सृष्टि तो करता ही रहता है—जगत् तो सृष्टि के पूर्व भी अपनी कारणावस्था में परमशिव में विद्यमान रहता है । हाँ; ग्राह्य-ग्राहक, प्रमाता-प्रमेय एवं विश्ववैचित्र्य के भेद विद्यमान नहीं रहते ।

'मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य ही सृष्टि का उपादान कारण है'—यह ब्रह्मवादी दृष्टि भी त्रिकनय में मान्य नहीं है । माया एवं प्रकृति से परे स्थित शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही जगत् की सृष्टि करती है या जगत् के रूप में परिणत (रूपान्तरित या व्यक्त) हो जाती है । यही त्रिक-दृष्टि है; जो कि वेदान्त के ब्रह्मवादी दृष्टि से पृथक् है ।

वेदान्त की शांकर दृष्टि यह है कि चैतन्य में दो स्वरूपों (चैतन्य एवं मायारूप उपाधि) की स्थिति है ।

(क) जब सृष्टि-कार्य में (उपाधियुक्त) चैतन्य को प्रधानता दी जाती है तब चैतन्य सृष्टि का निमित्त कारण बनता है ।

(ख) जब सृष्टि-कार्य में (चैतन्य की) मायारूप उपाधि को प्रधानता दी जाती है तब मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य सृष्टि का उपादान कारण बनता है । मायोपाधिविशिष्ट

चैतन्य ही सृष्टि का उपादान कारण है ।

त्रिकशासन का अद्वैत = द्वयात्मक अद्वयवाद

शैवागम में अद्वैत का अर्थ है—दो का नित्य सामरस्य । शांकर ब्रह्मवाद में ब्रह्म के सत् एवं माया के सद्रूप न रहने के कारण दोनों में सामरस्य सम्भव नहीं है । परमशिव की 'विमर्श शक्ति' के समान वेदान्त के ब्रह्म की 'माया शक्ति' नहीं है ।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की दृष्टि अद्वैत नहीं है । यह द्वैत या द्वैताभास हो सकता है ।[१]

शिव एवं शक्ति (शक्ति एवं शक्तिमान) का नित्य सामरस्य ही ईश्वराद्वयवाद है । चना एक है, किन्तु उसके ऊपरी आवरण के भीतर दालें दो हैं और वे परस्पर जुड़ी हैं; अतः चना दो होकर भी एक है । शक्ति एवं शिव इससे भी अधिक एक हैं । मयूराण्डरस में मयूर के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तरल पदार्थ के रूप में परस्पर अभिन्न हैं, एक हैं । शिव-शक्ति उनसे भी अधिक अद्वय एवं अद्वैत हैं । इन्हें चन्द्र-चन्द्रिकावत् अभिन्न कहा जाता है; किन्तु चन्द्रमा को सूर्य का प्रकाश न मिलने पर चन्द्रमा विना चन्द्रिका के रह सकता है; किन्तु शक्ति शिव के विना एवं शिव शक्ति के विना पृथक् नहीं रह सकते । ये दो होकर भी एक हैं और एक होकर भी दो हैं; किन्तु हैं परस्पर अभिन्न । यही शिव-शक्तिसामरस्य ईश्वराद्वयवाद की नींव है ।

विमर्श शक्तितत्त्व

मूल तत्त्व प्रकाशात्मक है—प्रकाशस्वरूप है । विमर्श ही उसका स्वभाव है । पराप्रावेशिका में कहा गया है—(क) सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने से, (ख) स्थिति की अवस्था में विश्व को प्रकाशित करने से तथा (ग) संहार की अवस्था में विश्व को आत्मसात् करने से शिव में जो पूर्ण अकृत्रिम अहम्भाव है, उसी को 'विमर्श' कहते हैं । अर्थात् शिव की सहज पूर्णाहन्ता ही उनका विमर्श है । यह विमर्श शिव की अपनी शक्ति है । भाव यह है कि विमर्शात्मक पूर्णाहन्ता ही शिव की शक्ति है और स्वाभाविक पूर्णाहन्ता ही उनका विमर्श है । यह विमर्श उनका मानसिक चिन्तन या विश्वात्मवादी अनुभूतिमात्र नहीं है; प्रत्युत अघटनघटनापटीयसी शैवी शक्ति है । इस शक्ति से शिव अपने शिवत्व को पहचान भी पाते हैं और शक्तिमान भी कहलाते हैं । यही अकृत्रिम शैली अहम्भाव (शिव की पूर्णाहन्ता) विमर्श के नाम से प्रसिद्ध है ।

यदि शिव में विमर्श शक्ति की सता प्रतिष्ठित न रहे तो शिव जड़ एवं अनीश्वर बन जायेंगे । इसे अन्य शब्दों में यह कहा गया है कि शक्ति के विना शिव शव हैं । 'शिव' शब्द के 'श' अक्षर में 'इ' की मात्रा शक्ति है । यदि इसे शिव शब्द से निकाल दिया जाय तो (शिव = श + इ = 'शि' = 'शि' से 'इ' निकाल देने पर) 'शव' शब्द रह जायेगा । शिव मात्र 'शव' बनकर रह जाएगा । 'शिव' पद में इकार की मात्रा (शक्ति का संयोग या समवाय) ही शिवत्व है; अन्यथा यह शवत्व बन जाता ।

---

१. भारतीय दर्शन : डा० उमेश मिश्र

तान्त्रिक आगमों में चित्, चैतन्य, परा वाक्, परमात्मा का मुख्यैश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, हृदय आदि जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे सभी विमर्श के ही पर्याय है ।

इस विमर्श शक्ति में अनन्त शक्तियों का निवास है और इस शक्ति के अनन्त स्वरूप हैं; किन्तु फिर भी बोध-सौकर्य के लिए इसे पाँच स्वरूपों में ही विभाजित किया गया है। जो निम्न है—

१. चित् शक्ति—तन्त्रसार के प्रथमाह्निक में कहा गया है कि चित् शक्ति प्रकाशरूपा है । इसी की सहायता से शिव अपने को स्वप्रकाश मानते हैं । उन्हें अपने प्रकाशत्व की अनुभूति चित् शक्ति के माध्यम से ही हो पाती है । इसीलिए कहा है—शैवीमुखमिहोच्यते ।

२. आनन्द शक्ति—वह अचिन्त्या परा शक्ति, जिसके द्वारा शिव आनन्दघन हैं। आनन्दमय हैं तथा अपने भीतर आनन्द का साक्षात्कार करते है, उसे ही 'आनन्द शक्ति' कहा गया है ।

३. इच्छाशक्ति—जिस अघटनघटनापटीयसी, अनिर्वाच्य परा शक्ति के द्वारा शिव सृष्टि, पालन, संहार आदि कार्यों का निष्पादन करते है, उसे 'इच्छाशक्ति' कहा गया है ।

४. ज्ञानशक्ति—जिस ज्ञानस्वरूपा महाशक्ति के द्वारा शिव स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उसे 'ज्ञानशक्ति' कहते हैं ।

५. क्रियाशक्ति—जिस शक्ति के द्वारा शिव अनन्त रूपों, स्वरूपों, आकारों आदि को धारण कर सकते हैं और धारण करते हैं, वह सर्वकर्तृत्व-सम्पादिका महाशक्ति ही क्रियाशक्ति है । ज्ञानशक्ति सर्वज्ञातृत्व की शक्ति है और क्रियाशक्ति सृष्टि के समस्त व्यापारों के निष्पादन की आदर्शपूर्ण शक्ति है ।

अनन्त शक्त्यात्मक शिव मुख्यतः इन पाँच शक्तियों द्वारा स्वलयीभूत जगत् का बाह्योल्लासन करते हैं । जो जगत् पहले से ही अपने कारणरूप में, शक्ति के गर्भ में अव्यक्त रूप में अवस्थित है, उसी का बाह्यावभासन करते हैं । शिव की शक्ति के कुक्षि में अव्यक्त रूप में अवस्थित जगत् को बाह्याकाराकारित करके व्यक्त करने की क्रिया ही सृष्टि कहलाती है । सृष्टि की यह प्रक्रिया सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद से अत्यधिक प्रभावित है ।

जगत् (स्पन्ददर्शन की दृष्टि में) शिव एवं शक्ति से पृथक् कोई अन्य स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति का ही विराट् रूप है । शक्ति ही सृष्टि है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता ।'

'स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' कहकर प्रत्यभिज्ञाहृदय के रचनाकार आचार्य क्षेमराज यह प्रतिपादित करते हैं कि—

१. विश्व का उपादान कारण भी शिव एवं शक्ति है ।

२. विश्व का निमित्त कारण भी शिव एवं शक्ति है ।

३. विश्व का सहकारी कारण भी शिव एवं शक्ति है ।

ऊर्णनाभि अपने मुख से जो जाला निकालती है, उसके लिए उसे किसी भी बाह्योपादान आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा निमित्त एवं सहकारी कारणान्तरों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' की भाँति शक्ति को भी जगत् की सृष्टि हेतु किसी बाह्य उपादान एवं कारणान्तरों की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

जगत् उत्पन्न कहाँ होता है ? 'स्वभित्तौ' अर्थात् परमशिव अपनी इच्छा से (विना परापेक्षा के) अपने भीतर जगत् का उन्मीलन करता है (सृजन नहीं करता; प्रत्युत अव्यक्त को व्यक्त करता है) । विना शक्ति के शिव जड़वत् ही है । शक्ति की सहायता से ही शिव आत्मप्रत्यभिज्ञा कर पाते हैं—'मैं हूँ' का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं—अपने भीतर 'अहमस्मि' का बोध कर पाते हैं । इसीलिए आचार्य शङ्कर ने सौन्दर्यलहरी में कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

अर्थात् यदि शिव शक्ति के साथ संयुक्त न रहें तो वे हिल भी नहीं सकते । शक्ति भी विना शिव के नहीं रह सकती । दाहकता अग्नि के विना कहाँ रहेगी? चन्द्रिका चाँद के विना कहाँ रहेगी? इन दोनों तत्त्वों में (शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व में) अभेद है, तादात्म्य है एवं सामरस्य है । इसी कारण शिव पूर्ण है ।

एक प्रश्न उठता है कि निष्काम शिव में इच्छा कैसी? यदि इच्छा न मानी जाय तो सृष्टि कैसे? इसी का उत्तर देते हुए कहा गया है कि—

मणेरपि न कामित्वं तद्वद्देवस्य चेष्टितम् ।
आदित्यवच्छिवो ज्ञेयः शक्तिर्मणिरिव स्थिता ॥[1]

मणि में कोई इच्छा तो नहीं होती; किन्तु सूर्य के प्रभाव से सूर्यकान्त मणि में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं । शक्ति यही मणि है और शिव सूर्य है ।

जिस प्रकार ऋतुकाल में वृक्ष में अंकुर निकलने लगते हैं, उसी प्रकार शिवसमायोग से जगत् की उत्पत्ति हो जाती है—

ऋतुकालमितावृक्षात्कालोऽङ्कुरनियोजकः ।
यद्वच्छिवसमायोगात्तद्वच्छक्तेर्जगत्स्थितिः ॥[2]

स्वच्छन्दतन्त्र में प्रश्न उठाया गया है कि 'अकामस्य क्रिया नास्ति निष्क्रियश्च सृजेत्कथम् ?' इसी का उत्तर देते हुए कहा गया है—

आदित्यस्य मणेर्यद्वत्तापितादृविरश्मिभिः ।
वह्निः सञ्जायते तस्माद्रवेस्तत्र न कामिता ॥[3]

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र (पटल १०)
२. स्वच्छन्दतन्त्र
३. स्वच्छन्दतन्त्र (७१७.११)

शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद

वीरशैवों का शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद—वेदान्त में भी विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, केवलाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अद्वैत की विभिन्न शाखायें हैं । इसी प्रकार शैवमत में भी अद्वैत की अनेक दृष्टियाँ हैं ।

वीरशैवमत जिस अद्वैत को स्वीकार करता है; उसका नाम है—१. शिवाद्वैत, २. द्वैताद्वैत, ३. वीरशैव, ४. विशेषाद्वैत तथा ५. शक्तिविशिष्टाद्वैत । मुख्यत: इसे 'वीरशैव' या 'शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं ।

शङ्कराचार्य का केवलाद्वैत त्यागमूलक है; अत: वह कर्म से संन्यास लेकर ब्रह्मवाद की स्थापना करता है । शक्तिविशिष्टाद्वैत कर्मप्रधान है । यह निष्काम कर्मवाद को प्रतिपादित करने के कारण वीरधर्म या वीरमार्ग कहलाता है ।

शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद का अर्थ है—१. शक्तिविशिष्ट जीव एवं २. शक्तिविशिष्ट शिव का सामरस्य (परस्पर एकाकार होना) अर्थात् 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम् ।'

चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव एवं सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव—इन दोनों का अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है । शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार शक्ति के दो रूप हैं—सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट शक्ति एवं स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति ।

(क) सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति = परशिव ।

(ख) स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति = जीव ।

शक्तिविशिष्टाद्वैत—शक्तिविशिष्ट परमात्मा एवं जीवात्माओं का ऐक्य । परमात्मा से भिन्न शक्ति एवं शक्ति से भिन्न परमात्मा की कल्पना नहीं की जा सकती । अग्नि + दाहकता के समान है—शक्ति + परमात्मा का अभेद ।

जगत्—चराचरात्मक जगत् परमात्मा का शक्तिरूप ही है । शक्ति = धर्म है और शिव है—धर्मी । शिवतत्त्व → शक्तितत्त्व से पृथ्वीपर्यन्त समस्त जगत् का आविर्भाव, शक्ति परशिव में गुप्त रीति से स्थित है । शक्ति नित्य है ।

सिद्धान्तशिखामणि में कहा गया है—

> तदीया परमा शक्ति: सच्चिदानन्दलक्षणा ।
> समस्तलोकनिर्माणसमवायत्वरूपिणी ॥
> तदिच्छयाऽभवत्साक्षात्तत्स्वरूपानुकारिणी ॥

शिव एवं शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध (अविच्छेद्य) समवाय सम्बन्ध है । शिव का शक्ति से नित्य सम्बन्ध है । सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति = शिव में समवेत विमर्शशक्ति । ब्रह्मनिष्ठ चिच्छक्ति = विमर्शशक्ति (चराचरात्मक एवं गुणत्रयोपेत) । चिच्छक्ति = सर्वज्ञातृत्वशक्ति । सूक्ष्म अचिच्छक्ति = सर्वकर्तृत्वरूप । चिच्छक्ति + अचिच्छक्ति का आश्रय = इच्छाशक्तिरूपिणी विमर्शशक्ति । तमोगुण की शक्ति = जड़-माया शक्ति ।

शिव की विमर्श शक्ति का जड़ मायाशक्ति में प्रतिस्फुरण गति से प्रवेश → (सुख, दु:ख, मोह आदि की उत्पादिका) त्रिगुणात्मिक प्रकृति का स्वरूप-धारण । वीर शैवाचार्यों के द्वारा प्रकृति को चित्त कहा । जीव = चित् शक्तिविशिष्ट (शिवप्रकाशस्वरूप) शिवांश = जीव ।

इस मत में जगत् सत्य है । सृष्टि वस्तुत: उत्पत्ति नहीं है । यथा—कूर्म का अपने अङ्गों को बाहर निकालना न तो सृष्टि है और न ही अङ्गों को समेटना प्रलय है । इसी प्रकार सत्यात्म एवं नित्य जगत् भी न ही उत्पन्न होता है और न ही उसका प्रलय होता है । नित्य तत्त्व का जन्म एवं नाश—एक हास्यास्पद बात है । जगत् नित्य है; अत: उसकी सृष्टि कैसी ?

जीवात्मा का स्वरूप

स्पन्दशास्त्र में जीवात्मा (बद्धात्मा, मायावृत प्राणी) को पशु एवं परमात्मा को पति कहा जाता है । दोनों की भूमियाँ भी दो हैं—१. पशुभूमि, २. पतिभूमि ।

(क) पशु = जीवात्मा—पशु कौन है? स्पन्दकारिकाकार कहते हैं कि जो—अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला (मातृका) से उत्पन्न (ब्राह्मी, माहेशी, याम्या आदि शाब्दी) शक्तियों का भोग्य पदार्थ है तथा जिसके (स्वातन्त्र्य शक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति आदि के) वैभव को कला ने लुप्त कर दिया है, वही (जीवात्मा) पशु है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गत: सन् स पशु: स्मृत: ।।[१]

यह पशु इसीलिए बनता है, क्योंकि यह—

१. शाब्दी शक्तियों का भोग्य बन जाता है ।

२. अपना अनन्त शक्तिरूपात्मक वैभव खो देता है ।

३. पुर्यष्टक एवं उसके धर्मों से तादात्म्य प्राप्त करके उसके आवरण से आबद्ध है ।

४. अपने यथार्थ स्वस्वरूप (चिदात्मक, संविद्रूप एवं स्पन्दात्मक मुक्त-निरञ्जन आत्मस्वरूप) को भूल बैठा है ।

५. आत्म-प्रत्यभिज्ञा नहीं कर पा रहा है ।

आत्मा चाहे स्पन्दरूप में हो, मुक्त हो या बद्ध; किन्तु वह सदैव सन्मात्र, चिन्मात्र एवं आनन्दरूप है, सच्चिदानन्द है । आत्मा कभी अभाववरूप—अभावस्वरूप नहीं हो सकती; क्योंकि वह भावरूप, सत्तारूप एवं सत् है; अत: उसे जो कभी-कभी अभावात्मकता (सत्ताहीनता) का बोध होता है, वह मिथ्या है—

न तु योऽन्तर्मुखो भाव: सार्वज्ञादिगुणास्पदम् ।
तस्य लोप: कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ।।[२]

१-२. स्पन्दकारिका

क्योंकि—

अभावो येन भावेन बाध्यतेऽस्ति न नास्ति सः ।
तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते ।
सोऽस्त्यतश्चिन्मयो भावो येन सर्वं विभाव्यते ॥

जिस भाव के द्वारा अभाव बाधित होता है, वह 'है' या 'नही'? उसके अभाव के बाधक भाव का सद्भाव कौन काट सकता है ? अत: वह है और वह चिन्मय है । उसी से सबका अनुभव होता है । यहाँ तक कि अभाव का भी । इसीलिए अभाव की भावना अनित्य एवं मिथ्या है ।

यह आत्मा नित्य है और प्रत्येक अवस्था में वर्तमान रहती है—

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु ॥ (१.१७)[१]

यह चिद्रूपात्मिका आत्मा ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों रूपों में स्थित है—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।[२]

इन दोनों अवस्थाओं में (जाग्रत्-स्वप्न अवस्था में) वह ज्ञान एवं ज्ञेय दो रूपों में प्राप्त होती है; किन्तु सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्था में वह चिन्मात्ररूप मे उपलब्ध होती है—

पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ।[३]

यह जीवात्मा सर्वमय है और सर्वात्मक विश्वरूप है—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः । (द्वि०-२८)[४]

सिद्धावस्था में तो इन आत्मसत्ता की जाग्रत्-स्वप्न आदि अवस्थायें इतनी शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं कि यह सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व आदि शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है; किन्तु बद्धावस्था में इन शक्तियों की क्षमता संकुचित हो जाती है—

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ (तृ०-३५)[५]

आत्मबल सर्वोच्च बल है—

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैव भविष्यति॥ (३.३९)[६]

(ख) आचार्य जयरथ की दृष्टि—आचार्य जयरथ तन्त्रालोक की टीका में कहते हैं कि आत्मा के चार भेद हैं ।

आत्मा के भेद—आत्मा के चार भेद हैं—१. सकल, २. प्रलयाकल, ३. विज्ञानाकल, ४. शुद्ध—आत्मा चतुर्विधो ह्येषः ।

('सकल-प्रलयाकल-विज्ञानाकल-शुद्धलक्षणैः चतुर्भिः भेदैर्भिन्नः' (जयरथ—'विवेक') ।

१-६. स्पन्दकारिका

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि वैसे तो चिदात्मा शिवभट्टारक ही एक आत्मा हैं; दूसरा कोई नहीं है—'निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव 'एक' आत्मा न तु अन्यः कश्चित्'; तथापि इसके स्वरूप को अनेक प्रकार से विभक्त कर सकते हैं—

१. एक स्वरूप—शिवभट्टारक ही अकेली एक आत्मा है ।

२. द्विस्वरूप—प्रकाशरूप आत्मा देश एवं काल द्वारा विभक्त नहीं हो सकता और जड़ की तो ग्राहकता ही नहीं बनती । प्रकाश ही स्वातन्त्र्य से प्राणादि रूप में सङ्कुचित होकर सङ्कुचित अर्थग्राहकता प्राप्त करता है । परिणामतः यह आत्मा प्रकाशरूपत्व और सङ्कोचावभासत्व के कारण द्विरूप हो जाता है ।

३. त्रिस्वरूप—आणव, मायीय एवं कार्ममलों से आवृत होने के कारण यही त्रिमय बनता है ।

४. चतुःस्वरूप—शून्य, प्राण, पुर्यष्टक एवं शरीरस्वभाव होने के कारण यही आत्मा चतुरात्मा कही जाती है ।

५. सप्तपञ्चक स्वरूप—शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त पैंतीस तत्त्वात्मक (शक्ति को शिव से अभिन्न मानकर) होने के कारण यह आत्मा सप्तपञ्चकस्वभाव वाला कहा जाता है ।

६. सप्तप्रमाता स्वरूप—शिव से लेकर सकलपर्यन्त सात प्रमाता हैं—

    १. सत्यप्रमाता = परप्रमाता = शिव,
    २. सदाशिवतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रेश्वर,
    ३. ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रेश्वर,
    ४. शुद्धविद्यातत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्र = ७ कोटि,
    ५. शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर स्थित प्रमाता = विज्ञानाकल
    ६. मायातत्त्वावस्थित प्रमाता = प्रलयाकल = शून्यप्रमाता,
    ७. मायाप्रमाता, परिमित प्रमाता = शङ्कुचित प्रमाता = सकल (जीव) ।

    परप्रमाता, परप्रमातृ = परमेश्वर शिव है, जो कि विदिक्रिया में स्वतन्त्र है; अतः उसे 'बिन्दु' एवं उसकी शक्ति को 'बैन्दवी कला' कहते हैं—

    अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः । (तन्त्रालोक ३.१११)

७. पञ्चक स्वरूप—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति रूप होने पर भी अख्याति (अज्ञान) के कारण कला, विद्या, राग, काल एवं नियतिरूप कञ्चुक से युक्त आत्मा पञ्चकस्वभाव कही जाती है ।

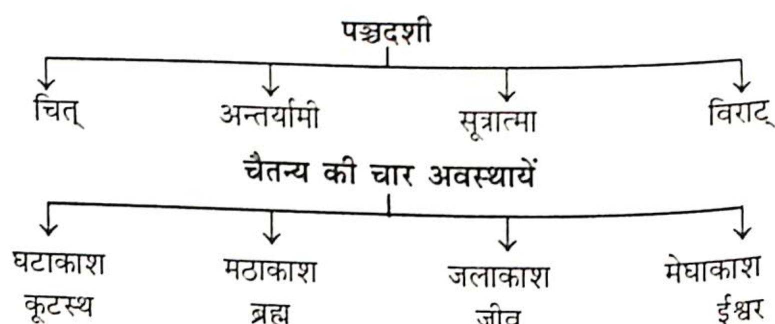
आचार्य उत्पलदेव का कथन है कि जीवात्मा के निम्न भेद हैं—

१. मितात्मा, २. अपरिमित आत्मा—१. अणु, २. परमात्मा ।

द्विधा स एष एवात्मा   मितोऽपरिमितस्तथा ।
प्राणादिना निरुद्धोऽणुः परमात्मा त्वखण्डितः ॥[1]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि—'स एव संविदात्मा परमेश्वरः स्वेच्छया विश्व-क्रीडोल्लिलासयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन सङ्कुचितीभूय जीवतामेति, प्राणाद्यनिरुद्धस्तु विश्वनिर्भरितात्मतया पूर्णः स्वतन्त्रश्चिदात्मैवेति परिमितापरिमितत्वेन द्विविधत्वम् ।'[2]

अद्वैतवादी वेदान्तियों ने चैतन्य की चार अवस्थायें एवं परमात्मा की भी चार अवस्थायें स्वीकार किया है । स्वामी विद्यारण्य पञ्चदशी में कहते हैं—परमात्मा की चार अवस्थायें हैं—



वेदान्ती स्वामी विद्यारण्य की दृष्टि

जीवात्मा का स्वरूप क्या है? वेदान्तियों के मतानुसार—

१. विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः । (पञ्चदशी)

२. अन्तःकरणसम्भिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् । (पञ्चदशी)

३. चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ॥ (पञ्चदशी)

(जो लिङ्गदेह की कल्पना का आधार अधिष्ठान चैतन्य है, एक तो वह दूसरे उसमें कल्पित जो लिङ्गदेह है, तीसरे उस लिङ्गदेह में जो चिदाभास पड़ा हुआ है—उन तीनों का संघ ही 'जीव' है ।)

४. कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण च युज्यते ॥ (पञ्चदशी)

(बुद्धि कूटस्थ में कल्पित है । उस बुद्धि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, वह जब प्राणों को धारण कर लेता है तब जीव कहलाता है ।)

परमात्मा—

कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमठाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥

---

१. उत्पलदेव—अजडप्रमातृसिद्ध   २. अजडप्रमातृसिद्धवृत्ति

प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥

ईश्वर—

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यो परः श्रुतः ॥

(योगियों का ईश्वर के विषय में यही मत है—विद्यारण्य ।)

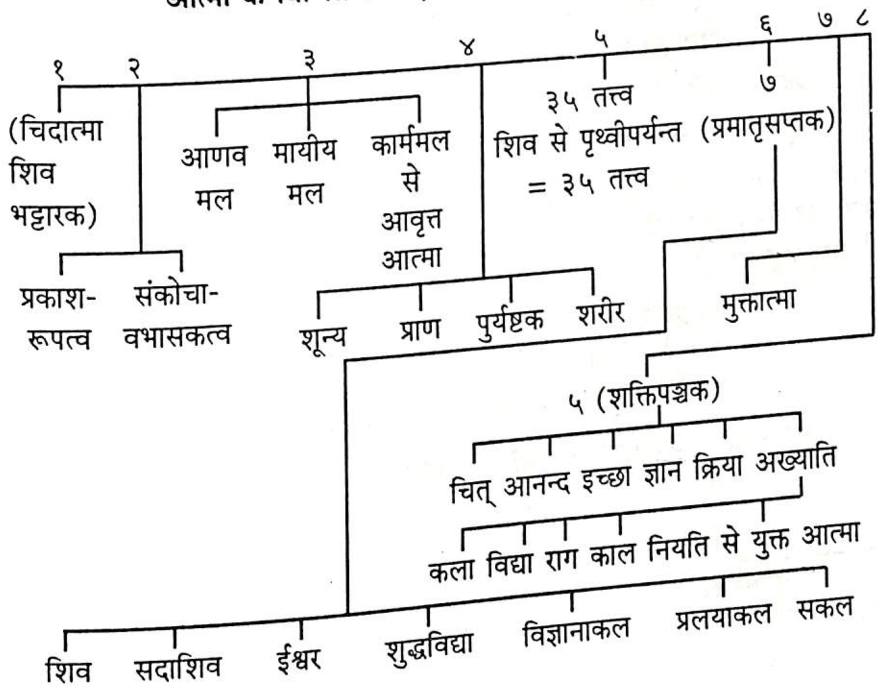
जब परमात्मा में माया एवं माया के कार्यों का मिश्रज्ञान हुआ हो तब वह चित् कहलाता है । माया का योग हो जाने पर वही परमात्मा अन्तर्यामी कहलाता है । जब उसका सूक्ष्म दृष्टि से योग हो जाय तब उसे अपञ्चीकृत भूतों से निर्मित समष्टि सूक्ष्म शरीर मिल जाय तो वह सूत्रात्मा कहलाता है और स्थूल दृष्टि किंवा पञ्चीकृत भूतों से निर्मित समष्टि स्थूल शरीर के कारण वही परमात्मा अन्त में विराट् कहलाने लगता है ।

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥
यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि

आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहते हैं कि आत्मा के सात प्रकार एवं ५७ भेद हैं, जो निम्नानुसार है—

आत्मा के विभिन्न रूप एवं विभिन्न स्वभाव (क्षेमराज)



मुक्ति एवं बन्धन की दृष्टि से आत्म-भेद—

१. स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता इत्याम्नाताः ।

२. ये तु न तथा ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः (प्र०हृदयम्) ।

१. जीवन्मुक्त—विश्व को अपने स्वरूप-विकास के रूप में देखने वाले लोग जीवन्मुक्त कहे गये हैं ।

२. बद्धात्मा—सम्पूर्ण भावराशि को भिन्न-भिन्न रूप मे देखने वाले ।

स्पन्दकारिका में आत्मा के दो भेदों की ओर संकेत किया गया है—१. पशु, २. पशुपति ।

१. पशु— शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ (स्प०का०)

२. पशुपति— भेदग्रन्थिविभेदे हि कर्मात्मैक्यं प्रपद्यते ।
सोऽविज्ञातः पशुः प्रोक्तो विज्ञातः पतिरेव सः ॥

वेदान्तदर्शन के आचार्य रामानुज के मतानुसार जीवों के तीन भेद हैं—१. बद्ध, २. मुक्त और ३. नित्य । चित् तत्त्व ही जीवात्मा है । यह ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्ता है । आत्मा में सांसारिक कार्यों के प्रति स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है (तत्त्वत्रय) ।

जो प्रमाता माया से अन्धा हो जाता है, वही कर्मपाश में आबद्ध संसारी (जीव) कहलाता है तथा जो विद्या के ऐश्वर्य से ऐश्वर्यवान चिद्घन प्रमाता है, वही मुक्त कहा जाता है । यही दोनों में अन्तर है; किन्तु तात्त्विक अन्तर कुछ भी नहीं है । आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः ।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥[1]

अर्थात्—मायीयशून्यादिप्रमाता नियतिनियमितः संसारी विद्यावशादात्मतत्त्वाभिज्ञया मुक्तः ।[2]

पशु और पशुपति में भी यही अन्तर है कि पशुपति समस्त विश्व को अपने शरीर का अङ्ग मानकर उसके साथ तादात्म्यभाव रखता है, जबकि तथाकथित पशु (अणु = जीव) माया की भेदात्मिका दृष्टि के कारण रागादिक क्लेशकर्मविपाकाशयोग से घिरा हुआ होने से पशु कहलाता है—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥[3]
कल्पः विलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ।[4]

आत्मा के दो अंश हैं—१. अहं, २. इदम् ।

अहं	=	ग्राहक ।	इदम्	=	ग्राह्य ।
अहं	=	प्रमाता ।	इदम्	=	प्रमेय ।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१३), २. प्र०का० वृत्ति (उत्पलदेव)
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलदेवाचार्य) ४. स्पन्दकारिका

अहंरूप दशा—शिव-शक्ति दशा ।

अस्फुट इदन्ता वाली दशा (अहन्ता-प्रधान है; क्योंकि अहन्ता से आच्छादित है) = सदाशिव दशा । यह परापररूप है; क्योंकि इसमें अहं प्रधान है; अत: यह पररूप है, किन्तु इसमें गौण रूप से इदन्ता भी स्थित है; अत: यह अपर रूप भी है । फलत: सदाशिव परापर रूप है ।

इदन्ता (जगत्) को आत्म अहन्ता से आच्छादित करके वर्तमान एवं समग्र विश्व के अनुग्रह में निमग्न तथा इदन्ता के उन्मेष में भी शिवता के विद्यमान रहने से ही इन्हें सदाशिव कहा जाता है ।

सदाशिव के अनन्तर निखिल जगत् को इदन्ता के प्राधान्य का अनुभव करता हुआ परमेश्वर ईश्वरपद कहा जाता है । मन्त्रमहेश्वर अणु सदाशिव कहे जाते हैं । ये सदाशिव तत्त्व के निवासी हैं । ये मुक्त रहने पर भी स्वल्पांश में आणवमल शेष रहता है; अत: ये पूर्णत: मुक्त नहीं हैं; तथापि इनका अहंबोध सदाशिवात्मक ही होता है । ये शिवता या परामुक्ति प्राप्त नहीं होते । ईश्वरतत्त्व (ईश्वरभट्टारक) सदाशिव का उन्मेषात्मक या बहिर्मुख रूप है । सदाशिवतत्त्व = अहमिदं विमर्श : अहं प्रधान है ।

ईश्वरतत्त्व—इदमहं विमर्श = इदम् प्रधान है ।

(सदाशिव में ग्राहक में ग्राह्य प्रक्षिप्त रहता है । ईश्वर में स्फुटीभूत ग्राह्य में अहं के प्रक्षेप से सामानाधिकरण्य रहता है ।

'यदा तु मध्यकोटौ समधृततुलावत् विश्राम्यत: तया अहमिदमिति ग्राहके ग्राह्यस्य प्रक्षेपोऽत एव ध्यामलग्राह्यांशो विमर्श: सदाशिवनाथे । इदमहमिति ग्राह्ये स्फुटीभूतेऽहमिति प्रक्षेपात् सामानाधिकरण्यं विमर्श ईश्वरभट्टारके (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी निवृत्ति भाग-३) ।

जब चिद्घनसंवित्स्वरूप शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा निखिल जगत् की रचना के लिए किञ्चित् चलनात्मक दशा का अनुभव करते हैं तो उस प्रथम स्पन्द को तत्त्वज्ञ शिवभट्टारक या शिवतत्त्व कहते हैं—

यदयमनुत्तरमूर्त्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्द: प्रथम: शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञै: ॥

सदाशिव कौन है? 'इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी सती शक्ति चराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ।'—ष०त्रि०तं०सं०

स्वेच्छा शक्त्युद्गीर्णं जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य ।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरत: सदाशिवोऽभिहित: ॥
(ष०त्रिं०त०सं०)

शुद्धविद्या का स्वरूप क्या है?

विश्वं पश्चात्पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जात: ।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमति: ॥ (ष०त्रिं०त०सं०)

आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में आत्मा के उक्त १, २, ३, ४, ५, ७, ३५ आदि रूपों को ७वें सूत्र में इस प्रकार कहते हैं—'स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चक-स्वभाव: ।'

१२. जगत् 'जगदाभास'

जगत् का स्वरूप—जगत् के सम्बन्ध में सांख्य, मीमांसा, योग, न्यास, वैशेषिक एवं वेदान्त की जो दृष्टियाँ हैं, उससे स्पन्दशास्त्र या त्रिकदर्शन सहमत नहीं है । अन्य दर्शनों में मुख्यत: सत्ता के दो वर्ग माने जाते हैं और वे परस्पर भिन्न हैं । वे हैं—१. जड़ एवं २. चेतन ।

(क) सर्वचिन्मयवाद—स्पन्दविज्ञान जड़ एवं चेतन नामक विभागों को स्वीकार नहीं करता । स्पन्दशास्त्र सभी सत्ताओं को चिद्रूप मानता है । यह बात अवश्य है कि वह यह स्वीकार करता है कि वृक्ष में उतनी चेतना (चिदंश) नहीं है, जितनी कि एक मनुष्य में; किन्तु वह यह भी मानता है कि विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो शत-प्रतिशत जड़ हो और जिसमें चिदंश हो ही नहीं । त्रिकदर्शन यह प्रतिपादित करता है कि किसी में चिदंश की अभिव्यक्ति अधिक है; अत: उसे 'जीव' (चेतन) कहते हैं और किसी में चिदंश कम है; अत: उसे जड़ या अचेतन कहते हैं; किन्तु यह सम्भव नहीं है कि कोई भी सत्ता या पदार्थ पूर्णतया जड़ या अचेतन हो ।

यूरोपीय दार्शनिक लाइबनिट्ज ने भी यही स्वीकार किया था और अपने ग्रन्थ Monadology में लिखा है कि ऐसा कोई Monad (चिदणु) नहीं है, जो कि शत-प्रतिशत जड़ हो (चेतनाविहीन) हो । आचार्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में प्रथम सूत्र की अवतारणा इस प्रकार की है—'चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु: ।

(ख) स्वातन्त्र्यवाद—विश्व को सत्ता प्रदान करने में जो परा सत्ता अग्रसर होती है, यदि वह चिद्रूप है अर्थात् चेतन है तो उसका स्वाभिव्यक्तिरूप विश्व अचेतन कैसे हो सकता है? यदि यह चेतन सत्ता विश्वसिद्धि (संसार को अस्तित्व प्रदान करने की क्रिया) हेतु जड़ पदार्थों, जड़ परमाणुओं या जड़ प्रकृति की सहायता लेती और विश्व-विकास के लिए इन पर आश्रित होती तो अन्य दर्शनों की भाँति इस दर्शन में भी सत्ता के दो स्वरूप (स्तरद्वय) मिलते । एक होता—चेतन तथा दूसरा होता—जड़; किन्तु स्पन्दशास्त्र तो यह मानता है कि विश्व-सृष्टि या प्रपञ्च के विकास के मार्ग में चिति शक्ति पूर्णत: स्वतन्त्र है; अत: उसे अपने किसी भी कार्य के लिए किसी भी पराई शक्ति, पराये तत्त्व या अपने से भिन्न किसी पराये पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं है । तात्पर्य यह कि समस्त विश्व चिति शक्ति का ही विकास है । निरपेक्ष सत्ता का जो स्वभाव होगा, वही उसकी अभिव्यक्ति का भी होगा। चूँकि यह निरपेक्ष सत्ता चैतन्य है; अत: उस चिद्रूप स्वस्वभाव की अभिव्यक्ति भी चिद्रूप होगी ।

शिवसूत्रकार ने शिवसूत्र के प्रथम सूत्र को भी चैतन्यतत्त्व की प्रतिष्ठापना के रूप में प्रस्तुत किया और चैतन्यमात्मा लिखकर चैतन्यतत्त्व को आत्मभूत तत्त्व के रूप में—अपनी दार्शनिक दृष्टि की नींव में—स्थापित करके सर्वचैतन्यवाद की प्राण-प्रतिष्ठा की है ।

आचार्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में प्रथम सूत्र के रूप में 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि-हेतुः' सूत्र लिखा और स्पन्दकारिकाकार ने अपनी प्रथम कारिका में जिस शङ्कर की वन्दना की, वह उस शङ्कर की वन्दना की, जो जगत् की उन्मेषनिमेषमयी, प्रलयोदय की निष्पादिका शक्तिचक्र से समाश्लिष्ट एवं समाविष्ट है। यही है—वह चिति शक्ति एवं उसका शक्तिचक्र।

सर्वचिन्मयवाद एवं आचार्यक्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहते हैं—

१. ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्। (सूत्र १ की व्याख्या)
२. भगवान् विश्वशरीरः। (सूत्र ३ की व्याख्या)
३. चिदैकात्म्येन विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। (सूत्र ४ की व्याख्या)
४. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
५. विश्वदर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। (सूत्र २ की व्याख्या)
६. जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्। (सूत्र २ की व्याख्या)
७. विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। (सूत्र ४ की व्याख्या)
८. भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः। (स्पन्दकारिका २ नि० का० ४)
९. शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतां पश्यन्ति तेऽपि सिद्ध्यन्ति। (सूत्र १२ की व्याख्या)
१०. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ (स्पन्द० नि० २ का० ५)
११. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्क्रियः शिवः॥ (शिवदृष्टि २)

सोमानन्दपाद 'शिवदृष्टिवृत्ति' में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

१. सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यम्।
२. चिन्निर्वृत्तीच्छाज्ञानक्रिया घटपटपर्यन्तसर्वभावेषु भासमानेषु स्फुरन्ति।

आचार्य सोमानन्दपाद की दृष्टि—इन समस्त उदाहरणों से सिद्ध है कि काश्मीरी शैवदर्शन में जगत् कोई अनात्म पदार्थ नहीं है, कोई जड़ वस्तु नहीं है, परमात्मा से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तथा वह चिद्रश्मि से व्यभिचरित एवं व्यतिरिक्त सत्ता भी नहीं है।

सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' में इसी विश्वात्मैक्यवाद की स्थापना की है। वे कहते हैं कि शिव आत्मप्रच्छादन क्रीड़ा में मायाशक्ति के द्वारा ३६ तत्त्वों का रूप धारण कर लेता है—

आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन।
मायारूपमितीत्यादि षड्विंशत्तत्त्वरूपताम्॥ (१.३२)
बिभ्रद्भिभर्तिरूपाणि तावता व्यवहारतः।

यावत्स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम् ॥ (१३३)

इसलिये निष्कर्ष यही है कि समस्त भावों में चिद्रूप शिवरूपता ही अनुस्यूत है—

एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता । (शिवदृष्टि)

समस्त विश्व परमात्मा की इच्छामात्र है—

भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं सम्पद्यते । (शिवदृष्टि)

सर्वचिन्मयवाद—इसी बात को सोमानन्दपाद पुनः कहते हैं कि—

१. एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता । (शिवदृष्टि-४८)

२. एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम् ।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता ॥ (शिवदृष्टि-४९)

३. भेदा अपि तदात्मकाः (शिवदृष्टिवृत्ति) ।

४. तस्य परमेश्वरस्य नानारूपेऽपि विश्वस्मिन् सत्यवैतेति । एक ही सत्ता विभिन्न रूपों में प्रतिभासित हो रही है । यथा—

१. ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः । २. उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वर इति । ३. इच्छाशक्तिमयः शिवः । ४. चित्स्वातन्त्र्यशक्तिमान् पर्यन्ते परमशिवः ।

कहाँ है जड़ता?

अतएव परेच्छातो न जडत्वमवस्थितम् ।
पृथिव्यादितत्त्वगणे जडत्वं चेत्प्रतीयते ॥
न तथा जडता क्वपि तथाग्रे सुविचारितैः ॥ (शिवदृष्टि-४०-४१)

सर्वचिन्मयतावाद—आचार्य सोमानन्दपाद कहते हैं कि यदि समस्त सृष्टि-विस्तार एवं प्रपञ्च-प्रस्तार मात्र चिति शक्ति का बाह्योल्लास है या शिव की इच्छा है तो इसे जड़ कैसे कह सकते हैं?

पृथिव्यादितत्त्वगणे जडत्वं चेत्प्रतीयते ।
न तथा जडता क्वापि तथाग्रे सुविचारितैः ॥ (३.४०-४१)

पृथिव्यादितत्त्वगणे जडता नास्ति इच्छाविशेषरूपत्वात्, न तु प्रधानादिजडोपादनतास्य । अथ तत्रेदन्तानिर्देश्यतारूपा जडता प्रतीयते । तन्न, यथा न क्वचिदिदन्ता निर्देश्यत्वेऽपि तत्त्वतो जडता (शिवदृष्टिवृत्ति—सोमानन्दपाद) ।

विश्व की जड़-चेतनात्मक, स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त सत्तायें शक्ति एवं शक्तिमान के ही अपने रूप हैं । चूँकि शिव-शक्ति दोनों चिन्मय ही नहीं; प्रत्युत चिद्रूप भी हैं; अतः समस्त पदार्थ भी चिन्मय एवं चिद्रूप है । सृष्टि शिव-शक्ति की अपनी क्रीड़ा है । चिद्रूप शिव अपनी चिद्रूपा विमर्श शक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा स्वतन्त्र रूप में (परापेक्षा के विना) लीला हेतु (अर्थात् निष्प्रयोजन) सृष्टि को उद्भासित करते हैं और स्वेच्छया (लीलावश) उसका अपने में (कूर्माङ्गानीवसर्वशः) संवरण भी कर लेते हैं । यहाँ सभी चिन्मय हैं । यहाँ जड़-चेतन का भेद भी नहीं है । मयूराण्डरस की भाँति यहाँ नाम, रूप, चेतन, अचेतन,

देश, काल, अङ्ग-अङ्गी आदि सारी सीमायें अतिक्रान्त हैं। सब एकरस, चिन्मय एवं चिद्रूप हैं। यही है—भारतीय पूर्णता की दृष्टि; जिसके विषय में कहा गया है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

जड़ पदार्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करते-करते एवं उसके स्वरूप के विभिन्न सोपानों पर उसका सन्धान करते-करते जब हम उसके सत्स्वरूप के सूक्ष्मतम रूप पर पहुँचते हैं तो हमें प्रत्येक जड़ पदार्थ चिन्मय दिखाई पड़ता है। 'स्थूलतम जड़ पदार्थ को अनेक प्रकार से संशोधन करने के पश्चात् वही जड़ पदार्थ सूक्ष्मतम रूप में पहुँचकर चिन्मय दीख पड़ता है। वस्तुतः तत्त्व एक ही है; दृष्टि के भेद से स्थूल और सूक्ष्म रूप में भिन्न-भिन्न वही दीख पड़ता है; किन्तु समदृष्टि करने से, भेद में अभेद का भान स्पष्ट मालूम होता है। यथार्थ में दो तत्त्व हो ही नहीं सकते। जगत् का प्रवाह एक ही है।'[२] यह तत्त्व (मूल तत्त्व) चिन्मय है; अतः जगत् के उसी चिन्मय तत्त्व का रूपान्तरण मानने पर जगत् जड़ नहीं; चिन्मय ही है। शैव-शाक्त जगत् को शक्ति का स्फुरण, शक्ति का विकास या शक्ति का जगद्रूप में बाह्यावभास मानते हैं; अतः चिद्रूपा शक्ति का स्वस्वरूप जगत् जड़ कैसे हो सकता है ? अतः जगत् एवं जगत् की जड़-चेतन के रूप में प्रतीयमान समस्त पदार्थ-समष्टि चेतन है या चिन्मय है। यूरोप के दार्शनिक लाइबनिट्ज ने भी Monadology में यही दृष्टि स्थापित की है। लाइबनिट्ज ने प्रत्येक पदार्थ को शक्तिस्वरूप एवं चिन्मय माना है और उन्हें शक्ति का एक रूप स्वीकार किया है।

लाइबनिट्ज (जर्मन दार्शनिक) शङ्कराचार्य की दृष्टि के विरुद्ध एवं स्पन्दशास्त्र के अनुकूल दृष्टि उपन्यस्त करके कहता है कि—१. संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो पूर्णतः स्थिर हो। विश्राम भी गति है और वह गति असीम लघु कोटि है। २. कोई भी पिण्ड पूर्ण विश्राम की अवस्था से गति प्रारम्भ नहीं करता प्रत्युत उस अवस्था से करता है; जो गति की अवस्था है। भले ही वह गति कितनी ही कम मात्रा में क्यों न हो। ३. प्रत्येक वस्तु गति की ओर प्रवृत्त होती है। ४. प्रत्येक पिण्ड में अपनी अवस्था में बने रहने की प्रवृत्ति होती है। ५. डेकार्टे का यह मानना गलत था कि कोई पिण्ड पूर्ण विश्राम की अवस्था में भी रह सकता है। ६. पूर्ण अक्रियता नाम की किसी भी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। ७. देश और काल न तो सत्य द्रव्य हैं और न ही सत्य द्रव्यों के धर्म।

विश्व (जगत्)

(परमात्मा ही जगत् है और शक्ति ही सृष्टि है) राजानक क्षेमराज के अनुसार विश्व के दो भेद हैं—१. अनुरूप ग्राह्य २. ग्राहक एवं तन्नानानुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्' (प्र०हृ० ३) जगत् नानारूपात्मक है।

१. सदाशिवतत्त्व में अहन्ता से आच्छादित और अस्फुट इदन्तामय जैसा परापररूप विश्व ग्राह्य है। सदाशिव भट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमाता भी परमेश्वरेच्छा-कल्पित है।

२. ईश्वरतत्त्व में स्फुट इदन्ता और अहन्ता का सामानाधिकरण्य जैसा विश्व ग्राह्य है । ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वरवर्ग ही ग्राहक है ।

३. विद्यापाद में श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित अनेक शाखाओं एवं अन्यान्य भेदों से भिन्न जैसे मन्त्ररूप ग्राहक हैं, वैसा ही भेदात्मक विश्व ग्राह्य है ।

४. माया के ऊर्ध्व भाग में कर्तृताशून्य शुद्ध बोधात्मा जिसप्रकार विज्ञानाकल ग्राहक है, उसी प्रकार सकल और प्रलयाकलात्मक अवस्थाओं से परिचित अभेदात्मक रूप वाला प्रमेय है ।

(प्रलयकाल में कला आदि में विलीन हो जाने पर केवल कार्म एवं आणव—इन दो पाशों से बद्ध जीव नई सृष्टि के आरम्भ होने तक माया के भीतर वर्तमान रहते हैं और इन्हें—प्रलयाकल, प्रलयकेवली या शून्यप्रमाता कहते हैं ।) आणव, मायीय एवं कार्म मलों से आवृत आत्मा सकलप्रमाता कहे जाते हैं । स्वतन्त्र, चिद्धनसंवित्स्वभाव, अनुत्तरमूर्ति परमेश्वर स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा जगत् की रचना हेतु किञ्चित् चलनात्मक दशा का अनुभविता प्रथम स्पन्द शिवतत्त्व कहा जाता है—

५. माया में प्रलयकेवली शून्यप्रमाताओं का उनके अनुरूप प्रलीनसदृश प्रमेय है ।

६. भूमिपर्यन्त अवस्थित सकल नामक प्रमाताओं का, जो परिमित और पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं, वैसा ही प्रमेय भी है ।

७. इन सप्त प्रमाताओं (शिव । सदाशिव । ईश्वर । शुद्धविद्या । विज्ञानाकल । प्रलयाकल । सकल) से परे प्रकाशैकशरीर शिवभट्टारकरूप प्रमाता के लिए प्रकाशैकरूप ही प्रमेय है ।

८. जगत् और परमशिव—विश्व से परे तथा विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघन श्रीमान् परमशिव का ऐसा ही शिव से लेकर धरापर्यन्त सम्पूर्ण प्रमेय अभिन्न रूप से ही स्फुरित होता है । वस्तुतः कोई अन्य ग्राह्य-ग्राहक है ही नहीं; अपितु परमशिव ही इस प्रकार अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित होते हैं ।'

जगत् परमात्मा का शरीर—'शिवादिधरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति ।' भगवान् से विश्व पृथक् नहीं है; क्योंकि भगवान् विश्वशरीर हैं अर्थात् विश्व उनका शरीर है—भगवान् विश्वशरीरः । श्रीपरमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को—

९. सदाशिव आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए, प्रथमतः चिदैक्यसंकोचमय अनाश्रित शिव या शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक एवं प्रकाशमान रूप से स्फुरित होते हैं ।

१०. सभी जीव विश्वशरीर वाले शिवभट्टारक ही है—'इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव ।' 'ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन विश्वशरीरशिवैकरूप एव ।'

११. 'सङ्कुचित चिति ही चित् है' (चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्) (१८वाँ सूत्र : प्र० हृदयम्)।

१२. जगत् की एवं जागतिक अस्तित्वों की ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है, जो शिव न हो—'न सावस्था न यः शिवः ।'

विश्व प्रकाशात्मा शिव का स्वात्मरूप है और यह प्रकाश (शिव) से अपृथक् है; लेकिन शिव की ही माया शक्ति के द्वारा शिव से भिन्न सत्ता के रूप में आभासित होता है। उत्पलदेवाचार्य प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में कहते हैं—'प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।'[१] उत्पलदेव विश्व को महेश्वरस्वरूप भी कहते हैं—'विश्वरूपो महेश्वरः ।'[२]

केवलाद्वैत की दृष्टि एवं स्पन्दमत—शङ्कराचार्य कहते हैं कि मन और वाणी से प्रतीत होने वाला यह समस्त जगत् सत्स्वरूप ही है। जो महापुरुष प्रकृति से परे आत्मस्वरूप में स्थित हैं, उनकी दृष्टि में सत् से पृथक् कुछ भी नहीं है। मिट्टी से पृथक् घट, कलश और कुम्भ आदि क्या हैं? मनुष्य मायामयी मदिरा से उन्मत्त होकर ही 'मैं, तू' की भेद-वाणी बोलता है—

१. सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः
सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ।
पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं
वदत्येष भ्रान्तस्त्वहमिति माया मदिरया ॥[३]

२. स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन॥[४]

३. विश्वमात्मस्वरूपकम् (वि०चू० ३८८)

४. जिसमें यह जगत् का आभास दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान प्रतीत हो रहा है, वह ब्रह्म ही मैं हूँ—ऐसा जान लेने पर तुम कृतकृत्य हो जाओगे—

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तःपुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि॥ २९२ ॥

५. जिस प्रकार मृत्तिका के कार्य-घट आदि हर प्रकार से मृत्तिका ही हैं, उसी प्रकार सत् से उत्पन्न यह सत्स्वरूप सम्पूर्ण जगत् सन्मात्र ही है; क्योंकि सत् से परे और कुछ भी नहीं है तथा वही सत्य और स्वयम् आत्मा भी है; अतः जो शान्त, निर्मल और अद्वितीय परब्रह्म है, वह तुम्हीं हो—

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभित-
स्तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (ज्ञानाधिकार १)
२. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (१.२३)
३. विवेकचूड़ामणि
४. विवेकचूड़ामणि (३८९)

यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमिति प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५३ ॥[1]

इन समस्त कथनों में शांकर मायावाद और स्पन्दीय आभासवाद में स्पष्टतः कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, इन कथनों में मायावाद अवश्य दृष्टिगोचर होता है—

१. प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता।[2]

२. सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव।[3]

३. अतो मनः कल्पित एव पुंसः संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति।[4]

स्पन्दवादी दृष्टि जीव और जगत् को मिथ्या नहीं मानती; प्रत्युत उसे शिव और शक्ति की अभिनीत भूमिका मानती है। जगत् और जीव शिव और शक्ति के रङ्गमञ्चीय अभिनय हैं, मिथ्या नहीं हैं; प्रत्युत शिव और शक्ति के रूप हैं। 'मायावाद' उन्हें मिथ्या मानता है। शङ्कराचार्य कहते हैं—'ब्रह्मान्यद् भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। विश्व शिव का प्रतिविम्ब है—'इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीये चिदम्बरे। प्रतिविम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः' (तं० ३.६५)। जगत् मिथ्या नहीं, शिव का प्रकाश है—'शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः' (परमार्थचर्चा)। विश्व का कारण जड़ माया नहीं है, चेतन शक्ति है—'विश्वकारणं पराशक्तिः।'

ग्राह्य-ग्राहक विश्व और उसका पारमार्थिक स्वरूप—१. सदाशिव तत्त्व में अहन्ता से आच्छादित और अस्फुट इदन्तामय जैसा परापररूप विश्व 'ग्राह्य' है। सदाशिवभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर प्रमाता है। ग्राह्य एवं प्रमाता मात्र परमेश्वर की इच्छा से कल्पित हैं (न कि पारमार्थिक रूप में)।

२. ईश्वर में स्फुट इदन्ता और अहन्ता का सामानाधिकरण्यरूप जैसा विश्व 'ग्राह्य' है। ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वर वर्ग भी 'ग्राहक' है।

३. 'विद्यापद' में श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित बहु शाखाओं एवं अन्यान्य भेदों से भिन्न मन्त्र 'ग्राहक' है, वैसा ही भेदात्मक विश्व 'ग्राह्य' है।

४. माया के ऊर्ध्व भाग में कर्तृताशून्य शुद्ध बोधात्मा जिस प्रकार 'विज्ञानाकल' ग्राहक है और वैसा ही सकल एवं प्रलयाकलात्मक अभेदरूप 'प्रमेय' है।

५. माया में प्रलयकेवली शून्य प्रमाताओं का उनके अनुरूप प्रलीनसदृश प्रमेय रहता है।

६. भूमिपर्यन्त अवस्थित सकल नामक प्रमाताओं का जो परिमित और पूर्णतया भिन्न-भिन्न है, वैसा ही प्रमेय भी है।

७. इन सप्त प्रमाताओं (सत्यप्रमाता = परप्रमाता = शिव, सदाशिवतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रमहेश्वर, ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता मन्त्रेश्वर, शुद्धविद्यातत्त्वावस्थित प्रमाता मन्त्र, शुद्ध विद्या से नीचे और माया से ऊपर स्थित प्रमाता = विज्ञानाकल, मायातत्त्वावस्थित

१-४. विवेकचूड़ामणि

प्रमाता—प्रलयाकल, प्रलयकेवली, मायाप्रमाता, परिमितप्रमाता, संकुचित प्रमाता सकल (जीव) में से सभी शिव के ही रूप हैं। प्रकाशात्मा शिव ही वाच्यात्मक विश्व के रूप में स्फुरित होते हैं। भगवती चित् ही भिन्न-भिन्न अनन्त संसारों के रूप में स्फुरित होती है। यही चित् ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय रूप विश्व के प्रकाशन में कारण है। सप्त प्रमाताओं से परे प्रकाशैघन शिवभट्टारकरूप प्रमाता के लिए प्रकाशैकरूप ही प्रमेय है। विश्व से परे तथा विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघन श्रीमान् परमशिव का शिव से लेकर धरापर्यन्त सम्पूर्ण प्रमेय अभिन्न रूप से ही स्फुरित होता है। परमशिव ही इस प्रकार अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित होते हैं—'चिदैकात्म्येन .... सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्' (प्र०हृदयम्)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि विश्व (जगत्) या सारे ग्राह्य, ग्राहक, प्रमेय-प्रमाता एवं प्रमेय सभी आत्मा (शिव) के ही रूप हैं। ये आत्मा के विभिन्नावभासन हैं।

विश्व के विभिन्न प्रकार—विश्व के मूलतः दो प्रकार हैं—१. ग्राह्य २. ग्राहक—'तन्नानानुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।'[१] विश्व की अनेकरूपता का कारण है—ग्राह्य (प्रमेय पदार्थों) एवं ग्राहकों (प्रमाताओं) के वैचित्र्य। सदाशिव तत्त्व में अहन्ता से आच्छादित एवं अस्फुट इदन्तायुक्त जैसा परापररूप विश्व ग्राह्य है, उसी प्रकार सदाशिव भट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी परमेश्वर की इच्छा से कल्पित हुआ है। ईश्वरतत्त्व में स्फुट इदन्ता एवं अहन्ता का समानाधिकरण रूप जैसा विश्व ग्राह्य है, उसी प्रकार ही ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वर वर्ग ही ग्राहक है। विद्यापद में श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित बहु शाखाओं एवं आम्नायभेदों से भिन्न यथा मन्त्ररूप ग्राहक हैं, उसी प्रकार का भेदात्मक विश्व ग्राह्य है।

माया में प्रलयकेवली शून्यप्रमाताओं का उनके अनुरूप प्रलीनसदृश प्रमेय रहता है। भूमिपर्यन्त अवस्थित सकल नामक प्रमाताओं का, जो परिमित एवं पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार का प्रमेय भी है। इन सप्त प्रमाताओं से परे प्रकाशैकशरीर शिवभट्टारक प्रमाता के लिए प्रकाशैकरूप ही प्रमेय है। विश्व से परे तथा विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघन परमशिव का शिव से लेकर धरापर्यन्त सम्पूर्ण प्रमेय अभिन्न रूप से ही स्फुरित होता है। वस्तुतः कोई अन्य ग्राह्य-ग्राहक है ही नहीं; अपितु परमशिव ही इस प्रकार अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित होते हैं।

श्रीपरमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिव आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए प्रथमतः चिदैक्यसंकोचमय अनाश्रित शिव या शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक एवं प्रकाशमान रूप से स्फुरित होते हैं। इसके पश्चात् चिद्रसमय समग्र तत्त्व भुवन, भाव एवं भिन्न-भिन्न प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं। यथा—भगवान् विश्वरूप शरीर वाले हैं, उसी प्रकार संकुचित चिद्रूप प्रमाता भी वटबीज के समान संकुचित समस्त विश्वरूप होता है।[२] ग्राहक संकुचित विश्वमय है और ग्राहक (जीव) भी प्रकाश तत्त्व के साथ एकात्म होने के कारण विश्वरूप शरीरधारी शिव से

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र ३) २. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र ४)

अभिन्न है। संकोच भी चिदैक्यरूप से विकसित होने के कारण चिन्मय ही है; इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः सभी जीव विश्वशरीर वाले शिवभट्टारक ही हैं।

विश्वशक्त्यैक्यवाद एवं विश्वात्मैक्यवाद[1]— प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन विश्व एवं आत्मा दोनों को तत्त्वतः अभिन्न मानते हैं। इसीलिए आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

१. ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्।

२. चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति।

३. (सा तु) प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने—'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।'

४. स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं, सुखोपायप्राप्यत्वं महाकलत्वं च—चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।

५. श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्। एवं भगवान् विश्वशरीरः।

६. चितिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वरी, खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण-बहिष्करणभावस्वभावैः परिस्फुरन्ती पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता आदि।

७. वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्।

८. मित्यादिसदाशिवान्तं विश्वं आत्मसात् करोति। विश्वात्मसात्काररूपा समावेशः।

९. एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेव इति उपसंहारः।

१०. यथा क्षीरं दध्याकारेण परिणमते तथा चिच्छक्तिरेव सर्वाकारेण परिणमते तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। योगिनीहृदय—'दीपिका'

अभिनयवाद—जगत् केवल शक्तिमान का अभिनयमात्र है। इसमें आत्मा रङ्गमञ्च है और आत्मा ही नर्तक है—नर्तक आत्मा (३.९) रङ्गोन्तरात्मा (३.१०) (शिवसूत्र)। नानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा।

१. त्वमेकांशेनान्तरात्मा नर्तकः कोशरक्षितः।

२. रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीडाप्रदर्शनाशयेनात्मना रङ्गः तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थान् अन्तरात्मा।

---

१. 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्'—३.३० (शिवसूत्र)

(क) सृष्टिदशायां निजशक्तिविकासोऽस्य विश्वम्।

(ख) आभासमानं विलीयमानं च निजसंविच्छक्त्यात्मकमेव।

(ग) स्वस्याः संविदात्मनाशक्तेः प्रचयः क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम्—शिवसूत्र-विमर्शिनी (क्षेमराज)

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥

'जगन्नाट्यमाभासयति' 'जगन्नाट्यनर्तकस्य भूमिकाग्रहणं ।'[१]

इच्छासृष्टिवाद—शैव दार्शनिकों ने कहा कि विश्व परमात्मा की इच्छा का प्रस्फुरण है, परिणामन है, रूपायन है—

तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते । (शिवदृष्टि प्र०आ०)

तथा भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं सम्पद्यते । (शि०दृ०वृत्ति)

एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता । (शि०दृ०)

सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि में विश्व को एक 'क्रीड़ा' भी कहा है—

१. कदाचिदात्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव ।

२. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ।

क्रीडन्करोति पादातधर्मस्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥



---

२. शिवसूत्रविमर्शिनी—श्रीसर्वमङ्गला

पञ्चम अध्याय
त्रिकदर्शन और शैवसिद्धान्त

स्पन्दशास्त्र की दृष्टि से तो सृष्टि परमशिव की इच्छाशक्ति की साकार अभिव्यक्ति है या यह शक्ति का परिणमन है। शिव की जो सृजनेच्छा (सिसृक्षा) है, वही शक्ति है। परमशिव की 'एकोऽहं बहु स्याम' की इच्छा ही शक्ति है। जगत् (सृष्टि) उसी शक्ति का प्रसार है। 'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं' में भी यही अभिव्यक्ति है। स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में जगत् एवं सृष्टि एक क्रीड़ा भी है—'क्रीडात्वेनाखिलं जगत्'। सृजन स्वरूपगोपन की क्रीड़ा है। काश्मीर शैवदर्शन एवं शैवसिद्धान्त—दोनों ही छत्तीस तत्त्वों के द्वारा सृष्टि-क्रम की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, तथापि दोनों में मौलिक भेद है।

शैव-सिद्धान्त—'शिव' जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है।

१. शिव जगत् का मात्र निमित्त कारण है। माया ही जगत् का उपादान कारण है।

२. शिव का सृष्टि से प्रत्यक्ष एवं सीधा सम्बन्ध नहीं है। सृष्टि-कार्य में शिव की सिसृक्षामात्र की ही कारणता है, उपादानकारणता शिव में नहीं है। शिव को जगत् की सृष्टि के लिए—उपादान हेतु—माया शक्ति की अपेक्षा होती है।

३. जगत् सत् है।[१]

४. सृष्टि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त से ही निरूपित की जा सकती है, अत: असत्कार्यवाद मिथ्या दृष्टि है।

५. जगत् (सृष्टि-प्रपञ्च) भौतिक है; अत: चेतन शिव से इस अचेतन एवं भौतिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[२]

६. सांख्यदृष्टि सृष्टिविकास का आधार प्रकृति को स्वीकार करती है; किन्तु शैवसिद्धान्त प्रकृति को भी माया का एक विकास मानती है। अत: यहाँ सृष्टिविकास का आधार माया को स्वीकार किया गया है। प्रकृति तो विकासक्रम में मध्य में आती है; न कि आदि में।

७. सांख्य मानता है कि प्रकृति के साथ पुरुष का पंग्वन्ध सम्बन्ध ही सृष्टि का विधायक है; लेकिन सृष्टि करने के लिए 'ईश्वर' आवश्यक नहीं है। शैवसिद्धान्त मानता है कि अचित् (जड़) प्रकृति अकेली सृष्टि नहीं कर सकती; माया में ईश्वर के विना कोई गति सम्भव ही नहीं है।[३]

---

१. शैवपरिभाषा, शिवप्रकाशम्   २. शिवप्रकाशम

३. शिवज्ञानसिद्धि

८. काश्मीर शैवदर्शन भी माया को स्वीकार तो करता है; किन्तु वह उसे शिव की परिग्रह शक्ति मानता है और साथ ही उसे चेतन एवं शिव से अभिन्न मानता है।

शैवसिद्धान्त माया को जड़ मानता है और उसे तत्त्वत: शिव से भिन्न स्वीकार करके भी उसे शिव से अभिन्नतया सम्बद्ध मानता है।[१] एक चित् है और दूसरा अचित्; किन्तु फिर भी दोनों पृथक् सत्तायें नहीं हैं। माया में सृष्टि-क्षमता तो है; किन्तु वह शिवसापेक्ष है।[२] माया जगत् का उपादान कारण है; न कि शिव।

९. अद्वैत वेदान्त भी सृष्टि को माया के द्वारा ही स्वीकार करता है; किन्तु वहाँ माया अनिर्वचनीय है। न सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य। अद्वैत वेदान्त में मात्र परमात्मा (ब्रह्म) ही सत्य है—

'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'। जगत् मिथ्या है। जगत् रस्सी में सर्पभ्रान्ति है। अज्ञान के रहने तक ही जगत् की सत्ता रहती है; उसके अनन्तर नहीं। माया ही जगत् का उपादान कारण है। माया मिथ्या है तो जगत् भी मिथ्या है। सृष्टि एक अज्ञानजन्य भ्रममात्र है।

१०. शैवसिद्धान्त में माया एक नित्य सत्ता है और अपनी सत्ता के लिए शिव पर आश्रित नहीं है। वह केवल अपनी क्रियाशीलता या गति के लिए ही शिवाश्रित है। अद्वैतवादी वेदान्त में (शङ्कराचार्य के मतानुसार) माया न सत् है और न असत्; प्रत्युत सदसद्विलक्षण है। शैव सिद्धान्त की दृष्टि में माया सत् है। शैवसिद्धान्त के अनुसार माया के विकास के ३ चरण हैं—१. शुद्धमाया, २. अशुद्धमाया, ३. (अशुद्ध) प्रकृतिमाया। शुद्ध माया को 'बिन्दु' कहा गया है।[३] इसका विकास स्वयं शिव करते हैं। यही है—शिव की परिग्रह शक्ति।[४]

शुद्ध माया—सृष्टि के आरम्भ में माया अतिसूक्ष्म (शुद्ध) स्पन्द अवस्था में रहती है। यह माया शुद्ध माया इसलिए कहलाती है; क्योंकि इसमें कर्म एवं मल का समावेश नहीं होता। शुद्ध माया शुद्ध जगत् एवं पूर्ण ज्ञान की उद्भाविका है। यह 'बिन्दु' पदवाच्या माया (शिव की परिग्रह शक्ति) वाणी के चार रूपों की उद्भाविका है; जो निम्न हैं—१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा एवं ४. वैखरी।

अशुद्ध माया—सुख-दु:ख, अपूर्ण ज्ञान, अशुद्ध जगत्, भौतिक जगत्, तनु, करण, भुवन, भोग, शरीर, इन्द्रियाँ, जगत्, विषय-भोग। अशुद्ध माया अशुद्धि को भी दूर करती है। यथा सिकता मलिन पात्रों को।[५] 'सदाशिव'→ (अशुद्ध माया द्वारा)—काल, नियति, कला, विद्या, राग।[६] इससे सञ्जात ज्ञान भ्रमपूर्ण होता है, तथापि आणव अशुद्धि के निराकरण में सहायक है। अशुद्ध माया पर शिव नहीं; केवल सदाशिव कार्य करते हैं।

---

१. शिवज्ञानबोधम्
२. शिव की शक्ति के बिना माया में गति सम्भव नहीं है। 'माया' जगत् का प्रथम कारण तो है किन्तु अन्तिम कारण शिव है।
३. शिवप्रकाश
४. शिवज्ञानसिद्धि
५. शैव परिभाषा
६. शिवप्रकाश

प्रकृति माया (जो अशुद्ध माया-सञ्जात है) सतोगुण-रजोगुण-तमोगुणयुक्त है। यह २४ तत्त्वों की उत्पादिका है। इसके कर्ता रुद्र हैं। माया से ३६ तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

शाङ्कर अद्वैत का मत इन दोनों से भिन्न है—

१. यहाँ भी शक्ति ही जगत् की सृष्टि करती है—'विक्षेपशक्तिलिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्' (वाक्यसुधा); किन्तु यह चेतन नहीं जड़ है और ब्रह्म में समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं है।

२. सोपाधि चैतन्य सृष्टि का निमित्त कारण है।

३. सोपाधि चैतन्य विश्व का विवर्त रूप में अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारण भी है। समस्त विश्व का कारणशरीर ईश्वर है।

४. माया की विक्षेप शक्ति के कारण ही आत्मा में विश्व का आरोप हुआ करता है। मायावच्छिन्न चैतन्य ही जगत् का कारण है; निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय परब्रह्म नहीं।

५. 'माया' विशुद्ध सत्त्व प्रधाना शक्ति है और अविद्या मलिन सत्त्वप्रधाना। मायाच्छन्न ईश्वर है और अविद्याच्छन्न जीव है।

शाङ्कर माया का स्वरूप—यह सत्, असत्, सदसत् आदि से भिन्न है और अनिर्वचनीय है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥

यह सत् है न असत्, न भिन्न है न अभिन्न, न साङ्ग है न निरङ्ग और न ही उभयात्मक है; प्रत्युत यह अनिर्वचनीय है (वि०चूडामणि ११२)।

शङ्कराचार्य कहते हैं कि—

१. परमात्मा से अतिरिक्त भी कोई जगत् की सत्ता है (ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की भी सत्ता है)—यह मुझे मान्य नहीं; क्योंकि—'अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः।' जगत् तो ब्रह्म में मिथ्यारोपित वस्तु है—'आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता'। आरोपित वस्तु तो अर्थशून्य ही होती है, वह सत्य तो नहीं होती। यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्ति में भी उसकी प्रतीति होती—'यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।' (वि०चू०)

२. यदि जगत् है तो केवल ब्रह्म में मिथ्यारोपित वस्तु है; अतः वह ब्रह्म से भिन्न नहीं, प्रत्युत ब्रह्म ही है—

(क) यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्तशेषभावनादोषम्॥ (वि०चू०)

(ख) सत्स्वरूप ब्रह्म का कार्य जगत् भी सत्स्वरूप ही है—'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव, तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।' अतः ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता मानना मिथ्या प्रलाप है—'अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः।'

(ग) यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है; अत: विश्व ब्रह्ममात्र ही है; क्योंकि अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं होती—'ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी' 'तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं । नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य (वि०चू०) ।

आचार्य महेश्वरानन्द का मत

आचार्य महेश्वरानन्द महार्थमञ्जरी एवं परिमल में कहते हैं कि—

१. जो नित्य शुद्ध है वह 'उन्मेष-निमेषव्युदास' होता है ।

२. उन्मेष तो स्वात्मविमर्शरूपी द्रुमपल्लव एवं पुष्पादिक के द्वारा होने वाला विश्व का वैचित्र्यस्वरूप स्फुरण है—'उन्मेषपदेनैतदाह—स्वात्मविमर्शद्रुमस्य पल्लवपुष्पादिप्रायमेतद् विश्ववैचित्र्यस्फुरणमिति ।' उन्मेष ही सदाशिव एवं ईश्वर भी है ।

३. ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देव: ।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीय: स भवतीश्वरो नाम ॥[१]

४. ईश्वरतत्त्वमिति । प्रथमोन्मेष इति । (सदाशिवाख्यं तत्त्वम् । एतद्विपर्यासेन क्रियाशक्त्यौज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसन्धातृरूपमीश्वरतत्त्वमिति । प्रथमोन्मेष इति) ।[२]

उन्मेष-निमेष परमेश्वर का स्पन्दतत्त्व है—

५. 'उन्मेषनिमेषौ नाम परमेश्वरस्य परमस्वातन्त्र्यलक्षणं स्पन्दतत्त्वम् ।'[३] यह उन्मेषनिमेषात्मक स्पन्द स्वातन्त्र्य शक्ति वाला है । अहन्ता के उन्मेष में इदन्ता का निमेष होता है । 'यदाहन्तोन्मेषस्तदानीमिदन्ताया निमेष:, इदन्तोन्मेषे चाहन्ताया निमेष इत्यनेन ।' ईश्वर बाह्योन्मेष है और सदाशिव आन्तर निमेष है—'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव: ।'[४]

६. उन्मेषनिमेषशक्तिद्वितययौगपद्यानुभूतिचमत्कार इत्यर्थ: । उन्मेष में तो विश्व का प्रसार होता है—शिव का प्रसार होता है ।

७. विश्वोन्मेषदशायां देशिकनाथस्य यावान् प्रसर: ।
कललावस्थया स्थितेऽपि विश्वनिमेषेऽपि तावान् भवति ॥ (३०)
कलल की अवस्था में भी—विश्वनिमेष की अवस्था में भी—शिव का प्रसार बना रहता है ।

इसकी व्याख्या में स्वोपज्ञ परिमल में महेश्वरानन्द कहते हैं कि परमात्मा सब पर कृपा रखने वाला है, सर्वानुग्राहक है, उसकी शक्ति 'उन्मेषयौगपद्यलक्षणा शक्ति' कहलाती है—'देशिकतया सर्वानुग्राहकतया नाथ्यमानस्य परमेश्वरस्य सा काचिदुन्मेषयौगपद्यलक्षणा शक्तिरस्ति ।'[५] यहाँ 'स्वरूपोन्मेष' में 'विश्वनिमेष' भी अन्तर्निहित रहता है तथा 'विश्वोन्मेष' में 'स्वरूपनिमेष' अर्थात् दोनों तुलाधृत रूप में साथ-साथ उत्पन्न होते हैं—

१-५. परिमल

'तत्र च स्वरूपोन्मेषे विश्वनिमेषः, विश्वोन्मेषे च स्वरूपनिमेष इति द्वितयमपि तुलाधृतवदुत्पद्यते ।' इसीलिए परमात्मा को 'विश्वात्मक' होने पर भी 'विश्वोत्तीर्ण' भी कहा गया है—'ततश्च विश्वात्मको विश्वोत्तीर्णश्च परमेश्वरः ।'[1] 'उन्मेष' और 'निमेष' का यौगपद्य एवं उसकी समरसता 'शक्ति' एवं 'शिव' में स्वभावभूत रूप में अभिन्नतया स्थित है—'विश्वस्योन्मेषलक्षणायामवस्थायामन्तश्चिच्छक्तिनिमेषापरपर्यायां यावान् प्रसरः षडध्वोल्लासप्रथासतत्त्वो भवति, तथा विश्वस्य निमेषे स्वान्तःक्रोडीकारैकपारिशेष्ये सत्यपि तावानुन्मेषदशासमस्वभावो भवति ।' इसकी स्थिति इस प्रकार है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेच्चराचरम् ॥[2]

महेश्वरानन्द कहते हैं कि जिस प्रकार गर्भ की कललावस्था में सारे आकार, सारे शरीराङ्ग एवं सारे शरीरोपाङ्ग अविभक्त रूप में कलल में मिले-जुले रहते हैं (यथा मयूर के अण्डे के रस में पक्षी की चोंच, पेट, पैर, आँख, सिर, हृदय, फेफड़े, रक्त, रस, हड्डी आदि सभी अविभक्त (अभिन्न) रूप में स्थित रहते हैं; किन्तु वहाँ उन्हें पृथक्-पृथक् करके या एक शरीर या पक्षी के रूप में नहीं देखा जा सकता; किन्तु सूक्ष्मरूप में वह रहता अवश्य है) ठीक उसी प्रकार सृष्टि की निमेषदशा में भी उन्मेष रहता अवश्य है—'कललावस्थयाऽवस्थितिरिति ब्रूमः । यथा शिखण्ड्यण्डे सर्वशिखण्ड्यवयवानुप्रविष्टबर्हपरिबर्हादिवर्णरेखावैचित्र्यशिल्पकल्पना कौशलमखिलमप्यत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकयाऽवधार्यमस्तीत्यङ्गीक्रियते एवमत्रापि ।'

'कललानामावस्थायाः सर्वाकामविभक्तं रूपम् ।'[3] इसीलिए कहा गया है कि यदि निमेषदशास्वरूप कललावस्था में विश्ववैचित्र्य अस्तित्व में न होता तो उन्मेष दशा की सत्ता ही सम्भव न हो पाती । अतः विश्वोन्मेषावस्था में आत्मस्वरूप का तिरोधानमात्र होता है, न कि अत्यन्तोपप्लव ।[4] अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक परमशिव में निमेष एवं उन्मेष समरस रूप में, एकीकृत विश्व के रूप में, सृष्टि-प्रलय समरूप में निवास करते हैं—'ननून्मेष एव निमेषो, निमेष एवोन्मेषो विश्वस्य विश्वोत्तीर्णस्य ।' अतः 'उन्मेष' एवं 'निमेष' में न तो विरोध है और न कोई तात्त्विक भिन्नता है ।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—यह एकात्मक, अविभागात्मक एवं अभिन्न स्वरूप वाली परामर्श भूमि उन्मेष-निमेषात्मिका है और इसे 'उन्मेष' तथा 'निमेष' शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है—'एवमियमेकैवाविभागरूपा परामर्शभूमिरुन्मेषनिमेषमयी उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यामभिधीयते ।'

---

१. परिमल
२. त्रिंशिकाशास्त्र
३. यदि च तद् विश्ववैचित्र्यं निमेषदशायां कललावस्थायामपि न स्यात्, तर्ह्युन्मेषदशैव न स्यात्, प्राक् सत् एवोत्पत्त्यौचित्यात् । तथा हि विश्वोन्मेषस्थायामात्मरूपस्य केवलं तिरोधानमात्रम्, न पुनरत्यन्तोपप्लवः । (परिमल)
४. स्पन्दसन्दोह

'इदन्ता' का 'अहन्ता' में लयीकरण परमशिव की प्रकाशरूपता का 'उन्मेष' है; किन्तु विमर्शरूपता का 'निमेष' है । स्वात्मरूप में 'इदन्ता' का अवभासन उसकी प्रकाशरूपता का 'निमेष' है; किन्तु विमर्शरूपता का 'उन्मेष' है । विमर्श का 'उन्मेष' सृष्टिवाचक है, किन्तु विमर्श का 'निमेष' प्रलय का पर्याय है । ये सृष्टि एवं प्रलय परमेश्वर में प्रतिक्षण चलते रहते हैं—अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजना वैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टिसंहारादिना प्रपञ्चयति ।[1]

भास्करकण्ठ कहते हैं—

देहाद्रिस्थमनोद्रुमस्थकलनाशाखालिसन्ध्यन्तराद्
द्रष्टुं जाड्यहरं विमर्शविभवादुन्मेषरूपं रविम् ।
लग्ना ये सततं तदेकमयतां पश्यन्त आत्मन्यथो
संसारेऽपि च तत्प्रकाशवशतो भातेऽस्तु तुभ्यं नमः ॥[2]

स्पन्दशास्त्र में सृष्टि की अवधारणा

स्पन्दशास्त्र सृष्टि को किसी नव्य पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानता और न तो यह मानता है कि जिसका अभाव था, उसको भावात्मक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित या आविर्भूत करना ही सृष्टि है । वह—

१. असत् से सत् की उत्पत्ति,
२. सत् से असत् की उत्पत्ति,
३. सत् से सत् की उत्पत्ति,
४. सत् से अनिर्वचनीय की उत्पत्ति

इत्यादि किसी भी सृष्टिसिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता । वह गौड़पाद के 'अजातिवाद' को भी स्वीकार नहीं करता । स्पन्दशास्त्र 'उत्पत्ति' की दृष्टि को ही स्वीकार नहीं करता । वह 'उत्पत्तिवाद' मानता ही नहीं ।

स्पन्दशास्त्र की दृष्टि यह है कि जिस स्पन्दात्मक विमर्श भूमिका में अर्थात् शङ्कर में यह सारा कार्यरूप (प्रमेयात्मक जगत्) अभेदरूप में अवस्थित है और जिससे इसका बहिर्मुखीन प्रसार हो जाता है'—

यत्र स्थितिमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् । (स्पन्दकारिका -२)

वही शङ्कर है । सारांश यह कि जगत् की 'उत्पत्ति' (आविर्भाव) नहीं; प्रत्युत उसका प्राकट्य हुआ करता है । 'प्रकट' वह हुआ करता है, जो पहले से वर्तमान रहता है । प्रलय की अवस्था में जो शक्ति में अहंविमर्श से एकाकार रूप में पूर्वावस्थित था, उसी का आभासन, उल्लास या प्रकटीकरण ही जगदाकार सृष्टि है । 'सृष्टि' कोई मौलिक, नव्य, स्वतन्त्रसत्ताक, स्पन्द से भिन्न एवं शिव से पृथक् मूलभूत नवीन रचना नहीं है ।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
२. ईश्वर 'उन्मेष' है और सदाशिव 'निमेष'—'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।' ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (३.१.३)

सृष्टि का स्वरूप—

१. 'सृष्टि' शक्ति का अपर पर्याय है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' ।

२. सृष्टि और प्रलय शङ्कर का 'उन्मेष-निमेष' है (स्पन्दकारिका)—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां　जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं　शङ्करं　स्तुमः　॥ (स्वरूपस्पन्द १)

'उन्मेष-निमेष' शब्द का अर्थ क्या है? 'उन्मेष-निमेष' पद प्रलय-उदय के वाचक नहीं हैं; क्योंकि कहा गया है कि जिस शङ्कर के उन्मेष एवं निमेष से प्रलय-उदय सम्पन्न होते हैं अर्थात् उन्मेष एवं निमेष कारण हैं और प्रलयोदय कार्य हैं । फिर उन्मेष-निमेष क्या है?

१. क्या पलकों का उठाना एवं गिराना उन्मेष-निमेष है ?

२. क्या शिव का सिसृक्षात्मक सङ्कल्प उन्मेष-निमेष है ?

३. क्या शिव की विश्वनाट्याभिनयेच्छा उन्मेष-निमेष है ?

(क) भट्टकल्लट स्पन्दसर्वस्व में उन्मेष-निमेष को उस शिवात्मक सङ्कल्प का वाचक मानते हैं, जो कि जगत् की उत्पत्ति-संहार का कारण है—'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पस्य जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वम् ।'

(ख) रामकण्ठाचार्य स्पन्दकारिकाविवृति (व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देश) के प्रथम निष्पन्द में इन दोनों शब्दों को 'इच्छा' का वाचक कहते हैं—

(क) 'इच्छामात्रम् उन्मेषनिमेषौ ।' (१.१)

(ख) 'यस्य उन्मेषे क्रियाशक्तिप्रतिसंहारात् स्वरूपविकासे जगतः प्रलयो विनाशः ।'

(ग) 'निमेषे प्रसृतक्रियाशक्तित्वात् स्वरूपसङ्कोचरूपे जगतः उदयः उद्भवः ।'

(घ) 'शङ्करस्यैव पारमार्थिकौ उन्मेषनिमेषौ धर्मत्वेन प्रतिपादयन्ति ।'

(ङ) 'शङ्कर उन्मिषति निमिषति इति प्रतिपाद्यते ।'

(च) उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकं शङ्करसम्बन्धि प्रतिपाद्यते । स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः ।'

(छ) 'तौ च ईश्वरेच्छानिमित्तिकौ ।'

सृष्टि उन्मीलन है—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में आचार्य क्षेमराज कहते हैं—स्वेच्छा (अपनी इच्छा) मात्र से ही चिति शक्ति स्वात्मारूप भित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।' स्वात्मक भित्ति में पहले से निर्णीत (नव्य रूप में उत्पन्न नहीं) विश्व को दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति उन्मीलित करती है ।'[१] 'उन्मीलन' नव्योत्पत्ति नहीं है, प्रत्युत 'प्राक्निर्णीत' (पूर्वस्थित, स्पन्द में अभेदात्मना अव्यक्त

१.　क्षेमराज (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) 'स्वभित्तौ न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति । 'उन्मीलनं' च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् ।'

रूप में अवस्थित, अहंविमर्श में शक्ति के अहमाकार विमर्श से एकाकार) सत्ता का प्रकटीकरण है । आचार्य क्षेमराज कहते हैं—'उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् । प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति ।[१]

सृष्टि एवं सृष्ट जगत् 'प्रकाश' (शिव) के साथ एकात्म है—[२]'जगत: प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् ।' संसार के प्रत्येक भावात्मक सत्ता का कारण (उपादान एवं निमित्त कारण) मात्र स्वात्मदेवता है—कारण ही कार्यरूप में रूपान्तरित हो जाता है और यह रूपान्तरण (शिव-शक्तिस्वरूप जगत्) भिन्नसत्ताक भाव अनुभूत होने पर भी वस्तुत: है मात्र शिव-शक्ति का रूप—स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वम् (प्र०हृ०सूत्र १) ।

सृष्टि का उपादान कारण : चिति शक्ति

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

१. सदाशिव से लेकर भूमिपर्यन्त विश्व की सिद्धि (अस्तित्व) रूप निष्पत्ति, स्थितिरूप प्रकाशन एवं परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहारक्रिया में स्वतन्त्र, अनुत्तरविमर्शमयी, शिवभट्टारक से अभिन्न, परा शक्तिरूप चिति ही सभी का मूल कारण है ।[३]

२. चिति (चेतन आत्मसत्ता = आत्मा) की चेष्टा करने पर जगत् का उद्भव एवं स्थापन तथा प्रसार के निवृत्त होने पर जगत् का लय हो जाता है । चित्प्रकाश से भिन्न माया प्रकृति आदि की कहीं कारणता नहीं है; प्रकाशरूप चिति ही विश्व का कारण है । जगत् भी चित् से भिन्न नहीं है—

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित् ।[४]

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप 'विश्व' के प्रकाशन का कारण चिति शक्ति है—'प्रमातृ-प्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने हेतु: ।' इसके प्रसरण से जगत् उन्मिषित एवं निवृत्त होने से निमिषित होता है—'अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति । प्रकाशरूपा चितिरेव हेतु: ।'[५]

कार्य-कारणभाव—जो अनन्त संसार (अनन्त रूपात्मक सृष्टि) है, वह मात्र शक्ति का स्फुरण है । भगवती चिति ही भिन्न-भिन्न अनन्त संसारों के रूप में स्फुरित होती है—'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति ।'[६] प्रश्न उठता है कि 'कार्य' एवं 'कारण' दोनों अभिन्न हैं तो कार्य-कारणभाव का स्वरूप क्या होगा? क्षेमराज कहते हैं कि इस अद्वैतवादी शैव दर्शन में चिति ही पारमार्थिक कार्य-कारण है[७]—'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा .... इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभाव:[८] (Causation) है । इस दर्शन का यही Cause and effect theory (कारण-कार्यवाद का सिद्धान्त) है ।

---

१. पराशक्तिरूपा चिति: एव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतु: कारणम् । (प्र०हृदयम्—क्षेमराज)

२-६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

७-८. क्षेमराज (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में सृष्टिसम्बद्ध सिद्धान्त

परप्रमाता की दृष्टि से इसे 'स्वातन्त्र्यवाद' कहते हैं; किन्तु प्रमेय की दृष्टि से 'आभासवाद' कहते हैं—

(क) स्वातन्त्र्यवाद—स्पन्दशास्त्र में परमशिव की स्वभावरूपा शक्ति को 'स्वातन्त्र्यशक्ति' कहा गया है; यही 'स्पन्द' भी है—'श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिः किञ्चिच्चलत्तात्मक-धात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता (स्पन्दनिर्णय)। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रहरूप पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य है। सभी में परमेश्वर है और सभी परमेश्वर में हैं। स्वातन्त्र्य ही शिव है और शिव ही स्वातन्त्र्य है। शिव विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी, यही उसका स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य ही परमशिव का स्वभाव है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है कि स्वातन्त्र्य ही परमशिव का मुख्य ऐश्वर्य है—'स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।'

स्वातन्त्र्यवाद की परिभाषा निम्नानुसार है—'अविद्या अनिर्वाच्या वैचित्र्यं चाधत्ते इति व्याहृतम्। परमेश्वरी शक्तिरेव इयमिति हृदयावर्जकः क्रमः। तस्मात् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः।'

स्वातन्त्र्य परमशिव की परा शक्ति है। यह शिव से अभिन्न है। इसका अपर अभिधान 'आनन्द' है। अति दुर्घटकारित्वरूप जो परमात्मैश्वर्य है, वह स्वातन्त्र्य से अभिन्न ही है। परमात्मा का जो स्वातन्त्र्य है, उसी के कारण वह विश्वातीत होते हुए भी अनन्त रूपों में स्फुरित होकर युगपद 'विश्वमय' भी है। परमशिव की इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उनका स्वातन्त्र्य है—'स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य आवघातः' (ई०प्र०वि० १.१)।

परमात्मा का यह ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य ही नित्योदित 'परावाक्' है। इसे ही विमर्शात्मा चिति भी कहा जाता है। शब्दतत्त्व सृष्टिप्रसार की आदिकोटि एवं सृष्टिसङ्कोच के समय चरम कोटि है। चिति एवं प्रकाशात्मा शिव एक ही हैं। अविभक्त (अन्तर्लीन) विमर्शात्मक शिव ही परमशिव (निष्कल दशा) है।

ये प्रकाश-विमर्शात्मक संवित्स्वभाव परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से रुद्रादि प्रमात"ओं एवं नीलसुखादि प्रमेयों के रूप में स्फुरित होते हैं। उनका यह प्रकाशन (स्फुरण) अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्तवत् भासित होता है। इस स्थिति में भी स्वरूपाच्छादन नहीं होता। यही संवित्स्वरूप शिव के स्वातन्त्र्य की विलक्षणता है।

(ख) प्रतिबिम्बवाद—एक ही सूर्य का घड़ों, गर्तों, तालाबों, नदियों, नदों एवं विभिन्न समुद्र में प्रतिबिम्ब पड़ता है। स्थिर सूर्य तरङ्गों के मध्य हिलता हुआ प्रतीत होता है। घड़ों, गर्तों, नदियों को हटा दीजिए तो पुनः एक ही सूर्य दिखाई पड़ने लगेगा। इसी प्रकार ब्रह्म में अनेक प्रतिबिम्ब यथार्थ प्रतीत होते हैं, किन्तु ब्रह्म न तो अनेक है और न ही विकारी है। अविद्या के नष्ट हो जाने पर ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। यही वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद है। शुद्ध चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा के विभिन्न प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न जलाशयों पर पड़ते हैं और जल की

स्वच्छता, मलिनता एवं स्पन्दता तथा निस्पन्दता के अनुरूप ही चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब भी पड़ते हैं, उसी के अनुरूप प्रतिबिम्ब स्थिर, अस्थिर, स्पष्ट एवं अस्पष्ट दिखाई पड़ता है ।

(ग) आभासवाद—प्रत्यभिज्ञादर्शन के मत में (प्रमेय के दृष्टिकोण से) सृष्टि का द्वितीय सिद्धान्त आभासवाद है । आभास है क्या? 'आभासनं—आ ईषत् सङ्कोचेन भासनं प्रकाशना' (ई०प्र०वि०वि०अ०२) । ईषत् सङ्कोचपूर्वक प्रकाशन ही अवभासन है । आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब को ही 'आभास' कहा है—'भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बिता, इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बतत्त्वम् ।' इन उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि आभास के दो पक्ष हैं—

१. विमर्शसंयुक्त प्रकाश का अपूर्ण (संकुचित) आत्मप्रकाशन = आभास ।

२. विमर्शसंयुक्त प्रकाशरूपी मुकुर में अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्तवत् जड़-चेतन निःशेष जगत् का प्रतिबिम्बन = आभास ।

समस्त जड़-चेतन पदार्थ केवल परा सत्ता के आभासमात्र हैं—'आभासरूपा एव जड़चेतनपदार्थाः' (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी) ।

अभिनवगुप्तपाद ने 'विवृतिविमर्शिनी' में कहा है—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ॥

सारांश यह कि सामान्यतया जो प्रतिबिम्बनात्मक व्यापार होता है, उसमें बिम्बरूपात्मक वस्त्वन्तर की अपेक्षा तो अपरिहार्यतः आवश्यक होती है; किन्तु महाचैतन्य तो अपने ऐश्वर्य से, प्रतिबिम्बसमर्पक अन्य वस्तुरूप उपाधि के अभाव में ही स्वरूपभूता अपनी भित्ति में विश्वाकार को प्रतिबिम्बित करती है ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'दर्पणविधि' का निर्देश केवल यह बताने के लिए किया गया है कि यह संसार प्रकाशपुरुष या शिव से बाहर कुछ भी नहीं है । इसका लक्ष्य द्वैतप्रथात्मक संकुचित ज्ञान का निवारण है—

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता ।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः ॥[१]

चूँकि प्रतिबिम्ब की दर्पण से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती; अतएव दर्पणातिरिक्त इसका कोई पृथक् प्रदेश नहीं होता । प्रतिबिम्ब तो कोई मूर्त्तिमान भौतिक वस्तु नहीं है; अन्यथा इसका मुकुर से अतिरिक्त कोई अन्य देश होता । प्रतिबिम्ब में घनत्व न होने से इसका कोई स्वतन्त्र रूप भी नहीं होता । इसका काल से भी कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि कालयोग किसी पूर्वापरभावी की अपेक्षा से पृथक् सत्ताक पदार्थ में ही सम्भव है । घनत्व न होने से उसमें परिणाम भी विद्यमान नहीं है । दर्पण में प्रतिबिम्बित अनेक वस्तुओं के

---

१. तन्त्रालोक (आ० ३) (ई०प्र०वि०वि०)

एक साथ प्रतिबिम्बित होने पर भी प्रत्येक पदार्थ आपस में न मिलकर स्वतन्त्र रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं । अत: अन्योन्यासङ्ग की पूर्ण हानि कहना समुचित नहीं है । भासित होने वाली वस्तु को सर्वथा अवस्तु (मिथ्या) कहना भी समीचीन नहीं है; किन्तु आभासमात्रसार होने के कारण उसमें वस्तुत्व की पूर्ण तथ्यात्मकरूपता भी नहीं है ।

परमशिव स्वगर्भ में सूक्ष्मतयावस्थित विश्व को उल्लेखपूर्वक अवभासित करते हैं— 'उल्लेखनं मनसि कल्पनम् । अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुरणम् ।'[१] परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से असंख्य ग्राह्य-ग्राहकों के रूप में, अनन्त प्रमेय-प्रमाताओं के रूप में अवभासित होते हैं । आभासन के कारण परमशिव की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती । अत: आभासरूप जगत् को असत् भी नहीं कहा जा सकता; जैसा कि शाङ्कर वेदान्त मानता है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।' ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्त:स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम् ॥

सृष्टि की अवस्था में यह बाह्य आभासात्मक विश्व भासित होता है; किन्तु क्षोभ के नष्ट होने पर यह आभास उसी अनुत्तर में विलीन हो जाता है । यह आभास परमेश्वरी भैरव संवित् में अविभागात्मना बोधात्मक रूप से अवस्थित है—'इदं विश्वं एकस्यां वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते ।'

१. शक्ति की दृष्टि से सृष्टि	= आभासवादी है ।
२. महामाया एवं प्रकृति की दृष्टि से सृष्टि	= परिणामवादी है ।
३. ब्रह्म की दृष्टि से यह सृष्टि	= विवर्तवादी है ।
४. परमशिव के स्वतन्त्रस्वभाव की दृष्टि से सृष्टि	= स्वातन्त्र्यवादी है ।
५. गौड़पादीय अद्वैत की दृष्टि से सृष्टि	= अजातिवादी है ।
६. बौद्धों के शून्य की दृष्टि से सृष्टि	= शून्यवादी है ।
७. विज्ञानवादियों की दृष्टि से सृष्टि	= विज्ञानवादी है ।
८. कार्यगर्भ कारण की नित्यता की दृष्टि से सृष्टि	= सत्कार्यवादी है ।

इच्छासृष्टिवाद—शाक्तों के मत में सृष्टि न तो विवर्त है, न परिणाम है, न प्रतिबिम्ब है और न भ्रम ही है । यह पराशक्ति की स्फुरत्ता है[२]—

यदा सा परमा शक्ति: स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मन: पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भव: ॥

परमशिव तो अक्रिय है; अत: मात्र शिव से सृष्टि होगी कैसे?

---

१. भास्करी २. योगिनीहृदयदीपिका

१. ननु कथमक्रियात् परमशिवात्तत्त्वमयं चक्रः सम्भवतीत्यत आह—'यदा... सम्भवः ।'[१]

२. यदा यस्मिन् काले प्राणिनामदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षया सैव परा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति, शिवस्तटस्थ उदासीन इत्यर्थः । अत्र श्रुतिः—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।[२]

आज्ञावतार में भी कहा गया है—

स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि ।

'स्फुरत्ता' है क्या? यह पराशक्ति की विश्वसृजन की इच्छा है—'विश्वसर्जनमेव पराशक्तेः स्फुरत्ता'।[३]

भास्करराय कहते हैं—'सा देवी स्वेच्छया स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणादिचक्रस्य सम्भव उत्पत्तिर्भवतीति ।'[४] स्फुरत्ता ही सृष्टि है—'सेयं स्फुरत्तारूपा सृष्टिरेव क्रिया ।'[५] इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका 'शान्ता' नाम वाली प्राथमिकी वृत्ति के उत्पन्न होते ही चक्रोत्पत्ति हो जाती है ।

(घ) सृष्टिविषयक लीलावाद—सांख्य, वेदान्त एवं काश्मीरीय त्रिक दर्शन में से सांख्यदर्शन भारत का प्राचीनतम दर्शन है और यह सृष्टि की व्याख्या 'लीलावाद' के धरातल पर प्रस्तुत करता है ।

सांख्यदर्शन, वेदान्तदर्शन एवं काश्मीरीय त्रिकदर्शन—ये तीनों सृष्टि की व्याख्या, सृष्टि की सोद्देश्यता एवं उसकी चरितार्थता के लिए 'लीलावाद' का सम्बल लेते हैं । सांख्यदर्शन में लीला-व्यापार का निष्पादन पुरुष नहीं, प्रकृति करती है । जबकि वेदान्त एवं काश्मीरीय शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन) में इस व्यापार का निष्पादन ब्रह्म एवं शिव करते हैं । वेदान्त एवं त्रिकदर्शन में यह कार्य ब्रह्म एवं शिव की शक्तियों द्वारा निष्पादित किया जाता है । तीनों दर्शनों में यह व्यापार प्रत्यक्ष रूप से शक्ति (प्रकृति, स्वातन्त्र्य शक्ति और माया) द्वारा ही सम्पन्न होता है ।

सृष्टिविषयक शब्दसृष्टिवाद—शब्दब्रह्म से ही सृष्टि होती है; नाद ही सृष्टि की विधायिका शक्ति है और यह परमा कला—'सर्ववर्णांशभूतविमर्शरूपा कला विमर्शशक्तिः' जैसे ही अपना (परमशिव का) स्फुरण (पश्यन्ती से वैखरीपर्यन्त विमर्शन) देखने की इच्छा करती है तभी परमा कला शान्तात्मिका होकर अम्बिकारूप ग्रहण करके प्रकाशांशमात्रा का अम्बिकास्वरूप से सामरस्य प्राप्त करके 'परा वाक्' कहलाने लगती है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ।।

---

१. दीपिका २. दीपिका—अमृतानन्दनाथ
३-५. भास्करराय—सेतुबन्ध

यही शक्ति पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी बनकर सूक्ष्म से स्थूल जगत् का सृजन करती है ।[१] इसका विकासक्रम इस प्रकार है—

बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता ॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता ।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ॥
ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा ।
तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता ॥
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैवं शृङ्गाटवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ॥

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे पद (शब्द) के अर्थ हैं और शब्द से ही उत्पन्न होते हैं। सबके मूल में नाद (मूल शब्द = मातृका) है—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥

भर्तृहरि कहते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[२]

स्पन्दशास्त्र की मान्यता है कि प्रत्ययों का उद्भव ही जगत् का रूप है और यह विना शब्दानुवेध के सम्भव ही नहीं है—

यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥ ४७ ॥[३]

(ङ) क्रीड़ावाद—विश्व एक क्रीड़ा है, क्रीड़ा एवं आनन्दोत्सव है, मनोरञ्जन है, आन्दोल्लास है या आनन्द-विलास है। शैवाद्वैतवादियों ने तथागत की भाँति 'दुःखं अरियसच्चं' के सिद्धान्त को न मानकर आनन्दवाद का प्रतिपादन किया। इसी कारण उन्होंने उपनिषदों की भाँति जगत् को आनन्दकन्द की आनन्दात्मिका सृष्टि कहा है।

स्पन्दशास्त्र (स्पन्दकारिका) में इसी क्रीड़ावाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो जगत् को क्रीड़ा समझता है, वह ऐसा देखते हुए मुक्त (जीवन्मुक्त) हो जाता है।

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ (२।३१)

आचार्य सोमानन्दपाद 'स्पन्दसूत्र' के इसी सिद्धान्त या दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि शिव आत्मप्रच्छादन (अपने को छिपाने का व्यापार) की अपनी क्रीड़ा में शिव से 'पशु' बन जाता है और माया शक्ति के द्वारा छत्तीस तत्त्वों के रूप में परिणत हो

---

१. योगिनीहृदय २. वाक्यपदीय
३. इसी शब्दराशि की दासता से जीव पशु बन जाता है—'शब्दराशिसमुत्थस्य पशु........ स्मृतः'—स्पन्दकारिका

जाता है—

१. आत्मप्रच्छादनक्रीडा कुर्वतो वा कथञ्चन ।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ॥ (१।३२)

(कदाचित् आत्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव) ।

२. तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा ।
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ॥

३. क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।
सम्भत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे ॥ ३६ ॥
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः ।
यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ॥ ३७ ॥

४. क्रीडन्करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥ ३८ ॥

परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा ।

क्रीड़ावाद या लीलावाद—आत्मप्रच्छादन क्रीड़ा का विशेष सम्बन्ध रङ्गमञ्चीय नाट्य एवं अभिनय से है । इसीलिए शिवसूत्र में 'क्रीड़ा' का प्रयोग न करके 'नर्तन' (जगन्नाट्य), 'नतर्क' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

१. नृत्यत्यन्तःपरिच्छिन्नस्वस्वरूपावलम्बनाः ।
स्वेच्छया स्वात्मचिद्भित्तौ स्वपरिस्पन्दलीलया ॥ (३.४५)
जागरास्वप्नसौषुप्तरूपास्तास्ताः स्वभूमिकाः ।
आभासयति यत्तस्मादात्मा नर्तक उच्यते ॥ (४६.९)

२. रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीडाकौतुकिनात्मना ।
इति रङ्गोऽन्तरात्मेति जीवः पुर्यष्टकात्मकः ॥ ४८ ॥
योगी कृतपदस्तत्र स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तं जगन्नाट्यं प्रकाशयेत् ॥ ४९।१० ॥

नर्तक आत्मा (३.९) रङ्गोऽन्तरात्मा (३.१०) ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य तन्त्रालोक (८।आ०-१.१०३) में कहते हैं—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः ।
रूपप्रच्छादनक्रीडा योगादणुरनेककः ॥

शङ्कराचार्य वेदान्तसूत्र 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र०सू०) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—'यथा लोके कस्यचिदाप्तेषणस्थ राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चिद् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वास-प्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चिद् प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति । एवमीश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति । यद्यप्यस्माकमियं जगद्

बिम्बरचना गुरुतरसम्भवेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलेव केवलेयम् अपरिमितशक्तित्वात् ।

'बोधपञ्चदशिका' में अभिनवगुप्त कहते हैं कि परमदेव शिव देवी (शक्ति) के साथ क्रीड़ारस का उत्सुक होने के कारण एक साथ ही विभिन्न और विचित्र सृष्टि एवं संहार का विधान करता है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधते युगपद्विभुः ॥ ६ ॥

जगत् शिव-निर्मित एक चित्र है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः ॥ (दीपिका)

योगिनीहृदय में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥

सोमानन्दपाद शिवदृष्टि में कहते हैं कि विश्व शिव के अपने चिदाकाशमय अङ्ग पर चित्रित एक आलेख्य है—

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।

स्तवचिन्तामणि में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

जगत् आत्मप्रच्छादन क्रीड़ा है—

(क) आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन । (शिवदृष्टि)

(ख) आत्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव (शिवदृष्टिवृति) ।

(ग) क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः।

(घ) क्रीडन्करोति पादातधर्मास्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥ (शिवदृष्टि)
(हर्षानुसारी स्पन्द : क्रीडा)

(ङ) यथैश्वर्यचमत्कारवासितः सार्वभौमो राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षणस्वभावापत्ते पदातिसम्बन्धिचेष्टितानि आचरति तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्द-घूर्णितैस्तैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । (शिवदृष्टिवृत्ति)

(च) जगत् एक प्रतिबिम्ब है, जो कि आत्मा में अवस्थित है । शक्ति दर्पण है, जिसमें जगत् प्रतिबिम्बित है ।

(छ) जगत् ब्रह्म का एक आभास है (भ्रमात्मक ज्ञान नहीं है) । आभास की सत्ता दर्पण से अभिन्न है । जगत् ब्रह्म की चित् शक्ति से अभिन्न है ।

(ज) जगत् भगवान् की इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है ।

(झ) जगत् शिव-शक्तियामल का परिणाम है, संघट्ट की परिणति है । शिव-शक्ति की मिथुनावस्था है ।

(ञ) जगत् शक्ति का रूपान्तर शैव है या शक्ति है ।

(च) कार्यकारणभाव—कार्य एवं कारण में क्या सम्बन्ध है? कार्य कारण में ही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है या उसकी नयी सृष्टि होती है?

१. न्यायदर्शन : असत्कार्यवाद—न्याय की मान्यता है कि कार्य (Effect) एवं कारण (Cause) में आत्यन्तिक भेद है । कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है । वह उत्पन्न होने के पूर्व कारण में नहीं रहता । कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व उसका अपने कारण (उत्पादक) में प्रागभाव एवं नाशोपरान्त ध्वंसाभाव हो जाता है; किन्तु कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध नित्य है । अपने समवायिकारण में ही कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । घट मृत्तिका से ही उत्पन्न होता है, यह घट-मृत्तिका का अपना स्वभाव है । उत्पत्ति के पूर्व कार्य कारण में नहीं रहता और नाशोपरान्त भी नहीं रहता । उत्पत्ति के पूर्व एवं नाश के उपरान्त कार्य का अभाव रहता है । कारण के ३ भेद हैं—१. समवायि, २. असमवायि एवं ३. निमित्त । मिट्टी घट का समवायिकारण है । मृत्तिका में समवाय सम्बन्ध से घट उत्पन्न होता है ।

असत्कार्यवादी नैयायिक मानते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व एवं विनाश—दोनों कालों में असत् है; क्योंकि उन कालखण्डों में उनका अस्तित्व नहीं रहता; किन्तु सत्कार्यवाही मानते हैं कि कार्य (यथा—वृक्ष) अपने जन्म के पूर्व बीजरूप में एवं नष्ट होने के बाद भी बीजरूप (कारण) में सद्रूप विद्यमान रहता है ।

सत्कार्यवादी सांख्य मानता है कि कारण भी सत् है और कार्य भी । विश्व प्रकृति का परिणाम है; यथा—तिल का तेल एवं दूध का दही । सत्कार्यवाद परिणामवाद में विश्वास रखता है ।

न्याय का सिद्धान्त है—'असत: सज्जायते'—असत्कार्यवाद ।

सांख्यदर्शन : सत्कार्यवाद—असत्कार्यवाद का खण्डन एवं सत्कार्यवाद की स्थापना हेतु ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका में कहते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। (सत: सज्जायते)

ठीक भी है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:' (गीता) । असत् से कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । सत् से ही सत् की उत्पत्ति सम्भव है । १. असत् अकरणात्, २. उपादानग्रहणात्, ३. सर्वसम्भवाभावात्, ४. शक्तस्य शक्यकरणात्, ५. कारणभावात्—'सत्कार्यवाद' ही प्रतिष्ठित है ।

कुसुम सत् है, किन्तु आकाशकुसुम असत् है । कुसुम से परिमल मिल सकता है, क्योंकि वह कुसुम में है; किन्तु आकाशकुसुम से नहीं; क्योंकि उसमें वह नहीं है ।

३. वेदान्तदर्शन : परिणामवाद—विशिष्टाद्वैतवाद 'परिणामवाद' में विश्वास करता है। परिणाम क्या है?

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात् क्षीरं दधि मृत्कुम्भः सुवर्णे कुण्डलं यथा ॥ (पञ्चदशी)

दूध का दही या मट्ठा बन जाना 'परिणाम' है। किसी पदार्थ का ऐसा अवस्थान्तर प्राप्त करना कि वह पुनः अपने अवस्थान्तर—पूर्व अवस्था में न पहुँच सके, उस पदार्थ का परिणाम कहलाता है; यथा—दूध का दही, मट्ठा, घी, मक्खन या खोया बन जाना। 'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।' एक सत् तत्त्व से दूसरे सत् तत्त्व का आविर्भूत होना ही 'परिणाम' है।

४. वेदान्तदर्शन : विवर्तवाद—'अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत्' (पञ्चदशी)। 'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ।' तत्त्व में अतत्त्व के भान का नाम ही है—'विवर्त'। यथा—जल में बुद्बुद, स्थाणु में प्रेत और रज्जु में सर्प। ब्रह्म में ही जीव एवं जगत् की मिथ्या प्रतीति हो रही है। अध्यारोप एवं अध्यास ही इस विवर्तवाद के मूल कारक हैं। आत्मा में शरीर, इन्द्रिय आदि का अध्यास ही तत्त्व में अतत्त्व की अनुभूतिस्वरूप विवर्त है। अवस्तुओं में वस्तु का मिथ्यारोप—'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' ही अध्यास एवं अध्यारोप का स्वरूप है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

१. बिग बैंग सिद्धान्त—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिकों की धारणा यह रही है कि सृष्टि प्राक् अवस्था में प्रारम्भ में एक घनीभूत गोला था। हर्बल महोदय कहते हैं कि यह अत्यधिक सम्पीड़ित अवस्था में था; क्योंकि यह करोड़ों वर्षों के बाद आज तक फैलता जा रहा है। आदि में इस गोले में अत्यधिक सघनता थी। प्रारम्भ में विश्व का कितना घनत्व था, यह तो अद्यावधि अज्ञात है। अनुमान है कि विश्व का घनत्व उतना ही रहा होगा, जितना न्यूक्लीय तरल का होता है। इस न्यूक्लीय तरल के लघुतम बिन्दु में अनेक अणुओं के नाभिक (केन्द्रक) स्थित हैं। आणवीय नाभिक का घनत्व पानी की सघनता से करोड़ों गुना अधिक है। आद्य विश्व का घनत्व इतना था तो प्रत्येक घन सेंटीमीटर स्थान में दस करोड़ टन का पदार्थ स्थित था।

बेल्जियम के खगोलशास्त्री एवं पादरी ऐब जार्ज लेंमेतेर ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसका नाम है—बिगबैंग सिद्धान्त। लेंमेतेर महोदय का कथन है कि—

१. करोड़ों वर्ष पूर्व यह विश्व अत्यन्त घनीभूत स्थिति में था। इसमें से एक बृहत् विस्फोट हुआ और इस विस्फोट के साथ उसका विस्तार भी हुआ। यह विस्तार प्रारम्भ से आज तक सतत् गति से होता जा रहा है।
२. इस विस्फोट ने इस अति सघन पिण्ड को छिन्न-भिन्न कर दिया।
३. विस्फोट से होने वाले छिन्न-भिन्न टुकड़े दूर-दूर तक छिटक गए। वे वहाँ पर आज तक हजारों किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति से गतिमान हैं।

४. इन्हीं गतिशील अंशों से आकाशगङ्गाओं का निर्माण हुआ ।

बिगबैंग सिद्धान्त का प्रमाणक चिह्न आद्य विस्फोट है ।

२. सतत् सृष्टि-सिद्धान्त—थामस गोल्ड एवं हर्मन बांडी नामक वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त की स्थापना की । ब्रिटिश खगोलज्ञ फ्रेड हायल ने इसका समर्थन किया । इनके अनुसार आकाशगङ्गायें परस्पर एक-दूसरे से दूर होती जा रही हैं; किन्तु उनका आकाशीय घनत्व अपरिवर्तित है । पुरानी आकाशगङ्गाओं के परस्पर एक-दूसरे से दूर होते जाने पर रिक्त स्थल में नई आकाशगङ्गा का आविर्भाव हो जाता है । ये नई आकाशगङ्गायें नये पदार्थों से उत्पन्न होती हैं ।

३. पल्सेटिङ्ग (आसिलेटिङ्ग) विश्वसिद्धान्त—पल्सेटिङ्ग (आसिलेटिङ्ग) सिद्धान्त का प्रतिपादन डॉ० एलेन संडेज ने किया । इसके अनुसार यह विश्व करोड़ों वर्षों के अन्तराल में क्रमश: फैलता एवं सिकुड़ता है । डॉ० संडेज के मतानुसार आज से लगभग १२० करोड़ वर्ष पूर्व एक भयानक विस्फोट हुआ और तब से विश्व विस्तृत होता जा रहा है । २९० करोड़ वर्षों तक यह प्रसार चलता रहेगा । फिर गुरुत्वाकर्षण अधिक विस्तार को अवरुद्ध कर देगा । अत: इसके बाद सङ्कुचन (सिकुड़न) प्रारम्भ हो जाएगा । ब्रह्माण्ड अपने भीतर सिमट जाएगा । यह प्रक्रिया ४१० करोड़ वर्षों तक चलती रहेगी । इसके अत्यधिक घनीभूत या सम्पीड़ित होने पर इसमें पुन: विस्फोट होगा । यह विश्व के विकास के सिद्धान्तों में नवीनतम सिद्धान्तों में से एक है ।

४. बिगबैंग सिद्धान्त का खण्डन—नासा के द्वारा सन् १९८३ में अन्तरिक्ष के कक्ष में स्थापित उपग्रह आई०आर०ए०एस (इन्फरेड एस्ट्रोनामिकल सेटलाइट) के निरीक्षणों से यह परिणाम निकले कि—

१. हीलियम ब्रह्माण्ड विस्फोट से ही नहीं; प्रत्युत आकाशगङ्गा से भी निकलता है ।
२. हीलियम गैस प्रचुर मात्रा में है; क्योंकि न्यूक्लियो संश्लेषण प्रक्रिया से इसका आविर्भाव होता है ।

यह करोड़ों वर्ष पूर्व हुए बृहत् विस्फोट से प्रारम्भ हुआ था । १९८५ के नवम्बर में दिल्ली में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय खगोलीय यूनियन की बैठक में कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के ज्याकरे बरब्रिज ने एक पिण्ड—एन०जी०सी० ६२४० को आदिम आकाशगङ्गा कहा; क्योंकि इसमें न्यूक्लियो संश्लेषण द्वारा प्रचुर मात्रा में १५ प्रतिशत हीलियम उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है । यही क्षमता आदिम विश्व में थी ।

मन्दाकिनी या आकाशगङ्गा तारों के विशाल पुञ्ज हैं । ये गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से परस्पराबद्ध हैं । ये 'प्रायद्वीप ब्रह्माण्ड' भी कहे जाते हैं; क्योंकि ये अत्यधिक विशाल तारापुञ्ज हैं । जब प्रथम बार ब्रह्माण्ड में विस्फोट हुआ, तब और उसके बाद पदार्थों का विस्तार हुआ तब आकाश में गैस से भरे खरबों प्रायद्वीप बन गए । ये प्रोटो गैलेक्सी या अधिमन्दाकिनी अपनी गति से घूमने लगे । ये मन्दाकिनियाँ गोल, वलयाकार, चपटी तश्तरी, वर्तुल, सर्पिल भुजाओं वाली आदि अनेक आकार वाली हैं ।

प्रयोगशाला में बिगबैंग का प्रयोग—न्यूयार्क के ब्रूकहेवन नामक स्थान में स्थित आर०एच०आई०सी० (रिलेटिविस्टक हैवी आयन कोलाइडर) से वैज्ञानिक 'बिगबैंग' महाविस्फोट की स्थितियाँ कृत्रिम रूप से उत्पन्न करेंगे ।

प्रक्रिया—इस प्रयोग में सोने के परमाणु लिए जायेंगे । ये परमाणु २.४ मील लम्बे दो वृत्ताकार पथों में प्रकाश के वेग के ९९.९ प्रतिशत वेग से एक-दूसरे से टकराकर सूर्य के केन्द्र के तापमान से १०,००० अधिक तापमान पर विस्फोट करेंगे । यह विस्फोट एक सेकेण्ड के १०० खरबवें भाग के खरबवें भाग तक 'बिगबैंग' महाविस्फोट के तुरन्त बाद जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगा ।

यह कोलाइडर (३६५ मिलियन डालर मूल्य का) भारी आयनों को अत्यन्त उच्च ऊर्जावस्था पर त्वरित करेगा और आर०एच०आई०सी० बिगबैंग के तुरन्त बाद जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देगा और द्रव्य की ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देगा जो कि पृथ्वी पर है ही नहीं । कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भौतिकविद् निकोलस ग्यूलेस्सी के मतानुसार इसके द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की पुनरावृत्ति प्रयोगशाला में होगी ।

आर०एच०आई०सी० का निर्माण १९९४ से प्रारम्भ है और ब्रूकहेवन का सबसे बड़ा त्वरण यन्त्र है । यह सम्पूर्ण नाभिक का उत्क्षेपण करता है—चाहे वह एक प्रोटान वाला हाइड्रोजन नाभिक हो या ७९ प्रोटान एवं ११८ न्यूट्रान वाला विशाल गोल्ड नाभिक हो । गोल्ड नाभिक के प्रत्येक कण की ऊर्जा १०० अरब इलेक्ट्रान वोल्ट के बराबर होती है । त्वरण यन्त्र अनेक चुम्बकीय क्षेत्रों की सहायता लेकर कणों को त्वरित करके आपस में टकराता है और इसके कारण ४० खरब इलेक्ट्रान वोल्ट की ऊर्जा उत्पन्न होती है ।

इस अत्यधिक तीव्र ऊर्जावस्था में कणों की गति प्रकाश की गति के लगभग हो जाती है और भौतिक नियमों का अतिक्रमण होने लगता है । जब आवेशित आयन इस गति से घूमते हैं तब समय धीमे चलने लगता है । कण पारस्परिक टकराव को तुरन्त ग्रहण नहीं कर पाते । टकराव के तुरन्त बाद उनमें विस्फोट होता है । आइंस्टीन के सिद्धान्त के अनुसार इस अवस्था में ऊर्जा का परिवर्तन लाखों मूल कणों में हो जाता है । इस ऊर्जा का तापमान १० खरब डिग्री केल्विन होता है । इसके द्वारा द्रव्य की नव्य अवस्था का उदय एवं पदार्थ की रचना में मूलभूत परिवर्तन होता है । इस परीक्षण को साफल्य मिलने पर ऐसे द्रव्यों की उत्पत्ति हो सकेगी, जो पृथ्वी पर आज तक कभी नहीं जाने या देखे जा सके । न्यूट्रान तारों एवं सुपर नोवा विस्फोट से उत्पन्न परिस्थितियों की भी पुनरावृत्ति हो सकती है, इस परीक्षण के साफल्य से । ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः दो सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं—

१. समानस्थिति सिद्धान्त—सभी खगोलीय पिण्ड प्रारम्भ से ही एक ही स्थिति में रहे हैं और सदैव एक ही स्थिति में रहते रहेंगे ।

२. महास्फोट सिद्धान्त—सृष्टि के आरम्भ में द्रव्य एवं ऊर्जा का एक संयुक्त पिण्ड था । घनत्व के बढ़ने से उसमें विस्फोट हुआ । परिणामतः उससे अनेकों पिण्डों की व्यष्टि-समष्टि रूप में रचनायें हुईं । इन रचनाओं में नीहारिकाओं, आकाशगङ्गाओं, मन्दाकिनी

संस्थानों, तारों, नक्षत्रों, ग्रहों एवं उपग्रहों आदि के रूप में अनेक पिण्ड प्रक्षेपित हुए ।

महाविस्फोटजनित विकिरण ऊर्जा के कारण ब्रह्माण्ड निरन्तर प्रसृत हो रहा है । इसी के कारण आकाशगङ्गा, नीहारिकायें एवं तारे लगातार एक-दूसरे से दूर होते जा रहे हैं । गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से विभिन्न आकाशीय पिण्ड परस्पर एक-दूसरे को खींच भी रहे हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्ड के विराट स्तर पर प्रसरण एवं सङ्कुचन—दोनों विपरीत प्रक्रियायें युगपत चल रही हैं । इससे नित्य नये तारे निर्मित हो रहे हैं—

ब्रह्माण्ड का व्यास—१,००,००,००,००० प्रकाशवर्ष ।

एक आकाशगङ्गा में लगभग एक खरब तारे हैं । आकाशगङ्गा धनु राशि के पास सर्वाधिक दीप्तिमान होती है । हमारा सौर परिवार इसी आकाशगङ्गा परिवार का एक सदस्य है । आकाशगङ्गा के पार के विभिन्न तारों के समूह को 'मन्दाकिनी' कहते हैं । इनमें कई खरब तारे, गैसीय द्रव्य एवं धूल-कण स्थित हैं । दूरदर्शियों से लगभग १० लाख मन्दाकिनियाँ देखी जा चुकी हैं । मन्दाकिनियों के तारे परस्पर के गुरुत्वाकर्षण से बँधे हैं । मन्दाकिनी का व्यास लगभग ६,००० प्रकाशवर्ष एवं चौड़ाई १,००० प्रकाशवर्ष है । मन्दाकिनियों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष में विभिन्न गैसों के बादलों एवं धूल-कणों से भरी विशाल नीहारिकायें भी हैं । यह आकाशगङ्गाओं एवं मन्दाकिनियों की स्रोत हैं । सर्पिल नीहारिकाओं का व्यास लगभग १,००,००० प्रकाशवर्ष है । दीर्घवृत्तीय नीहारिकाओं में गैस एवं धूलकण नहीं हैं; अत: इनकी भुजायें भी नहीं हैं; जबकि सर्पिल नीहारिकाओं में धूल एवं गैस होने से इनमें सर्पिल भुजायें हैं । सर्पिल नीहारिकाओं के नाभिक से इनमें भुजायें निकलती हैं । धूलकण एवं गैस के सर्प ही तारों के गर्भगृह हैं । यहाँ गैस एवं धूलकण घनीभूत होकर तारे बनकर और नीहारिकाओं से छिटक कर स्वतन्त्र मन्दाकिनियों का आकार ग्रहण कर लेते हैं । कुछ प्रकाशशून्य पदार्थ भी ब्रह्माण्ड में घूम रहे हैं, उन्हें काली नीहारिका कहते हैं ।

ब्लैकहोल (श्यामविवर) वे तारे हैं, जिनकी नाभिकीय ऊर्जा के स्रोत क्षय हो चुके हैं; अत: इनका विस्तार सम्भव नहीं है । गुरुत्वाकर्षण के कारण ये सङ्कुचित होते जा रहे हैं । इनका आकार तो छोटा होता जा रहा है, किन्तु इनका घनत्व बढ़ता जा रहा है । गुरुत्वाकर्षण के बल की तीव्रता बढ़ जाने से इनकी किरणें भी बाहर नहीं निकल पातीं । इनकी ऊर्जा अन्तर्मुखी होती जा रही है और प्रकाश की किरणें अवशोषित होती जा रही हैं । इसी कारण इनकी किरणें अदृष्ट हैं । छोटे से छोटे श्यामविवर का भी द्रव्यमान समस्त सौरमण्डल के द्रव्यमान से अधिक है; क्योंकि सङ्कुचन के कारण इनका घनत्व अत्यधिक है । १.५ कि०मी० व्यासकेन्द्र श्यामविवर का द्रव्यमान सूर्य के द्रव्यमान के बराबर है ।

गैसीय द्रव्य से निर्मित ऊष्ण एवं स्वयं दीप्तिमान खगोलीय पिण्डों को 'तारे' कहा गया है । ये विद्युत् चुम्बकीय विकिरण उत्पन्न करते हैं । इनकी ऊर्जा का स्रोत नाभिकीय है । ९० प्रतिशत से अधिक तारे हाइड्रोजन ही हैं । तारों की नाभिकीय ऊर्जा प्रकाश में बदली जा रही है । एक दिन ये प्रकाश ऊर्जा में बदलकर नष्ट हो जायेंगे ।

यह ब्रह्माण्ड पहले द्रव्य एवं ऊर्जा का एक संयुक्त पिण्ड था । आज से १३,००,००,००,००० वर्ष पूर्व अत्यधिक घनीभूत होने के कारण विस्फोटित हुआ और यह आद्य पिण्ड असंख्य पिण्डों में विभाजित हो गया । इन्हीं विखण्डनों से नीहारिकायें, आकाशगङ्गायें, मन्दाकिनियाँ, नक्षत्र, तारे, ग्रह, धूमकेतु, रक्त दानव, आकाशीय गैस, धूल की रचना हुई ।

इस ब्रह्माण्डीय महाविस्फोट के ८,५०,००,००,००० वर्षों बाद पृथ्वी का जन्म हुआ । इस घटना को हुये आज २,५०,००,००,००० वर्ष हो चुके हैं । जीवन का आरम्भ २,००,००,००० वर्ष पूर्व शैवाल के रूप में हुआ । अगले २,००,९५,००,००० वर्षों में आदि शैवाल और एककोशीय जीवों से विभिन्न वनस्पतियाँ एवं जीवरूप विकसित हुए और अन्ततः ब्रह्माण्ड की रचना के १३,००,९५,००,००० वर्षों बाद आज के १५,००,००० वर्षों पूर्व पृथ्वी पर 'आस्ट्रेलोपाइथेसिन' नाम के मानव के आदिम पूर्वज का जन्म हुआ । इसे विभिन्न पाषाणकालीन सभ्यताओं के मध्य से अग्रपद होते हुए स्थायी नगरीय जीवन की अवस्था में पहुँचने में लगभग १४,५०,००० वर्ष लगे । लगभग ६०००-५००० वर्ष पूर्व मानव ने काँसा और फिर लोहा बनाने की तकनीक सीखी । वैज्ञानिक शोध का युग प्रारम्भ हुआ—१,०००-१,५०० वर्षों पूर्व ।

ब्रह्माण्ड के विकासक्रम का इतिहास—यह इस प्रकार है — महाविस्फोट→ आकाशगङ्गा का उद्भव—सौरमण्डल का उद्भव—पृथ्वी—सप्राण तत्त्वों का उदय—पृथ्वी के प्राचीनतम शैलस्तर—प्राचीनतम जीवाश्म—(जीवाणु, नील-हरित शैवाल)—सूक्ष्म जीवों में लैंगिक प्रजनन का उदय—प्राचीनतम (पुरातन) प्रकाश संश्लेषण और वनस्पति के जीवावशेष—नाभि वाले प्रथम कोषाणुओं का जन्म—वानर एवं मानव के आदि पूर्वज एवं महाकपियों का जन्म—आदि मानव—प्रस्तर के अस्त्रों का प्रचलन—बेइजिङ्ग मानव द्वारा अग्निप्रयोग—अर्वाचीन हिमयुग का आरम्भ—यूरोप में गुफ़ा अङ्कन का युग—कृषि का आविष्कार—नव पाषाणकालीन सभ्यता, प्राचीनतम नगर—सुमेर, मिश्र के प्राचीनतम राजवंश, ज्योतिष—लिपि, अक्कादियन साम्राज्य की स्थापना—बाबुल में हम्मराबी की संहिता की रचना, मिश्र के मध्य राजवंश का आरम्भ—कांस्य धातु का प्रयोग, हड़प्पा, मेसिनियाई सभ्यता, यूनान में ट्रजिन का युद्ध, कम्पास का आविष्कार—लौह धातु का आविष्कार—असीरिया का प्रथम साम्राज्य, इजरायली राज्य, कीनिशिया द्वारा कार्थेज की स्थापना—अशोक का सामाज्य, चीन में चिनवंश का राज्य, बुद्ध का जन्म—यूक्लिड की ज्यामिती, आर्कमिडीज़, का भौतिकशास्त्र, टौलमी का ज्योतिष, रोम साम्राज्य, ईसा का जन्म—भारत में शून्य, दशमलव सिद्धान्त का प्रतिपादन, रोम का पतन—लैटिन अमेरिका में माया सभ्यता, चीन में शुङ्गवंश, क्रूसेड युद्ध—यूरोप का पुनर्जागरण—विज्ञान, टेक्नलाजी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि विस्फोटस्वरूप 'स्पन्द' ही जगत् बन गया । भौतिकवादी वैज्ञानिक भी शक्ति एवं पदार्थ की एकात्मता में विश्वास करते हैं । आइन्स्टीन का सूत्र $E = Mc^2$ अर्थात् E = Energy = 'शक्ति' । M = Mass पदार्थ । C = Speed of light = प्रकाश की गति—शक्ति एवं पदार्थ में सम्बन्ध मानता है और माना जाता है

कि शक्ति पदार्थ में एवं पदार्थ शक्ति में रूपान्तरित हो सकते हैं । इसी E एनर्जी (शक्ति) का विस्तार ही पादार्थिक जगत् है । यह शक्ति 'स्पन्द' है ।

सृष्टि का मूल कारण

महाविस्फोट—यह माना जाता है कि सृष्टि का आरम्भ एक 'धमाके' से हुआ । इसे ही 'बिगबैंग' (बृहत्तम विस्फोट) कहा जाता है । आज से लगभग १४० खरब पूर्व-पूर्व इसी प्रकार का भयानक धमाका हुआ, जिससे सृष्टि अस्तित्व में आई । यह माना जाता है कि लगभग ४५ खरब वर्ष पूर्व सौरमण्डल की उत्पत्ति हुई; लगभग ५० लाख वर्ष-पूर्व मानव का प्रादुर्भाव हुआ और १४० खरब वर्षों के बाद पुनः एक बिगबैंग हुआ, जिसे श्रीनिवास कुलकर्णी ने GRB 971214 रूपी धमाके से एक नई मन्दाकिनी का उद्भव होते देखा और जिसे बिगबैंग II की संज्ञा दी गई है । सम्भव है कि १४० खरब वर्षों के अन्तराल में अन्य Big bang हुए हों; किन्तु उनकी जानकारी न होने से इस बिगबैंग को ही द्वितीय बिगबैंग मानना औचित्यपूर्ण होगा । भारतीय खगोलविदों में आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय खगोलविदों में कुलकर्णी का ही नाम आता है । उनकी इस खोज ने विश्व को रोमाञ्चित कर दिया है ।

Big bang का अर्थ है—बृहत्तम विस्फोट (जोरदार धमाका) । बिगबैंग सिद्धान्त यह मानता है कि जब सृष्टि की रचना हुई ही नहीं थी तब समस्त जड़ पदार्थ एक परमाणु के रूप में थे । इसमें द्रव्य पदार्थ Tight packing (बद्ध संकुलन) अर्थात् अत्यधिक कसकर बँधे हुए थे । इसे ही 'आद्यकालिक परमाणु' (Primeval atom) कहा गया । इसी आद्य परमाणु में एक प्रचण्ड विस्फोट हुआ, जिसे Big bang कहा जाता है । इस विस्फोट (धमाके) के परिणामस्वरूप सर्वाद्य (आद्यकालिक) परमाणु टूट गया और ब्रह्माण्ड का प्रसार प्रारम्भ हो गया । विराट ब्रह्माण्ड का यह भ्रूणात्मक स्वरूप (Embryonic Universe) क्रमशः शीतल होता गया । इसके विभिन्न कण संयुक्त होते हुये नाभिक (Nucleus) निर्मित करने लगे ।

इसके अनन्तर धूल एवं गैस के बादल बनकर फैलने लगे । ये बादल ही मन्दाकिनी (Galaxies) की रचना की मूल सामग्री हैं । इस प्रकार विभिन्न मन्दाकिनियों का जन्म हुआ ।

इसके अनन्तर अन्तरिक्षीय प्रतिकर्षण (Cosmic repulsion) नामक बल के द्वारा यह असंख्य मन्दाकिनियाँ एक-दूसरे से पृथक् होने लगीं । इसी तरह हमारी सृष्टि की रचना हुई । सृष्टि का मूल कारण 'बिगबैंग' ही था । मन्दाकिनियाँ फैलते-फैलते इतनी दूर चली गईं कि इनकी दूरी का मापन करने के लिए 'प्रकाशवर्ष' (Light Year) जैसी इकाइयाँ भी छोटी पड़ने लगीं (१ प्रकाश वर्ष ९.४६×१०^{१५} = मीटर) ।

मन्दाकिनियों में तारामण्डल (Constellation) होते हैं । मन्दाकिनियों में गैस एवं धूल के घूर्णित बादलों ने संघनित (Condense) होकर गोलकों (Globes) का आकार ग्रहण कर लिया, जिससे कि ग्रह-समुदाय (Plannetary system) का आविर्भाव हुआ ।

गोलकों के भीतर तारों का उद्भव हुआ। ये तारे लाखों-करोड़ों वर्षों तक अविश्रान्त फैलते रहे। अन्त में इन्होंने 'रक्तदानव' (Red giant) का स्वरूप ग्रहण कर लिया और अधिक संघनित हुए तथा उन पर नाभिकीय अभिक्रिया (Nuclear reaction) होने पर वे पूर्ण रूप से वास्तविक तारों में रूपान्तरित हो गए। इस प्रकार समष्टि में मन्दाकिनियों के उपरान्त ये रक्तदानव स्पन्दक में रूपान्तरित हो गए। अन्त में इन्होंने मृत श्वेत वामन (Dead white Dwarf) का स्वरूप ग्रहण कर लिया। ये ही आज असंख्य तारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

क्या सृष्टि के विकास के लिए केवल एक ही Big bang (धमाका) हुआ या अनेक हुए?

खण्ड विस्फोट—खगोलवैज्ञानिक यह कहते हैं कि 'गामा किरण विस्फोट' (Gamma Ray Burst-GRB) तो एक ऐसी प्राकृतिक घटना है, जो आकाश में लगभग प्रतिदिन घटती है। जी०आर०बी० खण्ड विस्फोट है, जो प्राय: प्रतिदिन घटित होते रहते हैं। ये भी Big bang की भाँति विस्फोट ही हैं, किन्तु ये सीमित क्षेत्र में घटित होते हैं। ये स्वल्प काल जीवी अत्यन्त सूक्ष्म, यादृच्छिक दिशाओं में घटने वाली तथा कुछ क्षणों मात्र के लिए विकिरण उत्सर्जित करने वाली विस्फोटात्मक ब्रह्माण्डीय व्यापार हैं। स्वल्पायु होने, यादृच्छिक दिशाओं में घटने तथा यादृच्छिक दिशाओं में उत्सर्जन करने वाले होने के कारण ये GRB पकड़ में नहीं आते; क्योंकि इनकी पृथ्वी से करोड़ों प्रकाश- वर्ष की दूरी होती है। विश्व के खगोलशास्त्रियों के सामने G.R.B. की फोटोग्राफी या उनका दूरवीक्षण से वीक्षण कर पाना एक भयानक चुनौती थी।

१९६० के दशक में अमरीकी कृत्रिम उपग्रह Vela Satellite के द्वारा अमेरिकी वायुसेना ने G.B.B. का फोटो खींच लिया। Compton Gamma Ray Observatory (C.G.R.O.) द्वारा भेजे गए कृत्रिम उपग्रहों ने २००० G.R.B. को संसूचित किया। निष्कर्ष ये निकले कि—G.R.B. केवल कुछ ही सेकेण्ड के लिए घटित होते हैं; किन्तु उसकी उत्तर दीप्ति (After glow अनेक प्रकार के विकिरणों से पूर्ण दीप्ति) कुछ की कई दिन एवं कुछ की कई मास तक बनी रहती है। इसके बाद ३० वर्षों तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

Beppo Sasc उपग्रह द्वारा अग्रिम उपलब्धि—१९९६ में इटली एवं जर्मनी के संयुक्त प्रयासों द्वारा प्रमोचित (Launched) कृत्रिम उपग्रह Beppo Sasc द्वारा पूर्ण परिशुद्धता के साथ G.R.B. का यथार्थ स्थान निर्धारित करते हुए और पृथ्वी पर स्थित दूरदर्शी यन्त्रों द्वारा G.R.B. के घटित होने के तुरन्त बाद के दृश्य का प्रेक्षण किया जा सका। इस दल में प्रो० श्रीनिवास कुलकर्णी अध्यक्ष थे। इस दल ने पाया कि यह विस्फोट हमारी अपनी मन्दाकिनी के बाहर अत्यन्त सूक्ष्म क्षेत्र में घटित हो रहा है।

१४ दिसम्बर १९९७ में इटली के खगोलज्ञों ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय के खगोलज्ञ डॉ० डेविड जे० हेल्केण्ड को इस विस्फोट की सूचना दी और उन्होंने Arizona (The Sun) के समीप Kitt Peak पर स्थित पत्र एवं कार्यरत खगोलज्ञों की संसूचित किया,

जिससे कि वे विस्फोट के स्रोत स्थल का लगातार चित्र प्राप्त कर सके। इस कार्य में भी श्रीनिवास कुलकर्णी अपने दल के साथ कार्यरत रहे। १९९८ तक इस विस्फोट के प्रेक्षण प्राप्त किये जाते रहे। जब इस उत्तरदीप्ति का दृश्य क्षीण होने लगा तब G.R.B. के क्षेत्र में (१९९८ में ही) अत्यन्त मन्द रूप से आविर्भूत होने वाली एक नयी मन्दाकिनी को देखा। १०० वाट के जलते बल्ब को लाखों मील से देखने पर जो मन्द प्रकाश दिखाई पड़ेगा, उसी प्रकार मन्द रूप से यह मन्दाकिनी भी दृष्टिगोचर हुई। Hubble Space Telescope द्वारा प्राप्त प्रतिबिम्बों ने सिद्ध कर दिया कि इस G.R.B.971214 के उत्तरदीप्ति के तुरन्त बाद ही इस नूतन मन्दाकिनी का जन्म हुआ।

सारांश यह कि—

१. सृष्टि के पूर्व का आद्य Big bang ही मन्दाकिनियों को एवं वर्तमान सृष्टि को अस्तित्व में लाता है।

२. लगभग १४० खरब (14×10^{12}) वर्षों बाद कुलकर्णी ने एक बार फिर देखा कि G.R.B.971214 वाले धमाके से एक नई मन्दाकिनी का जन्म हुआ; अतः इसे Big Bang II कहा जा सकता है। सृष्टि का जन्म अनुमानतः १४० खरब वर्षों पूर्व हुआ था और उससे हमारे सौर मण्डल (Solar System) का जन्म लगभग ४५ खरब वर्ष पूर्व हुआ था। इस सौरमण्डल में मानव जाति का जन्म लगभग ५० लाख वर्ष पहले हुआ था।

३. हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति से लगभग ८० खरब वर्ष पूर्व से गामा किरण की यात्रा आरम्भ हुई। समष्टि की अब तक की सम्पूर्ण आयु के लगभग ८०% समय से समष्टि में गामा किरणों की यात्रा अविरत चल रही है।

४. ये विस्फोट धूलभरे क्षेत्रों में हो रहे हैं, जहाँ तारों का जन्म होता है। G.R.B. विस्फोट नए तारों के जन्म से सम्बद्ध हैं। इन विस्फोटों से तारों की मृत्यु भी हो सकती है।

५. रामप्रकाश एवं कुलकर्णी यह भी मानते हैं कि सम्भव है कि II Big bang के पूर्व भी कोई विस्फोट हो चुका हो और सम्भव है कि इसके पूर्व इससे अधिक प्रचण्ड विस्फोट भी हुआ हो; किन्तु ज्ञात न हुआ हो। अतः इसे II Big bang कहना भी ठीक नहीं है।

६. कुलकर्णी कहते हैं कि विस्फोट से उत्सर्जित ऊर्जा को समझा पाना सम्भव नहीं हो पाया है। Theoretical models केवल गामा किरणों की ऊर्जा का ही विश्लेषण कर पाती है; जबकि संघट्ट से उत्पन्न ऊष्मा से गामाकिरण, एक्स किरण एवं दृश्य प्रकाश भी उत्सर्जित होते हैं। विकिरण के अन्य प्रकार (यथा—न्यूट्रान) गुरुत्व तरङ्ग (जिसकी सूचना सम्भव ही नहीं है) द्वारा तो इससे कम से कम १०० गुना अधिक ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है।

एक सिद्धान्त यह भी मानता है कि न्यूट्रान तारे को Black hole निगल

जाय तो भी इस प्रकार के प्रचण्ड विस्फोट हो सकते हैं । Black hole वह संघनित पिण्ड है, जिसकी उच्च सघनता के कारण उसका गुरुत्व प्रकाश-किरण तक को अपने से बाहर नहीं जाने देता; अत: वह सम्पूर्णत: कृष्ण वर्ण दृष्टिगत होता है । G.R.B. के बाद न्यूट्रान एवं एलेक्ट्रान लगभग प्रकाश की गति से बाहर की ओर भागते हैं । एक दिन बाद पूरा द्रव्य, गैस एवं धूल कणों में टूट जाता है । इसके संघट्ट से गामा किरणें, किरणें एवं दृश्य प्रकाश उत्सर्जित होते हैं ।

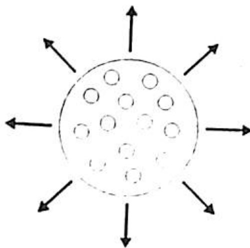
७. भारत, पाकिस्तान तथा दुनियाँ के पाँच नाभिकीय शक्ति वाले देश यदि अपनी-अपनी नाभिकीय शक्ति का एक साथ प्रदर्शन करें तो उत्सर्जित ऊर्जा सूर्य द्वारा एक क्षण में उत्सर्जित ऊर्जा की १।१०,०००० भाग की होगी । G.R.B. द्वारा उत्सर्जित ऊर्जा की तुलना में सूर्य केवल १% (एक प्रतिशत) ही ऊर्जा उत्सर्जित करता है ।

सामान्य तारे की तुलना में Supernova में कम से कम १०,००० गुनी अधिक दीप्ति एक चमक होती है । कैलीफोर्निया वि०वि० के खगोलज्ञ प्रो० Stan Woosley का कथन है कि G.R.B. 50 खरब सुपरनोवा के समान है ।

१९९५ में श्रीनिवास को G.R.B. संसूचना के समय Brown Dwarf भूरे वामन (तारे एवं ग्रहों के मध्य एक पिण्ड प्रजाति) का साक्षात्कार भी हुआ । इनसे प्रकाश-रश्मियों का उत्सर्जन नहीं होता । पृथ्वीस्थ दूरवीक्षक इन्हें नहीं देख सकते । कुलकर्णी के पूर्व इसे कोई देख भी नहीं पाया । यह बृहस्पति से २० से ५० गुना भारी है । California Institute of Technology के खगोलशास्त्र विभाग के अध्यक्ष श्रीनिवास ने उक्त नयी खोजों द्वारा अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया है । Hawai स्थित Mauna Kea Obeservatory की वेधशाला में संसार की सबसे अधिक शक्तिशाली दूरदर्शी (Keck II) है ।

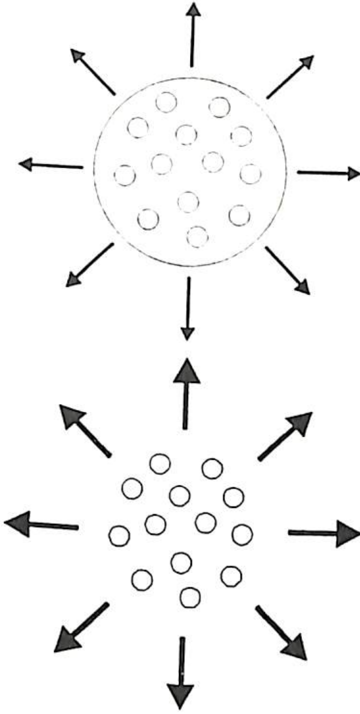
G.R.B. 971214 का विस्फोट पृथ्वी से १२० खरब प्रकाशवर्ष दूरी में घटित हुआ; अत: उसका बिम्ब श्रीनिवास को अति क्षीण प्राप्त हुआ ।

ब्रह्माण्ड के महाविस्फोट के विभिन्न विकास-सोपान



१. प्रथम चरण—आद्यकालिक परमाणु में होने वाले बृहत् विस्फोट का आदि चरण । आदिम परमाणु में एक बृहत् विस्फोट हुआ → परमाणु टूट गए ।

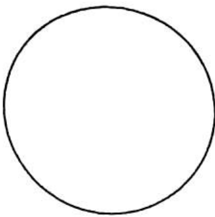
(Eembroyonic Universe)

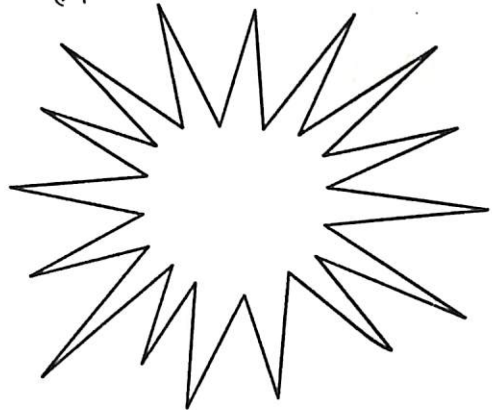


२. द्वितीय चरण—परमाणु विखण्डित हो गया और ब्रह्माण्ड का प्रसार प्रारम्भ हो गया था। यही समष्टि का भ्रूण। अत्यधिक परिमाण के विकिरण द्वारा आदि परमाणु विस्फोट हुआ। धमाका → परमाणु विखण्डन।

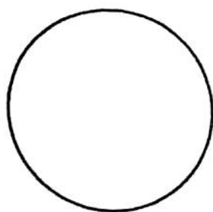
३. तृतीय चरण—विखण्डित परमाणु के कण संयुक्त होने पर परमाणुओं के नाभिक बनाने लगे। फिर धूल के एवं गैस के बादल प्रसारित होने लगे, जो कि मन्दाकिनी की संरचना की मूल सामग्री है। इस प्रकार मन्दाकिनियों का आविर्भाव हुआ।

४. चतुर्थ चरण—असख्य मन्दाकिनियाँ Repulsion द्वारा एक से पृथक्-पृथक् होने लगीं और हमारी सृष्टि अस्तित्व में आ गई। इस समस्त सृष्टि का मूल कारण Big bang है।



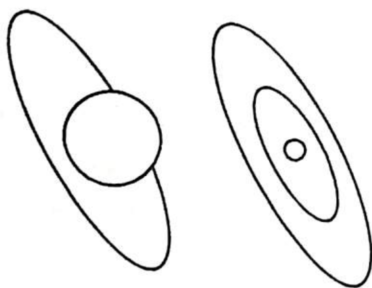


५. मन्दाकिनियों में तारामण्डल स्थित है। मन्दाकिनियों में गैस एवं धूल के घूर्णित बादलों ने संघनित होकर गोलकों का रूप ले लिया। इससे फिर नया सृजन हुआ।

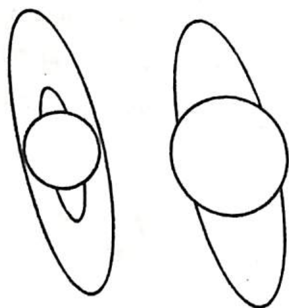


गोल के भीतर तारों ने जन्म ले लिया। ये तारे लाखों वर्षों तक प्रसारित होते रहे और अन्ततः इन्होंने 'रक्तदानव' का स्वरूप धारण कर लिया। (Red Giant) का जन्म।

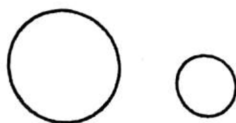
स्पन्दशास्त्र भी बिन्दु से होने वाले विस्फोट और उसके स्पन्द से सृष्टि एवं सृष्टि का विकास मानता है।



६. गोलकों से ग्रहमण्डल बन गया।



ये चौथी और पाँचवी आकृति में और अधिक संघनित हुए एवं उन पर नाभिकीय अभिक्रिया (Nuclear reaction) होने पर वे वास्तविक तारों के रूप में रूपान्तरित हो गए; यथा—तृतीय आकृति।



छठवीं आकृति समष्टि में मन्दाकिनियों के उपरान्त रक्तदानव, स्पन्दक (Pulsar) में रूपान्तरित हो गए। अन्त में इन्होंने (Dead white dwarf) मृत श्वेत वामन का रूप ग्रहण कर लिया।

स्पन्द और ब्रह्माण्ड

१. स्पन्द एवं क्रियाशक्ति—सांख्यदर्शन तो यह मानता है कि क्रिया एवं ज्ञान दोनों पृथक्-पृथक् हैं; उनमें से एक अन्धा है और दूसरा लँगड़ा है—'पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः'; किन्तु स्पन्ददर्शन मानता है कि ज्ञान एवं क्रिया एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में, आत्मा में, शक्ति में एवं परमात्मा में स्पन्द, क्रिया, ज्ञान एवं इच्छा नित्य समवेत हैं।

स्पन्द एक कम्पन है; किन्तु कम्पन है क्या? स्पन्दन एक आवृत्त्यात्मक गति है। यदि एक सिरे पर कसी हुई किसी धातु की पत्ती को थोड़ा एक ओर ले जाकर छोड़ दिया जाय तो वह अपनी पूर्व स्थिति के दोनों ओर गति करने लगती है। यदि किसी स्प्रिङ्ग से लटके भार को खींचकर छोड़ दिया जाय तो वह ऊपर-नीचे गति करने लगता है और जब किसी स्वरित्र (Tuning fork) की भुजा को रबर की गद्दी पर मारते हैं तो उसकी दोनों भुजायें अपनी मध्यमान स्थिति के इधर-उधर गति करने लगती हैं। किसी पिण्ड अथवा कण के द्वारा अपनी मध्यमान स्थिति के दोनों ओर इधर-उधर गति करने को ही 'कम्पन' (Vibration) कहते हैं।

किसी पिण्ड का अपनी मध्यमान अवस्था के एक ओर जाना, फिर मध्यमान अवस्था पर प्रत्यावर्तित होना और पुनः दूसरी ओर गमन करना तथा पुनः मध्यमान अवस्था पर लौट आना 'एक पूर्ण कम्पन' कहलाता है।

संसार के बड़े से बड़े पिण्डों (ग्रहों, नक्षत्रों, तारों, मन्दाकिनियों आदि) से लेकर छोटे से छोटे शरीर, शरीराङ्ग, कोष, गुणसूत्र तथा पदार्थ, तत्त्व, अणु, परमाणु, एलेक्ट्रान्स आदि सभी कम्पायमान हैं—सभी में कम्पन है।

ब्रह्माण्ड के अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सभी काँप रहे हैं—गतिमान हैं—स्पन्दायमान हैं—कहीं स्थिरता, विश्राम और पूर्ण गतिशून्यता नहीं है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म एलेक्ट्रान पदार्थ से लेकर मन्दाकिनी एवं नीहारिकाओं तक सर्वत्र कम्पन ही कम्पन है। सब काँप रहे हैं—सब स्पन्दायमान हैं—सब गतिशील हैं। सभी में क्रियाशीलता, गति, कम्पन एवं स्पन्दन है।

२. लाइबनीज की दृष्टि—लाइबनीज ने Monadology में कहा है कि[१] १. संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पूर्णतः स्थिर हो, २. कोई भी पिण्ड अपना अस्तित्वारम्भ पूर्ण विश्राम की अवस्था से नहीं; प्रत्युत गति की एक अवस्था के साथ करता है, भले ही वह गति कितनी ही कम क्यों न हो, ३. प्रत्येक वस्तु का स्वभाव (उसकी मौलिक प्रकृति) गत्योन्मुख होता है। लाइबनित्स का कथन है—'प्रत्येक वस्तु अपने बाहर की वस्तुओं पर क्रिया करने की चेष्टा करती है और वस्तुतः वह क्रिया करती भी है, यदि बाहरी वस्तुओं के विरोधी प्रयत्न उसे ऐसा करने से रोक न देते। इसकी ओर हमारे आधुनिक विचारकों ने यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। वे समझते हैं कि कोई वस्तु विना किसी प्रयत्न

---

१. मौनेडोलॉजी—लाइबनित्स

के पूर्ण विश्राम की अवस्था में रह सकती है; किन्तु इस प्रकार सोचने का कारण यह न समझ पाना है कि पिण्डीय द्रव्य क्या हैं। क्योंकि मेरी राय में विना क्रिया के द्रव्य रह ही नहीं सकता।'[१]

३. अखण्ड क्रियावाद—जो गतिमान है, वह उस वस्तु से पृथक् नहीं है, जो विश्राम की अवस्था में है; क्योंकि पूर्ण विश्राम कहीं है ही नहीं; क्योंकि सर्वत्र गति एवं क्रिया है। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो क्रिया नहीं करता। जो पदार्थ क्रिया नहीं करता, वह है ही नहीं। लाइबनिट्ज ने अपने से हजार वर्ष पूर्व बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के मत की पुनरावृत्ति की कि—

अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।[२]

४. शक्तिवाद—डेकार्टे ने देश (Space) को तत्त्व माना था; किन्तु लाइबनिट्ज इसे परमार्थ सत्ता स्वीकार न करते हुए 'शक्ति' को पारमार्थिक सत्य माना और कहा कि विना शक्ति के देश (विस्तार) सम्भव नहीं है; अत: मुख्य गुण है—शक्ति, न कि विस्तार। शक्तियाँ देश (विस्तार) पर निर्भर नहीं हैं। अपनी सत्ता के लिए वे शक्तियों पर निर्भर हैं। जहाँ 'शक्ति' की समाप्ति होगी, वहीं 'देश' की भी समाप्ति हो जाएगी।

५. क्रियाशक्ति की शाश्वतता एवं नित्यात्मकता—संसार में सब कुछ शक्ति की अभिव्यक्ति है। अत: सबकुछ सक्रिय है। तत्त्व का आवश्यक लक्षण विस्तार (Extesion) नहीं; बल्कि शक्ति और सक्रियता है। जड़तत्त्व मूल तत्त्व नहीं है; क्योंकि वह विभाज्य है और जो विभाज्य है, वह द्रव्य नहीं हो सकता। शक्ति ही सरल अविभाज्य 'द्रव्य' पदार्थ है। शक्ति के सिद्धान्त पर लाइबनिट्ज मौनेड का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

लाइबनिट्ज के अनुसार द्रव्य की स्वतन्त्रता अस्तित्व की स्वतन्त्रता नहीं; प्रत्युत कृतित्व की स्वतन्त्रता है।

६. सर्वचिन्मयतावाद—डेकार्टे और स्पिनोजा—दोनों मानते थे कि द्रव्य के अस्तित्व के साथ-साथ कृतित्व की भी स्वतन्त्रता है; किन्तु लाइबनित्स केवल कृतित्व की स्वतन्त्रता ही मानता है। लाइबनित्स द्रव्य को सक्रिय मानता है। निष्क्रियता गति का अभाव नहीं बल्कि अन्य शक्तियों का प्रतिरोध है। अत: निष्क्रियता कहीं है ही नहीं। शक्ति सर्वत्र है। शक्ति कहीं सक्रिय दृष्टिगत होती है और कहीं प्रतिरोध के कारण निष्क्रिय दिखती है; किन्तु कहीं भी निष्क्रिय है नहीं। सर्वत्र शक्ति की विद्यमानता है, अत: किसी भी द्रव्य में गति के लिए बाह्य शक्ति की आवश्यकता है ही नहीं। शक्ति ही द्रव्य है और मूल अणु भौतिक नहीं; प्रत्युत शाश्वत, अविभाज्य, चेतन शक्ति अणु है। भौतिक अणु विभाज्य है, अत: बिन्दु नहीं है। गणित का बिन्दु अविभाज्य तो है, किन्तु शक्तिहीन है; अत: मौनेड ही यथार्थ तात्त्विक बिन्दु है। मौनेड जगत् के समस्त जीवों एवं वस्तुओं की तात्त्विक इकाइयाँ हैं। मौनेड के विशिष्ट लक्षण निम्न हैं—

---

१. पेलीसन को लिखा गया लाइबनित्स का पत्र १६९१ (३)
२. प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति) (४)

१. शाश्वत (Eternal), २. गवाक्षहीन (Windowless), ३. गतिशील (Mobile), ४. विशिष्ट (Unique) ।

मौनेड के प्रकार—१. प्रसुप्त (Sleeping monad), २. स्वप्निल (Dreamiry monad), ३. जाग्रत (Working monad), ४. Monad of monad (परमात्मा) यही है—'Monas monadum' मौनेडों के प्रकार निम्न हैं—१. जड़ (अचेतन भी कह सकते हैं), २. चेतना, स्मृतियुक्त चिदणु समस्त प्राणी, ३. मानव (Rational self) = बौद्धिक आत्मा । चिद्बिन्दु (Monad) परम तत्त्व एवं आध्यात्मिक परमाणु हैं । वे सादि, अनन्त एवं नित्य हैं; निरवयव, अविभाज्य एवं चेतन हैं । प्रत्येक मौनेड चित् शक्ति का केन्द्र है ।

७. क्रियात्मकता का सिद्धान्त—मौनेडों के इस क्रम में चेतना की निरन्तरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । जो मौनेड जितने ही उच्चतर पर स्थित है, उसमें उतनी ही अधिक क्रियाशीलता, गतिशीलता एवं शक्तिमत्ता विद्यमान होती है । जो तथाकथित जड़ में है, वह तथाकथित चेतन में भी है । निरन्तरता का सिद्धान्त सिद्ध करता है कि पेड़, पौधे, पशु, जड़ पदार्थ, मनुष्य आदि सभी में शक्ति की ही क्रीड़ा चल रही है । सर्वत्र चैतन्य है; भले ही वह अचेतन ही क्यों न दिखाई पड़े ।

मौनेडों की क्रियायें—विश्व की मूलभूत ईकाई 'मौनेड' सदा सक्रिय है । मॉनेडों की क्रियायें दो प्रकार की हैं—प्रत्यक्षीकरण एवं प्रयास ।

प्रत्येक मौनेड जगत् को प्रतिबिम्बित करता है । यह स्वयं सूक्ष्म जगत् है । यह जगत् का जीता-जागता दर्पण है । वह Living mirror of the Universe है । यह स्वयं एक जगत् है । यह 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' की दृष्टि के समान दृष्टि है । सभी Monad में जगत् का बिम्बीकरण एवं प्रत्यक्ष एक-सा नहीं होता । निम्न से उच्च, उच्च से उच्चतर श्रेणियों में यह क्षमता बढ़ती जाती है ।

८. पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद—पेड़-पौधों में प्रत्यक्ष अत्यन्त अस्पष्ट है । पशुओं में प्रत्यक्ष के साथ स्मृति या चेतना एवं मनुष्यों में प्रत्यक्ष एवं चेतना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ।

लाइबनित्स कहता है—'प्रत्येक शरीर वह सब-कुछ अनुभव करता है, जो सम्पूर्ण जगत् में होता है । ताकि कोई भी जो सब-कुछ देखता है, प्रत्येक विशिष्ट वस्तु में वह सब पढ़ सके, जो कि अन्यत्र कहीं भी हो रहा हो और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हो चुका है और होगा, प्रत्यक्ष में सबको देखते हुए जो काल एवं देश में परोक्ष है ।'

Everybody feels everything that occures in the entire universe, so that are one who sees all could read in each particular thing that which happens every where else and besides all that has happened and will happen perceiving in the present all which is remote in time and space.[1]

---

१. Mondology

हाँ, यह बात अवश्य है कि जगत् में कोई भी दो वस्तुयें एक-सी नहीं हैं । कोई भी दो मौनेड एक-से नहीं हैं । जड़ एवं चेतन सभी मौनेडों में शक्ति विद्यमान है । मौनेडों में बाहर के प्रभाव से कुछ भी नहीं होता । उसमें जो कुछ भी होता है, वह सुप्त रूप में उसमें पहले से ही विद्यमान रहता है। डेकार्टें पदार्थों को जड़ मानता है, किन्तु लाइबनिट्ज नहीं ।

मौनेड ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं । परमात्मा जगत् का स्रष्टा है और ईश्वर शुद्ध सक्रियता है । उसकी पूर्णता जगत् की रचना में व्यक्त होती है । परमात्मा में निष्क्रियता बिल्कुल नहीं है ।

जगत् एक नैतिक और दैवी व्यवस्था है, जिसमें सब जगह दैवी प्रयोजन कार्य करता है । ईश्वर सर्वोच्च मौनेड है ।

ईश्वर पूर्णतः यथार्थ एवं शुद्ध कर्म (Actus puxus) है । सारे मौनेड सक्रिय हैं । उनमें समस्त क्रियायें आन्तरिक होती हैं ।

लाइबनिट्स कहता है—'ईश्वर में शक्ति है, जो सबका स्रोत है । ज्ञान भी है, जिसकी अन्तर्वस्तु विचारों की विविधता है । अन्त में सङ्कल्प है, जो सर्वोत्तम नियम के अनुसार परिवर्तन या उत्पादन करता है । ईश्वर में ये धर्म निरपेक्षतः असीम या पूर्ण हैं और रचित चिद्बिन्दुओं में या चेतन सत्ताओं में चिद्बिन्दु की पूर्णता के अनुसार इन धर्मों की अनुकृतियाँ होती हैं ।'[१]

सर्वत्र चैतन्य है । पदार्थ के लघुतम कण में, उपजीवों, जीवों-जन्तुओं, चेतनाओं और आत्माओं का एक संसार बसा हुआ है ।

प्रत्येक रचित चिद्बिन्दु सम्पूर्ण विश्व को प्रतिरूपित करता है ।[२]

डेकार्टें का यह कथन भी ठीक ही है कि परमात्मा समस्त गतियों, स्थितियों (Motins, rests) का स्रोत है । परमात्मा ने ही सर्वप्रथम पदार्थों की गति एवं स्थिति के साथ रचना की । अरस्तू, गैलेलियो, न्यूटन, डेकार्टें आदि सभी ईश्वर को आदि संचालक मानते हैं ।

९. बिन्दु—सृष्टि का जो मूल है, वह बिन्दुस्वरूप है; क्योंकि सृष्टि के मूल में बिन्दु स्थित है । इसे ही 'महाबिन्दु' कहा गया है । 'प्रकाश' (शिवांश) एवं 'विमर्श' (शक्त्यंश) जब समभाव में अधिष्ठित रहते हैं तब उन्हें 'बिन्दु' कहते हैं । इसका रहस्य यह है कि समस्त स्थूल सृष्टि के विराट प्रपञ्च के मूल में (स्थूल सृष्टि-व्यापार में) चित् शक्ति का व्यापार निहित है ।

चित् शक्ति अपनी आत्मा को (अपने स्वरूप को) भित्ति बनाकर उसी के ऊपर विश्व का निर्माण करती है । इसीलिए 'शक्तिसूत्र' में कहा गया है—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।' अर्थात् चिति शक्ति स्वेच्छा से स्वात्मरूप दीवाल पर विश्व का उन्मीलन करती है । 'उन्मीलन' है क्या ? स्वात्म भित्ति पर पहले से निर्णीत विश्व को दर्पण में नगर

१. 'मौनेडालाजी'
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (आचार्य क्षेमराज)

के समान, अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रकटीकरण, अवस्थित वस्तु का अभिव्यक्तीकरण ही 'उन्मीलन' है—'स्वभित्तौ न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति । उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् ।'[१]

चित् शक्ति अपनी आत्मा की भित्ति पर (उसमें पूर्व से स्थित) अव्यक्त विश्व को पहले तो परिस्फुट (व्यक्त) करती है और उसके अनन्तर उसे 'इदं' रूप से गृहीत करता है । इसी तरह 'प्रकाश' की भित्ति के ऊपर प्रकाशमान चित्ररूपी विश्व की 'इदं' के रूप में प्रतीति होने लगती है । जो विश्व 'पूर्ण अहं' के अन्त:करण में 'अहम्' के रूप में स्थित रहता है, वही आभासस्वरूप में 'इदम्' की प्रतीति का विषय बनकर चित्ररूप से उन्मीलित होता है । स्थूल की इच्छा ही घनीभूत होने पर यह आभासात्मक विश्व स्थूलात्मना परिणत हो जाता है । 'क्रियाशक्ति' के द्वारा ही आभास घनीभूत रूप में परिणत होता है ।

सृष्टि के आरम्भ में एक ही 'बिन्दु' तीन प्रकार से विभाजित हो जाता है और त्रिबिन्दु के रूप में अवतीर्ण होता है । समष्टि रूप में अवस्थित एक ही बिन्दु व्यष्टि में तीन बिन्दुओं के रूप में परिणत होता है । सृष्टि का मूल—प्रकाशांश एवं विमर्शांश है । प्रकाशांश = अम्बिका । विमर्शांश = शान्ता । अम्बिका—१. वामा, २. ज्येष्ठा एवं ३. रौद्री । शान्ता—१. इच्छा, २. ज्ञान एवं ३. क्रिया । मूलबिन्दु (समष्टिबिन्दु)—जहाँ अम्बिका एवं शान्ता साम्यभाव में स्थित होते हैं, उसे ही मूलबिन्दु कहा जाता है । इस बिन्दुत्रय में—

(क) प्रथम बिन्दु = वामा तथा इच्छाशक्ति का साम्यरूप ।

(ख) द्वितीय बिन्दु = ज्येष्ठ एवं ज्ञान का साम्यरूप ।

(ग) तृतीय बिन्दु = रौद्री एवं क्रिया का साम्यरूप ।

मूलत्रिकोण के तीन बिन्दु ये ही उक्त ३ बिन्दु हैं । मूलबिन्दु मूलत्रिकोण का मध्यबिन्दु है ।

मूलबिन्दु का आविर्भाव : अम्बिका में शान्ता का साम्य→मूलबिन्दु का प्रादुर्भाव । यही है परावाक् । (परमात्मा या सदाशिव इसी मूल बिन्दु की अवस्थाविशेष की संज्ञा है) ।

पश्यन्ती वाक्—वामा एवं इच्छा में साम्य से जिस बिन्दु का जन्म होता है, उसका नाम है—पश्यन्ती वाक् ।

मध्यमा वाक्—रौद्री एवं क्रिया शक्तियों के तादात्म्य से जो बिन्दु प्रकट होता है, उसका अभिधान है—वैखरी वाक् । इस त्रिकोण का आविर्भाव ही आदि या मूल त्रिकोण है ।

इसमें जो मध्य बिन्दु है, वही है—परामातृका । पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी तीन दिशाओं के ३ बिन्दु हैं । त्रिकोण की वामदिशा की वक्ररेखा पश्यन्ती वाक् का प्रसार है ।

---

१. 'Big Bang Theory' में भी सूक्ष्मतम 'बिन्दु' से ही जगत् का उद्भव एवं विकास माना गया है । उसी 'बिन्दु' का अनन्त पिण्डों के रूप में आज भी प्रसार एवं विस्तार होता जा रहा है ।

ऊर्ध्ववर्ती या सम्मुख की सरल रेखा मध्यमा वाक् का प्रसार है। दक्षिणवर्ती (प्रत्यावर्तनमुखी) रेखा ही वैखरी वाक् है। यही योनिस्वरूप विश्वमातृका का संक्षिप्त स्वरूप है।

शाक्तदर्शन की यह मान्यता है कि जो ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ पिण्ड में भी है; क्योंकि—यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे। विश्वसृष्टि एवं देह-सृष्टि के मूल में सृजन का समान व्यापार है। श्रीचक्र का आविर्भाव, जगत् की उत्पत्ति एवं आत्मा का देह आदि को लेकर आविर्भूत होना—तीनों एक ही बात है। जगत् के मूल में जो अखण्ड सत्ता है, वही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है; किन्तु वह निर्विकार, अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश, चिदानन्दघन एवं ह्रास-वृद्धिशून्य चेतन तत्त्व है। शाक्त दार्शनिकों के मत से इसकी संज्ञा है—शिव-शक्तिसामरस्य। यह वह अद्वैतावस्था है, जो शिव के रूप में निष्क्रिय, उदासीन एवं निरपेक्ष द्रष्टामात्र है; किन्तु शक्ति के रूप में वही विश्व का उपादान है—शिव-शक्ति अभिन्न हैं तथापि यहाँ शिव तटस्थ है और शक्ति सङ्कोच-प्रसारात्मिका है। प्राचीन योगी कहते थे कि जिसे हम शिव कहते हैं, वह भी शक्ति का ही एक रूप है; क्योंकि शक्ति के विना हम शिव की कल्पना ही नहीं कर सकते—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

जगत् के मूल में 'शक्ति' के ही दो विरुद्ध स्वरूपों की आत्मक्रीड़ा चल रही है। ये दोनों विरुद्ध शक्तियाँ विशिष्ट स्थिति में समरस एवं अद्वयभाव से अविभक्त रूप में विद्यमान रहते हुए भी विषयभाव गृहीत करके एक-दूसरे के ऊपर क्रिया करने लगती हैं। इन दो शक्तियों में से एक का नाम 'अग्नि' है और दूसरे का नाम 'सोम' है।

(क) अग्नि = तापमय, दुःखप्रद, मृत्युरूप, (काल, अग्नि का ही रूप है)।
अग्नि = अविभक्त वस्तु को विभक्त करके प्रकाशित करना।

(ख) सोम = शीतल, आनन्दप्रद, अमृतरूप। सोम विभक्त या पृथक् खण्डों को अविभक्त रूप में स्थापित करता है।

(क) अग्नि = प्रकाशस्वरूप से प्रकाशित। अग्निक्रिया = संहार।

(ख) सोम = विसर्गरूप से प्रकाशित। सोम क्रिया = सृष्टि।

'सूर्य'—नित्य स्थिति है। तन्त्र में सूर्य को कामतत्त्व कहा गया है—'कामाख्यो रविः।'

अग्नि एवं सोम की साम्यावस्था—इसमें न ही अग्नि की क्रिया का प्रकाश होता है और न तो सोम की क्रिया का। इसमें अग्नि एवं सोम दोनों संहार एवं सृष्टि-व्यापार से विरत रहते हैं। नित्य स्थिति का स्वरूप यही है। इसका पारिभाषिक नाम है—'रवि' या 'सूर्य'। यह है—अग्नि + सोम की नित्य समरसात्मक एवं अद्वय स्थिति। सृष्टि एवं संहार के मूल में विद्यमान अखण्ड शक्ति का ही अभिधानान्तर (दूसरा नाम) सूर्य है।

संहार—अग्नि + सोम की विषमावस्था में जब सोम का प्राधान्य होता है तब संहार होता है। 'सूर्य' को कामतत्त्व भी कहा गया है। 'काम' की (साम्यरूपी सूर्य की) एक कला है—अग्नि एवं दूसरी कला है—चन्द्र। काम की दो कलायें —

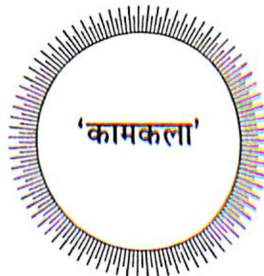
अग्नि ┌ साम्यावस्था = शुद्ध स्थिति
चन्द्र └ विषमावस्था = विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रकाश ।

अग्नि-संस्पर्श → सोम-क्षरण; (किन्तु इसमें अग्नि का नहीं, सोम का प्राधान्य रहता है । इसी क्षरण से सृष्टि होती है । अग्नि का प्रभाव → सोम का वाष्परूप में परिणत होने पर 'सोमकला' का अव्यक्तीकरण । यही 'संसार' है । इस स्थिति में सोम के रहने पर भी अग्नि की क्रिया ही प्रधान रहती है (अग्नि + सोम के संसर्ग से सोम का प्राधान्य → सृष्टि । अग्नि का प्राधान्य → संहार) । बिन्दु-क्षोभ → कला । चन्द्रकला के अभाव में सृष्टि असम्भव । विश्व का मूलोपादान = 'सोमबिन्दु' । सोमबिन्दु → तत्त्व-प्रसव → भुवनोद्भव ।

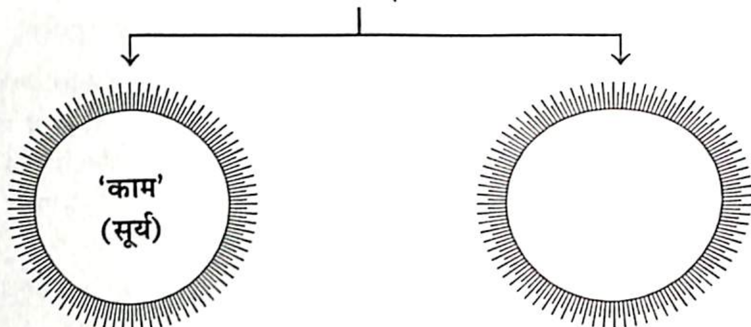
सृष्टि—वैसे तो परा शक्ति परमशिव के साथ नित्य अभिन्न रूप से अवस्थित रहते हैं; किन्तु जब परा शक्ति परमशिव (आत्मा) को देखने की इच्छा करती है तब सृष्टि का उदय हो जाता है । इसी 'महाशक्ति' के गर्भ में नि:शेष विश्वसत्ता अभिन्न रूप में विद्यमान रहती है । ('विसर्गक्रिया'—सिसृक्षा होने पर विश्व से अभिन्न रहते हुए भी भिन्न रूप में प्रतीयमानता विसर्ग क्रिया है ।) सृष्टि यही विसर्ग व्यापार है ।

सृष्टि-व्यापार में विश्व-विकास के अनेक स्तर हैं ! इन समस्त स्तरों में प्रथम स्तर है—बिन्दु । द्वितीय स्तर है—त्रिकोण ▽ । इस त्रिकोण में तीनों भुजायें एवं तीनों कोण समान हैं । इसके बाद आता है—अष्टकोण; फिर आभ्यन्तरिक दशकोण एवं बाह्य दशकोण; फिर चतुर्दशकोण, अष्टदल एवं षोडशदल और सबके अन्त में है—३ वृत्त और एक चतुष्कोण (चतुरस्र) । चतुष्कोण = सृष्टि की बाहरी दीवार, सृष्टि का अन्त । (यही चतुरस्र 'भूपुर' भी कहलाता है ।)

विश्व का विस्तार—बिन्दु से चतुरस्र या चतुरस्र से बिन्दु । चाहे किसी भी प्रकार की सृष्टि क्यों न हो; किन्तु उसके बाहर चतुरस्र तथा भीतर बिन्दु रहेगा ही । बिन्दु से सर्वप्रथम त्रिकोण का ही आविर्भाव होता है । समस्त विश्व के केन्द्र में महाशक्ति का सर्वप्रथम आत्मप्रकाशन इसी त्रिकोण के रूप में होता है । कामकला को लें—



'कामकला' की दो स्थितियाँ



१. कामकला का साम्यभाव

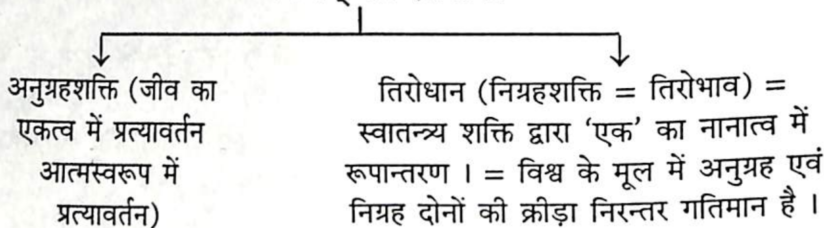
२. कामकला का वैषम्यभाव = निरन्तर सृष्टि-संहार की क्रीड़ा

कामकला का साम्यभाव = अखण्डित स्वरूप, महास्थिति, इसका साम्यभङ्ग कभी नहीं होता।

संष्टि + संहारचक्र एव संहार तथा सृष्टिचक्र के भीतर आभासरूप में स्थित है—बिन्दु। निष्कर्ष—सृष्टि-स्थिति-संहार निरन्तर चल रहे हैं।

संहार— १. आत्मस्वरूप में प्रत्यावर्तन।
२. काल की क्रीड़ारूप मृत्यु = विनाश।

भगवान् की शक्तियाँ



सृष्टि की प्रक्रिया → बिन्दु → त्रिकोण → अष्टकोण → दशकोण → चतुर्दशकोण → अष्टदल → षोडशदल → ३ वृत्त → चतुष्कोण। सृष्टि = बिन्दु से चतुष्कोण तक का प्रसार।

बिन्दुसृष्टिवाद—Big bang theory एवं शाक्त दर्शन मानता है कि ब्रह्माण्ड का विकास किसी सघनतम बिन्दु से हुआ। सर्वानन्दमय चक्र पर विचार करें। ▽ में स्थित महाबिन्दु तुरीयातीत, सहस्रदलसम्बद्ध, ब्रह्मरन्ध्रस्थ, प्रकाश-विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका, पराशक्ति है और यह रक्त-बिन्दु के भीतर श्वेत बिन्दु के रूप में अवस्थित है। बिन्दु रक्त वर्ण का है। यही सामरस्यापन्न बिन्दु सृष्टि का मूल है। शिव (प्रकाश) विमर्श (शक्ति) में प्रविष्ट होते हैं और बिन्दु का रूप धारण कर लेते हैं। शक्ति शिव में प्रविष्ट होती है। बिन्दु संवर्द्धित

होता है और उससे नाद का आविर्भाव होता है। बिन्दु और नाद मिलकर मिश्रबिन्दु बन जाते हैं। यही हैं—काम। श्वेत, रक्त एवं मिश्र बिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं और 'कामकला' कहलाते हैं। कामकला त्रिपुरा शक्ति है। इसी से सृष्टि होती है।

ब्रह्माण्ड और उसकी उत्पत्ति

स्पन्द और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति—स्पन्दशास्त्र के अनुसार जगत् की उत्पत्ति स्पन्द = स्पन्दन = स्फुरणा से हुई। जगत् का मूल शक्ति है और शक्ति ही सृष्टि है। 'आसीत् शक्तिः' में शक्ति है—ज्ञानशक्ति। 'ततो नादः' में नाद है—इच्छाशक्ति। 'नादात् बिन्दुः' में बिन्दु है—क्रियाशक्ति। ब्रह्माण्ड इसी स्पन्द शक्ति का इच्छात्मक स्फोट है। विश्व शक्ति का बाह्यावभासन है। आधुनिक विज्ञान कहता है कि द्रव्य एवं ऊर्जा की महासमष्टि ही ब्रह्माण्ड है। स्पन्दशास्त्र के अनुसार शाक्ताण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड, ब्रह्माण्ड सभी कुछ मूल शक्ति का ही रूपान्तर है।

ब्रह्माण्ड—ब्रह्माण्ड क्या है? विशाल दुग्धमेखला के समान प्रसृत आकाशगङ्गा, जिसके भीतर दस करोड़ से अधिक तारे, उनके अनुषङ्गी तारे और मैजेलेनीय मन्दाकिनी है—(सम्मिलित रूप में) ब्रह्माण्ड है। विश्व सौरमण्डल तक ही सीमित नहीं है। सौरमण्डल आकाशगङ्गा का एक छोटा-सा भाग है।

१९२५ में अमेरिका के खगोलज्ञ एडविन पी०हबल (१८८९-१९५३) ने बताया कि विश्व (Cosmos) में हमारी आकाशगङ्गा की भाँति लाखों अन्य दुग्धमेखलायें स्थित हैं। ये आकाशगङ्गायें परस्पर एक-दूसरे से दूर होती जा रही हैं और दूरी के अनुपात में ही उनकी गति भी बढ़ती जा रही है। ब्रह्माण्ड एक हवा भरे गुब्बारे की भाँति फैलता जा रहा है।

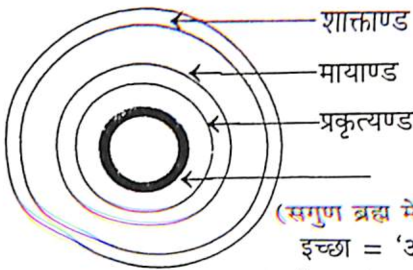
५ करोड़ प्रकाशवर्ष दूर 'विग' (कन्या) नामक तारामण्डल के तारे १२०० कि०मी० प्रति सेकेण्ड की गति से, २७० करोड़ प्रकाशवर्ष दूर स्थित हाइड्रा के तारासमूह ५७,००० कि०मी० प्रति सेकेण्ड की गति से दूर होता जा रहा है। इनकी तुलना में हमारी आकाशगङ्गा के तारा-समूह की गति ६०० कि०मी० प्रति सेकेण्ड है। हबल का कथन है कि यदि आकाशगङ्गाओं की गति दूरी के अनुसार बढ़ती जाय तो ये आगे आकाश की गति से भागने लगेंगी।

आकाशगङ्गा की गति का प्रभाव उसके प्रकाश पर भी पड़ता है। यदि तारा द्रष्टा की ओर बढ़ रहा हो तो प्रकाश स्पेक्ट्रम नीले रङ्ग की ओर बढ़ता दिखेगा; किन्तु तारा द्रष्टा की विपरीत दिशा में बढ़ रहा हो तो प्रकाश स्पेक्ट्रम के लाल रङ्ग की ओर अग्रसर दिखेगा। आकाशगङ्गाओं का यह डाप्लरप्रभाव यही दिखाता है कि तारे पीछे हटते जा रहे हैं और ब्रह्माण्ड का प्रसार बढ़ता जा रहा है।

अभी तक खगोलज्ञों का अनुमान था कि ब्रह्माण्ड में मात्र ८० अरब आकाशगङ्गायें हैं; किन्तु अब अनुमान है कि लगभग १२५ अरब आकाशगङ्गायें हैं। खगोलविदों ने आकाशगङ्गाओं के अभी तक के सबसे बड़े समूह की खोज की है। इसमें 'मिल्की वे' आकाशगङ्गा एक कण के तुल्य है। यदि प्रकाश की रश्मि इसके एक छोर से दूसरे छोर

हैं और प्रत्येक आकाशगङ्गा में अरबों तारे हैं। इसकी संरचना 'बिगबैंग' महाविस्फोट के कुछ क्षणों में ही हो गई थी, जब ब्रह्माण्ड अत्यन्त छोटा था। बिगबैंग महाविस्फोट के बाद ब्रह्माण्ड के प्रसार के साथ इन संरचनाओं का प्रसार सेंटीमीटर के कुछ भाग से बढ़कर वर्तमान अवस्था तक पहुँच गया। डरहम विश्वविद्यालयों के खगोलविदों ने १५,५०० तथा ऐंग्लो-आस्ट्रेलियाई वैज्ञानिकों ने २७,००० आकाशगङ्गाओं के चार्ट (मानचित्र) बनाए हैं।

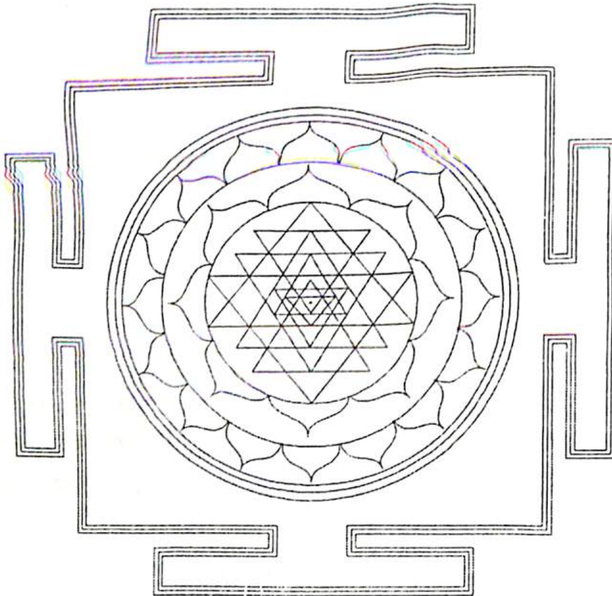
शैवदर्शन के अनुसार सृष्टि-पिण्ड



ब्रह्माण्ड
(सगुण ब्रह्म में 'एकोऽहं बहु स्याम' की इच्छा = 'आद्य स्पन्द' रूप कम्पन ('एजन') = कम्पन का मूर्त रूप = 'नाद' = ब्रह्म की इच्छा = 'शब्दब्रह्म' = क्रिया (बिन्दु) = 'क्रियाशक्ति'।

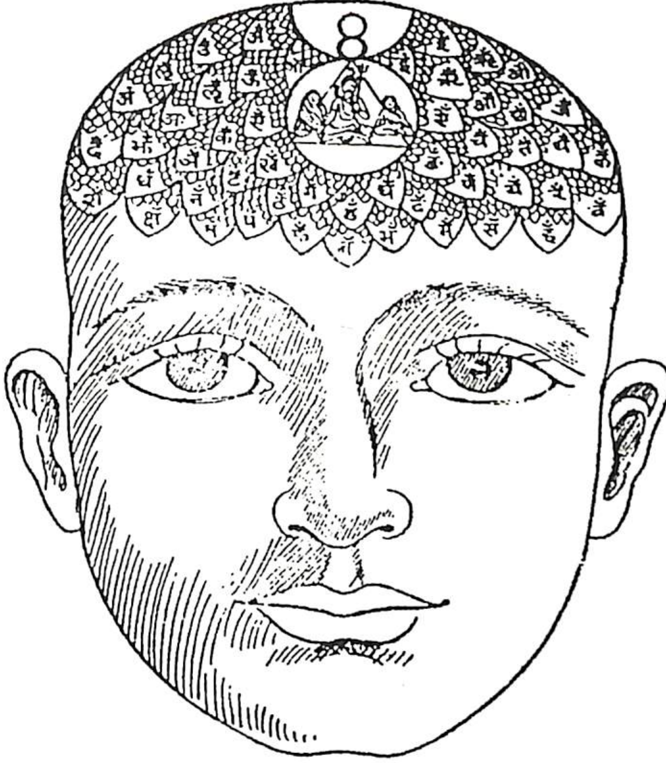
सृष्टि—
'सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर'
↓
शक्ति
↓
नाद
↓
बिन्दु[1]
↓
जगत्

तान्त्रिक यौगिक सृष्टि : (१) चक्रात्मक सृष्टि (यन्त्रात्मक सृष्टि)



१. सचिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥ (शारदातिलक)

(२) मातृकात्मक एवं चक्रात्मक सृष्टि : महाबिन्दु से सृष्टि



अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि सामान्य स्पन्द ही विमर्श है और यह विमर्श ही उच्छलन के कारण 'स्पन्द' है—

भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥[१]

इसे ही चिति, प्रत्यवमर्श, आत्मा, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, हृदय, स्फुरत्ता एवं महासत्ता भी कहते हैं—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥[२]

इसी शक्ति को विमर्श, स्पन्द एवं विसर्ग भी कहते हैं—'इह खलु इदमेव संविदः संवित्त्वं यत् परामृष्टृत्वं नाम तस्य विमर्शः स्पन्दो, हृदयं, विसर्गः इत्यादयो सहस्रशो व्यपदेशः ।' विमर्श संवित् 'स्पन्द' ही है—'स एव संवित्स्पन्दोऽन्तःपरप्रमात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेषस्वीकारात् सामान्यतया, अतएव प्रविकासवान् अहमिति, बाह्ये मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा । (जयरथ : 'विवेक')

१-२. प्रत्यभिज्ञाकारिका : (उत्पलदेवाचार्य)

स्पन्दनिर्णय में स्पन्द की द्विमुखी व्याख्या—इस द्विमुखात्मकता के दो रूप हैं— विध्यात्मक रूप एवं निषेधात्मक रूप ।

१. विध्यात्मक पक्ष (Positive aspect)—इसका विध्यात्मक पक्ष इस प्रकार है— 'That power of consciousness which influences life into the physical senses, otherwise appearing insentient is called 'स्पन्द' । इस शक्ति का साक्षात्कार उसे हो पाता है, जो कि अपनी स्वतन्त्र चेतन प्रकृति का निरीक्षण करता है । यह Mode of extension 'भैरव' कहा जाता है । This Spand shakti while animating the senses is aptly described as causing creation, existence and dissolution' यह सृष्टि-पालन एवं संहार (प्रलय) की विधायिका भी है ।

२. निषेधात्मक पक्ष (Negative aspect)—'स्पन्द' वह दशा है, जहाँ सुख एवं दु:ख दोनों की संवेदनायें नहीं होतीं—

> न दु:खं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च ।
> न चास्ति मूढ़भावोऽपि तदस्ति परमार्थत: ॥[1]

जाग्रत् अवस्था में स्पन्दतत्त्व की अनुभूति—

> अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
> धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्द: प्रतिष्ठित: ॥[2]

चक्रेश्वरत्व की उपाधि कब होती है? जब साधक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में अवस्थित होता हुआ चित्त को लीन करके अन्त: बहि: एकाकार स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है, तब स्वतन्त्रापूर्वक प्रत्ययोद्भव के, सृष्टि एवं संहार को सम्पन्न करता हुआ भोक्तृभाव की पदवी पर पहुँच जाता है और अन्तर शक्तिचक्र का ईश्वर बन जाता है ।[3]



१-२. स्पन्दकारिका   ३. स्पन्दकारिका (५१)

षष्ठ अध्याय

सृष्टि-विकास और उसके विभिन्न सोपान

सांख्य-प्रतिपादित सृष्टि-प्रक्रिया

प्रधान तत्त्व—१. पुरुष, २. प्रकृति

चेतन पुरुष (लँगड़ा एवं द्रष्टा पुरुष)→





जड़ प्रकृति। (अन्धी, किन्तु सक्रिय प्रकृति) = प्रकृति = सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था।

(पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः)

पुरुष एवं प्रकृति का संयोग—सृष्टि →

('बुद्धि' अर्थों का स्वरूप धारण कर लेती है। बुद्धि अर्थाकार परिणत हो जाती है)



← प्रकृति के सात्त्विक अंश से उत्पन्न।

↓

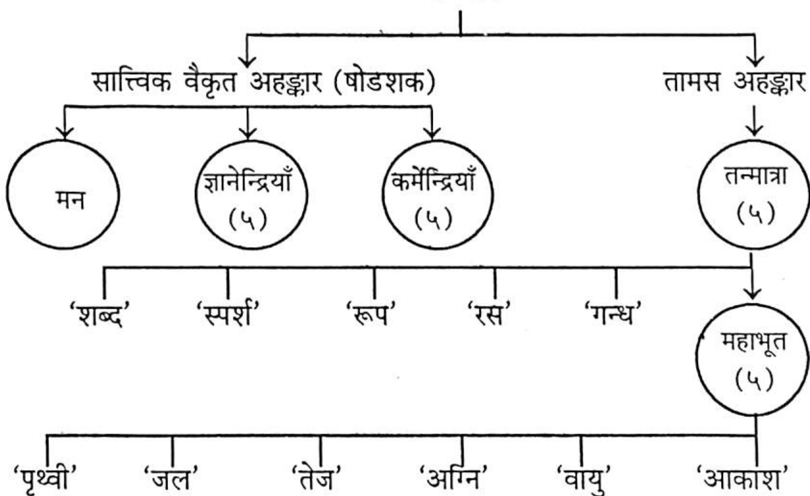
प्रमाणों की आवश्यकता? प्रमेयों के ज्ञान के लिए। तीन प्रमाणों से सभी कुछ ज्ञात हो जाता है तो चौथे प्रमाण के लिए प्रमेय कौन बचेगा? अतः अन्य प्रमाण व्यर्थ हैं।



सांख्य के तत्त्वत्रय—'प्रमाणशास्त्र' =
१. 'ज्ञ' = शब्दप्रमाण-ज्ञेय।
२. 'अव्यक्त' = अनुमान प्रमाण-ज्ञेय।
३. 'व्यक्त' = प्रत्यक्ष प्रमाण-ज्ञेय।

↓

षोडशक



सांख्यदर्शन में तत्त्वों के प्रकार

१. प्रकृति-विकृति-विरहित तत्त्व	= पुरुष (१)
२. प्रकृतितत्त्व	= प्रकृति (१)
३. प्रकृति-विकृतितत्त्व	= महत्तत्व । अहङ्कार । पञ्चतन्मात्रा (७)
४. विकृति-तत्त्व	= ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ । ५ महाभूत । १ मन । (१६)

२५ तत्त्व—१. पुरुष, २. प्रकृति, ३. बुद्धि, ४. अहङ्कार, ५. ज्ञानेन्द्रियाँ, ६. कर्मेन्द्रियाँ, ७. तन्मात्रायें, ८. मन, ९. महाभूत ।

सृष्टि-प्रक्रिया—दो 'परिणाम' कार्यरत होते हैं—सदृश परिणाम एवं विषम परिणाम ।

१. सदृश परिणाम—प्रलयकाल में गुण अपने शुद्ध रूप में अपने में ही परिणत होते रहते हैं । प्रलयकाल में जब रूणि (पदार्थविर्भाव) का अभावकाल रहता है तब इन गुणों का केवल सदृश परिणाम होता है अर्थात्—

१. सत्त्वगुण का सत्त्वरूपतया परिणाम ।
२. रजोगुण का रजोगुणरूपतया परिणाम । गुणों का 'परिणामत्रय'
३. तमोगुण का तमोगुणरूपतया परिणाम ।

जो गुण जिस स्वरूप का है, वह गुण उसी रूप से ही परिणत होता रहता है । उसी गुण की उसमें लहर-सी उठती रहती है; क्योंकि गुणों का तो स्वभाव ही है—प्रतिक्षण परिणत होते रहना । अत: वे विना परिणमन के स्थिर रह ही नहीं सकते ।

२. विषम परिणाम—सृष्टि-काल में विषम परिणाम होता है । अव्यक्त के ये तत्त्वत्रय (गुणत्रय) प्रधानाप्रधान भावों से, विना समान अनुपात या विना समान प्रतिशत के, परस्पर मिलकर एवं एक-दूसरे को दबाकर, कम-अधिक, निर्बल-सबल आदि नानाविध स्वल्पाधिक सम्मिश्रण एवं आश्रयभेद से नानात्मक सृष्टि करते हैं । परिणामत: किसी पदार्थ में सत्त्व, किसी में रजस् एवं किसी में तमोगुण की प्रधानता तथा अन्य में इनकी गौणता विद्यमान रहती है । गुणों के अनुपात में वैषम्य होने के कारण ही इसे 'विषम परिणाम' कहते हैं ।

शैव-शाक्तदर्शन में भुवन

कला	तत्त्व	भुवन
१. शान्त्यातीता कला (शुद्ध तत्त्व)	१. शिव तत्त्व—१० भुवन २. शक्ति तत्त्व— ५ भुवन १५ भुवन	अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, रूपिणीं, व्यापिनी, ऊर्ध्वगामिनी, मोचिका, रोचिका, दीपिका, इन्धिका । (इनमें से पाँच शाक्त भुवन हैं । शेष पाँच भुवन नादोर्ध्व भुवन हैं ।) शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, निवृत्ति । (ये बैन्दवपुर कहलाते हैं ।)

२. शान्तिकला (शुद्धतत्त्व)	३. सदाशिव तत्त्व—१ भुवन	भुवन
	४. ईश्वरतत्त्व —८ भुवन	शिखण्डी, श्रीकण्ठ, त्रिमूर्त्ति, एकनेत्र, एकरुद्र, शिवोत्तम, सूक्ष्म, अनन्त ।
	५. शुद्ध विद्यातत्त्व—९ भुवन	मनोन्मनी, सर्वभूत, दमनी, बलप्रमथनी, बलविकरणी, कलविकरणी, काली, रौद्री, ज्येष्ठा, वामा ।
	१८ भुवन	
३. विद्याकला (शुद्धाशुद्ध तत्त्व)	६. माया —८ भुवन	अङ्गुष्ठमात्र, ईशान, एकेक्षण, एक-पिङ्गल, उद्भव, भव, वामदेव, महाद्युति।
	७. काल —२ भुवन	शिखेश, एक वीर ।
	८. कला —२ भुवन	पञ्चान्तक, शूर ।
	९. विद्या —२ भुवन	पिङ्ग, ज्योति ।
	१०. नियति —२ भुवन	संवर्त, क्रोध ।
	११. राग —५ भुवन	एकशिव, अनन्त, अज, उमापति, प्रचण्ड ।
४. प्रतिष्ठाकला	१२. पुरुष—६ भुवन	एकवीर, ईशान, भव, ईश, उग्र, भीम, वाम ।
	१३. प्रकृति—८ भुवन	श्रीकण्ठ, औम, कौमार, वैष्णव, ब्रह्म, भैरव, कृत, अकृत ।
	१४. बुद्धि—८ भुवन	ब्राह्म, प्रजेश, सौम्य, ऐन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच ।
		स्थलेश्वर

मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल—१३ से ३५ क्रमांक के तत्त्व।
(क) प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका का एक भुवन, स्थूलेश्वर भुवन ।
(ख) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ = इन पाँचों का एक भुवन = शंकुकर्ण ।
(ग) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के पाँच भुवन = कालंजर, मण्डलेश्वर, माकोट, द्राविड, छगलाण्ड = पाँच भुवन ।

(३२) आकाश —	८	स्थाणु, स्वर्णाक्षि, भद्रकर्ण, गोकर्ण, अविमुक्त, रुद्रकोटि, वस्त्रपाद ।
(३३) वायु—	८	भीमेश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश्वर, नल, नाकल, कुरुक्षेत्र, गया ।
(३४) अग्नि—	८	भैरव, केदार, महाकाल, मध्यमेश, अभ्रातक, जल्पेश, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र ।
(३५) जल—	८	लकुलीश, पारभूति, डिण्डी, मुण्डी, विधि, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, अमरेश ।
		५६ भुवन

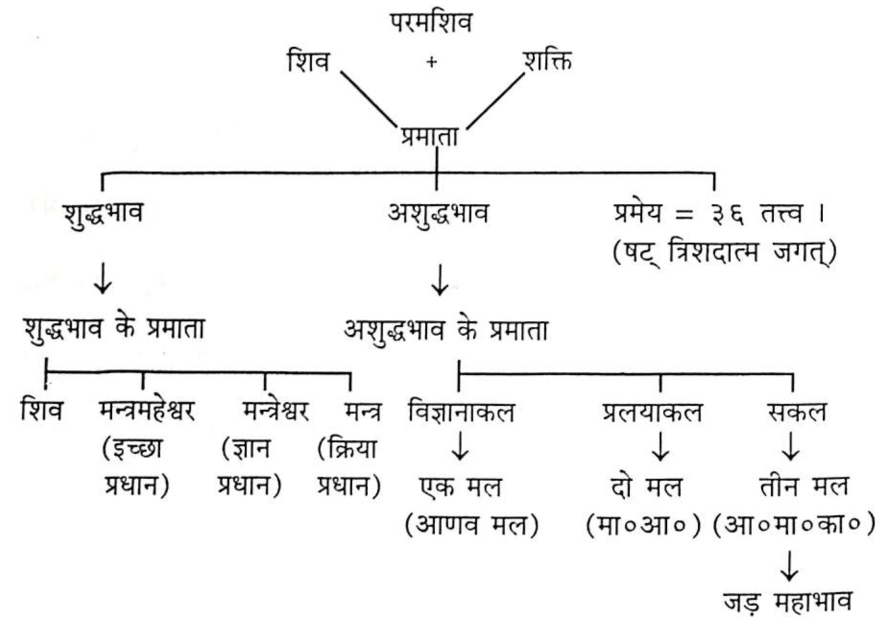
५. निवृत्ति कला (अशुद्ध तत्त्व)	पृथ्वी तत्व भुवन भद्रकाली से कालाग्नि तक सबका योग २२४ भुवन

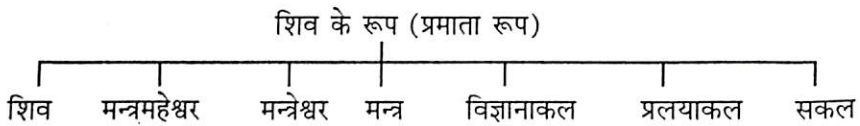
सृष्टि

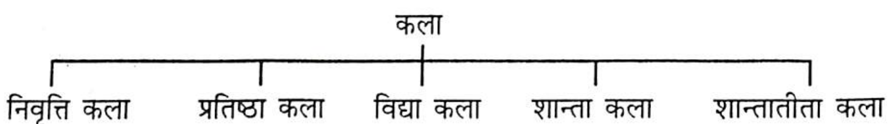
परमशिव से प्रकट तत्त्वद्वय—

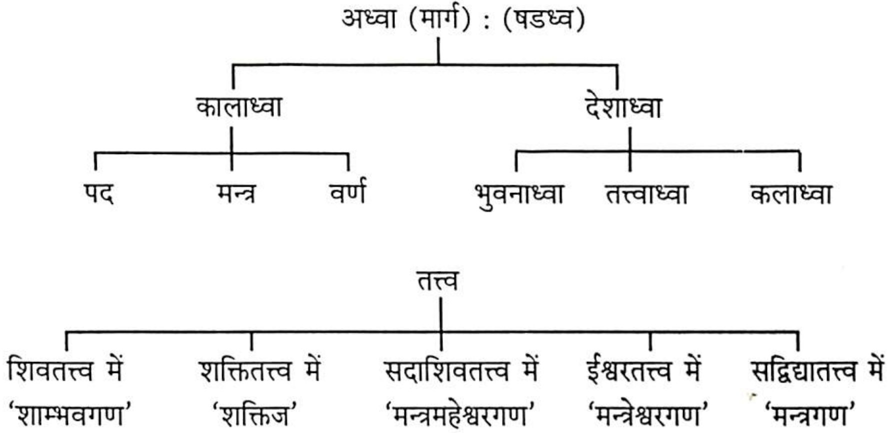
(१) शिव : (शैव महाभाव) नित्य चिदात्मा परप्रमाता

(२) शक्ति : शाक्त महाभाव









(१)	(२)	(३)	(४)
इच्छा	ज्ञान	क्रिया	३ = शक्तियाँ
मन्त्रमहेश्वर	मन्त्रेश्वर	मन्त्र	३ = शक्तियों के गृहीता

परमशिव (विश्वातीत + विश्वमय) से अतीस सत्ता

परमशिव (प्रकाश) + परमशिव का स्वतन्त्र स्वभाव (विमर्श)

प्रमाता (७) प्रमेय (३६)

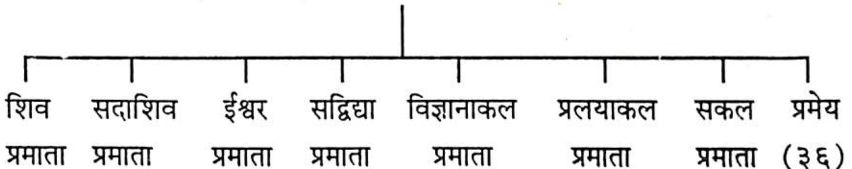
परमशिव का अपने भीतर स्वेच्छा से विश्ववैचित्र्य का अवभासन (सृष्टि) = (अवरोह क्रम)—परमेश्वर → अभेद → भेदाभेद → भेद (अवरोहक्रम से स्वातंत्र्य के स्फाररूप विश्व का अवभासन)

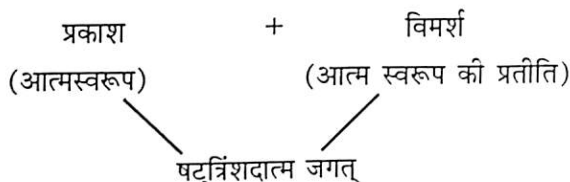
पूर्णाहन्ता के आनन्द में स्वतन्त्र तथा अहर्निश स्पन्दमान + स्वभाव 'विमर्श' । 'प्रकाश' की 'इच्छा' → आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति हेतु आत्मस्वरूप का प्रमातृ + प्रमेय के रूप में अवभासन = 'शक्तिस्फार' ।

(परमशिव के आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति = सृष्टि)



= (७ प्रमाता) = प्रमाता के रूप में अभिव्यक्ति





(१) प्रकाश = (आत्मा का स्वरूप)।
(२) विमर्श = (प्रकाशस्वरूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीति) = (परम शिव का पूर्ण अहम्)
(३) परमशिव = शिव (प्रकाश) + विमर्श (शक्ति) का नित्य सामरस्य।
शक्ति = आत्मारूपी परम शिव का विमर्श।
(४) परमेश्वर की इच्छा (स्वातंत्र्य) = परोन्मुखी इच्छा (जीवों की इच्छा से शून्य, अन्योन्मुख इच्छा-रहित =) स्वात्मस्वरूप में विश्रान्त इच्छा (अनन्योन्मुखता से विशिष्ट इच्छा) = निराशंसता (आकाक्षाशून्यता) रूप पूर्ण स्वातंत्र्य से युक्त।

अहम्परामर्श के स्तर पर सृष्टि-विकास

अहम्भाव का स्वस्वरूप—'अहम्भाव' का स्वरूप क्या है? उत्पलदेवाचार्य 'अजडप्रमातृसिद्धि' में कहते हैं—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः।

प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही वास्तविक अहम्भाव है। इसे इस प्रकार भी (उत्पलदेवाचार्य के शब्दों में) कह सकते हैं कि जो स्वस्वरूप में विश्रान्ति है और वहाँ जो अन्तर्विमर्श है, वही अहं है—

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्। (अजड० १५)

इस अहंबोध या अहम्भाव के विशिष्ट लक्षण क्या हैं?

(क) यह प्रकाश की आत्मविश्रान्ति है।

(ख) इसके अस्तित्व के लिए किसी की भी अपेक्षा नहीं है।

(ग) इसे स्वातन्त्र्य 'कर्तृत्व' मुख्यैश्वर्य एवं ईश्वरता प्राप्त है—

उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ॥ (अजड० २३)

(घ) यह चींटी से लेकर शिव तक प्रसृत है और आत्मा का एक सहज धर्म है। यह उसका सहज स्वभाव है, यह 'चैतन्यात्मा' का लक्षण या उसका स्वस्वरूप है।

अहंपरामर्श के प्रकार—इसके दो प्रकार हैं—शुद्ध अहंपरामर्श एवं अशुद्ध (मायीय) अहं परामर्श।

१. शुद्ध अहंपरामर्श—विश्व से अभिन्न रूप में विद्यमान संविन्मात्र में या विश्व की छाया से अस्पृष्ट स्वच्छ आत्मा में अवस्थित।

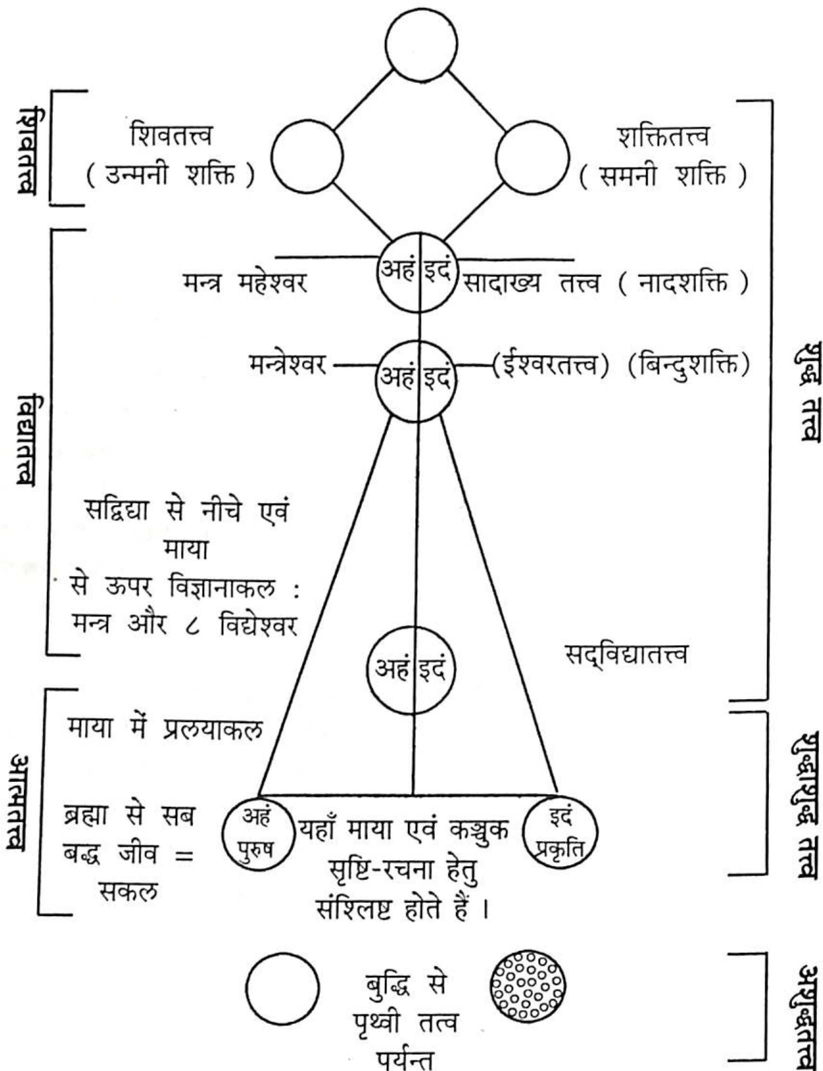
२. मायीय या अशुद्ध परामर्श—वेद्य स्वरूप, देह, बुद्धि, प्राण एवं शून्य आदि को आत्मबल के रूप में स्वीकार करने वाला।

'विज्ञानभैरव' (६२) में इस उत्कृष्ट अहंपरामर्श का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदय: ॥ (६२)
विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन् ।
दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत्॥ (१०२)
सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपद् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥

पूर्णाहन्ता—समस्त विश्व को अपने अहं में सम्मिलित करना, विश्व को अपने अहं का एक अंश मानना, अपनी विश्वात्मकता (विश्वमयता) की अनुभूति ही अहम्भाव की यथार्थ अनुभूति है । यहाँ 'विश्वाहन्ता' या 'पूर्णाहन्ता' साधना का लक्ष्य है और भेदस्तरीय सृष्टि को अतिक्रान्त करके अभेदस्तरीय अद्वैतभूमि में पदार्पण है । 'अहं' = 'अ' = प्रकाश, 'ह' = विमर्श । 'पूर्ण अहं' परमेश्वर का नित्य सिद्ध निज स्वरूप है । पूर्ण अहं (पूर्णाहन्ता) एक, अभिन्न, चैतन्य स्वरूप (इदन्ताशून्य) है तथा यही है—पूर्णत्व, परमेश्वरत्व या परमशिवभाव । वेदान्त का ब्रह्म अहंशून्य है; अत: उसमें पूर्णाहन्ता नहीं है । 'पूर्णाहन्ता' में अहम्भाव का पूर्णत्व है और इदम् भाव का अभाव है । सम्पूर्ण पूर्णाहम्भाव मातृकामय है; क्योंकि 'अ' से 'ह' के मध्य समस्त मातृकायें एवं सम्पूर्ण वर्णमाला आ जाती है । 'अ' से 'ह' तक का महामण्डल मातृकामण्डल है । 'पूर्णाहन्ता' में स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप से अवस्थित है । इसी स्वातन्त्र्य का नाम है—'परा वाक्' या 'महामातृका' । मातृका ही प्रत्यवमर्शकारिणी शक्ति है अर्थात् प्रकाश अपने को प्रकाशरूप में तभी पहचान सकता है, जब उससे मातृका जुड़े । इसी की सहायता से सारी सत्तायें प्रकाशित होती हैं ।

महासृष्टि और पूर्णाहन्ता—पूर्णाहन्ता में मात्र चैतन्यस्वरूप पूर्ण अहं अवस्थित है, इदम् भाव नहीं । 'इदन्ता' स्वातन्त्र्य बल से सृष्टिमुख में उत्पन्न होती है । इसी सृष्टि का नाम है—महासृष्टि । जो कुछ है, पहले था या भविष्य में होगा—वह सब-कुछ नित्य रूप में इसी महासृष्टि में अवस्थित रहता है । वहाँ काल, वर्तमान, भूत एवं भविष्य भी नहीं है । यह अवस्था भी पूर्णावस्था नहीं है; क्योंकि सङ्कुचितावस्था है । कारण यह है कि यह न तो 'इदं' रूप में भासित है और न ही 'अहं' रूप में । पूर्णाऽहं → महासृष्टि, पूर्णोऽहं की अनुभूति → महासृष्टि का अन्त । सृष्टि-वृक्ष निम्नानुसार है—



(सर जान वुडरफ के 'षडध्व' की दृष्टि से प्रस्तुत)

षडध्व (षडध्वविज्ञान)

वर्ण | पद | मन्त्र (पदसमूह) | कला | तत्त्व | भुवन

कला	तत्त्व	भुवन/तत्त्वावस्था
१. शान्त्यतीता कला	१. शिवतत्त्व	१०
	२. शक्तितत्त्व	०५
	शुद्ध तत्त्व	१५
२. शान्तिकला	३. सदाशिवतत्त्व	०१
	४. ईश्वरतत्त्व	०८
	५. शुद्ध विद्यातत्त्व	०९
		१८
३. विद्याकला	६. माया, ७. काल, ८. कला, ९. विद्या, १०. नियति, ११. राग, १२. पुरुष शुद्धाशुद्ध तत्त्व	
४. प्रतिष्ठाकला	प्रकृति से जलपर्यन्त १३-३५ (अशुद्ध तत्त्व)	
५. निवृत्तिकला	३६ पृथ्वी (अशुद्ध तत्त्व)	

'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थ में वुडरफ ने एक भूल की थी। वहाँ उन्होंने शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्व को शिव, विद्या एवं आत्मतत्त्व का नामान्तर मान लिया था; किन्तु ऐसा है नहीं। शुद्ध तत्त्व में वे सभी तत्त्व स्थित हैं, जो उसके कोष्ठक में हैं। शिवतत्त्व में शुद्ध तत्त्वों में मात्र दो तत्त्व हैं। शुद्धतत्त्वों में तो शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर एवं विद्या सभी तत्त्व सम्मिलित हैं।

अध्वा और प्रमाता

अध्वा (सृष्टि)

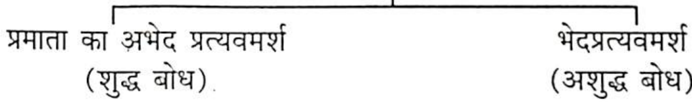
शुद्ध अध्वा	अशुद्ध अध्वा
शिवतत्त्व से शुद्ध विद्यातत्त्व तक के प्रमाताओं की सृष्टि। माया से ऊपर की सृष्टि। इसके निर्माता हैं— साक्षात् भगवान् शिव। इसका प्रमाता मितात्मक नहीं, चिदात्मक (विश्वप्रमातास्वरूप) होता है। प्रमाता = 'शुद्धप्रमाता'। उनकी सृष्टि = 'शुद्धविद्या'। 'शुद्धाध्वा' में 'अहंरूपप्रमाता' + 'इदम्रूप' प्रमेय की चिन्मात्ररूपता में विश्रान्ति लेता है। १. यहाँ अहंरूप प्रमाता और इदम् रूप प्रमेय की चिन्मात्रता में विश्रान्ति, २. विश्वप्रमाता सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से 'इदं' रूप विश्व प्रमेय को 'अहमिदमस्ति' (यह विश्व मैं हूँ) भाव से प्रत्यवमृष्ट करता है। वेदक अपने को शरीर, बुद्धि आदि से उत्तीर्ण चैतन्यरूप समझते हुए चिन्मय वेद्यों को 'इदम्' भाव से देखते हुए उन्हें जड़ न समझकर आत्मवत् चिद्रूप समझता है। चिद्रूप को चिद्रूपप्रत्यवमृष्ट करना 'शुद्धविमर्श' है। वस्तु को यथावस्तु रूप में देखना या जानना 'शुद्ध ज्ञान' है। उसे विपरीत रूप में जानना (प्रत्यवमर्श) अशुद्धता है। प्रमाताओं के उक्त शुद्ध विमर्श के ही कारण परमशिव का आदि सर्ग 'शुद्धाध्वा' कहलाता है। यह कर्मसिद्धान्त से निरपेक्ष सृष्टि है। 'शिवप्रमाता' → पूर्णतः मलोत्तीर्ण प्रमाता = शुद्ध प्रमाता। ईश्वर में स्थित प्रमाता → मन्त्रेश्वर प्रमाता प्रमाता = शाम्भव। शक्तिज। मन्त्रमहेश्वर। मन्त्रनायक। मन्त्र।	(मायातत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक की सृष्टि) = 'मायीय सृष्टि'। इसमें माया का प्राधान्य रहता है। 'अघोरेश' द्वारा माया की सहायता से मायिक जगत् की सृष्टि। माया से पृथ्वीतत्त्व की सृष्टि 'अशुद्ध अध्वा' कहलाती है। माया (द्वैत या भेददृष्टि) का प्राधान्य → (माया भेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु') माया के स्वरूपतिरोधानकारी प्रभाव से प्रमाताओं का स्वरूप-विपर्यास → अपने सर्वज्ञातृत्व + सर्वकर्तृत्व एवं चिद्रूपता को भूलकर शरीर, बुद्धि, आदि जड़ वेद्यरूपों में अहन्ताभिमान भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतया-नात्मनीक्षते। शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)। चिन्मय भावों को अपने से भिन्न अचिद्रूपों में (परिमित प्रमाता द्वारा) परामर्श।

शुद्धाध्वा = शिवतत्त्व से शुद्धविद्या तत्त्व

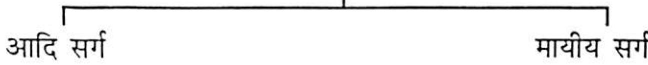
शाम्भव — शाक्त — मन्त्रमहेश्वर — मन्त्रेश्वर — मन्त्र

शाम्भवा शाक्ता मन्त्रमहेश्वरा मन्त्रेश्वरा मन्त्रा इति शुद्धाध्वा। इयति साक्षात् शिवः कर्ता— (तन्त्रसार आ० ८)

सृष्टि (का० शैव दार्शनिक)

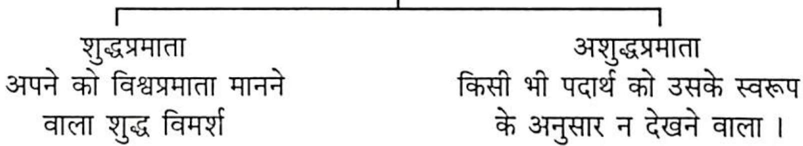


'अध्वा' = सृष्टि (तन्त्रा० टीका)



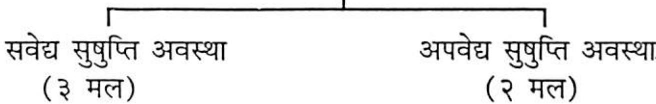
प्रत्यवमर्श की शुद्धता एवं अशुद्धता द्वारा ही शुद्ध अध्वा एवं अशुद्ध अध्वा का निर्णय।

प्रमाता

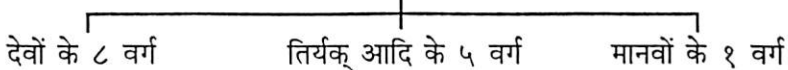


विज्ञानाकल प्रमाता—आणवमलमात्र से उपहित।

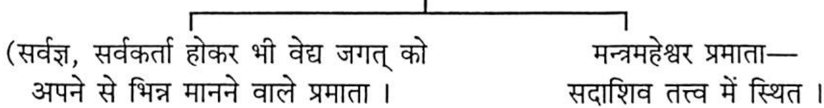
प्रलयाकल प्रमाता



सकल प्रमाता



विद्येश्वर प्रमाता



क्षीयमाण आणव मल की अवस्थायें—१. किञ्चिद् ध्वस्यमान २. ध्वस्यमान ३. किञ्चिद् ध्वस्त ४. ध्वस्त।

इसी क्रम में प्रमाता—१. मन्त्र २. मन्त्रेश्वर ३. मन्त्रमहेश्वर ४. शिव।

विश्व-प्रपञ्च के स्तरत्रय

अद्वयवादी आगमिकों के अनुसार विश्वसृष्टि के तीन स्तर हैं—

१. अभेदभूमि—परमशिव।

२. भेदाभेदभूमि—शिव-शक्ति से शुद्धविद्या ।
३. भेदभूमि—माया से पृथ्वीतत्त्व ।

(क) अभेदभूमि—१. विश्वोत्तीर्ण शिव = परमशिव । इच्छा का प्रथम स्पन्दशक्ति—विश्वात्मा विश्व का बीजात्मना अवस्थान ।

२. सदाशिव—विश्व की अंकुरायमाण स्थिति या अस्फुट स्थिति ।

(ख) भेदाभेदभूमि—१. ईश्वर—विश्व की अंकुरित स्थिति या स्फुट स्थिति ।

२. शुद्धविद्या—विश्व की स्फुटतर स्थिति और सर्वत्र प्रकाशमयता ।

(ग) भेदभूमि—मायाभूमि—प्रमाता चिन्मय, किन्तु प्रमेय जड़ ।

अभेदभूमि—इस भूमि में शिव शक्त्यात्मना स्थित हैं । वहाँ का प्रत्यय या परामर्श 'अहं' या 'अहमस्मि' है । यहाँ 'इदम्' का सर्वथा अभाव है ।

भूमित्रय—	१. अभेदभूमि	: अहमस्मि	तत्त्व = पदार्थ—शक्ति, शक्तिमान
	२. भेदाभेदभूमि	: अहमिदम्	
	३. भेदभूमि	: इदमहम्	शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।

अभेदभूमि— द्वयात्मक अद्वय की समरसत्व की तत्त्वातीतावस्था ।
= परमशिव । (व्यपदेष्टुमशक्यासौ अकथ्या परमार्थत: । (विज्ञानभैरव) ।

यहाँ न तो शिव का पता है और न ही शक्ति का । न तो यह स्थिति विश्वात्मक है और न ही विश्वोत्तीर्ण ।

शिव का स्वरूप—

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम् ।
इच्छासंवित्किरणैर्निर्भरितमनन्तशक्तिपरिपूर्णम् ॥
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धशान्तं लयोदयविहीनम् ।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत् ॥

शिव प्रकाशस्वरूप (भारूप); स्वात्मविश्रान्त होने के कारण महानन्द, इच्छा-ज्ञान एवं क्रिया से परिपूर्ण, अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण, समस्त विकल्पों से रहित, विशुद्ध, प्रशान्त, उत्पत्ति-प्रलय से शून्य, (कार्ममलों की वासना प्रक्षीण रहने के कारण विमलीकृत, बुद्धिरूपी मुकुर में प्रकाशस्वरूप एवं सर्वज्ञतादि गुणों से युक्त आत्मा ही शिव है, जिसमें षट्त्रिंशदात्मक जगत् निहित है ।

यह (शिव) तत्त्व निर्मल धीतत्त्व (बुद्धि) में रहता है—

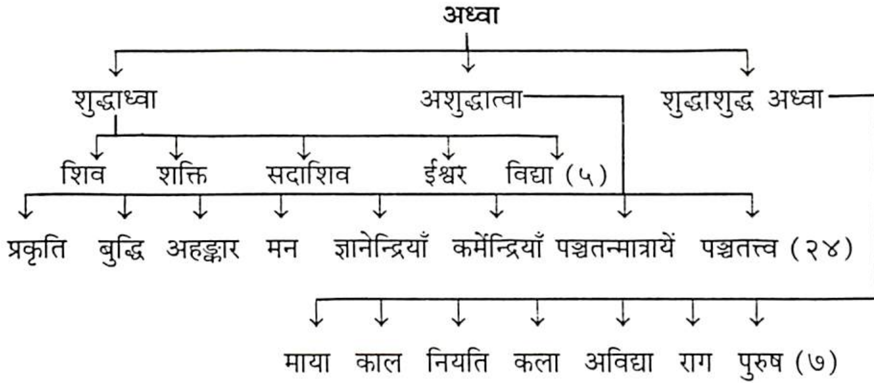
आदर्शे मलरहिते यद्वहवदनं विभाति तद्वदयम् ।
शिवशक्तिपातविमले धीतत्त्वे भाति भारूप: ॥

जिस प्रकार स्फटिक तो एक ही रहता है, किन्तु वह अनेक रंगों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सुर, मनुष्य, पशु आदि अनेक रूपों को धारण कर लेता है ।

यह शिव सर्वालय सर्वचराचरस्थ आदि गुणों से युक्त है—

सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये ।

विश्व का विकास एवं उसका वर्गीकरण—विश्व-विकास में अध्वानुरूप क्रम स्थापित है—



तत्त्व	प्रमाता एवं अवस्थायें
१. पृथ्वी से पदार्थपर्यन्त	१. स्वरूप सकल स्तर (प्रमाता एवं अवस्था) (क) स्वरूप सकल शक्ति = जाग्रदवस्था । (ख) प्रलयाकल = स्वप्नावस्था । (ग) विज्ञानाकल = सुषुप्ति अवस्था । (घ) मन्त्र-मन्त्रेश-मन्त्रमहेश = तुरीयावस्था । (ङ) शिव-शक्ति = तुरीयातीतावस्था ।
२. पुरुष से कला तत्त्व	२. सकल स्तर (क) सकल = जाग्रदवस्था । (ख)-(ङ) यथापूर्व
३. माया तत्त्व	३. प्रलयाकल स्तर (क) प्रलयाकल = जाग्रद अवस्था । (ख) विज्ञानाकल शक्ति = स्वप्नावस्था । (ग)-(ङ) यथापूर्व
४. मायोद्ध्र्व	४. विज्ञानाकल स्तर (क) विज्ञानाकल = जाग्रत अवस्था । (ख) मन्त्र = स्वप्नावस्था । (ग) मन्त्रेश = स्वप्नातीतावस्था । (घ) मन्त्रमहेश = तुरीयावस्था । (ङ) यथापूर्व
५. शुद्धविद्या	५. मन्त्रस्तर (क) मन्त्र = जागृति की अवस्था । (ख) मन्त्रेश = स्वप्नावस्था । (ग) मन्त्रमहेश = स्वप्नातीतावस्था । (घ) शक्ति = तुरीयावस्था । (ङ) शिव = तुरीयातीतावस्था ।

६. ईश्वर	६. मन्त्रेश स्तर (क) मन्त्रेश = जागृति की अवस्था । (ख) मन्त्रमहेश शक्ति = स्वप्नावस्था । (ग) मन्त्रमहेश = स्वप्नातीतावस्था । (घ)-(ङ) यथापूर्व ।
७. सदाशिव	७. मन्त्रमहेश स्तर (क) मन्त्रमहेश = जागृति की अवस्था । (ख) क्रियाशक्ति = स्वप्नावस्था । (ग) ज्ञानशक्ति = स्वप्नातीतावस्था । (घ) इच्छाशक्ति = तुरीयावस्था । (ङ) शिव = तुरीयातीतावस्था ।
८. अभिन्न स्थिति	८. शिवस्तर (क) क्रियाशक्ति = जाग्रदवस्था । (ख) ज्ञानशक्ति = स्वप्नावस्था । (ग) इच्छाशक्ति = स्वप्नातीतावस्था । (घ) आनन्दशक्ति = तुरीयावस्था (ङ) चित् शक्ति = तुरीयातीतावस्था ।

अवस्थाओं के अन्य पर्यायवाची शब्द

(क) जाग्रत् = पिण्डस्थ = सर्वतोभद्र ।
(ख) स्वप्न = पदस्थ = व्याप्ति ।
(ग) सुषुप्ति = रूपस्थ = महाव्याप्ति ।
(घ) तुरीय = तुर्य = प्रचय = रूपातीत ।
(ङ) तुरीयातीत = महाप्रचय ।

१. शिवतत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तक के प्रमाताओं की सृष्टि = 'शुद्धाध्वा' । शुद्धाध्वा माया से ऊपर की सृष्टि है । इसके कर्ता साक्षात् भगवान् शिव हैं । यह आदि सर्ग परमशिव की स्वतन्त्र इच्छामात्र पर निर्भर है और कर्मसिद्धान्त-निरपेक्ष है ।

२. शुद्धाध्वा (आदि सर्ग) का प्रमातृवर्ग मितात्मक न होकर, चिदात्मक एवं विश्वप्रमातृरूप है । ये प्रमाता 'शुद्धप्रमाता' के नाम से प्रख्यात हैं । इनकी दृष्टि को 'शुद्धविद्या' कहा जाता है ।

३. शुद्धाध्वा में 'अहंरूप प्रमाता एवं 'इदम्' रूप प्रमेय की एकचिन्मात्ररूपता में विश्रान्ति होती है । विश्वप्रमाता सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से इदम् (विश्व प्रमेय) को 'अहमिदमस्मि' (यह विश्व मैं हूँ) भाव से प्रत्यवमृष्ट करता है ।

४. यह चिन्मात्र वेद्यों को 'इदंभाव' से देखते हुए भी उन्हें अचिद्रूप (जड़) न समझकर आत्मा के सदृश उन्हें चिद्रूपात्मक (चैतन्यस्वरूप) ही समझता है । चिद्रूपात्मक को चिद्रूपात्मक प्रत्यवमृष्ट करना ही 'शुद्धविमर्श' कहलाता है । जिस पदार्थ का जो स्वरूप है, उसे उसी स्वरूप में जानना एवं देखना 'शुद्ध ज्ञान' है । प्रमाताओं के इस शुद्ध विमर्श के कारण ही परमशिव का आदिसर्ग 'शुद्ध अध्वा' कहा जाता है ।

५. शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्ध विद्या—इन पाँच तत्त्वों का विकास ही 'शुद्धाध्वा' के नाम से अभिहित किया जाता है । इसे साक्षात् शिव अपनी इच्छा-मात्र से अभिन्न रूप में इस तत्त्वपञ्चक को आभासित करते हैं । अत: इसे 'शुद्धाध्वा' कहते हैं ।

६. शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्ध विद्या—तत्त्व प्रमेय हैं । इन शक्तियों के प्रमाता हैं—१. शाम्भव, २. शक्तिज, ३. मन्त्रमहेश, ४. मन्त्रनायक, ५. मन्त्र ।

शाम्भवा: शक्तिजा: मन्त्रमहेशा मन्त्रनायका: ।
मन्त्रा इति विशुद्धा स्युरमी पञ्च गणा: क्रमात् ॥

'तन्त्रालोक' में अभिनवगुप्त कहते हैं—

तदेवं पञ्चममिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ॥

अशुद्धाध्वा—माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक की नि:शेष सृष्टि 'अशुद्ध अध्वा' कही जाती है । इसे ही 'मायीय सृष्टि' भी कहा जाता है । यह सृष्टि माया की सहायता से ३१ तत्त्वों की सृष्टि—माया की सहकारिता से अघोरेश, अघोर या अनन्त द्वारा निष्पादित की जाती है ।

मायीय प्रमाता का शरीरादिक अनात्म तत्त्वों में होने वाला अहंरूप विकल्प 'अशुद्ध प्रत्यवमर्श' कहलाता है । नितप्रमाताओं के अशुद्ध प्रत्यवमर्श के कारण ही मायीय सृष्टि को 'अशुद्धाध्वा' कहा जाता है । 'अशुद्धाध्वा' में चौबीस तत्त्व अन्तर्निविष्ट हैं, जो कि निम्नांकित हैं—

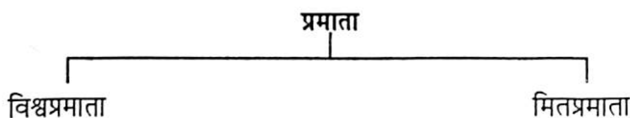
१. प्रकृति, २. बुद्धि ३. अहङ्कार, ४. मन, ५. ज्ञानेन्द्रियाँ-५, ६. कर्मेन्द्रियाँ-५, ७. पञ्च तन्मात्रायें-५, ८. महाभूत-५ = २४ तत्त्व ।

चैतन्य के तारतम्य में तत्त्वों की स्थिति—शिवतत्त्व में—चैतन्य का प्राधान्य ।

(क) चैतन्य का प्राधान्य = शुद्धतत्त्व शक्तितत्त्व में—आनन्द का प्राधान्य ।

(ख) चैतन्य का अप्राधान्य = अशुद्धतत्त्व शिवतत्त्व — अहन्ता की बहिर्मुखता ।
= प्रच्छन्न रूप में चैतन्य की विद्यमानता । शक्तितत्त्व—अहन्ता की बहिर्मुखता ।

(ग) शुद्धाध्वा का प्रमाता—'शुद्धाध्वा' का विश्वप्रमाता (शुद्ध विद्या की दशा में) स्वयं को शुद्ध प्रकाशरूप में अनुभव करता है तथा 'इदंरूप' में अवभासित वेद्यरूपों को भी अपने से अभिन्न अर्थात् प्रकाशस्वरूप ही समझता है; किन्तु 'अशुद्ध अध्वा' में मायाशक्ति उसके स्वयंप्रकाश स्वभाव का तिरोधान कर देती है । अत: शून्य, बुद्धि, शरीर आदि अचिद्रूपों में उसके प्रमातृभाव को दृढ़ कर देती है । मायाशक्ति के द्वारा विश्वप्रमाता, परिमित प्रमाता बन जाता है । प्रमाताओं के दो प्रमुख वर्ग हैं ।



जैसे ही पूर्ण प्रकाश का तिरोधान होता है, वैसे ही शरीरादिक जड़ पदार्थों में आत्मबुद्धि का उदय हो जाता है।

मायाशक्ति → अनात्मरूपों में आत्मभाव का परामर्श अर्थात् स्वरूप-विपर्यास → चिन्मय भावों को भी अपने से पृथक् सर्वथा भिन्न एवं जड़ रूप में देखने लगना। प्रकाश की परिच्छिन्नता ही तो जड़ता है। मायाशक्ति के तीन पाश हैं—१. आणव, २. मायीय एवं ३. कार्म। माया शिव की एक व्यापिका एवं अभिन्ना शक्ति है, जिससे शिव भेदभूमिका पर अवतरित होकर भेदावभास की क्रीड़ा किया करता है। पूर्णता में स्थित 'शिव' ही सङ्कोच ग्रहण करने के कारण 'जीव' बन जाता है। यही है—शिव एवं जीव में मुख्य भेद। इसी के कारण उस शिव की अमित, अप्रतिबन्धित, अनन्त शक्तियाँ सङ्कुचित हो जाती हैं और फिर स्थिति इस प्रकार हो जाती है—

सर्वकर्तृता	सर्वज्ञता	नित्यता	पूर्णता	स्वातन्त्र्य/पूर्ण व्यापकता
परिमित कर्तृत्व (कला)	सङ्कुचित ज्ञातृता (अल्पज्ञातृत्व) विद्या = अशुद्ध विद्या)	काल (सादि सान्त-कालखण्डों का दासत्वग्रहण)	राग (अल्प तृप्ति, अतृप्ति, अल्पतुष्टि)	नियति

शक्ति-सङ्कोच (जीवात्मा के पूर्ण स्वस्वरूप की आवृत्ति, आवरण) → माया, कला, विद्या, काल, राग, नियति—'आवरण' (षट्कचुक)।

माया के स्पन्दन—बधन, पाश, षट्कचुक। 'पञ्चकचुक' भी कहे जाते हैं; किन्तु उसी में 'माया' जोड़ देने पर 'षट्कञ्चुक' भी कहे जाते हैं।

परमशिव और शिव—परमशिव में शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

परमशिव में चिति शक्ति का प्राधान्य होने पर परमशिव 'शिवतत्त्व' कहलाने लगता है। शिवतत्त्व के परप्रमाता का शुद्ध आद्यविमर्श है। 'अहं' शिवतत्त्व में प्रमेय नहीं है। शिवतत्त्व परप्रमाता का प्रत्यय 'अहं' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

छत्तीस तत्त्व

१. 'ऐं' = आत्मतत्त्व = १. शिवतत्त्व २. शक्तितत्त्व = २
२. 'ह्रीं' = विद्यातत्त्व = १. सदाशिव, २. ईश्वर, ३. शुद्धविद्या = ३
३. 'क्लीं' = शिवतत्त्व = ६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग,
१० काल, ११. नियति, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. बुद्धि,
१५. अहङ्कार, १६. मन, १७-२१. श्रोत्र, त्वक्, नासिका, चक्षु, जिह्वा
(५ ज्ञानेन्द्रियाँ), २२-२६. वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (५ कर्मेन्द्रियाँ),

२७-३१. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध (५ विषय), ३२-३६. आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी (५ महाभूत)। = ३१

सत्ता के दो पक्ष

विश्वमय	विश्वोत्तीर्ण
(शक्ति)	(परमशिव)
(३६ तत्त्व)	(तत्त्वातीत)

शक्ति—शक्ति विश्वमय है । विश्व के समस्त पदार्थ शक्तिरूपात्मक हैं । विश्वोत्तीर्ण शिवतत्त्व की विश्वोन्मुखता ही 'शक्तितत्त्व' है । परप्रमाता की 'अहमस्मि' की अनुभूति शक्तितत्त्व का ही परिचायक है । शक्ति परमशिव का प्रथम स्पन्द है—'अस्य जगतः स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम् ।' यही इच्छा शक्तितत्त्व है । परमेश्वर में जो सिसृक्षा का भाव है, वही उसे 'शक्तितत्त्व' के रूप में रूपान्तरित कर देता है । शक्तितत्त्व समग्र विश्व का बीज है । शिव में विश्वसृष्टि की इच्छा का उन्मेष ही शक्तितत्त्व है । शक्ति के विना शिव में स्पन्दन भी सम्भव नहीं है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

वस्तुतः शिव एवं शक्ति में चन्द्रमा एवं चन्द्रिका की भाँति अभेद है । दोनों में अग्नि एवं दाहकता शक्ति के समान तादात्म्यभाव है ।

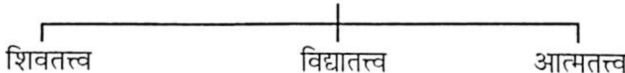
तत्त्व और उनका विकास

जगत् का विकास = चैतन्य के उत्तरोत्तर घटने एवं जड़ता के उत्तरोत्तर बढ़ने से निःशेष जगत् और उसका अनन्त प्रसार (जड़-चेतन सारी सत्तायें) शक्ति एवं शक्तिमान के ही उल्लसित रूप हैं ।

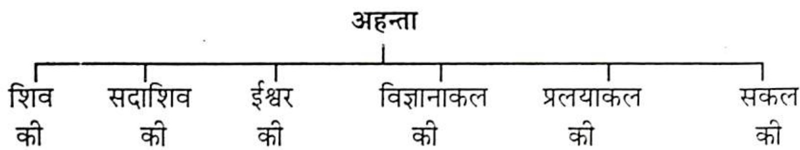
चित् शक्तिरूप जगत् का विकास (अहन्ता की दृष्टि से)

'अहमस्मि'→ (शिव) → अनुभव 'मैं हूँ' तो होता है, किन्तु जगत् का अनुभव नहीं होता—यही अवस्था है (जड़तत्त्व का पूर्णाभाव) । (यहाँ 'मैं' एवं जगत् दोनों अभिन्न हैं ।)	'अहमिदम्'→ (सदाशिव) → 'मैं ही यह हूँ'- इस दशा में मैं प्रधान एवं यह (जड़ जगत्) गौण होता है । यहाँ जगत् एवं मैं दोनों भिन्न-भिन्न नहीं, अभिन्न रहते हैं)	'इदमहं' → (ईश्वर) 'यह मैं हूँ' (यहाँ जड़ जगत् कुछ अधिक प्रभावशील हो जाता है तथापि 'मैं' और 'यह' (जगत्) दोनों अभिन्न रहते हैं ।	शुद्धविद्या → अविद्या (सकल) मैं पृथक् हूँ एवं जगत् पृथक् है । यहाँ जड़ता ज्यादा बढ़ जाती है ।

तत्त्व और उसका विभाजन

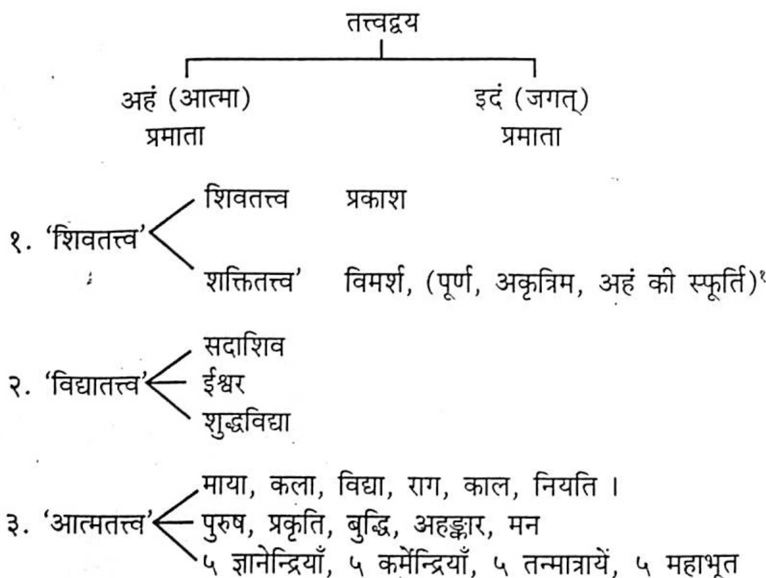


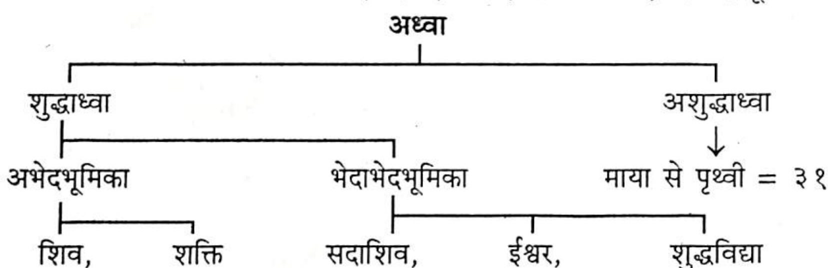
शिवतत्त्व विद्यातत्त्व आत्मतत्त्व



'तत्त्व' क्या है?

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावत: ।
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं युंशिवादयः । (तन्त्रालोक ६।४)





---

१. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम् । (पराप्रावेशिका)
शिव से सद्विद्या='शुद्धाध्वा' । इनके प्रमाता—शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक, मन्त्र ।
शुद्धि = बाह्य (स्फुट) इदन्ता का न होना ।
शाभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ।
मन्त्रा इति विशुद्धा स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात् ।। शिवदशा का प्रमाता = शाम्भवप्रमाता ।

'मन्त्र' = 'अहं' एवं 'इदं' की समकोटिक अनुभूति करने वाला प्रमाता ।

१. इच्छाशक्ति का प्राधान्य एवं ज्ञानोद्रेक—'सदाशिवतत्त्व' = शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्दन = 'सदाशिव तत्त्व' ।

२. शिव का बहिर्मुख स्पन्दन = 'ईश्वरतत्त्व' । इसका अनुभविता = 'मन्त्रेश्वर' । इसका अनुभव = 'इदं' की अनुभूति 'अहं' के रूप में । अहं की अपेक्षा इदं का प्राधान्य । (अहं = आत्मा) (इदं = जगत्) ।

इदं की अनुभूति < अस्फुट अनुभूति = 'सदाशिव' = अहं प्रधान । इदं गौण ।
स्फुट अनुभूति = ईश्वर = अहं की अपेक्षा इदं का प्राधान्य ।

सदाशिव तत्त्व—१. इच्छाशक्ति का प्राधान्य होने पर एवं ज्ञान का उद्रेक होने पर शिव का आभासन ही 'सदाशिवतत्त्व' है ।

शिव-शक्ति की अवस्था अभेद की है । उसमें भेद का कुछ भी भान नहीं होता । शिव-शक्ति की अवस्था अभेदावस्था है; किन्तु सदाशिव की अवस्था भेदाभेदावस्था है ।

२. शिव के अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान की, उसके बहिर्मुख स्पन्द में क्रिया की अस्फुट एवं निर्विषयक अभिव्यक्ति होती है । शिव का अन्त:निमेष 'सदाशिवतत्त्व' है और उसका बाह्योन्मेष 'ईश्वरतत्त्व' है ।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव: । (ईश्वर प्रत्य०का०)

इस भूमिका में भी यथार्थ बाह्यता नहीं है । अत: यह शिवतत्त्व से अभेद की भूमिका है; किन्तु आन्तर बहिर्मुखता का अस्फुट आभासन होता है; अत: यह भेद की भूमिका भी है । 'सदाशिव' शिव की भेदाभेद भूमिका है । इस भूमिका का अनुभविता प्रमाता 'मन्त्रमहेश्वर' है । उसकी अनुभूति है—'अहमिदम्' ।

'अहमिदं'—सदाशिव भूमिका, इसका प्रमाता है—'मन्त्रमहेश्वर' । मन्त्रमहेश्वर (प्रमाता) के 'अहमिदं' की अनुभूति में इदं अहं से भिन्न नहीं है । उसी का रूपभेद है, क्योंकि 'इदं' भी आन्तर ही है ।

'अहमिदम्' की प्रतीति में भी 'इदन्ता' अहन्ता से आच्छादित है । 'अहं' (मैं) एवं 'इदं' (जगत्) अंश का अस्फुट उल्लास ही 'सदाशिवतत्त्व' है ।

'तत्र यदा अहं इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता अहमिदम् इति ।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

अस्फुट रेखाओं से उन्मीलित चित्र की भाँति 'सदाशिवतत्त्व' है । इसमें विश्वरूपी चित्र का प्राथमिक आभास तो है, किन्तु वह अंकित नहीं है । शिव-शक्ति की भूमिका सदसद् की भूमिका से परे है । 'सदाशिव' तत्त्व की भूमिका में सत् प्रथमाभिव्यक्ति है । इसे 'सादाख्यतत्त्व' भी कहते हैं—'यत: प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम् । तत्सादाख्यं तत्त्वम् ।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

जगत् का प्रलय इसी अवस्था में आकर पूर्ण हो जाता है । इसीलिए आगमों में इसे 'अन्त:निमेष' कहा जाता है—निमेषोऽन्त: सदाशिव: ।

उत्पलदेवाचार्य ईश्वर एवं सदाशिव में भेद बताते हैं—

१. ईश्वरो बहिरुन्मेषो
२. निमेषोऽन्तः सदाशिवः — प्रत्यभिज्ञाकारिका आगमाधिकार ।

'षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह' में सदाशिव को इस तरह पारिभाषित किया गया है— 'स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य ।' अर्थात् उस परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से प्रकाशित विश्व विशुद्ध अहं की संविन्मात्र का आधार होने के कारण अपने में ही समुल्लास (विकास) करने से सत् नाम वाली सदाशिवावस्था होती है, इसमें इदमंश स्फुट नहीं रहता । इसमें इच्छा का प्राधान्य होता है । यह समस्त भावी भावराशि को बाहर निःसृत करने की इच्छा से इच्छारूप क्रीडा में निरत रहता है ।

शिव कौन है?—

यदयमुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥

ईश्वर कौन है? शुद्धविद्या कौन है—

विश्वं पश्चात् पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः सा ।
भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ॥

ईश्वरतत्त्व

१. क्रियाशक्ति के उद्रेक से ईश्वरतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है । इच्छाशक्ति का प्राधान्य होने पर एवं ज्ञानोद्रेक होने से सदाशिवतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है । शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्दन सदाशिव कहलाता है तथा बहिर्मुख स्पन्दन ईश्वरतत्त्व है । इस भूमिका का अनुभविता प्रमाता मन्त्रेश्वर कहलाता है और इसका अनुभव इदं-अहं के रूप में होता है ।
२. ईश्वरतत्त्व—अहं की अपेक्षा इदम् का प्राधान्य ।
३. सदाशिवतत्त्व—इदं की अपेक्षा अहं का प्राधान्य ।
'अहं' = आत्मा । 'इदं' = विश्व ।
४. अहन्ता की अनुभूति में जब इदन्ता (विश्व) की आन्तर अनुभूति होती है तो वह ईश्वरतत्त्व है । 'अहं' का विमर्श तो दोनों तत्त्वों में होता है; किन्तु 'इदं' अंश की स्फुटता एवं अस्फुटता को लेकर 'सदाशिव' एवं 'ईश्वरतत्त्व' भिन्न-भिन्न माने गये हैं ।

उत्पलदेवाचार्य 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहते हैं कि 'ईश्वरतत्त्व' बहिरुन्मेष है—'ईश्वरो बहिरुन्मेषो' (आगमाधिकार) । प्रमाताओं की दृष्टि से देखें तो 'ईश्वर' प्राणप्रमाता है ।

प्रमाता

शून्यप्रमाता	बुद्धिप्रमाता	प्राणप्रमाता	देह-प्रमाता	मायाप्रमाता =
(अनाश्रित शिव)	(सदाशिव)	(ईश्वर)	(विद्या)	जीव, पशु, सकल प्रमाता

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः ।
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता ॥ (तन्त्रालोक, आ ०६)

शुद्धाध्वप्रमाता

शिव | सदाशिव | ईश्वर | विद्या

मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि शुद्धाध्व प्रमाता हैं ।

सप्तप्रमाता

सत्यप्रमाता= परप्रमाता= 'शिव'	सदाशिव-तत्त्वावस्थित प्रमाता = 'मन्त्रमहेश्वर' 'अणु, सदाशिव'	ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रेश्वर	शुद्धविद्या-तत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्र	शुद्धविद्या के नीचे और माया से ऊर्ध्ववर्ती स्थित प्रमाता = विज्ञानाकल	मायातत्त्वा-वस्थित-प्रमाता = प्रलयाकल प्रलयकेवली	माया प्रमाता, परिमित प्रमाता, सङ्कुचित प्रमाता = सकल प्रमाता = जीव

परमेश्वर की इच्छा स्वातन्त्र्यशक्ति से उद्भासित जगत्—इदन्ता को आत्म अहन्ता से आच्छादित करके वर्तमान, समस्त विश्व के अनुग्रह में निरत, इदन्ता के उन्मेष में भी शिवता के वर्तमान रहने के कारण इन्हें 'सदाशिव' कहते हैं । फिर निखिल विश्व को 'इदन्ता' के प्राधान्य से अनुभव करने वाला परमेश्वर 'ईश्वर' कहा जाता है ।

आत्मा के दो अंश है—अहमंश एवं इदमंश । 'अहमंश' ग्राहक एवं प्रमाता कहा जाता है तथा 'इदमंश' ग्राह्य एवं प्रमेय कहा जाता है ।

(क) शिवशक्ति दशा अहंरूप है ।

(ख) सदाशिव दशा में इदन्ता बोध उल्लसित है, किन्तु है अस्फुट । अहन्ता बोध प्रधान है । इदन्ता अहन्ता से आच्छादित है । अहं प्रधान होने से सदाशिव पररूप और 'इदं' के गौणरूप में स्थित रहने के कारण अपर रूप भी है; अत: सदाशिव परापरस्वरूप है ।

सद्विद्या तत्त्व

पाँचवाँ तत्त्व शुद्धविद्या या सद्विद्या है । शुद्धता का अभिप्राय है—स्थूल, स्फुट या बाह्य इदन्ता का न होना । इदन्ता एवं अहन्ता की एक समान स्फुट प्रतीति ही सद्विद्या है । माया-प्रमाता की अनुभूति में 'अहं' एवं 'इदं' पृथक्-पृथक् अधिकारियों के द्योतक होते हैं । 'अहं' = प्रमाता । 'इदं' = प्रमेय (विषय) । शुद्धविद्या की भूमिका में एक ही अधिकरण में 'अहं' एवं 'इदं' दोनों की प्रतीति होती है । इदन्ता और अहन्ता का अभेद-बोध ही 'सद्विद्या' है—'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमति: ।' (षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह श्लोक-३)

एक तुला के दो पलड़ों की भाँति 'अहं' एवं 'इदं' का जहाँ अनुभव हो, वह सद्विद्या का द्योतक है । 'अहमिदं' का शुद्ध परामर्श ही 'सद्विद्या' है । 'शुद्धविद्या' परापर दशा है ।

परापरत्व क्या है ? 'अपरत्व' भावों का अनात्मरूप में भासन है । यह अपूर्णत्व है । 'परत्व' भावों का अहंतारूप से आच्छादित रहना है । 'सद्विद्या' में अनात्मरूप से भासित पदार्थ अहंता से आच्छादित रहते हैं । अत: इसे 'परापर दशा' कहा गया है—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात् ।
परताहन्तयाच्छादात्मपरापरदशा हि सा ।। (ई०प्र०कारिका)

उत्पलदेवाचार्य 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' के आगमाधिकार में कहते हैं कि ईश्वर, सदाशिव एवं सद्विद्या में निम्न भेद हैं—

१. ईश्वरो बहिरुन्मेषो ।—बाह्योन्मेष 'ईश्वर' है ।

२. निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।—आन्तर निमेष 'सदाशिव' है ।

३. सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः ।—दोनों का सामानाधिकरण्य 'सद्विद्या' है ।

उत्पलदेव इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या ।'[१]

ईश्वरभट्टारक परमशिव का अधिकारी रूप है । यह सदाशिव का उन्मेषात्मक (बहिर्मुख) स्वरूप है । सदाशिव तत्त्व के निवासी मुक्तात्माओं में भी आणवमल यत्किंचित् मात्रा में रहता ही आता है ।

विद्यापद या **शुद्धविद्या**—जहाँ 'इदन्ता' एवं 'अहन्ता' का सामानाधिकरण्य हो, उसे 'शुद्धविद्या' कहते हैं ।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।
सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः ।। (प्र०का० ३)[२]

माया और विद्या में भेद क्या है? 'संसारिणामैश्वर्यस्य आत्मनः प्रत्यभिज्ञाने 'विद्या' पशुभावे 'माया' ।[३] 'तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वम् ।'[४] 'यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्वम् ।'[५]

भेदभूमिका

'परापरा अवस्था' से अधो स्तर पर स्पन्दन करता हुआ स्पन्दायमान परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप को प्रच्छादन क्रीड़ा द्वारा भेदस्तर पर अवतरित करके सबसे पहले 'माया' का अवभासन करता है ।

माया—माया भेददशा का अवभासन करने वाली परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति का परवर्ती दूसरा रूप है । स्वातन्त्र्य शक्ति ही भेदावस्था का अवभासन करने पर 'माया' कहलाने लगती है । 'शुद्धविद्या' के स्तर पर 'विश्वप्रमाता' अपने को शुद्ध प्रकाश के रूप में अनुभव करते हुए 'इदं' रूप में अवभासित निःशेष वेद्यरूपों को अपने से अभिन्न प्रकाशरूप ही अनुभव करता है; किन्तु चूँकि 'अशुद्ध अध्वा' में मायाशक्ति विश्वप्रमाता के प्रकाशस्वभाव का तिरोधान कर देती है; फलतः परमेश्वर अपनी स्वरूप गोपनात्मिका इच्छाशक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) द्वारा कल्पित शून्य, बुद्धि, शरीरप्रभृति अचिद् रूपों को स्वस्वरूप मानकर उनका प्रमाता बन जाता है । अतः 'मायाशक्ति' को निम्न लक्षणों द्वारा परिभाषित किया जा सकता है—

---

१. उत्पलदेवाचार्य प्र०का०वृत्ति (३.३) २-३. उत्पलदेव-प्र०का०वृत्ति (३.३)
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२) ५. तन्त्रालोक

१. परमार्थसार— परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ।। १५ ।।

२. परमार्थसार— माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः ।।

३. महार्थमञ्जरी— एकस्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पिनि ।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहिनीशक्तिः ।।

४. षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह— माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञविमर्शिनी—मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति मोहो मायाशक्तिः ।

६. महार्थमञ्जरी-टीका—माया नाम तस्य (परमेश्वरस्य) उत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम् ।

माया प्रथम भेदप्रथा है, जो कि समग्र भावी भेदों को गर्भित करने के कारण 'परा निशा' कही गई है—

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभावि विभासा सा परा निशा ।। (६.११६)

'माया' भेदरूपिणी है, जड़ है, विश्व का बीज होने के कारण व्यापिका है । कार्य विश्व की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म है—

सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः ।
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।। (तन्त्रालोक ६.११७)

'अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका' में कहा गया है कि माया के कारण स्वयं शिव भी सङ्कुचित प्रमाता बनने के कारण 'पुमान्' कहलाने लगते हैं—

'मायागृहीतसङ्कोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते ।'

महार्थमञ्जरी की टीका में कहा गया है कि विश्वनाटक के नट शम्भु के विश्वनाट्य के लिए उन्मुख होने पर मायावश उनका नाम भी बदलकर 'पुरुष' हो जाता है—

७. स्वच्छन्दतन्त्र— उपरिष्टाद्भवेन्माया कथयामि समासतः ।
व्याप्य या वै त्वधोध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता ।।
तत्र रुद्रा महाभागा द्वादशैव महाबलः । (११२-११३)

अधो अध्वा को व्याप्त करके वैश्वरूप में आकारित होकर जो स्वातन्त्र्य शक्ति भेदभूमिका में स्थित है, वही है—माया । माया विमोहिनी शक्ति है—

अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी । (११३८ स्व०तं०)

माया समस्त पाशों की जन्मदात्री है—

माया हि सर्वेषां पाशानामुत्पत्तिभूः । (स्वच्छन्दतन्त्र ११३२)

माया के दो रूप हैं—तत्त्वरूप एवं ग्रन्थिरूप । 'पारमेश्वरी शक्तिर्माया । सा तत्त्वरूपतया ग्रन्थिरूपतया च द्विधा स्फुरिता ।' और करोड़ों स्वरूपों में अवभासित होकर समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित है—

माया तु कोटिधा व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम् । (स्व०तं० ६७१)

'परमार्थसार' (अभिनवगुप्तपादाचार्य) में कहा गया है कि—

१. माया शिव का अन्तरङ्ग कञ्चुक है ।

२. प्राकृतिक सर्ग (पृथ्वी से प्रकृतिपर्यन्त) शिव का बाह्य कञ्चुक है ।

विद्या और माया में भेद

उत्पलदेवाचार्य 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहते हैं कि—

विद्याशक्तिस्तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः ।

अर्थात् जब संसारी जीव अपने आत्मैश्वर्य का प्रत्यभिज्ञान कर लेता है तब यह प्रत्यभिज्ञान 'विद्या' कहलाता है; किन्तु इसके प्रत्यभिज्ञान न होने पर यही विद्या पशुस्तर पर 'माया' कही जाती है—

संसारिणामैश्वर्यस्य आत्मनः प्रत्यभिज्ञाने विद्या, पशुभावे माया ।

शून्य, बुद्धि एवं शरीरादिक में अहंबुद्धि को दृढ़ करने वाली भेदगर्भा परमात्मा की स्थूल शक्ति 'माया' है । यह भेदों को अवभासित करने वाली और परिमित अहन्ता से तादात्म्य स्थापित कराने वाली मोहात्मिका शक्ति है । उत्पलदेवाचार्य 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति' में कहते हैं—'यदाभावाभेदेनेदन्तयैव भासन्तेऽहमिति प्रमातृत्वेन च देहादिः तदा विपर्ययद्वयहेतुर्मायाशक्तिर्विमोहिनी नाम विजृम्भा ।'

भेदे त्वेकरते भातेऽहन्तायानात्मनीक्षिते ।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते ॥ ८ ॥

मलत्रय—(आणव, मायीय, कार्य) के निर्माण में प्रभु की जो इच्छा व्यक्त होती है, वह मलोद्भाविनी इच्छा ही 'माया' है—

तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते । (प्र०का०वृत्ति)

तन्त्रालोक की टीका में जयरथ का कथन है—पूर्णाहन्ताप्रधान स्वातन्त्र्य शक्ति ही भेदावभासन के समय अपूर्णताप्रथन के कारण 'मायाशक्ति' पदवाच्य है—'परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते ।' 'विवेक' में कहा गया है कि माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी अर्थात् माया परमात्मा की इच्छाशक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है । 'माया' परमात्मा की इच्छाशक्ति है (शांकर अद्वैत के अनुसार) मिथ्या भ्रान्ति नहीं है—

माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में यह कहा गया है कि अशुद्ध अध्वा में 'मायाशक्ति' स्वप्रकाशस्वभाव का तिरोधान करके शून्य, बुद्धि एवं शरीरादिक से अचित् रूपों में शिव का प्रमातृभाव दृढ़ करने वाली शक्ति है—'मायाशक्तिः पुनरचिद् रूपे शून्यादौ प्रामातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयानभेदेनाभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते ।'

माया शक्ति द्वारा 'विश्वात्मप्रमाता' का पूर्ण प्रकाशस्वरूप तिरोहित हो जाता है और वह परिमित प्रमाता बन जाता है । वह इस स्थिति में अनात्म पदार्थों को आत्मवत् मानने लगता है और अनात्म पदार्थों में आत्मभावानुभूतिस्वरूप स्वरूपविपर्यास के कारण वह चिन्मय पदार्थों को जड़ देखने लगता है; यही विपर्यास है—

ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढ़ौ तु मायाशक्तिः । (ई०प्र०वि०)

माया एक विमोहिनी शक्ति है; क्योंकि चित्प्रमाता के प्रकाशस्वभाव को और सत् परामर्श को आच्छादित करके अपनी मोहात्मिका शक्ति से स्वरूपाच्छादन करती है—

माया विमोहिनी नाम । (वि०भै०)

माया में जो तिरोधान शक्ति है, वह 'विलय' का पर्याय नहीं है; क्योंकि 'विलय' परमेश्वर की एक शक्ति है—

'तिरोधानमत्र न विलयरूपं मन्तव्यं, यत् पञ्चकृत्यकमध्ये आगमेषु गण्यते ।'
(ई०प्र०वि०-२ पृष्ठ-२०३-२०४)

माया प्रपञ्च के समस्त जडाभासों का मूल कारण है—

शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् । (तन्त्रालोक भाग-६, ९.१५२)

शैव दृष्टि में प्रकाश की परिच्छिन्नता ही जड़ता है—'प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्' । 'माया' भेदरूप से अर्थात् परिच्छिन्न रूप से पदार्थों की अभिव्यक्ति (प्रकाशन) करती है, इसीलिए माया को जड़ कहा गया—'सा जडा भेदरूपत्वात्' (तन्त्रालोक) ।

जो अविभक्त भेदावभास की आद्या शक्तिदशा है और जिसमें मायातत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, उसे ही 'परानिशा' की संज्ञा दी गई है । 'माया' का स्वभाव तिरोधानकारी है—

तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः । (ई०प्र०-२-३।१।७)

माया के रूपत्रय

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' (४, ९।१५२) में माया को त्रिपुटिका कहा है—'ततो माया त्रिपुटिका' १. माया शक्ति, २. मायातत्त्व, ३. माया ग्रंथ्यात्मक रूप । माया के ३ पाश ही ग्रन्थियाँ हैं, जो निम्न हैं—

१. आणव, २. मायीय, ३. कार्म ग्रन्थि—'एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम् । तत्र तत्त्वात्मकमशेषविश्वव्यापकाण्डरूपसन्निभं, ग्रन्थ्यात्मकं त्रिविधं, शाक्तं तु स्वातन्त्र्यशक्तिसारमेव ।' (स्वच्छन्दतन्त्र टीका - ५)

माया के कार्य

माया सत्स्वरूप का आच्छादन करती है । शंकराचार्य के माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप । यही कार्य उनका भी है । शांकर माया भी अघटन घटना पटीयसी है और शैव तान्त्रिकों की भी । शैवों की यह माया शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप को आच्छादित करके अनवच्छिन्न प्रकाश शिव को परिच्छिन्नप्रकाश पशु बना देती है । शिव ही परिच्छिन्नता एवं सङ्कोचावभास या भेदावभास के कारण जीव बन जाता है ।

शिव की अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति अपनी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा के द्वारा जो सङ्कोच ग्रहण करता है, उसके कारण उसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, नित्यत्व, पूर्णत्व, सर्वव्यापकत्व शक्तियाँ सङ्कुचित होकर अल्पकर्तृत्व, अल्पज्ञातृत्व, अनित्यत्व, अपूर्णत्व, परिमित व्याप्ति में परिवर्तित हो जाती हैं और पञ्चकञ्चुकों के रूप में इन नामों से व्यक्त होती है—कला, विद्या, काल, राग और नियति ।

ये कञ्चुक माया के पाँच आवरण भी कहे गए हैं । ये मायाजन्य कञ्चुक शक्ति-सङ्कोच के वे रूप हैं, जो कि जीव के पूर्ण स्वरूप को आच्छादित करके उसे मितात्मा बना देते हैं । आवरण करने के कारण ये आच्छादन ही 'आवरण' भी कहे जाते हैं ।

माया वह भूमि है जहाँ अद्वैत, अभेद एवं ऐक्य खण्डित हो जाता है। यहाँ जड़ में प्रमातृता का आभास होता है। यह पञ्चकञ्चुकों की जन्मदा भूमि है। यहीं परमेश्वर अपने रूप को आच्छादित करके पुरुषतत्त्व के रूप में पृथक् हो जाते हैं।

जगत्—स्पन्दशास्त्र एवं अन्य शास्त्र : एक तुलनात्मक अध्ययन

(क) सृष्टि, प्रलय तथा जगत् का स्वरूप—स्पन्दशास्त्र के मूल ग्रन्थ 'स्पन्दकारिका' में सृष्टि (उदय) एवं प्रलय (संहार-व्यापार) का कारण शिव के उन्मेष एवं निमेष को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।

अर्थात् जिस शिव के उन्मेष से उदय (सृष्टि) एवं निमेष से प्रलय (विश्वसंहार) होता है (उन शक्तियों के वैभव के स्रष्टा शिव की मैं स्तुति करता हूँ)।

उन्मेष-निमेष का अर्थ

१. भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति' के अनुसार उन्मेष-निमेष का तात्पर्य है—संकल्प (स्व-स्वभाव शिव का संकल्प अर्थात् संकल्पसृष्टिवाद। उन्मेष-निमेष संकल्पात्मक गतिमयता है। संकल्पात्मक गतिमयता ही शैवदर्शन में इच्छाशक्ति है। इच्छाशक्ति शंकर का नित्य धर्म या स्वभाव है। इच्छाशक्ति या संकल्पमात्र को व्यक्त करने के लिए 'उन्मेष' एवं 'निमेष' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन्मेष एवं निमेष दोनों संकल्पमात्र के सूचक हैं।

विश्वोत्तीर्ण पारमेश्वर संकल्प में विशुद्ध चिन्मात्र में अवस्थित रहने की ओर उन्मुखता ही 'निमेष' है। इस अवस्था में इदंभाव (प्रमेयभाव) अहंभाव (विशुद्ध चिन्मात्रस्वरूप = प्रमातृभाव) में लीन हो जाता है।

'उन्मेष' पारमेश्वर संकल्प में स्व-स्वरूप को संसार के अनन्त भेदपूर्ण स्वरूपों में प्रसारित करने की उन्मुखता की अवस्था का प्रतीक (सूचक) है। पारमेश्वर संकल्पमात्र की गतिमयता (इच्छाशक्ति) ही उन्मेष-निमेष है। इन्हें ही अन्तर्मुखस्पन्द एवं बहिर्मुखस्पन्द कहते हैं। स्पन्दशक्ति की यही द्विमुखी गतिमयता है।

२. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृत्ति के अनुसार 'उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकं शंकरसबन्धि प्रतिपाद्यते स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः तस्य उन्मेषनिमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वम्।'

उन्मेषनिमेष = शक्तिप्रसर एवं प्रलय।
प्रलयोदयौ = विनाश एवं प्रादुर्भाव।
('उन्मेषनिमेषाभ्यां' शक्तिप्रसरप्रलयाभ्यां, 'प्रलयोदयौ' विनाशप्रादुर्भावौ)।

रामकण्ठाचार्य प्रश्न उठाते हैं कि इस कारिका में तो यह कहा गया है कि—

१. मैं उस श्रेय-सम्पादक शिव की स्तुति करता हूँ, जिसके उन्मेष-निमेष (शक्ति के प्रसार एवं प्रलय) से जगत् (विश्व) का प्रलय एवं उदय (अर्थात् विनाश एवं प्रादुर्भाव) होता है। और—
२. जो शक्तियों के समूहरूप वैभव का कारण है। इन वाक्यों में वस्तु-संगति कहाँ है? शंकर तो नित्य है, नित्य स्वभाव, एक है एवं परमार्थ है; फिर—
३. परस्पर विरुद्ध एवं अनित्य तथा निमेषोन्मेषावस्थाओं का नित्य शिव के साथ सम्बन्धित होने का सांगत्य क्या है?

४. शिव 'कर्ता' हैं; इसीलिए 'निमेषोन्मेष' का सम्बन्ध शिव के साथ बताया गया है; क्योंकि शंकर में उन्मेष-निमेष दोनों हैं—'शंकर उन्मिषति निमिषति इति ।'

आचार्य रामकण्ठ प्रश्न करते हैं कि नित्यस्वरूप भगवान् के साथ अनित्यावस्था का योग दिखाया गया है, जो कि अनुपपन्न है; फिर कैसे कहा गया कि—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां'? रामकण्ठ कहते हैं कि इसी शंका को निराकृत करने हेतु ही कहा गया है कि—'उन्मेष' एवं 'निमेष' दोनों शब्द शंकर की (एक) इच्छामात्र के द्योतक हैं अर्थात् शंकर की 'इच्छा' ही (क) उन्मेष (ख) निमेष के रूप में रूपान्तरित हो गई है; अतः परस्पर विरोध कैसा? यह तो शिव का नित्य धर्म है—

१. उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां इच्छामात्रमेकं शंकरसम्बन्धि प्रतिपाद्यते ।
२. स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः ।
३. उन्मेष एवं निमेष का द्वित्व (अर्थात् उन्मेष एवं निमेष को पृथक्-पृथक् दो सत्तायें मानना) केवल उपचारमात्र है, क्योंकि जगत् परमेश्वर की मायाशक्ति से उद्भावित होने के कारण कार्य है, जो कि अनित्य है और अनित्य वस्तुओं का तो निमेष-उन्मेष होता ही है ।

उन्मेष-निमेष ईश्वरेच्छामात्रनिमित्तक हैं—'तौ च ईश्वरेच्छामात्रनिमित्तकौ' ।

उन्मेष = उदय—'उदयात्मकोन्मेषहेतुत्वात्' ।

निमेष= प्रलय 'प्रलयात्मकनिमेषहेतुत्वात् निमेषशब्देन च उपचर्यते ।'

रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि व्यक्ति जो भी इच्छा करता है या जिन पदार्थों की इच्छा करता है, वह इच्छा एवं उसके इच्छित सभी पदार्थ उससे अव्यतिरिक्त ही होते हैं । यथा— भगवान् की अपनी शक्ति में अनन्त अवभासों का समावेश है; किन्तु वे रञ्चमात्र भी परमात्मा से व्यतिरिक्त नहीं हैं ।[1]

एक ही पारमेश्वरी शक्ति के इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के त्रिविध व्यपदेश हैं और यह 'इदन्ता' केवल माया शक्ति के कारण है । इसी कारण शिवदशा के एक होने पर भी माया शक्ति सर्वत्र व्याप्त है । इसी के कारण एक ही शिवतत्त्व में सदाशिव से लेकर समस्त तत्त्वों का व्यपदेश है । वही पारमेश्वरी शक्ति अपनी लीला से उल्लासित जगत् को दो अवस्थाओं में रखकर (उन्हें) उल्लासित करती है और इसीलिए दो भी कही जाती है; किन्तु उसका यह द्वित्व भी उपचारमात्र है ।

---

१. रामकण्ठाचार्य : (स्पन्दकारिका विवृति) यथा हि पुरुषस्य इच्छावस्थायाम् इष्यमाणः पदार्थः स्वरूपाव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते तथा भगवतः शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते । सेयं परमार्थसती शिवदशा या एवं तद्विद्वद्भिः स्तूयते—

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥

तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥

'स्पन्दकारिका' का अर्थ यह है कि जिसकी इच्छामात्र से जगत् का प्रलय एवं उदय होता है, उसी शंकर की मैं स्तुति करता हूँ—यस्य इच्छामात्रेण जगत: प्रलयोदयौ तं स्तुम: ।

उन्मेष—उदय । निमेष—प्रलय । (उन्मेषेण उदयो निमेषेण प्रलय: । एतच्च इच्छामात्रम् उन्मेषनिमेषौ —स्पन्दकारिकाविवृति) ।

उन्मेषे क्रियाशक्तिप्रतिसंहारात् स्वरूपविकासे जगत: प्रलयो: विनाश: । निमेषे प्रसृतक्रियाशक्तित्वात् स्वरूपसङ्कोचरूपे जगत: उदय: उद्भव: ।[1]

भट्टकल्लट—'विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्य ।' रामकण्ठ—विज्ञानदेहो = विशुद्धसंविन्मात्रमूर्ति, महेश्वर । आत्मा = स्वभाव । शंकर = आत्मा । (स च आत्मैव नान्य: । स्वस्वभाव = स्वस्य आत्मन: । स्व = आत्मीयो भाव: = स्वरूपं स्वस्वभाव: ।

रामकण्ठाचार्य कहते हैं—परमेश्वर अपनी स्वस्वभावभूत या आत्मधर्म के स्वरूप वाली इच्छामात्र से जगत् का प्रलय एवं उसकी सृष्टि किया करते हैं । शक्ति भी एक ही है; किन्तु माया के कारण (एक होते हुए भी) अनेकात्मक अवभासित होती है—

१. परमेश्वर: इच्छामात्रेण जगत: प्रलयोदयौ विदधाति ।

२. लब्धस्थितिकमपि जगत् तच्छक्तिविभूतिरेकैव मायावशात् तु नानात्वेन अवभासते ।

स्पन्दशास्त्र में उपाय, उपेय, सम्बन्ध, प्रयोजन एवं स्पन्द आदि का स्वरूप क्या है? इसी दिशा में आचार्य रामकण्ठ कहते हैं—

१. उपाय — श्रेय:शास्त्र ।

२. उपेय — आत्मैश्वर्यप्रतिज्ञारूपम् ।
शम् — तदुभयमपि शम् इत्यनेन पदेन उक्तम् ।
इस शास्त्रात्मक श्रेय का साक्षात् कर्ता परमेश्वर मात्र है । ईश्वर एवं शास्त्र में कर्ता एवं कार्य का सम्बन्ध है ।

३. प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव—अत: शास्त्राभिधेययो: प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षण: सम्बन्ध: ।[2]

४. प्रयोजन—आत्मैश्वर्यप्रत्यभिज्ञात्मक शङ्कर पद ।
सम्बन्ध—अभिधेय एवं प्रयोजन का उपाय-उपेयभावलक्षणात्मक सम्बन्ध है ।

५. स्पन्द—इस शास्त्र का अभिधान ही 'स्पन्द' है; क्योंकि कहा गया है—'स्पन्दतत्त्वविविक्तये' (१ नि० २१ का० २ पा०) ।
'स्पन्द'—१. पारमेश्वरस्य धर्मस्य किंञ्चिच्चलनात् 'स्पन्द' इति अर्थानुगमात् वाचकत्वेन व्यपदिष्ट: । २. तत्प्रतिपादनहेतुत्वात् शास्त्रमपि इदं स्पन्दशब्देन अभिधीयते । ३. परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् ।
(निजो धर्म: शम्भोरनुपमचमत्कारसरस: ।
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् ।।[3])

१-२. रामकण्ठाचार्य
३. स्पन्दकारिका विवृत्ति

ग. सृष्टि एवं प्रलय के सिद्धान्त—

उन्मेष-निमेषवाद (स्पन्दकारिका) (वसुगुप्त) 'यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।' (स्पन्दकारिका)	संकल्पवाद (स्पन्दकारिकावृत्ति स्पन्दसर्वस्व) १. (= भट्टकल्लट) २. उत्पलाचार्य 'यत्संकल्पाल्लयोदयौ । (स्पन्दप्रदीपिका) स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ।' (स्पन्द प्र०) भट्टकल्लट—'संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्ति-संहारयोः कारणत्वं ।' (स्पन्दका० वृत्ति)	इच्छावाद (स्पन्दकारिका) विवृत्ति = १. रामकण्ठाचार्य २. आचार्य क्षेमराज 'उन्मेषनिमेषाभ्यां .... इच्छामात्रमेकं शंकरसम्बन्धि प्रतिपाद्यते' रामकण्ठ

घ. उत्पलाचार्य स्पन्दप्रदीपिका— उन्मेष = औन्मुख्य । उदय = प्रभव, सन्तति । निमेष = विश्राम, प्रलय, अत्यय । उन्मेष → नानाविध भोग । निमेष → मोक्ष । विभव = विभूति, विस्तर । प्रभव (प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिस्थानम्) = उत्पत्तिस्थान ।

यत् परापरभूस्पर्शि यत्सङ्कल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ॥ (स्पन्दप्रदीपिका)

शक्ति—१. खेचरी आदि, २. इच्छा आदि, ३. परा आदि, ४. अघोरा आदि, ५. वामा आदि, ६. ब्राह्मी आदि, ७. वैष्णव-शैव-सौर-बौद्ध आदि के द्वारा प्रतिपादित शक्तियाँ।

स्पन्दतत्त्व में समस्त जगत् ज्ञानरूप में शक्त्यात्मना अवस्थित है और निमेषावस्था में उस शक्ति के अनावृत एवं बोधरूप में अनाच्छादित स्वरूप से अवस्थित है । स्पन्दकारिका में ही उन्मेष शब्द की भी व्याख्या की गई है—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥

पुरुष एक चिन्ता में संलग्न रहता है; किन्तु दूसरी चिन्ता का उदय हो जाता है । यह किससे होता है? इसी का नाम है—उन्मेष । एक चिन्ता का भूलना तथा दूसरी चिन्ता का उदय होना—इन दोनों के मध्य उन्मेष ही है । उन्मेषानुशीलन → प्रत्ययोद्भव । उन्मेष से सृष्टि होती है । उन्मेष = उदय । निमेष = लय । ईश्वरतत्त्व = उन्मेष । सदाशिवतत्त्व = निमेष । उन्मेष = स्पन्दतत्त्व शिव ।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः । (ई०प्र०का० ३।१।३)

भास्करकण्ठ—

देहाद्रिस्थमनोद्रुमस्थकलनाशाखालिसन्ध्यन्तराद्
द्रष्टुं जाड्यहरं विमर्शविभवादुन्मेषरूपं रविम् ।
लग्ना ये सततं तदेकमयतां पश्यन्त आत्मन्यथो
संसारेऽपि च तत्प्रकाशवशतो मातेऽस्तु तुभ्यं नमः ॥

एक विषय में व्यापृत चित्त वाले पुरुष में जब अन्य चिन्ता उत्पन्न होती है तो उस चिन्ता का कारण उन्मेष ही होता है । दो चिन्ताओं के मध्य अनुभूयमान यह अवस्था उन्मेष ही है ।

ङ. स्पन्दशास्त्र का परमात्मा—१. सृष्टि-संहार का भी कर्ता है; साथ ही वह भोग और मोक्ष तथा श्रेय एवं प्रेय दोनों का निष्पादक भी है।

२. स्पन्द का परमात्मा वेदान्त का निष्क्रिय ब्रह्म नहीं है; प्रत्युत वह ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, संहर्ता तथा पालक अर्थात् सभी कुछ करने वाला है।

१. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ। (स्पन्दकारिका १)

२. भोगापवर्गाख्यं शं श्रेयः सुखं वा करोतीति शङ्करः। (स्पन्द प्र०)

३. सा ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वेश्वरतारूपा (स्पन्द प्र०)।

४. वह वैष्णवों के भगवान् की भाँति है; अतः वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर, सर्वैश्वर्ययुक्त है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्य च मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः॥

५. उत्पलाचार्य 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहते हैं कि जगत् है तो किन्तु द्वैतप्रथा के रूप में नहीं है; क्योंकि सत्य अद्वैत है और जिस प्रकार अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अद्वैत का भी अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। ज्ञेय को अपने स्वरूप से एक करके ज्ञान को देखो; फिर ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं है। ये सारे भेद शाब्दिक मात्र हैं और वह भी मात्र विकल्प हैं। शब्द का कारण भी विकल्प है और विकल्प का कारण शब्द है। पर तत्त्व अद्वैत है और उसका अतिक्रमण करना सम्भव नहीं है—विरुद्धमेतदद्वैतात् स्वच्छायोलङ्घनं यथा। इसीलिए कहा गया है—

१. वेद्यं स्वरूपतां नीत्वा यदा जानन्ति वेदनम्।
तदानीं वेद्यता का स्यात् का वा वेदनता परा॥

२. विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः।
यथा राहोः शिर इति धारा वा सर्पिषो यथा॥

३. जो अपने संविद् में अभिन्न है, वह वाग्व्यवहार का विषय होने पर भी अभिन्न ही है—
यदभिन्नं स्वसंवित्तौ तत् परस्य यदोच्यते।
तदभिन्नमिवाभाति शाब्दीं भूमिमुपागतम्॥

६. विश्वव्यवहार का कारण मात्र 'वाक्' है। कोई कार्य विना संकल्प के नहीं होता और वाक् के विना कोई विकल्प नहीं होता। इस वाक् का मूल बोध है या आत्मा है। मात्रा, अतिसूक्ष्म, परम, मध्यम, स्थूल एवं स्थूलतर शब्द के अनेक भेद हैं। प्रत्येक वाग्व्यवहार का भी वही आधार है। शिवशंकररूप संवित् शारीरिक, शाब्दिक एवं मानसिक व्यवहार का पूर्वरूप है। आचार्य उत्पल कहते हैं कि मंगलाचरण में उसी की स्तुति की गई है—

वागेवास्याः कारणं विश्ववृत्तेर्न्याय्यं चैतन्नागमः केवलोऽयम्।
नासङ्कल्पः किञ्चिदस्तीह कार्यं वाचं विना न विकल्पोऽस्ति कश्चित्॥

७. उन्मेष अर्थात् उन्मुखता से विश्व का उदय होता है। जिसके निमेष से (विश्राम से) प्रलय हो जाता है, शंकर वही है। इसी प्रकार ही तो जाग्रत् काल में दृश्य का उदय और सुषुप्तिकाल में दृश्य का प्रलय हो जाता है। आत्मसंवित् के उन्मेष एवं निमेष से अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रलय नाम की अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मरूप ईश्वर की शक्ति का प्रसार एवं विराममात्र है। विमल संवित् के ही ये दोनों आकार हैं। 'तत्त्वविचार' में कहा गया है कि जगत् का उदय और विलय शक्ति के प्रसार एवं संकोच के साथ बँधे हुए हैं। जिसकी वह शक्ति है, वही शिव 'आत्मा' है। 'कक्ष्यास्तोत्र' में भी कहा गया है कि 'तुम्हारे आशय के उन्मेष-निमेषमात्र को ही सृष्टि और प्रलय कहते हैं।

उन्मेष में ज्ञान-क्रिया आदि से गर्भित इच्छाशक्ति का निवास है और वह फैलती है। इच्छा से ज्ञान प्रवृत्त होता है और क्रिया-करण के संयोग से पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इसका विराम ही प्रलय है। उन्मेष एवं निमेष शब्दों का मूल प्रयोग मंगलार्थक है या सृष्टि के आद्य होने के कारण है। उन्मेष में भुक्ति और निमेष में मुक्ति है—

ज्ञानक्रियादिगर्भेच्छाशक्तिर्यः प्रसरात्मकः।
सङ्कल्पोक्तः स उन्मेषः प्रोक्तं ह्येतत् स्वतन्त्रके॥
यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते।
क्रियाकरणसंयोगात् पदार्थस्योदयो भवेत्॥

परमात्मा शिव 'शक्तिचक्रविभवप्रभव' हैं। 'मालिनीविजय' में कहा गया है जगत् स्रष्टा की समवायिनी शक्ति 'इच्छा' है। वही जब जगत् को प्रकट करती है तब 'ज्ञानशक्ति' हो जाती है एवं कार्योन्मुखी होने पर 'क्रियाशक्ति'। जैसे माता ५० वर्णों के पुष्पों की माला पहने हुए हो, वैसे ही यह अकारादि स्वर वर्णों की माला धारण करती हैं। शक्तिचक्र के चार प्रकार हैं—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। इन्हें ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी भी कहते हैं। इन्हीं में आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया निवास करती है। ये सभी शक्तियाँ भी आत्मसंवित् से अभिन्न ही हैं। चिदात्मा में जो परमानन्दोल्लास है, वही 'परा वैष्णवी शक्ति' है। इन्हीं शक्तियों से संवित् विग्रह धारण करती है। ये सभी शक्तियाँ विज्ञानदेह हैं।

मायावामनसंहिता के मतानुसार सभी शक्तियों से परिवारित एक ही भगवान् को ध्येय एवं उपास्य कहा गया है।

'कुलयुक्ति' में कहा गया है कि वेदान्त, वैष्णव, शैव, सौर, बौद्ध एवं अन्यान्य मत-मतान्तरों में एक शुद्ध आत्मा ही ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों है—

वेदान्ते वैष्णवे शैवे सौरे बौद्धेऽन्यतोऽपि च।
एक एव परः स्वात्मा ज्ञाता ज्ञेयं महेश्वरि॥

शक्तिसमूह ही अनन्त रूप में स्फुरित हो रहा है। शक्तिमान आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ ही जगत् हैं। जैसे श्रेष्ठ सुन्दरी के अंग-प्रत्यङ्ग से राशि-राशि लावण्य छलकता है, वैसे ही परमात्मा की चिन्मात्रता ही जगत् के रूप में छलक रही है। शक्तियों के बल से ही आत्मा को 'प्रभु' संज्ञा प्राप्त हुई है।

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।

शक्तयश्च जगत् सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द की जगत् सम्बन्धी दृष्टि एवं सिद्धान्त मात्र आभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद ही है । स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जगत् के प्रति एक नव्य दृष्टि है; जो कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माधवाचार्य, गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल एवं पतञ्जलि तथा उनके द्वारा प्रवर्तित दर्शन-शास्त्रों की दृष्टियों से पृथक् है । इसकी दृष्टि का यत्किञ्चित् साम्य वेदान्त एवं सांख्य (सत्कार्यवादी दृष्टि) से है अवश्य; किन्तु पूर्णतः नहीं । सांख्य का सत्कार्यवाद स्पन्द के निकट तो है; किन्तु स्पन्द का सिद्धान्त तो आभासवाद ही है । शंकराचार्य जब कहते हैं—

१. अतो मनः कल्पित एव पुंसः संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति । (१७३)

२. स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या, भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥[1] (१७२)

(अर्थात् 'जगत्' मन की कल्पनामात्र है और जैसे स्वप्नलोक मिथ्या है, वैसे ही जागृतावस्था एवं तत्रावस्थित जागृति का संसार भी मिथ्या है ।)

३. माया माया कार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम् ।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥[2] (१२५)

४. देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।
व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्वमव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥[3] (१२४)

(अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, अहंकार आदि समस्त विकार, सुखादि सम्पूर्ण विषय, आकाशादि भूत एवं अव्यक्तपर्यन्त निखिल विश्व—ये सभी अनात्मा हैं ।)

५. असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।[4]

(अर्थात् उस एक वस्तु ब्रह्म में यह संसार मिथ्या वस्तु के सदृश केवल कल्पनामात्र है)

यह दृष्टि 'स्पन्ददर्शन' से मेल नहीं खाती; किन्तु जब शंकराचार्य यह कहते हैं कि—

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादिसर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत् सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥[5]

(अर्थात् जैसे तरंग, फेन, भँवर एवं बुलबुले आदि स्वरूप से सब जल ही हैं वैसे ही देह से लेकर अहंकारपर्यन्त यह समस्त विश्व भी अखण्ड शुद्ध चैतन्य आत्मा ही है ।)

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयम् ।
ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतेः ॥[6]

(अर्थात् इस विषय में और अधिक क्या कहना है? जीव तो स्वयं ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् रूप से फैला हुआ है; क्योंकि श्रुति भी कहती है कि ब्रह्म अद्वितीय है ।)

१-६. शंकराचार्य—विवेकचूड़ामणि

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयो: ।
ततोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरिसीम्नि स्थितवत: ॥[१]

(अर्थात् मन एवं वाणी से प्रतीत होने वाला यह समस्त जगत् सत्स्वरूप ही है । जो महापुरुष प्रकृति से परे आत्मस्वरूप में स्थित है, उनकी दृष्टि में सत् से पृथक् कुछ भी नहीं है ।)

इस प्रकार शंकराचार्य एवं स्पन्द की दृष्टि में भेद नहीं है ।

जगत् और उसकी सृष्टि

स्पन्दशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त उसका सृष्टिविषयक एवं जगत् विषयक सिद्धान्त है । 'स्पन्दकारिका' की प्रथम कारिका (मंगलाचरण) में प्रथमोल्लेख के रूप में इसी सृष्टि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । सृष्टि के विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं—

१. स्वभाववाद—लोकायतदर्शन के अनुसार सृष्टि एवं जगत् तो पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु—मात्र इन चार तत्त्वों के संयोग से होने वाला एक प्राकृतिक विस्तारमात्र है और इसकी उत्पत्ति के लिए किसी 'ईश्वर' की आवश्यकता भी नहीं है । सृष्टि एक स्वाभाविक प्रक्रिया है । जहाँ तक 'चेतना' की बात है तो यह भी जड़तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है, अत: 'अनीश्वरवाद' एवं पञ्चभूतचैतन्योत्पत्तिवाद तथा चैतन्यश्वरतावाद ही यथार्थ सिद्धान्त हैं । जो चार तत्त्व हैं, उनका स्वभाव ही 'सृष्टि' है ।

जिस प्रकार हिमाच्छादित पर्वतमाला से स्वयं कल-कल निनाद करती हुई कल्लोलिनी का जन्म होता है, उसी प्रकार रंग-बिरंगी कलियों, मनोहर लतिकाओं एवं सुमधुर गीत गाने एवं नाचने वाले पक्षियों से युक्त यह विश्व भी स्वत: स्वभाव से उत्पन्न हो जाता है । चार्वाक का कथन है कि अर्द्धचन्द्रकार चित्रों से मण्डित मनोहर एवं बहुरंगी परों वाले मयूरों को किसने बनाया और मधुर तान वाली कोयलों को किसने जन्म दिया? ये सभी स्वभाव से ही उत्पन्न हुए हैं; अत: जगत् की सृष्टि का यथार्थ सिद्धान्त मात्र 'स्वभाववाद' या प्रकृत्युत्पत्तिवाद (Naturalism) है ।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में जगत् की उत्पत्ति के कारण के प्रसंग में—कालवाद[२] स्वभाववाद[३] नियतिवाद[४], यदृच्छावाद[५] एवं भौतिकवाद[६] आदि सिद्धान्तों का बीज मिलता है । 'बार्हस्पत्यदर्शन' (चार्वाकदर्शन) ने इन्हीं सृष्टि-दृष्टियों में से 'स्वभाववाद' एवं 'नियतिवाद' को अंगीकृत किया होगा; क्योंकि इसी के समतुल्य विचार ऋग्वेद में भी 'एतेभ्यो भूतेभ्य: समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (२-४-१२) वाक्य द्वारा प्रकट किया गया है ।

---

१. शंकराचार्य—विवेकचूड़ामणि
२. सांख्यकारिका (५०), वात्स्यायन कामसूत्र (२-३५-३७) कुसुमाञ्जलिबोधिनी (वरदराजमिश्र), गौड़पादकारिका (८) उद्योतकर (न्यायवार्तिक : ४-१-२१)
३. भट्ट उत्पल्ल 'बृहत्संहिता' की टीका । उज्ज्वल दत्त (न्यायकोश में विसर्ग और 'स्वभाव' दो भेद करके इसका उत्पादन किया गया) न्यायसूत्र (४-१-२२)
४. न्यायकोश
५. भामती कल्पतरु (२-१-३३)
६. 'महाभारत' (२१८-२३-२९)

'स्वभाववाद' का अर्थ है—'पदार्थानां प्रतिनियतशक्तिः' (प्रत्येक पदार्थ में निहित अपनी एक शक्ति; यथा—जल में शैत्य, अग्नि में ऊष्णत्व आदि —शंकराचार्य)।

शंकरानन्द का कथन है कि काल भी स्वतन्त्र नहीं है। यदि अग्नि में दाहकता की शक्ति न हो तो क्या काल अग्नि से किसी को जला सकता है ? नहीं। अतः कालवाद की अपेक्षा 'स्वभाववाद' श्रेष्ठतर सिद्धान्त है।

'नियतिवाद' आकस्मिक सृष्टिवाद का अपर पर्याय है। इसके अनुसार 'कृति' एवं 'पुरुषकार' में कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी घटनायें पूर्व से ही नियत हैं; अतः किसी पौरुष या कारण की आवश्यकता है ही नहीं।

'यदृच्छावाद' भी कार्य-कारणभाव को स्वीकार नहीं करता। आचार्य शंकर इसे 'आकस्मिक घटनाओं के साथ ऐक्य' का सिद्धान्त मानते हैं। अमलानन्द सरस्वती ने 'भामती कल्पतरु' (२-१-३३) में इसे 'स्वभाववाद' से भिन्न सिद्धान्त स्वीकार किया है।

'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा, तेभ्यश्चैतन्यम्, भूतान्येव चेतयन्ते' आदि सूत्रों द्वारा बृहस्पति ने इसी चार्वाक सिद्धान्त (बार्हस्पत्य सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया है।

चार्वाक के मतानुसार न तो प्रलय का अस्तित्व है और न ही सृष्टि के लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता है। सृष्टि स्वतः या माता-पिता की परम्परा से हो जाती है। अतएव सृष्टि के लिए किसी स्रष्टा, ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है। इनके मतानुसार क्षिति, जल आदि पञ्चभूतों के सबसे छोटे-छोटे त्रसरेणुरूप कणों के संस्थानविशेष से घटादिक पदार्थ स्वतः निर्मित हो जाते हैं। इनके मतानुसार संयोग या समवाय द्वारा कणों का अवयव-अवयवी रूप में संघटन नहीं हो सकता; क्योंकि ये त्रसरेणु क्षणिक हैं। ये एक क्षण के अनन्तर नष्ट हो जाते हैं। त्रसरेणुओं के संस्थानविशेष या क़ेवल संघटनमात्र से ही वस्तुओं का निर्माण होता है। रूप, रस, गन्ध आदि गुण भी पृथ्वी, जल आदि भूतों के संस्थानों से ही निर्मित होते हैं।[१]

जीवोत्पत्ति—शरीर में जो चैतन्य है, वह भी भूतों के संस्थानविशेष से उत्पन्न होता है। यह उत्पत्ति यदृच्छावश होती है। उत्पत्ति किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखती।

'तेभ्यश्चैतन्यम् किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्' (वा०सूत्र) के अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति भूतों के संघटनविशेष द्वारा उसी प्रकार हो जाती है, जैसे कि दो-चार वस्तुओं के मिला देने से (पदार्थों में कोई मादकता की शक्ति पहले से विद्यमान न रहने पर भी) मादकता की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सिद्ध है कि जीवन के अस्तित्व में आने के लिए भी (ठीक उसी प्रकार) किसी पूर्व जीवन या कारण-कार्यसम्बन्ध की भी आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार वर्षा के समय मेढक या छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े स्वयमेव भूतों से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवों में भी चैतन्य अचानक ही उत्पन्न हो जाता है। यही है—जीवों की सृष्टि या जीव-जगत् का सृष्टि-विधान।

चूँकि 'त्रसरेणु' क्षणिक हैं; अतः उनसे निर्मित पदार्थ या जीव के शरीर भी क्षणिक हैं। एक क्षण के अनन्तर पूर्व शरीर के न रहने पर पूर्व शरीरजन्य कार्यों के फल या स्मरण आदि 'संस्कार' द्वारा होते हैं।[२]

---

१. शांकरभाष्य, भामती, ३-५४ २. न्यायमञ्जरी

२. बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद (पतिच्चसमुप्पाद)—बौद्ध दार्शनिक चार्वाकों के विरुद्ध प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण मानते हैं और कारण-कार्यवाद (Cause-effect theory) स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि बाह्य एवं आन्तर सभी घटनाओं की पृष्ठभूमि में कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। बिना कारण के किसी भी घटना का आविर्भाव सम्भव नहीं है; किन्तु यह नियम चेतनाशक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होता। यह स्वचालित नियम है। सामग्रियों के एक साथ होने से ही कार्योत्पत्ति हो जाती है। यथा—मन, चक्षु विषय का रूप, आलोक आदि के संयोग से रूपज्ञान हो जाता है। किसी भी वस्तु का प्रादुर्भाव अकस्मात् नहीं होता। 'ऐसा होने पर ऐसा होता है'—यही है प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् कारण-कार्यवाद का बौद्ध सिद्धान्त। इसका दूसरा पक्ष यह है कि—'इसके न रहने से यह नहीं होता।'

प्रतीत्यसमुत्पाद—
- इसके होने से यह होता है (विध्यात्मक पक्ष)।
- इसके न होने से यह नहीं होता (निषेधात्मक पक्ष)।

भावचक्र और उसका स्वरूप—(क) १. अविद्या, २. संस्कार—भूतकालिक जीवन।

(ख) ३. विज्ञान, ४. नाम-रूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान—वर्तमानकालिक जीवन।

(ग) १०. भाव, ११. जाति, १२. जरा-मरण—भविष्यवर्ती जीवन।

बौद्ध सृष्टि-सिद्धान्त—बौद्ध शाश्वतवाद एवं सर्वोच्छेदवाद—दोनों अतियों को न मानकर 'मध्यमा प्रतिपदा' (मध्यम मार्ग) मानते हैं।

१. वस्तुओं का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता (चार्वाक आत्यन्तिक नाश मानते हैं)[१]।

२. कारण से कार्य का जन्म होता है, किन्तु सब कुछ अनित्य एवं क्षणिक है।

३. सत्यकार्यवाद—सांख्य का 'कारण-कार्यवाद' का सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। प्रश्न उठता है कि कार्य की सत्ता अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहती है या नहीं रहती?

न्याय, वैशेषिक एवं बौद्ध कहते हैं कि कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व 'कारण' में विद्यमान नहीं रहती। सांख्य कहता है कि १. यदि कार्य कारण में अविद्यमान रहता तो किसी भी प्रयत्न से उसका आविर्भाव नहीं हो पाता। क्या बालू से तेल निकाला जा सकता है? क्या आकाश को मथकर मक्खन निकाला जा सकता है? २. किसी विशेष 'कारण' से ही विशेष 'कार्य' का जन्म होता है; यथा—दही केवल दूध से ही निकलता है और तेल तेल के बीज (सरसों, तिल, एरण्डी आदि) से ही निकलता है। अतः विशेष 'कार्य' विशेष 'कारण' से ही जन्म लेता है। सारांश यह कि कार्य सूक्ष्म रूप से कारण में विद्यमान रहता है। कार्य उत्पन्न होने के पूर्व अव्यक्तावस्था में अपने कारण में विद्यमान रहते हैं। यदि कार्य कारण में स्थित न रहता तो अर्थ यह होता कि—

(क) असत् से सत् की उत्पत्ति होती है : 'असतः सज्जायेत'।

(ख) सत् से सत् की उत्पत्ति होती है : 'सतः सज्जायेत'।

---

१. बौद्ध पूर्ण नित्यवाद एवं पूर्ण विनाशवाद—दोनों में से कोई भी नहीं मानते। 'प्रतीत्य'= किसी वस्तु के उपस्थित होने पर। 'समुत्पाद' = किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति। बौद्ध 'क्षणिकवादी' एवं 'अनात्मवादी' हैं।

अतः कार्य से कारण भिन्न नहीं है। एक ही वस्तु की व्यक्त एवं अव्यक्त अवस्थाओं को हम कार्य एवं कारण कहते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप है— परिणामवा एवं विवर्तवाद। परिणामवाद = कार्य की उत्पत्ति = कारण का कार्य के रूप में रूपान्तरण। (यथा दूध का रूपान्तरण दही, मिट्टी का रूपान्तरण घड़े में) = (सांख्य का सिद्धान्त)।

४. विवर्तवाद—कारण में दृष्टिगत रूपान्तरण वास्तविक नहीं; प्रत्युत आभासमात्र है; यथा—रस्सी में सर्प का आभास। रस्सी में सर्प की मात्र प्रतीति होती है, उसमें साँप की सत्ता नहीं आ जाती। ब्रह्म का रूपान्तरण नहीं होता। वह सदा एकरस बना रहता है तथापि वह नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित हुआ-सा दृष्टिगत अवश्य होता है। 'कार्य' कारण का यथार्थ रूपान्तरण नहीं है; प्रत्युत उसका विवर्त मात्र है।

५. असत् कार्यवाद—न्याय एवं वैशेषिक दर्शन यह मानते हैं कि कार्य कारण में जन्म के पूर्व विद्यमान नहीं रहता। यही सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है।

६. परमाणुवाद—वैशेषिक के मतानुसार संसार के समस्त कार्यद्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं—पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणुओं से निर्मित होते हैं। परमाणुओं के संयोग-विभाग कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते हैं।

पाश्चात्य परमाणुवाद के अनुसार तो अनादि काल से अनन्त दिक् (Space) में असंख्य परमाणुओं के भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमते रहने के कारण उनके आकस्मिक संयोग के फलस्वरूप ही जगत् का निर्माण होता है। परमाणुओं की गति को निर्धारित करने वाली कोई चेतन शक्ति नहीं है। ये जड़ परमाणु घुणाक्षरन्याय से एक साथ मिल जाते हैं और फिर पृथक् हो जाते हैं। इनका नियामक कोई चेतन तत्त्व नहीं है; प्रत्युत अन्धी प्रकृति मात्र है।

वैशेषिक का परमाणुवाद आध्यात्मिक है। इन परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार जीवों को कर्मफल का भोग करने हेतु परमाणु की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है। उसी की इच्छा से सृष्टि-प्रलय हुआ करते हैं। इसके अनुसार आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा एवं भौतिक परमाणुओं की न तो सृष्टि होती है और न ही उनका संहार होता है। अणुओं के संयोग से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति एवं उनके उच्छेद से कार्यद्रव्यों का विनाश होता है।

दो परमाणुओं का प्रथम संयोग 'द्व्यणुक' एवं तीन द्व्यणुकों का संयोग 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' कहलाता है।

सृष्टि और प्रलय

सृष्टि में लाखों योनियों में भ्रमण करने एवं सुख-दु:खों को भोगने के बाद जीवों को थोड़ा-सा विश्राम करने का जो अवकाश दिया जाता है, उसे ही 'प्रलय' कहा जाता है। दो प्रलयों के मध्य जो एक सृष्टि होती है, उसे 'कल्प' कहते हैं। एक कल्प के बाद दूसरा कल्प एवं दूसरे के बाद तीसरा कल्प चलता रहता है। जब विश्वात्मा ब्रह्मा भी अपना शरीर छोड़ देता है तब महेश्वर में संहार करने की इच्छा प्रकट होती है। फिर जीवों के अदृष्ट अपने कार्य से पृथक् हो जाते हैं। उनके शरीर एवं इन्द्रियों के परमाणु विकीर्ण होकर पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। शरीर एवं इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर पृथक्-पृथक् परमाणुमात्र रह

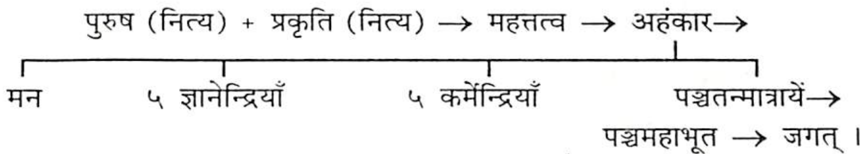
जाते हैं । पृथ्वी महाभूत के परमाणुओं में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है । उनके विच्छिन्न हो जाने से महाभूत विलीन हो जाते हैं । पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—ये चारो महाभूत भी विलीन हो जाते हैं । संसार के समस्त कार्यद्रव्य, शरीर एवं इन्द्रिय—सभी तिरोहित हो जाते हैं । केवल चार भूतों के परमाणु, ५ द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन एवं आत्मा) तथा जीवात्माओं के धर्माधर्मजन्य संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं; जिनसे भविष्य में पुनः सृष्टि का आरम्भ होता है ।

सांख्यदर्शन—सांख्यदर्शन के अनुसार जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है तब संसार की उत्पत्ति होती है । पुरुष निष्क्रिय है; अतः अकेला सृष्टि नहीं कर सकता और अकेली प्रकृति भी सृष्टि नहीं कर सकती; क्योंकि वह जड़ है । पुरुष लँगड़ा है; अतः चल नहीं सकता; किन्तु देख सकता है । प्रकृति चल सकती है; किन्तु देख नहीं सकती; अतः दोनों के संयोग से (पंग्वन्ध संयोग से) सृष्टि होती है—

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।

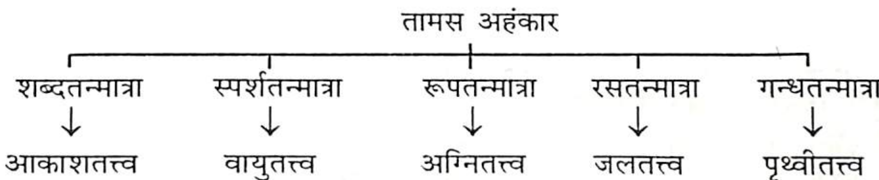
सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, किन्तु प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होते ही गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ होता है और उससे महत् (बुद्धि), फिर अहंकार (सात्त्विक, राजस, तामस) और फिर सात्त्विक अहंकार से ११ इन्द्रियाँ, तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं । राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारों को शक्ति प्रदान करता है । विज्ञानभिक्षु[1] के मतानुसार सात्त्विक अहंकार से मात्र एक मन ही उत्पन्न होता है और शेष १० इन्द्रियाँ राजस अहंकार से जन्म लेती हैं ।

प्रकृति का लक्ष्य है—'पुरुष' का भोगापवर्ग ।[2]



(कार्य का अपने कारण में लय हो जाना ही प्रलय है और कारण का कार्य के रूप में अवतीर्ण होना ही सृष्टि है ।)

अहंकार में से 'तामस अहंकार' से → ५ तत्त्व



---

१. सांख्यप्रवचनभाष्य (२।१८)

२. पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए २३ तत्त्व पुरुष-प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होते हैं ।

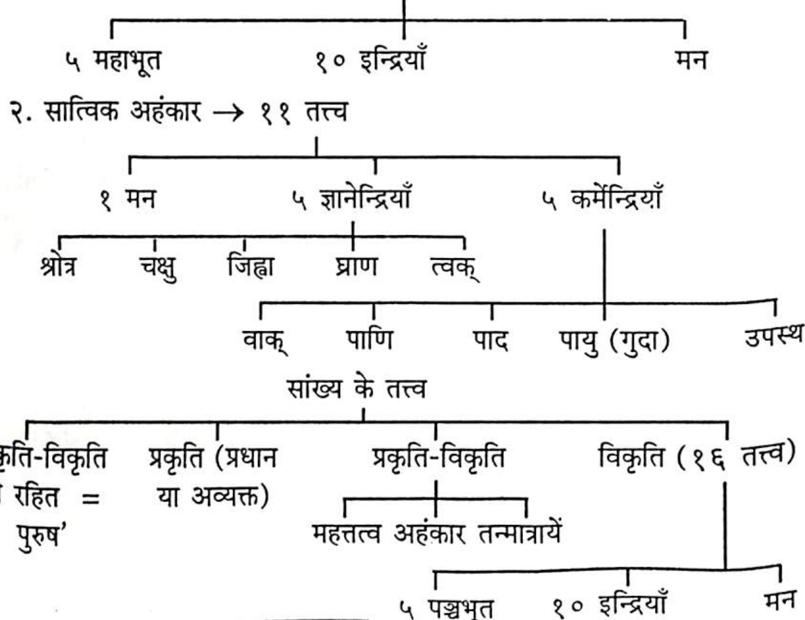
थियोसाफ़ी के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के शरीर की Central nucleus (केन्द्रीय नाभिक) में एक स्थायी परमाणु (Atom) है, जो कि मानव शरीर के विघटन (Disintegration) के बाद भी उच्चतर आभामण्डल की परिधि में निवास करता है। पुनर्जन्म के समय इसी परमाणु से मकड़ी के जाले के समान का पदार्थ निकलता है जिसमें कि नए शरीर के वास्तविक पारमाणविक कण (Particles) निर्मित होते हैं। इस स्थायी परमाणु का उपयोग यह है कि यह अपने भीतर एक श्वसन शक्ति के रूप में (As vibratory power) भूतकालिक समस्त अनुभवों के परिणामों को सुरक्षित रखता है। उसी के आधार पर प्राणी की सृष्टि होती है।

भारतीय दर्शनों के सभी प्रवर्तक ऋषि थे। वे यूरोप के चिन्तकों की भाँति मात्र Philosopher नहीं थे। सभी दर्शनों में सांख्य प्राचीनतम दर्शन है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति सृष्टि की अवस्था नहीं है, क्योंकि प्रकृति है—सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण की साम्यावस्था। इस साम्यावस्था में होने वाला क्षोभ ही प्रकृति को सृष्टिरूप बनाता है। सांख्य के दर्शन ने भारत के समस्त दर्शनों को प्रभावित किया। मैक्समूलर वेदान्त के बाद सांख्य को भारतवर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन मानते हैं। सांख्य में सृष्टिक्रम का स्वरूप निम्नानुसार है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ (२२)

सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था ही 'प्रकृति' है।[1]

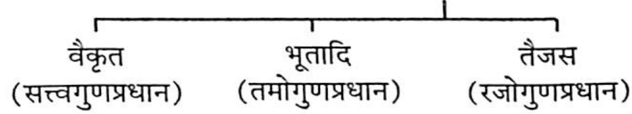
प्रकृति → महत्तत्व → अहंकार → षोडशक = १६ तत्त्व



१. सांख्यकारिका

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥[१]

सारांश—१. पुरुष, २. प्रकृति, ३. महत्तत्त्व, अहंकार ३ भेद



अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥[२] (२५)



१-२. सांख्यकारिका

सप्तम अध्याय

स्पन्दशास्त्र में बन्धन और मुक्ति का स्वरूप

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—बन्धन क्या है और मुक्ति का स्वरूप क्या है? इस दिशा में जो भी दार्शनिक चिन्तन किए गए, उन सब की पृथक्-पृथक् दृष्टियाँ हैं। बौद्ध, जैन, चार्वाक, वैशेषिक, मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि सभी दर्शनों की अपनी-अपनी निजी दृष्टियाँ हैं।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि यह है कि मिथ्या ज्ञान संसार का कारण है। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान से अज्ञान दूर होता है। वे कहते हैं कि इसी अज्ञान के निवारण से मोक्षाप्ति होती है—दर्शन के प्रतिपादक सभी शास्त्रों का यही कथन है कि संसृति (आवागमन) का मूल कारण अज्ञान है। ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है—

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ (तन्त्रालोक)

सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' में तो बन्धन एवं मोक्ष में कोई भेद माना ही नहीं। वे कहते हैं—

बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः ।

'शिवोऽहं' के प्रत्यय की दृढ़ता होने पर कैसा मोक्ष एवं कैसा बन्धन? फिर भी व्यावहारिक धरातल पर बन्धन, मोक्ष दोनों हैं।

अज्ञान, मल एवं संसारांकुर—'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' त्रिकदर्शन का मान्यतम ग्रन्थ है। इसमें अज्ञान को 'मल' एवं 'संसारांकुर' दोनों कहा गया है। मल तो बन्धन का वह पक्ष है, जो कि आत्मा को कलुषित करता है और आवरण ड़ालकर उसकी शक्तियों को आच्छादित कर देता है। अज्ञान बन्धन का वह पक्ष है, जो कि प्राणी को मिथ्या ज्ञान देकर यथार्थ ज्ञान को आवृत करके आवागमन के चक्र में डालता है। 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' में बन्धन के दोनों स्वरूपों को व्यक्त करने के लिए ही बन्धनप्रद इस तत्त्व को 'मल' एवं 'अज्ञान'—दो शब्दों से अभिहित किया गया है—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।

जयरथ की दृष्टि—टीकाकार जयरथ 'तन्त्रालोक' की टीका 'विवेक' में उक्त श्लोकार्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

(१) 'अज्ञान' अन्धकार है।
(२) परमेश्वर स्वातन्त्र्य की अनुभूति से प्रकाशित 'स्व' रूप का गोपन करता है और आत्मा तथा अनात्मासम्बन्धी व्यर्थ की उलझनों में डालता है।
(३) अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान है। इसे 'आणवमल' भी कहते हैं—अज्ञानं तिमिरं

पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्वमात्मानात्मनोरन्यथाभि-मानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानं तदेव चाणवं मलम् ।

इस आणव मल के दो प्रकार हैं—स्वात्मस्वातन्त्र्य का बोध नहीं होना (स्वातन्त्र्यहानि-बोंधस्य) एवं सङ्कोचप्राधान्य के कारण बोध-स्वातन्त्र्य की हानि होना (स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता)।

दो संसारांकुर कारण—'अज्ञान' कैसा होता है? इसका स्वरूप क्या है? जयरथ उत्तर देते हैं कि 'अज्ञान' संसारांकुर कारण है । 'मायीय मल' जिसमें वेद्य की भिन्नता का भान प्रमुखतया होता है तथा 'कार्म मल', जिसके द्वारा संसार अङ्कुरित होता है—ये दोनों संसाराङ्कुर कारण माने जाते हैं ।

तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ का कथन है कि अज्ञान के दो प्रकार हैं—पौरुष अज्ञान एवं बौद्ध अज्ञान । पौरुषज्ञान होने पर ही 'मोक्ष' होता है ।

अभिनवगुप्त एवं जयरथ की दृष्टि–अज्ञान के जो दो रूप (जयरथ द्वारा) बताए गए हैं, उनमें बौद्धगत अज्ञान दुष्टाध्यवसायरूप है । यह कर्म का कारण नहीं होता; बल्कि कर्म ही अज्ञान के कारण होते हैं । अत: संसाराङ्कुर कारण बौद्ध अज्ञान का विशेषण नहीं माना जा सकता । बौद्ध अज्ञान कर्म के द्वारा उत्पन्न शरीर में होता है । बुद्धि तो अन्त:करण मानी जाती है । अत: शरीर ही संसार है और मायीय है—

शरीरभुवनाकारो मायीय: परिकीर्तित: ।

बौद्ध ज्ञान की निवृत्ति से ही मोक्ष नहीं होता; क्योंकि बौद्ध अज्ञान के नष्ट हो जाने पर बौद्ध ज्ञान ही उत्पन्न होगा । बौद्ध ज्ञान शुद्ध विकल्पात्मक होता है । कहा भी गया है—'सारा विकल्प ही संसाररूप होता है' (सर्वो विकल्पो संसार: । फलत: बौद्ध ज्ञान भी संसार का आविर्भावक ही है । अत: उसके अभाव में भी मोक्ष सम्भव नहीं है । विकल्प तो विकल्प ही हैं; चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ । उनसे बचना ही श्रेयस्कर है—

परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डित: ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाऽप्यथ वाऽशुभे ॥

'पौरुष अज्ञान' दीक्षा से निवृत्त होता है । यह स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का कारण है । मोक्ष का स्वभाव ही ज्ञान है—'तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम् ।' अख्याति का अभाव ही पूर्ण ख्याति है । प्रकाशानन्दघन आत्मा का तात्त्विक रूप पूर्ण ख्याति है । इसके प्रथन को ही मोक्ष कहते हैं । इस अज्ञान के अभाव में ही मोक्ष सम्भव है—स च प्रकाशानन्दघनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपं, तत्प्रथनमेव मोक्ष इति ।

अज्ञान का अर्थ—'अज्ञान' का अर्थ क्या है? क्या अज्ञान ज्ञानाभाव है? नहीं । अज्ञान का अर्थ है—'अपूर्ण ज्ञान' (ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्) । द्वैतप्रथात्मक ज्ञान ही अज्ञान है—'द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं ज्ञानमज्ञानम् अज्ञानं न पुनर्ज्ञानाभावमात्रम्' (विवेक)। अपूर्ण ज्ञान ही बन्धन का कारण एवं संसारांकुर का कारण है ।

पुरुष का अज्ञान 'मल' है । यह भी शिव से ही उत्पन्न है । इससे 'स्व' का पूरा का पूरा चिदात्मक उल्लास आवृत हो जाता है । शिवता पर आवरण बनकर छा जाता है ।

परमशिव की दृक् (ज्ञान) एवं क्रिया शक्तियों का सङ्कोच कर लेता है । 'पशुपति' पशुमात्र बनकर रह जाता है । यह पशु की अविकल्पित विवशता है—

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम् ।
सङ्कोचिदृक्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम् ॥ (तन्त्रालोक १।३७)

महेश की अघटित घटना पटीयसी 'स्वतन्त्रता' शक्ति दिव्य माया शक्ति ही है । वही शिव के स्वात्मा को आच्छादित कर लेती है । माया के प्रभाव से बोध मलिन हो जाता है । परमेश्वर पाशबद्ध हो जाने से पशु बन जाता है—

परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥
मायापरिग्रहवशात् बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति ॥ (त०लो०-प०सा०१५का०)

शक्तिसंगमतन्त्र और मल-कल्पना–'शक्तिसंगमतन्त्र' में जो मल-कल्पना की गई है और उसका इन प्रमाताओं से जो सम्बन्ध है, वह निम्नांकित है—

ब्रह्मा में 'आणवमल' (सृष्टिरूप अपूर्णाभास 'आणव्यं ब्रह्मणस्तु स्यात्तथा विष्णोश्च कार्मणम्) ।	विष्णु में 'कार्मणमल' (पालनरूप भेदाभास 'मैं, तू')	रुद्र में 'मायामल' (संहाररूप मायाभास काला, गौर दुर्बल आदि)	ईश्वर में 'प्राकृतमल' (शासन, निग्रह, ऐश्वर्य)	सदाशिव में सूक्ष्म अहंकृतिमल (मुक्तिप्रदान-रूप अहंकार)

मायामलं तु रुद्रस्य प्राकृतं तु तथेश्वरे ।
सदाशिवस्याहङ्कारः परशम्भोर्न किञ्चन ॥

मुक्तिसम्बन्धिनी विभिन्न दृष्टियाँ : एक विहङ्गमावलोकन

(क) दुःखवाद—

१. वेदान्त की दृष्टि—'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति, मुक्ति ।

२. योगदर्शन की दृष्टि—

'वृत्तिसारूप्य' से 'वृत्ति-निरोध' की यात्रा १. वृत्तिसारूप्य-मितरत्र । २. योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः ।	अनात्मावस्थान से स्वरूपावस्थान की यात्रा (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽव-स्थानम्)	हेय से हान की यात्रा (द्रष्टा-दृश्य के संयोगरूपी हेयहेतु से संयोगाभावरूपी हान की यात्रा 'विवेकख्याति' द्वारा हान की प्राप्ति)	हेय (दुःख) से दुःखध्वंस की यात्रा (हान = दुःखाभाव) (ततः क्लेशकर्म-निवृत्तिः)	'द्रष्टा का कैवल्य' सत्त्व एवं पुरुष में शुद्धि साम्य रूप कैवल्य/ गुणों का प्रति-प्रसव/चिति शक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा-रूप कैवल्य ।

३. योगशास्त्र—दु:ख से दु:खाभाव की यात्रा : मुक्ति ।

४. बौद्धदर्शन : चतुरार्यसत्य

दुखः है	दु:ख का कारण है	दु:ख का निरोध है	दु:ख के निरोधमार्ग हैं

अविद्या— तृष्णा—द्वादश शृंखला → दु:ख ।
दु:ख का अत्यन्ताभाव → मुक्ति ।

क्या बौद्ध दर्शन योगसूत्र का अनुगामी है? योग

हेय (दु:ख)	हेयहेतु (अविद्या आदि)	हान (दु:खाभाव)	हानोपाय विवेकख्याति

५. न्यायदर्शन—इक्कीस प्रकार के दु:खों से मुक्तिरूप दु:ख का अत्यन्ताभाव ही मुक्ति है—'मोक्षोपवर्गः । स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दु:खस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः । एकविंशति-प्रभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं, दु:खं चेति गौण-मुख्यभेदात्' (तर्कभाषा) ।

मोक्ष की प्रक्रिया—शास्त्रों के अनुशीलन से समस्त पदार्थों/तत्त्वों में दोष-दर्शन → वैराग्य → ध्यान → ध्यानपरिपाक → क्लेशहीन आत्मा का साक्षात्कार → निष्काम कर्मानुष्ठान → अनागत धर्माधर्म का परित्याग (वर्जन) → पूर्वोपात्त धर्माधर्मप्रचय योग द्वारा ज्ञात करके → उन पूर्व कर्मों से निवृत्ति करके → वर्तमान शरीर के नष्ट हो जाने पर शरीरादिक इक्कीस प्रकार के दु:खों का सम्बन्धाभाव—'योऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्न-दु:खहानिर्मोक्षः सोऽपवर्ग इत्युच्यते' (तर्कभाषा) ।

न्यायसूत्रकार गौतम—'दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरायापायाद-पवर्गः ।'

विज्ञानभिक्षु—(योगसारसंग्रह)—योग की दृष्टि—

तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ २.१ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २.२ ॥ (योगसूत्र)
अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ २.३॥

विज्ञानभिक्षु—क्रियायोग का फल = क्लेशों को क्षीण करना—समाधि । समस्त क्लेशों का कारण = अविद्या (अनित्या शुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या) (२।५) । क्लेशों का सूक्ष्मीकरण → विवेकख्याति → अविद्यादिक क्लेश → प्रसंख्यानरूप विवेक साक्षात्कार (जीवन्मुक्तावस्था) → चित्त का अपने कारण प्रकृति में लय → सूक्ष्मीभूत क्लेशों का लय → दु:खाभाव → परम मुक्ति । आत्मा एवं अनात्मा (पुरुष+प्रकृति) में पृथकत्त्व (विवेक) → विवेकख्याति → अविद्यादिक क्लेशों की निवृत्ति → धर्माधर्मों का अपुनर्भव → प्रारब्धाभाव → दु:खनिवृत्तिरूप मोक्ष—

क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते । दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

(योगसारसंग्रह—विज्ञानभिक्षु)

(ख) सांख्यदर्शन—१. पुरुष + प्रकृति का सम्बन्ध → बन्धन । २. बन्धन को दूर करना, पुरुष को अपने-आपको पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान होना = विवेक बुद्धि = मुक्ति ।

सृष्टि की सोद्देश्यता की पूर्णता → प्रकृति की विरति → पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति ।

भोग की पूर्त्ति → संस्कारों का नाश → शरीर का पतन → विदेह कैवल्य । संस्कारों की विद्यमानतापर्यन्त = 'जीवन्मुक्ति' → निरपेक्ष द्रष्टा साक्षी होकर 'पुरुष' द्वारा प्रकृति को देखना → प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदस्थितः स्वस्थः । (सांख्यकारिका)

अनादिकाल से अविद्यावश प्रकृति-पुरुष में सम्बन्ध-स्थापना—चेतन का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है । प्रकृति जड़ होने पर भी उस बिम्ब के सम्पर्क से चेतनवत् कार्य करती है और बिम्ब-प्रभाव के कारण गुणों का कल्पित (मिथ्या) आरोप पुरुष पर । त्रिगुणातीत पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता आदि मानने लगता है। ज्ञान के द्वारा पुरुष-प्रकृति विवेक → कैवल्य ।

बौद्ध दर्शन की दृष्टि—अविद्या → संस्कार → विज्ञान → नाम-रूप → षडायतन → स्पर्श → वेदना → तृष्णा → उपादान (राग) → भव → जाति → जरा → मृत्यु → बन्धन ।

अष्टांग मार्ग → मुक्ति । सम्मादिहि, सम्मा वाचा, सम्मा कामन्त, सम्मा आजीव—सम्मा वायाम → सम्मा स्रुति—सम्मा समाधि । श्रावक—प्रत्येक बुद्ध—बोधिसत्त्व → बुद्धत्व । निर्वाण = मुक्ति ।

शाक्तदर्शन की मुक्तिसम्बन्धिनी दृष्टि—शुद्ध सत्त्व से निर्मित मणिद्वीप या चिन्तामणिद्वीप नामक लोक की प्राप्ति = मुक्ति ।

'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभूत्यात्मक ज्ञान → मोक्ष ।

पूर्ण एकाग्रता के साथ भुवनसुन्दरी का एकनिष्ठ ध्यान → मोक्ष ।

साभासा भुवनसुन्दरी में बुद्धि का लय → मोक्ष ।

समाधि द्वारा निर्भासा शक्ति में बुद्धि का निःशेष लय → मोक्ष ।

मूलाविद्यानाशद्वारा ब्रह्मप्राप्तिर्मुक्तिः ।

शाक्तों की निर्भासा मुक्ति में चेतना व्यक्त नहीं हो पाती; किन्तु उपनिषदों की मुक्ति में व्यक्त होती है ! निर्भासा मुक्ति में शक्ति का स्वरूप जड़-अजड़ दोनों से परे है । यह बौद्धों के शून्यवादी 'निर्वाण' के समीप है ।

मुक्ति के चार सोपान हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग ।

१. समस्त कर्मों एवं कर्मफलों से मुक्ति → 'ब्रह्मलोक' (कर्मयोग द्वारा) → फलाकांक्षा शून्यता → स्थूल शरीर से मोहराहित्य ।

२. द्वितीय सोपान (भक्तियोग) → सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध: न कि स्थूल शरीर से । देवी की पूर्ण मनोयोगपूर्वक भक्ति (उपासना) → महत्तत्व, अहंकार आदि । सूक्ष्म जगत् से सम्बन्ध → भुवनसुन्दरी का अखण्डित एकनिष्ठ ध्यान ।

३. तृतीय सोपान (मन्त्रयोग) → भुवनसुन्दरी के साथ सारूप्य मुक्ति ।

४. चतुर्थ सोपान (ज्ञानयोग) → समाधि द्वारा परा शक्ति के साथ ऐक्य+पराशक्ति में पूर्ण लय → सायुज्य मुक्ति : 'न सिद्धिर्ज्ञानं विना' ।

(क) मणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीव: । (शा०द०)

बादरिमत—'न मुक्तिर्मणिद्वीपवास:' (शा०द०)

निर्विकल्पसमाधिपरो ज्ञानी मुक्त: । मणिद्वीपवासो न मुक्तिरिति गर्ग:। अतो मणिद्वीपवासो मुक्तिरितिरेवेति हयग्रीव: । सविकल्पान्निर्विकल्पम् । तत्सिद्धो मुक्त: ।

(ख) 'शक्तिसूत्र' (अगस्त्य)—सर्वदु:खोपरम: श्रेयान् मोक्ष: । दुखान्त + मुक्ति ।

प्रकृति < बन्ध धर्म → मोक्ष
प्रकृति < मोक्ष अधर्म → बन्ध (तृ०अ० १,२,३)

(ग) प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोऽवशिष्यते । मुक्त: शुद्ध: पूर्ण: प्रत्यगात्मैव भवति ।

जैनदर्शन

भावास्त्रव—द्रव्यास्त्रव—४२ प्रकार के कर्मपुद्गलों का जीवों में प्रवेश = 'बन्ध' → जीव के स्वस्वरूप का नाश → 'बन्धन' (आस्त्रव → बन्ध कर्म पुद्गलों से मुक्ति → भावमोक्ष (जीवन्मुक्ति) → द्रव्यमोक्ष ।

त्रिक दर्शन : बन्धन और मोक्ष

पूर्ण संवित् तत्त्व के बन्धनात्मक आवरण—

अन्तरंग आवरण (माया, विद्या, कला, राग, काल, नियति, षट्कञ्चुक)

बहिरंग आवरण (देह, प्राण, पुर्यष्टक, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ इत्यादि)

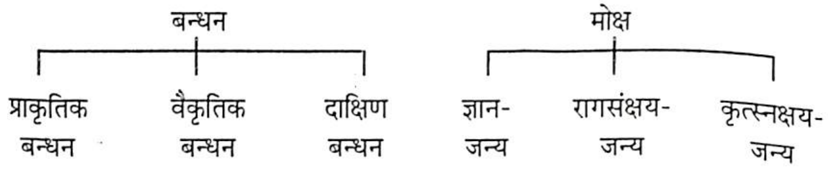
(१) मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् । (परमार्थसार-१७

(२) तथा एतत् मायादिकञ्चुकम् अणो: तण्डुलस्थानीयस्य अन्तरङ्गत्वात् कम्बुकस्थानीयं व्यतिरिक्तमपि अव्यतिरिक्ततया पूर्णसंवित्स्वरूपम् आच्छाद्य स्थितम् ।

(परमार्थसार वि०-१८)

३. देहपुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम् । एतत्षट्कससङ्कोचं यदवेद्यमसावणु: ।

(तन्त्रालोक ९।२०५)



'त्रिविधो बन्धः ।' (त०स०सूत्र २१)

'त्रिविधो मोक्षः ।' (त०स०सूत्र २२)

मोक्ष के तीन प्रकार—

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
कृत्स्नक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ।।

बन्धन के तीन प्रकार—

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ।।

१. देवल : 'त्रिविधो बन्ध इति देवलः ।'

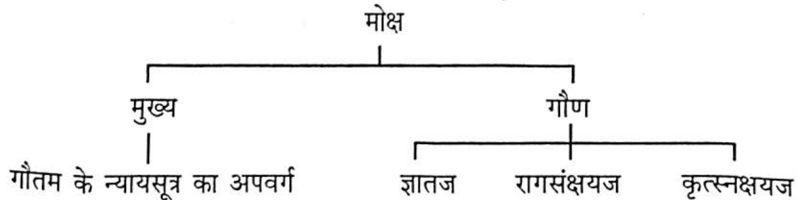
२. ब्रह्माण्डपुराण (३।३।३७-३८)—

प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धोऽत्यन्तं विवर्तते ।।

३. वायुपुराण—मोक्ष—

पूर्वं वियोगो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यं कैवल्यात्तु निरञ्जनम् ।।
निरञ्जनत्वाच्छुद्धस्तु ततो नेता न विद्यते ।
तृष्णाक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षकारणम् ।।

४. भावगणेश ने मोक्ष के दो प्रकार स्वीकार किये हैं—गौण एवं मुख्य ।



भावगणेश कहते हैं—

१. ज्ञानोद्रेकाद् अविद्यानिवृत्तिरूप एकः ।

२. रागसंक्षयाद् इन्द्रियोपशमो द्वितीयः ।

३. कृत्स्नक्षयाद्धर्माधर्माकरणरूपाद् धर्माधर्मानुत्पादरूपस्तृतीयः ।
(एतत् त्रयं ज्ञानद्वारभूतत्वाद् गौणं मोक्षत्रयम् ।)

४. आत्यन्तिकत्रिविधदुःखनिवृत्तिरेव मुख्यो मोक्षः ।

५. दुःखजन्यप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ।
—(न्यायसूत्र १।१।२)

न्यायसूत्रकार के अपवर्ग के इस स्वरूप को ही भावगणेश ने भी वास्तविक मोक्ष का स्वरूप माना है ।

बन्धन—काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि के अनुसार बन्धन का स्वरूप अन्य दर्शनों से पृथक् है । इसके अनुसार—

१. बन्धन का कारण अज्ञान है । यह ज्ञान भी कहा गया है—ज्ञानं बन्धः ।
२. अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं; प्रत्युत परिमित ज्ञान है । सांसारिक प्राणियों में पाया जाने वाला यह परिमित ज्ञान ही अज्ञान एवं बन्धन माना गया है । शिवसूत्रकार कहते हैं—ज्ञानं बन्धः ।
३. इसी अज्ञान को शैवदर्शन में 'मल' भी कहा गया है ।
४. इस मल का कारण है—परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति । इसी शक्ति से परमात्मा आरोहण-अवरोहण की कल्पना करता है । अवरोहण की कल्पना उसकी स्वात्म-प्रच्छादन की इच्छारूप क्रीड़ा है । परमेश्वर द्वारा स्वात्म-प्रच्छादन या आत्मस्वरूपगोपन की क्रीड़ा को ही त्रिकदर्शन में 'आणव मल' कहा जाता है । आणवमल यथार्थ वस्तु नहीं है; प्रत्युत यह परमेश्वर के द्वारा स्वस्वातन्त्र्य द्वारा सम्पादित मल की कल्पनामात्र है—केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात् अपरामृष्टस्वरूपस्यैव न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य ।
५. अज्ञान ही शास्त्र में 'मल' कहा गया है और यही बन्धन का कारण है—
   अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम् । (तन्त्रसार)
६. ईश्वर की स्वरूप-तिरोधित्सा ही आणव मल का कारण है—इह ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैव तावदाणवस्य मलस्य कारणम् । (तन्त्रालोक 'विवेक')

   स्वतन्त्र, चिद्घन, प्रकाशात्मा स्वभाव से ही स्वरूपप्रच्छादन क्रीड़ारसिक है—

   देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः ।
   रूपप्रच्छादनक्रीड़ायोगादणुरनेककः ॥

   स्वातन्त्र्य-स्वभाव की लीलावश जीवभाव ग्रहण करने वाला शिव जब स्वरूप-गोपन की अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वपरिगृहीत पारिमित्य को अपना पारिमित्य मान बैठता है । यह पारिमित्य की यथार्थ के रूप में अनुभव किये जाने पर प्रतीति ही 'बन्धन' बन जाती है । इसी पारिमित्यवश, संवित्स्वरूप के अज्ञानवश संकुचित ज्ञातृत्व-कर्तृत्व वाला मितात्मा 'अणु' बन जाता है—सङ्कोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् । (स्वच्छन्द० टीका भाग-५)
७. सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व स्वरूप के संकुचन के परिणामस्वरूप प्राण, मन, बुद्धि आदि वेद्य रूपों में अहन्ता दृढ़ करके वह अपने-आपको संकुचित प्रमाता मानते

हुए चिन्मय वेद्यों को भी अपने से सर्वथा पृथक् (अचिन्मय) मानने लगता है ।

अणुस्वरूप आत्मा की भिन्न वेद्यप्रथा ही मायीय मल है । इस भिन्न वेद्यप्रथा के परिणामस्वरूप मितात्मा पुरुष वेद्यों में शुभत्व एवं अशुभत्व का आरोप करने लगता है । यही शुभाशुभ विकल्प 'कार्ममल' है । स्वरूप-सङ्कोच 'आणव मल' है ।

शुभाशुभात्वारोप 'कार्ममल' है—'शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन कार्मेण मलेन वलितः ।' (स्वच्छन्द-टीका)

क. अणुत्व में अहन्ताभिमान 'आणव मल' है ।

ख. भिन्नवेद्यप्रथा 'मायीय मल' है ।

ग. शुभाशुभ वासनारूप 'कार्म मल' है ।

अपने चिद्रूप आत्मा को न जानना ही 'अज्ञान' है । यही अज्ञानरूप मल एक होते हुए भी आणव मल, मायीय मल एवं कार्म मल—इन तीन रूपों में कल्पित हुआ ।

अवरोहण क्रम (बन्धनक्रम) के तारतम्य में प्रमाता वर्ग—१. शिव, २. मन्त्रमहेश, ३. मन्त्रेश्वर, ४. मन्त्र, ५. विज्ञानाकल, ६. प्रलयाकल, ७. सकल ।

'माया' का जो तिरोधानकारी प्रभाव है, उससे स्वरूप-विपर्यास हो जाने पर जीव अपने शिवभाव के अज्ञान से परमेश्वर की मल-कल्पना (बन्ध-कल्पना) को यथार्थ मान लेता है और कल्पित बन्धन को यथार्थ बन्धन मानकर वह संकुचित प्रमाता दुःखद भोगों में संसरण करता है ।

बन्धन के पर्याय—'बन्धन' अपने विभिन्न पक्षों एवं अर्थों में विभिन्न शब्दों से अभिहित किया जाता है; यथा—

१. मल, २. अभिलाषा, ३. अज्ञान, ४. अविद्या, ५. लोलिकाप्रथा, ६. भवदोष, ७. अनुप्लव, ८. ग्लानि, ९. शोष, १०. विमूढ़ता, ११. अहं-ममात्मता, १२. आतंक, १३. मायाशक्ति, १४. आवृति, १५. दोषबीज, १६. पशुत्व, १७. संसारांकुरकारण ।

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा ।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढता ॥
अहं ममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः ।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ॥

बन्धन के प्रकार—बन्धन का मूल कारण अपने मूल रूप में तो केवल एक है और वह है—अज्ञान; किन्तु उसके अनेक भेद कल्पित किए गए हैं; जो आणवमल, मायीयमल एवं कार्ममल कहे जाते हैं । 'मल' ही संसाररूपी अंकुर का कारण है । मल = संकुचित ज्ञान ही मल है । परमात्मा अपने पूर्ण ज्ञान एवं क्रियात्मक स्वरूप को स्वेच्छा से आच्छादित करके संकुचित बन जाता है ।

'जन्म..........भोगदम् कर्तर्यबोधे कार्मं तु माया शक्त्यैव यत्त्रयम् ।'

मायाशक्ति—'मल' के प्रकार

'आणवमल'	'मायीयमल'	'कार्ममल'
'आणवमल' (अपने को अपूर्ण मानना अपूर्णम्मयता या पूर्णज्ञानात्मक स्वरूप का अज्ञान । अणुत्व या सङ्कोच)	'मायीयमल' (स्वरूप के अज्ञान के अनन्तर सांसारिक पदार्थों को भिन्न-भिन्न समझना । भेद प्रथा ही मायीय मल है । (भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं)	'कार्ममल' (जन्म एवं भोगप्रदाता शुभाशुभ कर्मों की पराधीनता कार्ममल कहा जाता है ।)

आणवमल के भेद

चिन्मात्र बोध के स्वातन्त्र्य का सङ्कोच या ज्ञातृत्व का अज्ञान	स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व का अज्ञान

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३.२)

आणव मल— गोपितस्वमहिम्नोऽस्यं सम्मोहाद्विस्मृतात्मनः ।
यः सङ्कोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते ॥

मायीय मल— ततः षट्कञ्चुकव्याप्तिविलोपितनिजस्थितेः ।
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥

कार्म मल— यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
बहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम् ॥

पञ्चकञ्चुक

कला	विद्या	राग	काल	नियति

कला—सर्वकर्तृत्व शक्ति संकुचित होकर स्वल्पकर्तृत्व शक्ति बनकर जब आत्मा को परिमित कर देती है तब उसे 'कला' कहते हैं—

सर्वकर्तृताशक्तिः संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥

विद्या—परमात्मा की सर्वज्ञता शक्ति परिमित होकर अल्पज्ञ बनकर जब पुरुष को किञ्चिज्ज्ञ बना देती है तो वह विद्या (अविद्या) के नाम से कही जाती है—

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥

राग—नित्य, परिपूर्ण तृप्ति नामक शक्ति परिमित होकर जब आत्मा को भोगों में अनुरक्त करती है तो उसे 'राग' कहा जाता है—

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता नु सती ।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वमाख्याता ।।

काल—परमेश्वरी की नित्यता शक्ति संकुचित होकर जब आत्मा को जन्म-मरण प्रदान करती हुई अनित्य या परिच्छिन्न बना देती है तब उसे 'कालतत्त्व' कहते हैं—

सा नित्यताऽस्य शक्तिर्निष्यनिधनोदयप्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण ।।

नियति—परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति संकुचित होकर आत्मा को कृत्य और अकृत्य में अवश बनाकर जब उसका नियमन करती है तो वही 'नियति' है—

यास्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ।।

(षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह)

स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया एवं मायारूप होकर पशुदशा में सङ्कोच के प्रकर्ष से सत्त्व, रजस् एवं तमस् स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है—ऐसा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) ।

अपने अंगभूत सांसारिक पदार्थों के विषय में पति अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर की जो ज्ञान, क्रिया एवं माया—ये तीन शक्तियाँ हैं, वे ही पशुदशा में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के नाम से कही जाती है —(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) ।

बन्धन एवं मल के प्रकार

बन्धन की क्रिया—क्षेमराज कहते हैं कि—

१. यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा तदीया इच्छादिशक्तयः असङ्कुचिता अपि सङ्कोचवत्यो भान्ति तदानीमेव च अयं मलावृतः संसारी भवति ।

२. तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम् ।

३. ज्ञानशक्तिः क्रमेण सङ्कोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं सङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम् ।

४. क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वकिञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहण-पूर्वमत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम् ।

५. तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्व-शक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति । तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।

उत्पलदेव ने कार्म मल को अधिक शक्तिशाली एवं प्रमुख माना है—

देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम् ।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।। (प्रत्यभिज्ञाकारिका)

मालिनीविजयोत्तर का मत—अज्ञानस्वरूप एवं बन्धात्मा संसार का मूलांकुर अज्ञान ही है और इसी का नाम 'मल' है—

मलैकयुक्तस्तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवलः ।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।। (मा०वि०तन्त्र)

विकल्पज्ञान = बन्धन—विकल्प ज्ञानों का उदित होना ही परामृतरस (शिव-शक्ति-सामरस्य) से च्युत हो जाना है, परामृत रस से प्रच्युति है । इसी से सर्वस्वतन्त्र चिदात्मा अस्वतन्त्र बन जाता है । इस विकल्प ज्ञान के विषय पाँच तन्मात्रायें हैं—

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ।। (३.४६)

क्रियात्मिका शक्ति = बन्धन—पूर्वोक्त शक्तियाँ (ब्राह्मी आदि शक्तियाँ) आत्मा के स्वरूप पर आवरण डालने में सदा उद्यत रहती हैं । इसका कारण यह है कि शब्दों की अनुस्यूतता के विना प्रत्ययोद्भव सम्भव नहीं है—

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ।। (३.४७)

स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य शक्तयो ब्राह्म्याद्याः पूर्वमुक्ता याः ताः सततम् उद्युक्ताः ।—भट्टकल्लट

यह मातृका वस्तुतः शिव की वह क्रिया शक्ति ही है, जो कि बहिर्विमर्शावस्था में पशु में विद्यमान स्थूलात्मिका क्रिया (क्रियात्मिका शक्ति) बन जाने के कारण बन्धन में डाल देने वाली है, किन्तु इसके प्रतिकूल शिवमार्ग में अवस्थित होती हुई, वास्तविक रूप में ज्ञात होने पर सिद्धियाँ प्रदान करती हैं । क्रियाशक्ति अज्ञात होने की दशा में बन्धन का कारण है; किन्तु ज्ञात होने पर सिद्धियाँ प्रदान करती है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।। (३।४८)

क्रियात्मिका शक्ति के बन्धन का कारणत्व—पशुप्रमाता अस्वतन्त्र बनकर सुख और दुःख की संवेदना के रूप वाले भोगों का भोग करता है । उस पुर्यष्टक की विद्यमानता से वह सांसारिक शरीर में सञ्चरण करता है । प्रत्ययोद्भव है— सुख-दुःखसंवेदन । मितप्रमाता पुर्यष्टक के बन्धन में पड़ा रहता है और इसी पुर्यष्टक के द्वारा प्रत्ययोद्भव को जन्म प्राप्त होता है—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ।। ४९ ।।
भुंक्ते परवशो भोगं तद्भावात् संसरत्यतः ।

गुणादि स्पन्द के निष्यन्द = बन्धन—सत्त्व, रज, तम के तीन गुण एवं बुद्धि तथा अहंकार आदि के जो स्पन्द हैं, उन्हीं के निष्यन्द (प्रवाह) हैं। वे सुख, दु:ख, मोह की तरंगें हैं। मूढ़ पुरुषों के लिए ये ही स्पन्द निष्यन्द चित् स्वरूप के आच्छादक हैं और घोर संसार-वर्त्म में अध:पतित करते हैं—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यता: ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ (३.२०)

आचार्य सोमानन्द की दृष्टि—

१. अज्ञानलक्षणा सा च संसारो बन्ध उच्यते ।

२. बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वत: ।

३. विभिन्नशिवपक्षे तु सत्ये दार्ढ्यं परत्र नो ।
प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ॥

४. यदा त्वेकशिवत्वमेव तत्त्वं तदा तस्मिन् पक्षे न दार्ढ्यं भेदस्य । अपितु शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु बन्ध: ।

५. भेदेऽपि तथा भेदरूपेण शिवस्यावस्थानं स्वेच्छावशात् । स च भेद: शिवात्मक: । एवं च भेदस्य शिवात्मकत्वे नास्ति बन्धस्तदभावात् तदपेक्षो न मोक्षोऽपि ।

—(शिवदृष्टि, शिवदृष्टिवृत्ति)

पारमार्थिक सत्य और बन्धन—सुख-दु:ख, जय-पराजय, मान-अपमान, लाभ-हानि, भाव-अभाव, तृप्ति-अतृप्ति, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, आकर्षण-विकर्षण, प्राप्ति-अप्राप्ति, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि समस्त मानसिक एवं शारीरिक अवस्थायें एवं इनके संवेदन अनित्य, अनात्म, क्षर एवं अचिद्रूप होते हैं; अत: इनका सम्बन्ध आत्मा से न होकर नश्वर अन्त:करण एवं पुर्यष्टक से होता है; अत: ये पारमार्थिक नहीं हैं; बल्कि बन्धनकारक अज्ञानात्मक ज्ञान हैं। कहा भी गया है—

न दु:खं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढ़भावोऽपि तदस्ति परमार्थत: ॥ (१।५)

'ज्ञानं बन्ध:' कहकर शिवसूत्रकार ने अज्ञानात्मक ज्ञान को 'बन्धन' का आत्मस्वरूप घोषित किया। शिव अभिनय की दृष्टि से स्वस्वातन्त्र्यवश स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा (अभिनेता या नट की भाँति) अपने वर्तमान सत्स्वरूप को माया शक्ति के वशीभूत करके जो आत्मगोपन-रूपी क्रीड़ा करता है, वही आत्मस्वरूप के विस्मरण के कारण 'बन्धन' बन जाता है।

यदि कोई नट 'रावण' का अभिनय करता है तो उसे अभिनयोपरान्त यह भी जानना चाहिए कि मैं 'रावण' नहीं हूँ; किन्तु यदि वह अभिनय एवं अभिनयोपरान्त दोनों अवस्थाओं में रावण से तादात्म्य प्राप्त करके अपने नटरूप को भूल जाता है तो यह स्वस्वरूप की विस्मृति ही 'बन्धन' है और अपने नटत्व की स्मृति ही 'मुक्ति' है।

बन्धनकारक तत्त्व और बन्धन-पद्धति–स्पन्दकारिकाकार का कथन है कि—

१. अनादि अशुद्धि ही बन्धन का कारण है। भोगाभिलाषा ही बन्धन का कारण है।

२. 'अशुद्धि' है—अविवेकात्मिका अविद्या। यह आत्मा की अचिन्त्य एवं पूर्ण शक्ति को संकुचित कर देती है और जीव को सामर्थ्यहीन एवं शक्तिहीन बना देती है।

३. उक्त इच्छा की पूर्ति के लिए यह अतृप्त मितात्मा उस अभिलाषा की पूर्ति के लिए कर्तव्य करने लगता है। अतः यह भोगाभिलाषा एवं उसके लिए की गई चिकीर्षा ही 'अज्ञान' है। यही अज्ञान (अशुद्धि) मितात्मा को बन्धन में डालकर उसे 'बद्ध' (पशु) बना देते हैं—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः। (१।९)

मुक्ति

१. क्षोभ का प्रलय = परमपद—यदि देहात्मवाद (देह में उत्पन्न आत्मबुद्धि) युक्त अज्ञान एवं भोगैषणारूप कुत्सित वासना की अभिलाषा से उत्पन्न मनःक्षोभ आत्मसंवित् में लय हो जाय तो जीव को 'परमपद' प्राप्त हो जाता है।

यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम्। (१.९ स्पन्दकारिका)

२. आत्मबल का स्पर्श = शिवत्व—यदि मितात्मा अपने निरावरण, चिद्रूप, सर्वकर्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापक, सर्वरूप एवं निरञ्जन आत्मा के बल (आत्मबल) का स्पर्श पा जाये तो भी वह शिव बन जाता है—

अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्। (१.८)

३. शिवभाव का उदय = तदात्मतासमापात्ति = मुक्ति—ध्याता द्वारा ध्येय का अविरत ध्यान किया जाना एवं उसके साथ 'तदात्मतासमापत्ति' ही देवता का साक्षात्कार (भगवद्दर्शनस्वरूप मुक्ति) है—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायि चेतसि।
तदात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा॥ (द्वि० ३१)

४. अमृतप्राप्ति, आत्मग्रह, निर्वाणदीक्षा, शिवसद्भाव—स्पन्दकारिका ने देवसाक्षात्कार को ही अमृतप्राप्ति, आत्मग्रह, निर्वाणदीक्षा एवं शिवसद्भाव कहा है—

इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽत्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी॥ (तृ० ३२)

आत्मसाक्षात्कार भी मुक्ति है। अपने स्वरूप का साक्षात्कार अपनी यथार्थ, चिद्रूप, चिद्घन एवं नित्य सत्ता की प्रत्यभिज्ञा भी मुक्ति या मोक्ष है। यदि साधक प्रत्येक वस्तु को देखने की इच्छा करते समय उसमें अनुप्रविष्ट होकर, तन्निष्ठ होकर, तल्लीन होकर एवं उसको व्याप्त करके (उसे स्वस्वरूप समझकर) अवस्थित हो तो इस स्थिति में भी उसे आत्मस्वरूप का ही साक्षात्कार होगा—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ (३.४३)

यह आत्मदर्शन भी मुक्ति ही तो है ।

५. उन्मेष—उन्मेष अज्ञान का उच्छेदक है । उन्मेष को भट्टकल्लट ने आत्मस्वभाव कहा है—'तदज्ञानम् उन्मेषेणात्मस्वभावेन' । ग्लानि मानसिक औदासीन्य है, अनुत्साह है । ग्लानि अज्ञान से उत्पन्न होती है । यदि उन्मेष द्वारा यह अज्ञान दूर कर दिया जाय तो ग्लानि के नष्ट होने पर स्वस्वरूप को प्राप्त करने में सहायता मिलती है । एक चिन्ता के अन्त एवं दूसरे के उदय के अन्तराल में स्थित सन्धिकाल में उदित अलक्षित आत्मबल के आकस्मिक विकास को उन्मेष कहते हैं । इसका अनुसन्धान भी आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाता है—

ग्लानिर्विलुम्पिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः स्यादहेतुका ॥
एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ (३.४०-४१)

आत्मस्पर्श तो स्पन्दानुभूति के आकस्मिक क्षणों में भी होती है; यथा—अत्यन्त क्रुद्ध होने पर, अत्यन्त प्रहृष्ट होने पर, किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में, दौड़ते समय अर्थात् शक्तिप्रत्यस्तमित दशा के उदय के क्षणिक काल में स्पन्दतत्त्व का स्पष्टतः उदय हो जाता है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ (१.२२)

इन एकाग्रता के क्षणों को यदि स्थायी बनाया जाय तो स्पन्दोदय में स्थिरता आ सकती है और इससे आत्मानुभूति की स्थायी अनुभूति हो सकती है ।

६. सौषुम्ण धाम में प्राणापान का लय : मुक्ति—गुर्वाज्ञा के दृढ़तापूर्वक पालन के साथ वृत्तिप्रत्यस्तमित दशा में प्राणापान को सुषुम्णा में लय करके महाव्योम में स्थित होकर स्पन्दस्वरूप अवस्था में स्थायी रूप से विश्राम करना भी मुक्ति है । इसके विषय में स्पन्दकारिकाकार कहते हैं—

यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति ।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि ।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ (२३-२५)

७. जीवन्मुक्ति—जीवन्मुक्ति ही स्पन्द, त्रिक, क्रम एवं प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन की (मुक्ति की) वास्तविक दृष्टि है । इसका स्वरूप स्पन्दकारिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

प्रत्येक योगी का यह आन्तर्विमर्श एवं आत्मानुमत होना चाहिए कि—

१. यह अपनी जीवात्मा एवं समस्त आत्मायें सर्वमय हैं; क्योंकि ये अपने व्यष्टिगत संवेदन द्वारा संसार के प्रत्येक भाव की सृष्टि करती हैं। विश्व के समस्त वाह्यार्थों का संवेदन भी आत्मसंवेदन होने के कारण यह भी अपना ही स्वरूप है।

२. समस्त वाचक एवं वाच्यात्मक पदार्थों की संवेदनाओं की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है; जो कि शिव न हो। प्रत्येक स्थान में भोक्ता (आत्मा) ही भोग्य (प्रमेय) पदार्थों के रूप में उल्लसित होकर शाश्वत रूप में स्थित है।

३. जिस योगी के संवेदन (संवित्ति) का इत्याकारक स्वभाव हो, वह समस्त विश्व को अपनी क्रीड़ा के क्रीडनक के रूप में देखता है। ऐसी दृष्टि रखता हुआ योगी (मन्मयमेव जगत् सर्वम्—कल्लट के शब्दों में) जीवन्मुक्त कहलाता है। अर्थात् योगी की ऐसी ही विश्वात्मभावना जीवन्मुक्ति है—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न य शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ २८-३०॥

८. उन्मेष की भूमिका—उन्मेष की भूमिका यह है कि इसका अनुशीलन करते रहने पर निम्न प्रत्ययों का उदय होता है और इत्याकारक अनुभूतियाँ होती है—

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः।
प्रवर्तते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः॥ (३.४२)

अर्थात् उन्मेषानुशीलन के परिणामस्वरूप तेजोरूप 'बिन्दु', अनाहतात्मा, प्रणवाख्य 'नाद', अन्धकार में भी दर्शन करना एवं मुख में अमृतास्वाद आदि क्षोभक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

यद्यपि सिद्धियाँ मुक्ति के पर्याय नहीं हैं; किन्तु दैवीय अनुभूतियाँ, आध्यात्मिक शक्तियों का विकास एवं अतीन्द्रिय उपलब्धियाँ तो अवश्य हैं।

योगी अपनी प्रत्येक अनुभूति-दशा में स्वसंवेदन के द्वारा प्रत्येक ज्ञेय विषय का विश्लेषण करते-करते उसमें अनुस्यूत स्पन्द तत्त्व का निभालन करता जाय एवं समस्त प्रमेयों को एक ही तत्त्व में लय कर दे। प्रत्येक विषय को एक ही तत्त्व से अभिन्न रूप में देखे (स्पन्दकारिका ४४)। जो कोई प्रबुद्ध योगी अपने में स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करने के लिए प्रति समय उद्योग करता रहता है, उसको जाग्रत् अवस्था में ही अपने चिन्मात्रभाव की उपलब्धि अत्यल्प समय में हो जाती है—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविमुक्तये।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति॥ (२१)

क्षोभ के विलीन हो जाने पर इसका (मितप्रमाता का) स्वभावसिद्ध ज्ञातृता और कर्तृताधर्म निरावृत रूप में प्रकट हो जाता है, जिससे यह सारी इच्छित बातों को स्वतन्त्रतापूर्वक जानता भी है और कहता भी है—

तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षण: ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ (१.१०)

चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति—जब साधक स्थूल-सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में अवस्थित होता हुआ ही चित्त को लीन करके अन्त:-बहि एकाकार स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है तब स्वतन्त्रतापूर्वक उसके (प्रत्ययोद्भव के) सृष्टि एवं संहार को सम्पन्न करता हुआ अपनी खोई हुई भोक्तृभाव की पदवी पर पहुँच जाता है । आन्तर शक्तिचक्र का स्वामी बन जाता है—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य प्रलयोदयौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ (३.५१)

यह 'भोक्तृता' एवं 'चक्रेश्वरत्व' मुक्ति का ही पर्याय है । इस स्थिति में मितात्मा भोग्यभाव से मुक्त होकर भोक्ताभाव प्राप्त करके पशुत्व से मुक्त होता है—पुर्यष्टकद्वयमध्यादेकत्रैकस्मिन् पुर्यष्टके स्थूले सूक्ष्मे वा पतित्वेन संरूढ़ो लीनचित्तस्तदा तस्य तदुत्थप्रत्ययोद्भवस्य शब्दार्थौ लयोद्भवौ प्रध्वंसप्रादुर्भावौ नियच्छन् स्वेच्छया कुर्वन् भोक्तृतामेति । प्रभुत्वं प्राप्नोति । भोग्यरूपात् पशुत्वान्मुच्यते इति (उत्पलदेव)[१] । इसलिये कहा गया है—

पशूनां तु पतिर्भूत्वा पशूनां तु पतिर्भवेत् ।
पशुत्वान्मुच्यते सद्यो भूत्वा पशुपते: पति: ॥

इस पशुत्व से मुक्ति प्राप्त होने पर 'चक्रेश्वरत्व' की प्राप्ति होती है—'एवं सति स्वातन्त्र्याप्तेस्ततश्चक्रेश्वर: शक्ति चक्रस्वामी सर्वज्ञतादियुत: सर्वाधिपतिर्भवेदित्यर्थ: ।'[२] (उत्पलदेव)

रामकण्ठाचार्य 'स्पन्दकारिकाविवृति' में अपने शब्दों में इसी भाव को इस प्रकार कहते हैं—अहमेव नित्यनिरावरणस्वतन्त्रचिन्मात्रस्वरूप: अनयो: कर्ता इति निर्विकल्पतया व्यवस्थापयन् भोक्तृतामेति भोक्तुरुपलब्धृमात्रस्वभावस्य परमात्मनो भावो भोक्तृता तामाप्नोति सतीमपि तदानीमेव प्रत्यभिज्ञया स्वीकुरुते तत: सत्यात्मस्वरूपप्रत्यभिज्ञालक्षणात् हेतो: चक्रेश्वरो भवेत् ।

जीवन्मृतत्त्व—जीवन्मृतत्त्व भी मोक्ष का एक अभिधानान्तर है—

उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठताहन्त: ।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोक: ॥

देहसम्बन्धी षड्विध अस्मिता को मात्र पिण्ड में न करके सम्पूर्ण विश्व में अहम्भाव करना विश्वात्मभाव की सिद्धि है । इसके किसी एक अंश में अहन्ता करना जीवन्मृतत्त्व है ।

आचार्य क्षेमराज ने भी प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अन्तिम सूत्र में चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति को सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया है—तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मक-

१. स्पन्दप्रदीपिका (५१) २. उत्पलदेवाचार्य : स्पन्दप्रदीपिका

पूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् । अर्थात् तब प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्ता के साथ अभेद होने से सदा सब प्रकार की सृष्टि और लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है ।

तत्त्वपरिज्ञान = मोक्ष—श्रीबोधपञ्चदशिका में तत्त्व के परिज्ञान को ही मोक्ष, पूर्णत्व एवं जीवन्मुक्ति तीनों कहा गया है—

यत्तत्त्वस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशतः ।
तत्पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता ।। (१३)

अज्ञान ग्रन्थि का उद्भेदन = मोक्ष—प०सा०६० में कहा गया है कि 'मोक्ष' का कोई धाम नहीं है, मोक्ष किसी लोकान्तर में गमन का अभिधान भी नहीं है । मोक्ष है— अज्ञान ग्रन्थि का उद्भेदन—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्याभिव्यक्तता मोक्षः ।।

बन्धन और मोक्ष में भेदाभेद

बन्धन और मोक्ष में तात्त्विक भेद क्या है? बन्धन और मोक्ष दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है; क्योंकि दोनों परमेश्वर-कल्पित हैं । ये दोनों ही संवित्-स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं हैं; अतः दोनों एक संवित् तत्त्व के स्वातन्त्र्य की इच्छा या कल्पित भेद-कल्पना (आत्मगोपन क्रीड़ा) के अंग हैं—

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेश्वरस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेद्ये हि तत्त्वतः परमेश्वरे ।।[१]

इसलिए कहा भी गया है—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का,
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो,
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावत्स्थितः ।।

यदि समस्त भावों का स्वभाव ही 'भैरव' है तो भैरवत्व से पृथक् बन्धन और मोक्ष दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि ये भी तो भाव ही हैं । अतः दोनों तत्त्वतः एक हैं । पारमार्थिक दृष्टि से तो 'न सावस्था न यः शिवः ।' चूँकि शिव तो एक है; अतः नानात्व तो उसका आभास-मात्र है । अतः बन्धन एवं मुक्ति में पृथक्त्व का भेद भी तात्त्विक सत्य नहीं; प्रत्युत एक आभासमात्र है । अभिनवगुप्ताचार्य ने 'परमार्थचर्चा' में इसी दृष्टि को उपन्यस्त किया है—

भेदः स चायं न ततो विभिन्नः स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्नः ।

---

१. श्रीबोधपञ्चादशिका (१४)

'विज्ञानभैरव' की १०९वीं धारणा में भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया गया है कि बन्धन और मोक्ष केवल भयभीत लोगों को डराने का एक स्वांग है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बात्मक सूर्य नहीं है, उसी प्रकार बन्धन एवं मोक्ष भी तत्त्वतः भिन्न-भिन्न सत्तायें नहीं हैं—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥[1]

जीवन्मुक्ति—काश्मीरी शैव दर्शन के सारे अद्वैतवादी सम्प्रदाय मुक्ति को जीवन्मुक्ति के स्वरूप में ही स्वीकार करते हैं—

जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ।[2]

स्पन्दसूत्र में तो 'स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।[3]—कहा भी गया है। साथ ही 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में भी आचार्य क्षेमराज ने इसे महामुक्ति का पर्याय स्वीकार करके इसका उल्लेख किया है—'चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।' अर्थात् चिदानन्द की प्राप्ति के पश्चात् देहादिक के अनुभूत होने पर भी चित् शक्ति के साथ एकात्मता की प्रतिपत्ति की दृढ़ता जीवन्मुक्ति है।

इसी की व्याख्या करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि 'विश्व के साथ अभिन्नतारूप समावेशात्मक चिदानन्द के उपलब्ध होने पर व्युत्थानावस्था में केंचुल या कोष के सदृश देह-प्राण-नील एवं सुखादिकों के आभासित रहने पर भी जिस अभेदापत्ति के संस्कारबल से एवं अग्रिम ग्रन्थ में प्रतिपादित युक्ति के क्रम से उद्दीप्त अविचल चिदैक्य प्रथित होता है; वही जीवन्मुक्ति है।' यह प्राणों को धारण करते हुए मुक्ति है; क्योंकि उस दशा में अपने स्वरूप की पहचान हो जाने पर समस्त पाशराशि कट जाती है।'[4]

'जो लोग छत्तीस तत्त्वमय शरीर को। घटादिक को भी शिवस्वरूप में देखते हैं, वे भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं' (शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतां पश्यन्ति तेऽपि सिद्ध्यन्ति)[5]। 'यह सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकता रूप ऐसा जानता है, उस विश्वात्मा व्यक्ति में विकल्पों के विस्तार की दशा में भी महेश्वरता अक्षुण्ण रहती है।[6]

आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि

पशु (संसारी) एवं मुक्त में भेद—जो प्रमाता माया शक्ति के आवरण से आवृत है, वह कर्म-बद्ध मितात्मा ही संसारी कहलाता है—'एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः' (उत्पलदेव)। माया द्वारा रागादिक्लेशों एवं कर्मों के विकारों से संलिप्त मितात्मा ही 'पशु' है—'मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः।' दोनों में भेद निम्नांकित है—

स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥[7]

---

१. विज्ञानभैरव (१३२)
२. विज्ञानभैरव
३-६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
७. प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलदेव)

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः ।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥[१]

मायीयशून्यादिप्रमाता नियतिनियमितः संसारी विद्यावशादात्मतत्त्वाभिज्ञया मुक्तः । ऐश्वर्यदशायां प्रमाता विश्वं शरीरतया पश्यन् पतिः । पुंस्त्वावस्थायान्तु रागादिक्लेशकर्मविकाशयैः परीतः पशुः ।[२]

मोक्ष = कर्मक्षय—आचार्य उत्पलदेव का कथन है कि 'मोक्ष' रागक्षयाश्रित है—

संवेद्यैकस्वभावत्वात्तस्य कर्मक्षयान्न चेत् ।
तत्स्वभावत्वमेव स्यान्मोक्षः कर्मक्षयाश्रयः ॥ ५० ॥[३]

मोक्ष = रागक्षय—आचार्य उत्पलदेव का कथन है कि 'मोक्ष' रागक्षयाश्रित है—

स्युर्ज्ञातपुंवितेकानां कर्माण्यपि कृपादितः ।
न रागात्तानि चेदेवं मोक्षं रागक्षयाद्भवेत् ॥ ५१ ॥[४]

क्षेमराज की दृष्टि

आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहते हैं कि 'न सावस्था न यः शिवः' कहकर उत्पलदेव ने शिव एवं जीव में जिस अभेदात्मकता या अद्वैतवाद के तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है, उसका परिज्ञान ही 'मुक्ति' है और इस तत्त्व का अज्ञान ही 'बन्धन' है—'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः' इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः । एतत् तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः । एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः ।[५]

अभेदात्मक तत्त्वविज्ञान की अनुभूति—आचार्य क्षेमराज अन्य दृष्टि उपस्थित करते हुए कहते हैं कि आत्मा का सम्यक् स्वरूप-ज्ञान ही मुक्ति का पर्याय है; क्योंकि उसी से मुक्ति और असम्यक् ज्ञान से संसाररूप 'बन्धन' प्राप्त होता है—अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः असम्यक् तु संसारः ।[६]

स्वरूप-ज्ञान—एक ही सत्ता (आत्मा) ज्ञात होने पर मुक्तिदाता एवं अज्ञात रहने पर बन्धनप्रदा हो जाती है—अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः अन्यथा तु संसारहेतुः ।(प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र-७)

दामोदर कहते हैं—पूर्णप्रमाता, परिमितप्रमाता तथा उसके अन्तःकरण, बाह्यकरण एवं प्रमेयगत वामेश्वरी आदि शक्तियाँ ज्ञात होने पर मुक्ति देने वाली और अज्ञात होने पर बन्धनप्रद बन जाती हैं—

पूर्णावच्छिन्नमान्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥ (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

विश्वात्मैक्य-प्रतिपत्ति—क्षेमराज कहते हैं कि 'जगत् मेरा ही स्वरूप है'—इस प्रथा का जिसको ज्ञान है, वह जगत् को क्रीड़ा मानता है । ऐसा योगी योगयुक्त होकर जीवन्मुक्त

१-२. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ३-४. ईश्वरसिद्धि
५-६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

कहलाता है। क्षेमराज कहते हैं कि मध्य के विकास से चिदानन्द की प्राप्ति होती है— मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः (प्र०हृ०सूत्र-१७)।

विकल्पक्षय—शक्तिसङ्कोचविकास वाह्यच्छेद आद्यन्त कोटि का निभालन (परिशीलन) → मध्य का विकास → चिदानन्द की प्राप्ति।

प्रत्यभिज्ञा—प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार अपने आत्मस्वभाव की 'प्रत्यभिज्ञा' ही मुक्ति है। 'स एव ईश्वरं अहं' इसकी प्रत्यभिज्ञा ही मोक्ष है। 'नूनं स एव ईश्वरोऽहं' यही ज्ञान मुक्ति है (अभिनवगुप्त)।

स्पन्दशास्त्र में बन्धन एवं मुक्ति की अवधारणा

स्पन्दशास्त्र बन्धन एवं मुक्ति को पारमार्थिक सत्य नहीं मानता। 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहा गया है कि—

१ शिव एवं जीव में अभेद का तत्त्वपरिज्ञान ही मुक्ति है तथा इस रहस्यात्मक तथ्य को न जानना ही बन्धन है—'शिवजीवयोरभेदः .... एतत्तत्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः' (ई०प्र०वि०)। वास्तविकता तो यह है कि— 'न सावस्था न यः शिवः' (स्पन्दकारिका)। उत्पलाचार्य 'स्पन्दप्रदीपिका' में मोक्ष की निम्न परिभाषा देते हैं—

नान्यत्र गमनं स्थानं मोक्षोऽस्ति सुरसुन्दरि।
अज्ञानग्रन्थिभेदो यः स मोक्ष इति कथ्यते॥

अर्थात् 'स्पन्दशास्त्र' यह मानता है कि अज्ञान ग्रन्थि का भेद ही 'मोक्ष' है।

२. राग-द्वेषादि क्लेशों से दूषित चित्त ही संसार है और उनसे विमुक्त चित्त ही 'मोक्ष' है—

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशभूषितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

३. विकल्प के अतिरिक्त कोई बन्धन है ही नहीं। विकल्प ही मोहमूलक संसार है—

सर्वो विकल्पः संसारो नान्यो बन्धो विकल्पते।

४. रागादि मलिन चित्त ही 'संसार' है और पवित्र चित्त ही मोक्ष है—

रागादिमलिनं चित्तं संसारस्तद्विविक्तता।
संक्षेपात् कथितो मोक्षः प्रहीणावरणैर्जिनैः॥

५. बन्धन, बन्धनकर्ता एवं बद्ध—ये तीनों एक ही हैं। सभी अपने विकल्प से ही परिबद्ध हैं। वस्तुतः बन्धन है ही नहीं; फिर मुक्ति कहाँ होगी? इन्हें विकल्पों ने निर्मित किया है; अतः बन्धन-मुक्ति कुछ नहीं है—

क. सर्वो विकल्पः संसारो नान्यो बन्धो विकल्पतः।

ख. बन्धनं बन्धकृद् बद्धस्त्रिष्वप्येको न भिद्यते।

स्वविकल्पकृतैर्बन्धैर्बद्ध्यते त्वनिशं जगत् ॥

ग. वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता ।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन ॥

स्पन्दशास्त्र में मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति का अर्थ है—छोड़ना या छुड़ाना। किससे मुक्ति? बन्धन से, मल से, अज्ञान से, माया से, पशुत्व से, विकल्पों से, संसार से, आत्मस्वरूप की विस्मृति से या कि किसी अन्य वस्तु से मुक्ति? स्पन्दशास्त्र कहता है कि अपने शिवत्व को भूलकर पशुत्व-ग्रहण की भूल से या पतिभूमिका से उतर कर पशुभूमिका पर आरूढ़ होने से या आत्मस्वरूप को भूलकर अनात्मतत्त्व को स्व मानने से जो अज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी से मुक्त होना मुक्ति है। स्वस्वभाव के स्तर पर कोई बन्धन है ही नहीं और न तो मुक्ति नामक कोई अन्य वस्तु ही है; क्योंकि वहाँ दोनों एक हैं—

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥[१]

तत्त्व का परिज्ञान ही मोक्ष है, यही पूर्णता भी है और यही जीवन्मुक्ति भी है—

यत्तत्त्वस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशतः ।
तत्पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता ॥[२]

मोक्ष का न तो कोई धाम है और न इसमें कहीं अन्यत्र गमन होता है; प्रत्युत अज्ञान ग्रन्थि का भेदन एवं स्वशक्ति की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥[३]

देह में अहम्भावरूप जो अशुद्धि है, जो अशुद्धि भोगाभिलाषारूप मल के द्वारा आत्मा की शक्ति को संकुचित करके उसे सामर्थ्यहीन बना देती है, उस अशुद्धिरूप क्षोभ का विनाश ही परमपद की प्राप्ति है—

निजा शुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम् ॥[४]

यह जो स्वरूप-संवेदन है, यही अमृतत्व-प्राप्ति है—

इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥[५]

क्रियात्मिका शक्ति ही पशुओं का बन्धन है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।

१-२. श्रीबोधपञ्चदशिका ३. प०सा० ६०
४-५. स्पन्दकारिका (९, ३२)

किन्तु तत्त्वज्ञों के लिए सिद्धि-प्रदायिका भी है—

स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।[१]

यह शक्ति बन्धन कैसे बनती है? स्पन्दकारिकाकार कहते हैं—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहम्बुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थप्रत्ययोद्भवम् ॥ ४९ ॥
भुक्ते परवशो भोगः तद्भावात् संसरेदतः ।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं सम्प्रचक्ष्महे ॥[२]

'स्पन्दप्रदीपिका' में उत्पलाचार्य ने कहा है कि स्पन्दशास्त्र में 'जीवन्मुक्ति' ही मोक्ष है—'इह हि जीवन्मुक्ततैव मोक्षः ।'

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—'चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्य-प्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः । चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम् अविचला चिदेकत्वप्रथा सैव जीवन्मुक्तिः, जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः ।'[३] चित् शक्ति के साथ एकात्मता-प्रतिपत्ति की दृढ़ता जीवन्मुक्ति है । स्पन्दशास्त्र में भी कहा गया है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

समस्त जगत् मेरा स्वरूप है—इस प्रथा का जिसको ज्ञान है, वह समस्त जगत् को खेल के समान देखता हुआ सतत योगयुक्त होने से जीवन्मुक्त है ।

मुक्ति की स्पन्दशास्त्रीय दृष्टि

'स्पन्दशास्त्र' की दृष्टि में न तो कोई बद्ध है और ही कोई मुक्त । जब अपनी ही इच्छा से शिव पशु की भूमिका निभाता है—अपने स्वस्वरूप का गोपन करता है और शिव से पशु बन जाता है तब कैसा बन्धन एवं कैसी मुक्ति? शिव द्वारा अपने शिवत्व का आत्मगोपन ही स्पन्दशास्त्र में 'बन्धन' माना जाता है और अपनी आत्मगोपनात्मिका क्रिया को बन्द करके अपने स्वस्वरूप (शिवभाव) में पुनः प्रत्यावर्तित हो जाना ही 'मुक्ति' कहा जाता है । 'बन्धन' तो परकृत होता है; किन्तु शिव तो परकृत बन्धन से बद्ध है ही नहीं; प्रत्युत अपने शिवत्व का त्याग करके पशुत्वरूप बन्धन को स्वेच्छया स्वीकार करता है । 'मुक्ति' भी मुक्ति नहीं है; क्योंकि मुक्ति (मुञ्च धातु—छोड़ना, किसी बन्धन या पाश से छुटकारा पाना) तो तब सम्भव है, जब किसी अन्य व्यक्ति ने बाँधा हो । यदि 'बन्धन' यथार्थ होता तो उससे कोई मुक्त कैसे हो पाता? आत्मा में चैतन्य यथार्थ तत्त्व है । क्या वह उससे मुक्त (रहित) हो सकती है? शास्त्रों में मुक्ति के निम्न भेद बताए गए हैं—

१. आणवसमावेश— उच्चार-करण-ध्यान-वर्णसंस्थान-प्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥

१-२. स्पन्दकारिका ३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

२. शाक्तसमावेश— उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥

३. शाम्भवसमावेश— अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥

(मालिनीविजयोत्तर तन्त्र २.२१-२३)

किससे मुक्ति चाहिए? मलों से । 'मल' क्या है? १. पर मल = आणव मल, २. सूक्ष्म मल = मायीय मल, ३. स्थूल मल = कार्म मल ।

'परमार्थसार' में तीनों मलों को 'कोशत्रय' भी कहा गया है । 'मल' क्या है? 'मल'—

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ॥ (मालिनी०)

तन्त्रालोक की टीका विवेक में जयरथ कहते हैं कि—

१. 'आत्मज्ञान' ही मोक्ष है—इह आत्मज्ञानमेव मोक्षः—इति ज्ञानमोक्षयोः कार्य-कारणभाव एव वस्तुनो नास्ति इति नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात् इत्यनिष्ठापादनात्मायं प्रसङ्गो नाशङ्कनीयः ।

'महार्थमञ्जरी' के 'परिमल' में जीवन्मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

भोगमोक्षसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्षः । (का० ५२)

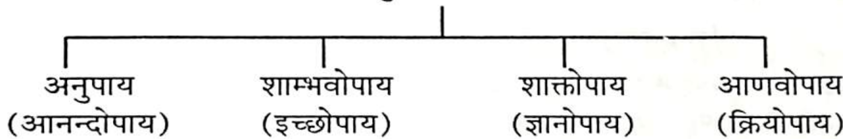
अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' में मुक्ति के निम्न उपायों का उल्लेख किया है—

१. शाम्भवोपाय = अभेदप्रधान दृष्टि ।

२. शाक्तोपाय = भेदाभेदप्रधान दृष्टि ।

३. आणवोपाय = भेदप्रधान दृष्टि ।

त्रिकदर्शन की समस्त शाखाओं में मुक्ति के ४ उपाय हैं ।



२. मुक्ति एक स्वांगरूपता है—अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे । बद्धमुक्तयोर्विशेषः यन्मुक्तस्य स्वाङ्गरूपता अवभासन्ते बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेन—(विवेक ४.२) ।

आत्मज्ञान को 'कारण' एवं मोक्ष को उसका 'कार्य' मानना (त्रिकदृष्टि में) सही नहीं है । मुक्ति, आत्मज्ञान, आत्मस्वरूप का साक्षात्कार एवं मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं ।

मुक्ति कोई नूतन उपलब्धि नहीं है; प्रत्युत ज्ञात का ही ज्ञान है । अनुत्तरतत्त्व से तन्मय हो जाना ही पूर्णता है और यह पूर्णता ही मुक्ति है ।

३. क्या मुक्ति यथार्थतः एक मिथ्या कल्पना है—

१. ईश्वरकृष्ण का मत— तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

२. गौड़पादाचार्य का मत—रूपै सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
(गौड़पादकारिका-२.३२)

३. स्पन्दकारिकाकार का मत— न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ (५)

४. सोमानन्दपाद की दृष्टि—सोमानन्द 'शिवदृष्टि' में कहते हैं—

१. बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्त्वतः । (३।६८)

२. विज्ञानमीदृक्सर्वस्य कस्मान्न स्याद्विमोहिता ।
सैवैषा सा च संसारो बन्धमोक्षावतः स्थितौ ॥ (३।६९)

३. विभिन्नशिवपक्षे तु सत्ये दार्ढ्यं परत्र नो ।
प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ॥ (३।७०)

४. चूँकि सब कुछ शिव है; अतः बन्धन और मोक्ष दोनों का अभाव है—
सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावात् ।

प्रश्न उठता है कि फिर सभी को 'शिवोऽहं' की प्रतीति क्यों नहीं होती?—'शिवोऽहं' इति सर्वस्यैव किमिति ज्ञानं न भवतीति ।'

५. 'अज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ । अज्ञानलक्षणा सा च संसारो बन्ध उच्यते ।'

६. शिव के साथ अभेद-प्रतीति ही मोक्ष है और उनके साथ भेद-प्रतीति ही 'बन्धन' है—

शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु बन्धः ।

७. सोमानन्द कहते हैं कि बन्ध एवं मोक्ष—ये दोनों तत्त्व कोई स्वतन्त्र एवं यथार्थभूत तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत भेद एवं अभेद की प्रतीति के द्योतकमात्र हैं—'प्रतीतिमात्रेण, न तु वस्त्वन्यात्वे बन्धमोक्षयोर्बन्धमोक्षता' (शिवदृष्टिवृत्ति) ।

५. श्रीबोधपञ्चदशिका के रचनाकार भी दृष्टि—'श्रीबोधपञ्चदशिका' नामक ग्रन्थ में कहा है कि ये दोनों—बन्धन एवं मोक्ष नामक स्थितियाँ—वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर परस्पर भिन्न नहीं हैं; क्योंकि ये परमेश्वर में अभिन्नतया स्थित हैं—

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥ (१४)

क्योंकि— मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्याभिव्यक्तता मोक्षः ॥ (प०सा०६०)

६. अन्य ग्रन्थकारों की दृष्टियाँ—बन्धन-मुक्ति है ही नहीं—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुगजच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावत्स्थितः ।।

७. विवरणकार (हरभट्टशास्त्री) ठीक ही कहते हैं कि 'विश्वात्मना प्रस्फुरद्रूपत्वं पारमैश्वर्यं अभिन्नप्रकाशमयं परमेशता'—ही स्वस्वरूप है और इसका साक्षात्कार ही मुक्ति है । पूर्णाहन्ताविमर्शमय बोधशाली प्रबुद्धों की पूर्णता विश्वभरितस्वभावत्व है और वही देह-प्राणादि धारण करने वाले प्राणियों की मुक्ति है—'पूर्णाहन्ताविमर्शमयबोधशालिनां प्रबुद्धानां पूर्णत्वं विश्वभरितस्वभावत्वं सैव देहप्राणादिधारयतां जीवतां प्रमातृणां मुक्तिः । जीवच्छिवावस्था शास्त्रेषु स्मृता ।'—जीवितावस्था में भी प्राप्त शिवत्व-प्राप्ति की लोकोत्तर दिव्यावस्था ही स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा एवं काश्मीरीय शैवदर्शन की मुक्ति है ।

८. बन्धन और मोक्ष शिव की कल्पनायें हैं—बन्धन और मोक्ष तो परमेश्वर की इच्छाशक्ति की मात्र कल्पनायें हैं; अतः ये परमेश्वर के स्वरूप एवं संवित् की स्वातन्त्र्य शक्ति से भिन्न तो नहीं हैं—'बन्धमोक्षौ च परमेश्वरेच्छाकल्पितत्वात् परमेशस्वरूपतः संवित्स्वातन्त्र्यान्न भिद्येते भिन्नतया स्थितिं न यातः' (बोधपञ्चदशिका-विवरण) ।

साधना और उसके विभिन्न सोपान

'शिव' का अपने शिवत्व को भूलकर पुरुषत्व (अणुत्व = पशुत्व = मितप्रमातृत्व) को ग्रहण कर लेना ही बन्धन है और स्वकल्पित बन्धन का त्याग करके 'शिवोऽहं' की अनुभूति (अपने शिवत्व की अनुभूति) करने लगना ही मुक्ति है । अज्ञान ही बन्धन है—यही संसारांकुर का कारण है—यही आत्मा को दूषित करने वाला 'मल' है और इसकी निवृत्ति ही मोक्ष है ।

साधना के उच्च धरातल पर 'प्रकृति' (गुणत्रय की साम्यावस्था) मायातत्त्व में लय हो जाती है ।

माया के जो पञ्चकञ्चुक परमशिव के सभी गुणों एवं उनकी समस्त अमित एवं अनन्त शक्तियों को सीमित सान्त एवं संकुचित कर देते हैं और पशुपति को पशु बना देते हैं—माया के साथ ही स्वयं भी लीन हो जाते हैं । 'परमशिव' पुरुषतत्त्व में अवतरित होकर अपनी शक्तियों को (पञ्चकञ्चुकों के द्वारा) खो बैठा था । जब माया ही अपने कारण में लीन हो जाती है तब ये पञ्चकञ्चुक भी अपने कारण में लयीभाव प्राप्त कर लेते हैं ।

साधना की अग्रवर्ती भूमि पर स्थित साधक (स्थूल प्रकृति के जनक) सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्मतर तत्त्वों में प्रवेश करके अपने को तत्सम समझने लगता है । इस अवस्था में 'मैं = यह हूँ' (अहमिदम्) की प्रतीति आविर्भूत एवं अनुभूत होती है । इस लोकोत्तरावस्था में 'मैं' का जो उल्लास होता है, वह 'मैं' चैतन्य है और 'यह' प्रकृति है । इस धरातल पर 'मैं' एवं 'यह' दोनों समतुल्य महत्त्व के हैं—दोनों बराबर महत्त्व के हैं । यहाँ भी द्वैत का आभास होता है ।

ईश्वरतत्त्व—इसके अनन्तर यह 'पुरुष' (अणु, जीव, पशु, मितात्मा) सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है और अनुभव करने लगता है कि 'यह = मैं हूँ' (इदमहम्) । विमर्श शक्ति में भासित उसकी इस अनुभूति में 'यह' (इदम्) अंश प्रधान हो जाता है । इसी अवस्था का नाम है—ईश्वरतत्त्व ।

सदाशिवतत्त्व—साधना के अग्रवर्ती सोपान में 'यह' (इदम्) अंश 'मैं' (अहम्) में लयीभूत हो जाता है और शेष बचता है—'मैं हूँ' (अहमस्मि) । 'मैं' और 'हूँ'—ये दोनों स्वरूप भी 'विमर्श' में अवभासित होते हैं । इस अवस्था का नाम है—सदाशिवतत्त्व ।

शक्तितत्त्व—साधना के अग्रिम पड़ाव पर 'हूँ' (अस्मि) का भी निरास आवश्यक है । सूक्ष्म भूमि पर आरूढ़ होने पर 'अस्मि' भी विस्मृत हो जाता है और शेष रह जाता है मात्र—'अहं' (मैं) । इस अहम् मात्र की अनुभूति की अवस्था ही 'शक्तितत्त्व' है । इसे परमशिव की 'उन्मीलनावस्था' कहते हैं । इस अवस्था में साधक परमशिव के स्वरूपावबोध का अधिकारी हो जाता है । इसी अवस्था में साधक को परमशिव का बोध प्राप्त करने का अधिकार (क्षमता = पात्रता) प्राप्त होता है । इसी भूमि पर आत्मा के आनन्दस्वरूप की प्रथम बार प्रतीति होती है । शक्ति एवं शक्तिमान की युगल मूर्ति का भी यही स्थल है । यह अवस्था भी अद्वैत नहीं; प्रत्युत एक प्रकार से 'द्वैत' ही है तथापि इसे 'द्वैत' या 'अद्वैत' रूप में पारिभाषित करना संगत नहीं है । यह 'द्वैत' एवं 'अद्वैत' दोनों है । यह अवस्था भी अन्ततः परमशिव में लयीभूत हो जाती है । यही स्वरूप है 'शिवतत्त्व' का ।[१]

चिन्मय सामरस्य की लोकोत्तर दिव्यावस्था

इस भूमि पर अवस्थित साधक अपनी सत्ता का 'परमशिव' में लय कर देता है । परमशिव में लयीभूत हो जाने के बाद कोई भी लयीभूत सत्ता अपना अस्तित्व खोती नहीं; प्रत्युत 'परमशिव' में लीन होकर 'चिन्मय' हो जाती है । यही है—शुद्ध अद्वैत की भूमि । चिन्मय शिव में लयीभूत हो जाने पर सभी सत्तायें (सभी पदार्थ, सभी वस्तुयें, सभी भाव एवं अस्तित्व) चिन्मय हो जाती हैं । यही है—शिव-शक्ति के सामरस्य की अवस्था । यही है—मानव जीवन, आध्यात्मिक साधना एवं दर्शनशास्त्र की चरमावस्था । यही है—साधना की परमसिद्धि, पूर्णाहन्ता का चरम विकास एवं सिद्धि का चरमबिन्दु । यहीं पहुँचने पर वास्तविक अद्वैततत्त्व का बोध हो पाता है ।

जीवन्मुक्ति—जीवितावस्था में ही मुक्ति प्राप्त कर लेना जीवन्मुक्ति है । इस भूमि में स्थायी रूप में एक चित् तत्त्व ही रहता है । संविद्रूपा शक्ति के इस अवस्था में भी विद्यमान रहने के कारण जीवन्मुक्त को भी 'चिदानन्द' की अनुभूति प्राप्त होती है । शरीरपात हो जाने पर साधक परमशिव में लीन हो जाता है ।

१. विकल्प-क्षय, २. शक्ति-सङ्कोच और शक्ति-विकास, ३. वाहच्छेद, ४. आदि-अन्त कोटि के परिशीलन, ५. समाधि के संस्कार से सम्पन्न व्युत्थान दशा में निरन्तर चित् के साथ ऐक्य के परिशीलन से होने वाले सुषुम्णा (मध्य मार्ग) के विकास से आविर्भूत

१. डा० उमेशमिश्र : भारतीय दर्शन

'चिदानन्द-लाभ' के उपरान्त (चिदानन्द की प्राप्ति के अनन्तर) शरीरादिक के अनुभूत होने पर भी चित् शक्ति के साथ एकात्मता-प्रतिपत्ति की दृढ़ता ही जीवन्मुक्ति है ।[१] विश्व के साथ अभिन्नतारूप समावेशाात्मक चिदानन्द के उपलब्ध होने पर केंचुल या कोष के सदृश देह-प्राण-नील एवं सुखादिकों के आभासित रहने पर भी जिस अभेदापत्ति के संस्कारबल से एवं शास्त्रीय युक्तियों के बल से उद्दीप्त, अविचल चिदैक्य प्रथित होता है, वही 'जीवन्मुक्ति' कहलाता है ।[२] यह प्राणों को धारण करते हुए 'मुक्ति' है । इस दशा में अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर समस्त पापराशि भस्म हो जाती है ।[३]

चिदानन्दलाभ, समाधि, समावेश एवं समापत्ति—आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' कहते हैं—

१. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥१६ ॥ मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः । विकल्पक्षयशक्तिसङ्कोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः ॥ १८ ॥

'मध्य' के विकास से जिस चिदानन्द की प्राप्ति होती है, वही परमयोगियों की 'समाधि' है । वही 'समावेश' एवं 'समापत्ति' भी है—

'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः । स एष एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादिपर्यायः समाधिः ।'

चार्वाक या बार्हस्पत्य भूमि से आरम्भ करके क्रमशः अनेक दार्शनिक शृंगों पर आरोहण करता हुआ साधक सूक्ष्मतम भूमि पर आरूढ़ होकर अन्ततः 'परमशिवतत्त्व' में पहुँचकर परमशिव के साथ एक हो जाता है—यही शिवैक्य या शिव-तादात्म्य पूर्णावस्था है ।

स्थूल भूमि से आरम्भ करें तो साधक पदार्थों के संघात स्थूल जगत् से सूक्ष्म जड़तत्त्व 'परमाणु' में और फिर सूक्ष्म भूमि वाले सांख्य के सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण के स्वरूप में, फिर उससे भी सूक्ष्म भूमि वाले माया के पञ्चकञ्चुकों में, फिर उससे भी सूक्ष्म 'शुद्धविद्या' की भूमि में, फिर उससे भी सूक्ष्म भूमि वाले 'अहं, इदम्' (इदंप्राधान्य), फिर अहंप्राधान्य वाली भूमियों में, फिर इदम्भाव को कवलीकृत किए हुए अहम्भूमि में, फिर अहम्भाव को कवलीकृत करके अवस्थित परमचैतन्य (परमतत्त्व) में पहुँचकर परमशिव के साथ ऐकात्म्य कर लेता है । यही है—उसकी साधना-यात्रा का अन्तिम पड़ाव । यही है—उसकी साधना की चरम परिणति या परमसिद्धि ।

अद्वैतवादी शैव-शाक्त दर्शन मुक्ति को शरीरसापेक्ष नहीं मानता । यह उसे नवागत पदार्थ भी नहीं मानता । यह मुक्ति को 'सर्वो ममायं विभवः' के रूप में तथा 'समग्र जगत् मेरा ही स्वरूप है' के रूप में स्वीकार करता है । इसीलिए 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

१-३. आचार्य क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

यह निजस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा है और जीवितावस्था में भी मुक्ति प्राप्त करने की दशा है—'सैव जीवन्मुक्तिः, जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः । प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपः ।'

यह विश्व के साथ अभिन्नतारूप समावेशात्मक चिदानन्द की प्राप्ति है? 'विश्वात्म-साक्षात्कारात्मनि समावेशरूपचिदानन्दे लब्धे व्युत्थानदशायां अविचला चिदेकत्वप्रथा सैव जीवन्मुक्तिः ।'

इस मुक्ति में व्युत्थानावस्था भी समाधि के समतुल्य है । यहाँ बन्धन और मुक्ति में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है; क्योंकि शिव का अपनी इच्छा से पञ्चकञ्चुकों का आवरण ओढ़ लेना 'बन्धन' है और स्वेच्छा से उसे उतार फेंकना 'मुक्ति' है । मुक्ति अस्वाभाविक नहीं है; प्रत्युत वह स्वस्वरूप की अवस्था है । बन्धन अपनी कल्पना का लीलारूपात्मक वितान है—अपना कल्पित अभिनय है—विश्व रंगमञ्च पर अनन्त पात्रों का रूप धारण करके एवं अपने स्वस्वरूप को छिपाते हुए उन अनन्त रूपों में अपनी अभिव्यक्ति है । योग के अनुसार आत्मा का स्वरूपावस्थान ही मोक्ष है ।

सांख्यदर्शन में मुक्ति का स्वरूप

यः पुरुषस्यापवर्गः उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव । (सांख्यप्रवचनभाष्य : विज्ञानभिक्षु—१.७२)

द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः । (सांख्यसूत्र—३.६५)

प्रकृति एवं पुरुष का परस्पर वियोग (पुरुष की प्रकृति से पृथकता) ही मुक्ति है । अपवर्ग प्रतिबिम्ब रूप मिथ्या दुःख का वियोगमात्र है ।

चार्वाक की दृष्टि में मृत्यु ही अपवर्ग (मुक्ति) है—'मरणमेवापवर्गः ।' (बृहस्पतिसूत्र)

स्पन्दशास्त्र के अनुसार 'आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः' (आत्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है) ।

जैनदर्शन में कहा गया है कि—जीव कषाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को जब ग्रहण करता है तब इसे 'बन्धन' कहते हैं । कर्मों का क्षय ही मोक्ष है—'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः (उपस्वामी त०सू० १०.२-३) ।

योगाचारी बौद्धों के मत में क्लेशावरण की निवृत्ति के बाद ज्ञेयावरण की निवृत्ति से पूर्ण क्लेशनिवृत्ति होना ही निर्वाण या मुक्ति है ।

न्यायदर्शन के अनुसार भी दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं—'तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्ग' (१.१.२२) । अदृष्ट के अभाव होने पर, कर्मचक्र की गति का अन्त होने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्धविच्छेद एवं आवागमन चक्र का विच्छेद ही मुक्ति है । यही वैशेषिककार की दृष्टि है ।



अष्टम अध्याय
स्पन्दशास्त्र और उसकी साधना-पद्धतियाँ

स्पन्दकारिका और ज्ञान-साधना

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' (प्र०अ०श्लोक २३०) में ज्ञान के तीन प्रकार बताए हैं—अभेदोपाय ज्ञान = शाम्भवज्ञान, भेदाभेदोपाय ज्ञान = शाक्तज्ञान एवं भेदोपाय ज्ञान = आणवज्ञान ।

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते ।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ।।

आचार्य जयरथ कहते हैं—'भेदभेदाभेदात्मना त्रिधा ज्ञानम्' । कहा भी गया है—

वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ।। (१ अ०)

'आणवं भेदप्रधानमुक्तं शाक्तं च भेदाभेदप्रधानं, शाम्भवं पुनः' । उच्चार आदि के सहकार से आणव ज्ञान होता है । दीक्षा आदि इसी के अन्तर्गत है । 'ज्ञानमोक्षैककारणम्' अर्थात् मात्र ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है । शाम्भव ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट नहीं है; प्रत्युत अनुपाय विज्ञान उससे भी उत्कृष्ट है—'शाम्भवमेव ज्ञानमुत्कृष्टं, यावदस्मादनुपायाख्यम्' (जयरथ) । आत्मा का स्वरूपप्रथन ही मोक्ष है—'ननु आत्मनः स्वरूपप्रथनमेव मोक्षः' (जयरथ) । आणव ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं; प्रत्युत बन्धन का मूल है—'तिमिरम् आणवमलमेव मिथ्याज्ञानम्' (जयरथ) । भेदप्रथात्मक होने के कारण ही यह मिथ्या ज्ञान है ।

स्पन्द और ज्ञान—शक्ति का नाम 'विमर्श' भी है । विमर्श विना ज्ञान के संभव ही नहीं है । स्पन्दशास्त्र के अनुसार 'ज्ञान' बुद्धि का धर्म नहीं है, क्योंकि तब तो बुद्धि (कारण) के अनित्य होने के कारण ज्ञान (कार्य) भी अनित्य-सिद्ध होगा । न्याय और वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का नहीं, बुद्धि का धर्म मानते हैं । उपनिषदों में ज्ञान को परमात्मा का रूप कहा गया है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ।

अद्वैतवादी शैव दार्शनिकों का कथन है कि ज्ञान परमात्मा की एक शक्ति है । इसका नाम है—ज्ञान शक्ति । परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु उनमें पाँच प्रधान शक्तियाँ हैं—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, एवं क्रिया शक्ति ।

जहाँ चित् शक्ति है, वहाँ आनन्द शक्ति भी है; भले ही वह स्फुट हो या अस्फुट । जहाँ इच्छा है, वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ क्रिया है । शक्ति (स्पन्दशक्ति) का स्वरूप ही 'अहं अहंविमर्श' है और विमर्श ज्ञानात्मक ही होता है । यह अहंविमर्शरूप ज्ञान ही सूक्ष्म अहंविमर्शात्मक स्फुरण है । 'स्पन्द' स्फुरण ही तो है; अतः 'स्पन्द' स्फुरणात्मक,

किञ्चिच्चलनात्मक एवं ज्ञानात्मक है ।

स्पन्द शाश्वत रूप में स्फुरणशील है । इसी कारण इसे 'स्पन्द शक्ति' का अभिधान दिया गया है । 'स्पदि' धातु 'किञ्चिच्चलन' का वाचक है । स्पन्द किञ्चिच्चलन है । किञ्चिच्चलन अहंविमर्शात्मक (ज्ञानात्मक) स्पन्द है या भगवान् की बाह्यावभासरूप विश्वात्मक अभिव्यक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति की विश्वोन्मुखी आत्माभिव्यक्ति है । यह परमात्मा की बाह्योन्मुखी विश्वात्मक शक्ति-प्रसार की क्रिया है । 'स्पन्द' हिलना है । हिलना क्या है? विश्वाभिमुखी (सिसृक्षात्मक) सङ्कल्पात्मक उन्मुखता । सङ्कल्पात्मक उन्मुखता ही (कारिकाकार के शब्दों में) प्रलयोदय रूपात्मक 'उन्मेष-निमेष' की क्रीड़ा है । उन्मेष-निमेष भी सङ्कल्पात्मक (ज्ञानात्मक) गतिमयता है । यह अहंप्रत्यवमर्शात्मक है । स्पन्दशक्ति 'उच्छलनात्मक'—युगपत् सङ्कोच-विकासात्मक है, अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी है । यही स्पन्दशक्ति 'विमर्श' भी कही जाती है । विमर्श भी ज्ञानात्मक ही तो होता है ।

शङ्करात्मक अनुत्तर तत्त्व बोधगगन है । उसका हृदय विमर्श (ज्ञान) 'अहंप्रत्यवमर्श' है या स्पन्द है । एक ही शिव में विश्वोत्तीर्णता (विशुद्ध ज्ञानप्रधान) या प्रकाशरूपता एवं विश्वमयता (विश्वरूपता) अर्थात् क्रियाप्रधान विमर्शरूपता दोनों है । एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं—प्रकाश एवं विमर्श । विमर्श में जो रहता है उसी का बाह्यावभासन हो पाता है, अन्य का नहीं । अन्तर्मुख 'अहं' में अभिन्नरूपतयावस्थित विश्व-कल्पना का बाह्योन्मुखी अवभासन ही 'इदं' (विश्व) है । 'इदं' (विश्व) अन्तर्मुख 'अहं' में विश्रान्त रहता है । विमर्शात्मक स्पन्दशक्ति के विमर्श से रहित कोई भी बाह्य एवं आन्तर सत्ता है ही नहीं । विमर्शहीन प्रकाश तो जड़ हो जाएगा । स्पन्द किञ्चिच्चलन अर्थात् स्वतन्त्र रूप में (पराश्रयता-शून्य) सूक्ष्मतम धरातल पर विश्वोन्मुखता की ओर सङ्कल्पात्मक गतिमयता । यह सङ्कल्पात्मक गतिमयता—'एकोऽहं बहु स्याम' का विमर्श भी ज्ञानात्मक ही तो है, ज्ञानशक्ति का रूप ही तो है, विमर्श ही तो है, पूर्ण अहं विमर्श का ही एक रूप तो है । स्पन्द (स्फुरण) = विमर्श = ज्ञानक्रियामयी संवित् शक्तिरूपी रत्नाकर की तरङ्ग ही तो है । संवित् शक्ति विमर्शमयी होने के कारण ही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों भावों का अहंरूप में विमर्शन करती है ।

ज्ञानशक्ति और विमर्शतत्त्व—कोई भी प्राणी जो 'इच्छा' करता है, उसी का 'ज्ञान' होता है और उसे जिसका ज्ञान होता है, उसी को करता है; अत: इच्छा, ज्ञान, क्रिया—तीनों परस्पराश्रित हैं । परमात्मा की विश्वकल्पना प्रथमत: इच्छारूप में (इष्यमाण रूप में) परमात्मा से अभिन्न रूप में अवस्थित होती है और फिर उसका ज्ञानशक्ति द्वारा विमर्श होता है और फिर विमर्श के उपरान्त क्रियाशक्ति के द्वारा विश्वावभासन होता है । पारमेश्वरी स्पन्दशक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) ही इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—तीनों रूप धारण करती है । वही 'शब्द' भी है और वही 'अर्थ' भी है । वही इच्छा भी है वही ज्ञान भी है और वही क्रिया भी है । उसी का 'अहं' विमर्श (ज्ञान) द्वारा 'इदं' रूप में अवभासित होकर 'विश्व' कहलाता है ।

१. उस परा सत्ता की स्वातन्त्र्य शक्ति ही उसकी आनन्दशक्ति है ।
२. उसका चमत्कार ही इच्छाशक्ति है ।
३. उसकी प्रकाशरूपता ही चिच्छक्ति है ।
४. उसकी आमर्शात्मकता ही ज्ञानशक्ति है ।

५. एवं उसकी सर्वाकार योगीत्व-क्षमता ही क्रियाशक्ति है ।
क. तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः ।
ख. तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः ।
ग. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ।
घ. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः ।
ङ. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः । (तन्त्रसार)

ज्ञान का स्वरूप—शङ्कराचार्य की दृष्टि से कहा जाय तो—

१. 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'—अज्ञान है । श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

२. 'तस्मिंस्तद्बुद्धिः'—ज्ञान है । ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

क. शङ्कर के ज्ञान का स्वरूप—१. 'ब्रह्म सत्यं', २. 'जगन्मिथ्या', ३. 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' । शङ्कराचार्य के समान स्पन्द 'जगन्मिथ्या' को ज्ञान नहीं मानता ।

ख. बुद्ध के ज्ञान का स्वरूप—१. दुःख है, २. दुःख का कारण है, ३. दुःख का अन्त है, ४. दुःख के अन्त का मार्ग है (चतुरार्यसत्य) ।

यह तो ज्ञान का एक अंश है; किन्तु बुद्ध का क्षणिकवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद ज्ञानसन्तानवाद, शून्यवाद, 'आत्माध्वंसो हि मोक्षः' (स०द०सं०) के सिद्धान्त बौद्धों के ज्ञान तो हैं; किन्तु ये स्पन्द को मान्य नहीं हैं ।

ग. योग के ज्ञान का स्वरूप—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' । द्रष्टा का स्वस्वरूप में अवस्थानरूप मोक्ष ही परम ज्ञान है । 'विवेकख्याति' 'धर्ममेघसमाधि' आदि द्वारा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा होने की स्थिति ही परम ज्ञान है ।

योगियों का कथन है कि जब तक मन एवं प्राण जीवित हैं तब तक 'ज्ञान' कहाँ ? इनके वर्तमान रहते 'ज्ञान' की बात करना केवल मिथ्या प्रवचन है—

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह यावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न तावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरः न कथञ्चिदन्यः ॥

स्पन्द की ज्ञान-दृष्टि—स्पन्दसूत्रों में जिस दार्शनिक दृष्टि की प्राणप्रतिष्ठा की गई है, उसके अनुसार 'ज्ञान' शिव के रूप में अपना अहंविमर्श है । यहाँ ज्ञान के दो पक्ष हैं—

१. मैं 'विश्वमय' हूँ । मैं विश्व हूँ ।

२. मैं मात्र विश्व की संकुचित लक्ष्मणरेखा में ही बँधा हुआ नहीं हूँ; प्रत्युत (विश्वमय के साथ ही साथ) मैं 'विश्वातीत' भी हूँ ।

३. मैं 'परमशिव' हूँ ।

शिव के रूप में आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही यहाँ मोक्षात्मक परम ज्ञान है । विश्व के साथ अभेदानुभूतिपूर्वक पूर्णाहन्ता, शिव-शक्तिसामरस्य एवं पूर्ण अभेदात्मक अहंपरामर्श ही पूर्ण

ज्ञान है। शङ्कराचार्य के ज्ञान में विश्व के साथ अभेदात्मकता की अनुभूति को कोई स्थान नहीं दिया गया (क्योंकि वहाँ जगत् मिथ्या है; अत: मिथ्यात्व के साथ एकात्मक (अभेदात्मक) अनुभूति मिथ्यात्व के साथ तदात्मता हो जाती); किन्तु स्पन्दशास्त्र में 'जगत्' शिव एवं उसकी 'शक्ति' का बाह्यावभास होने के कारण सत्य है; अत: उसके साथ अभेदात्मकता की अनुभूति ज्ञान है। अत: 'विश्वमयता' एवं 'विश्वातीतता' दोनों ज्ञान की स्थितियाँ हैं।

स्पन्दीय ज्ञान के स्वरूप को हम तीन रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

१. 'मैं कौन हूँ' का ज्ञान (आत्मज्ञान)।

२. (विश्व का स्वस्वरूप क्या है?) जगत् के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान।

३. 'मोक्ष' के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान।

'मोक्ष' क्या है? 'स्वरूपप्रथन' या 'स्वरूपख्याति'—

मोक्षो हि नाम नैवान्य: स्वरूपप्रथनं हि स:।
स्वरूपं चात्मन: संविन्नान्यत् .... ॥ (तं० १.१५६)

क. आत्मज्ञान—१. जब शिव आत्मगोपन क्रीडा करने हेतु विश्वप्रमाता के अपने विराट् स्वरूप को छिपाकर मितप्रमाता का अभिनय करते हुए शब्दजन्य शक्तिवर्ग की अधीनता स्वीकार कर लेता है तब वह अपने शिवत्व को भूल जाता है (और स्वकल्पित भूमिका के पात्र का अभिनय करते-करते) स्वयं अपने को नट (अभिनय करने वाला चरित्र) न मानकर, अपने को स्वकल्पित मूल चरित्र मानते हुए पशु बन जाता है। यद्यपि वह स्वरूपत: शिव है; किन्तु पशुत्व की भूमिका निभाने से पशु बन जाता है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गत: सन् स पशु: स्मृत:॥ (स्पन्दकारिका-४५)

निष्कर्ष यह कि प्रत्येक 'पशुप्रमाता' मूलत: 'पतिप्रमाता' (शिव) है; किन्तु अपने अज्ञान के कारण वह बन्धनग्रस्त होकर अपना शिवत्व भूल जाता है और आवागमन, जन्म-मृत्यु, दु:ख, ग्लानि आदि के चक्रवात में फँसकर जीवन नष्ट करता रहता है। उसे चाहिए कि वह अपने को 'शिव' समझे और शिवत्व प्राप्त करे।

२. मितप्रमाता जीव भेदात्मक अवस्थाओं (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि) के साथ अभिन्न रहने पर भी उनसे भिन्न है और अपने स्वभाव से स्खलित नहीं होता और वेदक रूप में एकरस रहता है—

जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धत:॥[१]

३. स्पन्दात्मक स्वभाव समस्त अवस्थाओं में अनुस्यूत है। 'स एव अहं सुखी स एव अहं दु:खी रक्तो वा'—इत्याकारक सारे विकल्प ज्ञान वेदक सत्ता से अभिन्न हैं, तथापि वेदक सत्ता तद्रूप नहीं है; प्रत्युत उनसे भिन्न है—

सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ता: स्फुटम्।[२]

१-२. स्पन्दकारिका

४. स्पन्दात्मक शाक्त भूमिका में परमार्थ सत्ता का स्वरूप तो यह है कि सुख, दुःख, ग्राह्य, ग्राहक एवं मूढ़भाव आदि (मानसिक सङ्कल्पों की उपज होने के कारण) आत्मा से सम्बद्ध नहीं हैं और न तो पारमार्थिक सत्य ही हैं; क्योंकि आत्मा इनसे परे है—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च।
न चास्ति मूढ़भावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥[१] (५)

५. जिस आत्मबल (स्पन्दात्मक बल) के स्पर्शमात्र से ही आन्तर शक्तिचक्र के साथ-साथ अचेतन इन्द्रियाँ भी चेतन की भाँति सृष्टि-स्थिति-संहार करने की शक्तियाँ प्राप्त कर लेती हैं, उस तत्त्व की स्वभावभूत स्वतन्त्रता विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है।[२]

६. मितप्रमाता पुरुष (जीवात्मा) पारमेश्वरी इच्छामात्र का दास नहीं है; प्रत्युत आत्मबल का स्पर्श प्राप्त करते ही पतिप्रमाता बन जाता है—

अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।'[३]

७. स्वस्वातन्त्र्योत्पन्न अशुद्धि (मल) के कारण असमर्थ बने हुए मितप्रमाता का क्षोभ स्वस्वरूप में लीन होते ही वह परमपद प्राप्त कर लेता है (स्पन्द० ९)। इस क्षोभ के विलीन हो जाने पर मितप्रमाता की स्वभावसिद्ध ज्ञातृता एवं कर्तृता की शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं और वह अपने समस्त आकांक्षित वस्तुओं एवं व्यक्तियों को स्वतन्त्रापूर्वक जान लेता है और आकांक्षा के अनुरूप वे सारे कार्य निष्पादित कर लेता है।[४] आत्मा अभाव ब्रह्मवादियों की दृष्टि के अनुरूप आत्मा अभावरूप नहीं; प्रत्युत एक भावात्मक सत्ता है।[५]

८. आत्मा की दो अवस्थायें हैं—कार्यता एवं कर्तृत्व। कार्यता नश्वर है; जबकि कर्तृत्व स्थायी है और वही है—आत्मा का नित्यस्वभाव।[६] अन्तर्मुख, शाश्वत अहंरूप में स्पन्दायमान चेतन सत्ता सर्वज्ञता आदि गुणों का एकमात्र आश्रय है।[७]

९. यह शक्तिघन एवं सर्वव्यापक आत्मतत्त्व जाग्रत् अवस्था में केवल ज्ञेय पदार्थों का रूप धारण करने वाली एवं स्वप्नावस्था में केवल ज्ञान का रूप धारण करने वाली महान् विमर्श शक्ति के द्वारा प्रकाशित रहता है और सुषुप्ति एवं तुर्यावस्था में केवल चिन्मात्ररूप में।[८]

१०. ज्ञेय रहस्यों का अवगाहन करने वाले योगियों के लिए गुणादि विशेष स्पन्द चिन्मात्रस्वरूप पर आवरण डालते रहते हैं। साधनारत योगियों को जाग्रत् अवस्था में ही अपने चिन्मात्र भाव की उपलब्धि हो जाती है। चन्द्रमा एवं सूर्य के लयस्थान में योगी को अपने चिन्मात्रस्वरूप की अनुभूति हुआ करती है।

पशुप्रमाता (जीव) सर्वमय है; क्योंकि वह पति-प्रमाता की भाँति भावों के साथ संवेदनात्मक तादात्म्य प्राप्त करके उनकी सृष्टि करता रहता है। 'न सावस्था न यः शिवः'—ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिव न हो। योगी को चाहिए कि वह समस्त जगत् को अपनी क्रीडा माने। ऐसा मानते हुए विश्व को देखना ही जीवन्मुक्ति है। साधक मन्त्रसाधना में लीन होते हुए इस अवस्था में पहुँच जाता है कि उसके द्वारा मन्त्रोच्चारण किये जाते ही

१-८. स्पन्दकारिका

साधक को देवता का साक्षात्कार हो जाता है। यही है—ध्याता के चित्त में देवता का साक्षात्कार। यही है—अमृतप्राप्ति, निर्वाण दीक्षा एवं शिवभाव की प्राप्ति।[१]

ज्ञान की पराकाष्ठा यह है कि उस परमाद्वैतमयी अद्वयभूमि पर सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष और चैतन्य तथा जड़ सभी एकार्थवाचक हैं—

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ॥ (तन्त्रालोक)

यह द्वैत व्यवहार, यह भेदवाद तथा यह अद्वयवाद—सभी कुछ प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशविग्रह परमेश्वर ही है। द्वैत का प्रतिभासन हो या अद्वैत का, प्रत्येक अवस्था में प्रकाशरूप परमेश्वर ही प्रतिभासित है—

इदं द्वैतमयं भेद इदमद्वैतमित्यपि ।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः ॥

आणवोपाय के उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान-प्रकल्पन आदि सभी इस भूमि पर अनावश्यक हैं।

परम प्रबोध (परम ज्ञान) के तीन उपाय हैं। इसमें साक्षात् उपाय तो 'शाम्भव उपाय' ही है। शाम्भव उपाय यदि निरन्तर जागृत रहे तो परात्पर ज्ञान की अनुभूति शीघ्र हो जाती है। शाम्भवोपाय जब चरम स्वरूप प्राप्त करता है तो 'अनुपाय विज्ञान' बन जाता है। यह एक शाश्वत संविद समावेश है। 'परज्ञान' वैकल्पिक, स्थूल, शाक्त एवं आणव ज्ञानों से विलक्षण होता है। यह इच्छाशक्तिप्रधान शाम्भव ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा साधक को स्वात्मसाक्षात्कार, स्वात्मपरामर्श होता है। यह इच्छा का स्फार एवं स्फुरत्ता का प्रकटीकरण है। यह इच्छोपाय ही शाम्भवोपाय है। 'ज्ञान' शक्ति का स्फार है। 'ज्ञान' शक्ति का चमत्कार है—'ज्ञानं शक्तिस्फारात्मकं'। यह भी कहा गया है कि ज्ञान से अतिरिक्त क्रिया नहीं होती। ज्ञान ही रूढ़ि द्वारा योग की पराकाष्ठा में क्रिया हो जाता है—

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेष हि तत्तथा। (तन्त्रालोक)

स्वचित्त-वासना की शान्ति ही 'क्रिया' है—

स्वचित्तवासना शान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते। (तन्त्रालोक)

ज्ञान (बोध) ही 'स्वभाव' है। वह स्वात्मतत्त्व है। वेद्य, वेदक एवं संवित्ति अभिन्न हैं। 'यह समस्त विश्व तुम्हारा ही रूप है' 'त्वन्मयं जगत्' (तन्त्रालोक) यही 'ज्ञान' है। ज्ञान और मोक्ष दोनों अभिन्न हैं। मोक्ष का तो स्वभाव ही ज्ञान है—'तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम्'। 'ज्ञानं बन्धः' कहकर यह सिद्ध किया गया है कि समस्त ज्ञान मोक्ष के उपाय नहीं हैं।

स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि प्रत्येक अनुभवदशा में प्रत्येक ज्ञेय विषय का विश्लेषण करके प्रतिसमय (ज्ञेय विषय की आदि कोटि, मध्य कोटि एवं अन्तकोटि अर्थात् ज्ञेय विषय को ग्रहण करने की प्राथमिक इच्छा का काल, ज्ञेय का ग्रहणकाल, गृहीत विषय का विश्रान्ति

१. स्पन्दकारिका

काल में अहंविमर्शात्मक प्रमातृभाव के साथ तादात्म्यरूप अवस्थान) स्वरूप-विकास की अवस्था में अवस्थित रहना चाहिए। प्रत्येक ज्ञेय विषय को एक ही तत्त्व के सद्भाव अर्थात् विशुद्ध, विद्यास्वरूप स्पन्द सत्ता के साथ अभिन्न बनाना चाहिए। यही ज्ञान है—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोच्य गोचरम् ।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ (स्पन्दकारिका-४४)

जब योगी दिदृक्षा की अवस्था में वर्तमान होकर सारे भावों में स्वस्वरूपतया व्याप्त होकर अवस्थित रहता है तब वह उस स्वभावभूत स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है और यह अनुभूति ही यथार्थ ज्ञान है—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ (स्पन्दकारिका-४३)

यथार्थ ज्ञान तो यह है कि यह समस्त जगत् हमारी क्रीडामात्र है। जो निर्वाणकाल का बोध है, वही ज्ञान है; अतः ज्ञान एवं निर्वाण की संवेदना दोनों एक हैं—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ (स्पन्दकारिका)

स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरूढ़ होने की दशा में थोड़े समय में ही समस्त पदार्थ जो जिस समय, जिस देश और जिस आकार-प्रकार में वर्तमान हों, ठीक उसी अवस्था में बोध का विषय बन जाते हैं।[1]

जिस किसी भी शरीर में यह चेतयिता स्पन्दतत्त्व अधिष्ठित हो, उसमें सर्वज्ञता आदि धर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं। उस आत्मतत्त्व को ही अहंरूप में अनुभव करने वाले योगी में सार्वत्रिक सर्वज्ञता इत्यादि धर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं।[2] अज्ञानोत्पन्न 'ग्लानि' सर्व-विनाशिका है। प्रमेयवर्ग को एक ही तत्त्व में लय कर देना चाहिए।

पशुप्रमाता के अधः पतन का कारण विकल्प है। निर्विकल्प स्वरूप में विकल्प ज्ञानों का उदित होना ही उसका परामृतरस (शिव-शक्तिसामरस्य) से स्खलित हो जाना है।[3] आत्मा अपनी शक्ति ज्ञात न होने की अवस्था में बन्धन में डाल देती है। आत्मा पुर्यष्टक के बन्धन में पड़ा है और पुर्यष्टक की विद्यमानता से ही वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ है।[4]

जब साधक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में अवस्थित होकर चित्त को लीन करके अन्तः बहिः एकाकार स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है तब उसके प्रत्ययोद्भव के सृष्टि एवं संहार को सम्पन्न करता हुआ अपनी खोई हुई भोक्तृभाव की पदवी पर पहुँच जाता है और चक्रेश्वर बन जाता है—

यदा त्वेकत्र संरूढ़स्तदा तस्य लयोदयौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥[5]

१-३. स्पन्दकारिका-४६ ४. स्पन्दकारिका-५०
५. स्पन्दकारिका-५१

जगत् के रहस्यात्मक पक्ष का अपरोक्षात्मक ज्ञान—जगत् जड़, नश्वर एवं जीव से पृथक् तत्त्व के रूप में अनुभूयमान होने के कारण मिथ्या माना जाता रहा है। इसे जीव एवं परमात्मा से भी पृथक् माना जाता रहा है; किन्तु शैव स्पन्दशास्त्र जगत् को (इसके विपरीत) चेतन, चिन्मय, शक्तिस्वरूप, शिव का बाह्यावभासन एवं जीव तथा परमात्मा से अभिन्न मानता है।

स्पन्दसूत्र में कहा गया है कि जिस स्पन्दात्मक विमर्शभूमिका में (शिव में) यह समस्त कार्यरूप जगत् (प्रमेयरूप विश्व) अभेदरूप में अवस्थित है और जिससे इसकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।

निष्कर्ष यह है कि जगत् नित्य है; क्योंकि वह सृष्टि के पूर्व भी शिव एवं शक्ति में उससे अभिन्न रहकर उसी में स्थित है। इसके साथ ही इसलिए भी नित्य है कि सत्यात्मक शिव से उसके बाह्यावभास के रूप में सत्यात्मक तत्त्व का ही प्रकटीकरण होगा। तीसरे, इसलिए भी कि आचार्यों की अपनी अपरोक्षानुभूति इस प्रकार है—

१. आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम्॥
बिभ्रद्बिभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारत:।
यावत्स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम्॥[1]

सारांश यह है कि षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक जगत् शिव से पृथक् नहीं, आत्मा से पृथक् नहीं; प्रत्युत आत्मप्रच्छादन क्रीडा का अभिनय है। अत: शिवाभास है और प्रत्येक जीव को जगत् को अपने से इसी प्रकार सम्बद्ध मानना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक 'सकल' (अणु/पशु/बद्धात्मा/जीव) भी परमार्थत: तो 'शिव' ही है।

विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित्।
शिवोक्तैस्तैर्विरोध: स्यात्सर्वसत्यत्ववादिन:॥

२. सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्।[2] (६३)

३. जहाँ-जहाँ तक मन जाय, वह सब-कुछ समस्त प्रपञ्च-प्रसार शिव ही है—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति॥[3]

४. प्रत्यभिज्ञा के दो रूप हैं, जो निम्नांकित हैं—

क. मैं शुद्ध बोधस्वरूप हूँ।

ख. समस्त जगत् मेरा ही विस्तार है। इस जगत् के रूप में मैं ही फैला हुआ हूँ। इस धारणा से साधक विश्वमय हो जाता है।

---

१. शिवदृष्टि १.३२-३३ २. विज्ञानभैरव
३. विज्ञानभैरव

सोऽहं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

५. सर्वं हि चिन्मयं हि जगद् वा परिभावयेत् । (विज्ञानभैरव ६२)

६. चिदाकाशमय स्वाङ्ग में विश्व स्थित है—

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने । (शिवदृष्टि-१)

जगत् रूपी चित्र को शिव ने अपनी आत्मभित्ति पर बनाया है—

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने । (स्त० चि०)

७. जितने भी भाव (सत्तायें) हैं, वे सभी आत्मा ही हैं—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्क्रियः । (शिवदृष्टि-२)
सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यमिति प्रतिज्ञा ।

८. विश्व की आत्मा मिथ्या नहीं है; प्रत्युत शिवात्मक है—

चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा । (शि० सू० वि०)

यदेतत् चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा, स्वभावः...........भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगतः । (शि० सू० वि०)

९. जगत् जड़ नहीं, चेतन है—चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः । (शि०सू०वि०)

आत्मज्ञान है क्या?— 'शिव ही विश्व की आत्मा है, यही आत्मज्ञान है—'विश्वात्मा शिव एवास्मि इति यो वितर्को विचारः एतदेव अस्य आत्मज्ञानम्' (शि०सू०वि०) ।

१० जगत् अपनी क्रीडा है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् । (स्पन्दकारिका)

११. 'अहमेव सर्वम्' (शि०सू०वि०) मैं ही सबकुछ हूँ अर्थात् यह जगत् भी मैं ही हूँ ।

१२. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । (प्र० ह० २)

स्वेच्छा से ही चिति शक्ति स्वात्मारूप भित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है । चिति शक्ति प्रथमतः ही सुनिर्णीत विश्व को स्वात्मक भित्ति में दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुए भी भिन्न के सदृश उन्मीलित करती है । 'प्रकाश' के साथ एकात्म रूप से संसार के अवस्थान की बात कही गई है—'प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्न मिव उन्मीलयति । उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् । इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम्' । (प्र०ह०)

यह विश्व दो भागों में वर्गीकृत है—ग्राह्य एवं ग्राहक—'तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ।' ग्राह्य = प्रमेय । ग्राहक = प्रमाता ।

१३. श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्त्रैः स्फुरति । श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्, भगवान् विश्वशरीरः (प्र०हृदयम्) । ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों शिव ही है ।

स्पन्दकारिका और भक्तिमार्ग

यद्यपि काश्मीरीय त्रिक दर्शन अद्वैतवादी है, किन्तु उसमें ज्ञान के साथ-साथ योग एवं भक्ति तीनों की धारायें प्रवाहित हैं अर्थात् काश्मीरीय ईश्वराद्वयवाद ज्ञान, भक्ति एवं योग—तीनों धाराओं का सङ्गम तीर्थ है । अभिनवगुप्त कहते हैं कि भक्ति ही पराकाष्ठा पर आरूढ़ होने पर मुक्ति कही जाती है—

भक्ति एव पराकाष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते ।

भक्तिमार्गीय साधना—भक्तिमार्ग द्वैत पर आश्रित है । त्रिकानुशासन अद्वैत पर आधृत होते हुए भी अद्वैतोपरान्त (आनन्दचर्वणा हेतु) द्वैत की कल्पना करके भक्ति को स्वीकार करता है; अतः यहाँ भक्ति साधनरूपा नहीं; प्रत्युत साध्यरूपा, शक्तिरूपा या आह्लादिनी शक्तिरूपा है । उत्पलदेवाचार्य इसी भाव को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'हे मङ्गलस्वरूप ईश्वर! मुझसे बढ़कर और कोई उत्कृष्ट देवता नहीं है तथापि मैं जप करता हूँ; अतः एकीकरण द्वारा तत्त्वदृष्टि से जप करना ही जप है'—यही आप कहीं (अपने चित्रों में) रुद्राक्षमाला धारण करने से उपदेश करते हैं । 'ज्ञानसाधना' ही सर्वोच्च नहीं है; क्योंकि—

मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यतः ।
तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित् ॥

वे कहते हैं 'हे स्वामी! आपकी भक्तिरूपी अमृत का रसास्वादन किये विना ज्ञान की जो उच्च कोटि की भी दशा हो तो वह शुष्क ज्ञान की पराकाष्ठा भी मेरे लिए मदिरा की खटाई की भाँति नीरस है और अभिनवगुप्त कहते हैं—

भक्तिरेव पराकाष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते । (तन्त्रालोक)

भवद्भक्तामृतास्वादाद्बोधस्य स्यात्परापि या ।
दशा सा मां प्रति स्वामिन्नासवस्येव शुक्तता ॥ (१।११)

'शिव बनकर शिव की पूजा करनी चाहिए'—इस प्रकार जो शास्त्रों में कहा गया है, उसके स्थान पर 'भक्त बनकर ही शिव की पूजा करनी चाहिए'—ऐसा भक्तजनों द्वारा कहा जाता है; क्योंकि पारमार्थिक सारभूत स्वरूप वाले आप भक्तों द्वारा ही अभेद दृष्टि से ढूँढे गए हैं—

शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते ।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम् ॥ (१.१४)

योगसाधना ही सर्वोच्च नहीं है; क्योंकि—'हे स्वामी! समाधि-दशा में योगाभ्यास द्वारा ही आप प्राप्त किये जा सकते हैं—यह बात एक प्रवञ्चनामात्र है; क्योंकि अन्यथा आप समाधि एवं व्युत्थान सभी दशाओं में भक्तजनों को कैसे दिखाई देते ?'

कदाचित् क्वापि लभ्योऽसि योगेनेतीश वञ्चना ।

अन्यथा सर्वकक्ष्यासु भासि भक्तिमतां कथम् ॥ (१.१६)

भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता—उत्पलदेव कहते हैं कि मायाशून्य इस शिवमार्ग में न योगाभ्यास, न तप, न कोई पूजाक्रम ही निश्चित किया जाता है; प्रत्युत इस शैवमार्ग में भक्ति ही प्रशंसनीय है—

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ॥ (१.१८)

'अर्चाक्रम भी ग्राह्य नहीं है'—से निष्कर्ष निकलता है कि इस शैवमार्ग में वैधी भक्ति नहीं; प्रत्युत रागात्मिका एवं परा भक्ति—ज्ञानात्मिका, किन्तु भावप्रधाना भक्ति ग्राह्य है ।

भास्करकण्ठ कहते हैं कि स्मृति एवं अनुभव पर आश्रित एकव्यक्तिविषयक बोध 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाता है—

स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः ।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता ॥

अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति' की अनुभूति ही प्रत्यभिज्ञा है—'ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत् प्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति—नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति' (ई०प्र०वि०) । 'शिवदृष्टि' के उपदेशों को सुदृढ़ता प्रदान करने हेतु उनके शिष्य उत्पलदेव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' लिखी, जो कि त्रिकदर्शन का तार्किक पक्ष है । स्पन्ददर्शन त्रिकदर्शन का धार्मिक (श्रद्धात्मक) पक्ष है । 'तन्त्रालोक' में कहा गया है—'परमोपादेयस्वप्रकाश-स्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञानपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च ।'

साध्य भक्ति—काश्मीरीय 'त्रिकदर्शन' के साधन-मार्ग की यह एक विशिष्टता है कि इसमें शुष्क ज्ञान एवं शुष्क—भक्ति दोनों स्वीकृत नहीं हैं । इसमें ज्ञान या भक्ति के प्रति अतिवादी दृष्टि भी स्वीकृत नहीं है; प्रत्युत इसके विपरीत भक्ति एवं ज्ञान—दोनों के सामञ्जस्य को स्वीकार किया गया है ।

चूँकि भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, अतः अद्वैतवादी शङ्कराचार्य की अद्वैत-साधना में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है । द्वैतभावाश्रित एवं अज्ञानमूलक भक्ति केवल साधनभक्ति है, न कि साध्य भक्ति । अद्वैतज्ञान के उदयोपरान्त एक नित्य भक्ति का उदय होता है, जिसे कि साध्य भक्ति या ज्ञानोत्तरा भक्ति कहते हैं । इस नित्य सिद्ध ज्ञान भक्ति को ही त्रिकदर्शन में 'चिदानन्दलाभ' की आख्या प्रदान की गई है ।

ज्ञान और भक्ति में सामञ्जस्य—त्रिकदर्शन के अद्वैतवाद में ज्ञान एवं भक्ति में मधुर सामञ्जस्य है । शाङ्कर अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है; किन्तु यहाँ जिस भक्ति का निषेध किया गया है, वह साधन भक्ति है । त्रिक दर्शन में साधन भक्ति नहीं, साध्य भक्ति को (अद्वैतज्ञान के उन्मेषोपरान्त आविर्भूत साध्य भक्ति को) स्वीकार किया गया है । यही निर्व्याज अहेतुकी भक्ति यथार्थ भक्ति है—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगणो हरिः ॥ (भागवत)

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥

ज्ञानोदय के पूर्व वर्तमान द्वैत मोह (अज्ञान) उत्पन्न करता है, किन्तु ज्ञानोदय के उपरान्त कल्पित द्वैत तो अद्वैत से भी अधिक सुन्दर होता है । सामरस्य हो जाने पर वह द्वैत तो अमृत के समान आनन्दप्रद होता है ।

प्रत्यभिज्ञा (ज्ञानसाधना)—अद्वैत वेदान्त में मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताया गया है; किन्तु त्रिकदर्शन में ज्ञान एवं ज्ञानोत्तरा अद्वैत भक्ति—दोनों को मोक्ष का साधन माना गया है ।

त्रिकदर्शन ज्ञान-साधना की दृष्टि से जिसे सर्वाधिक वरेण्य एवं लक्ष्यभूत परमोपलब्धि मानता है, वह है—'प्रत्यभिज्ञा' । प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—ज्ञात वस्तु को पुनः पहचान लेना । आणव, शाक्त, शाम्भव आदि साधनोपायों के द्वारा आत्मचैतन्य के स्फुरण होने पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान से वह उन्हें पहचान लेता है । प्रत्यभिज्ञा मोक्ष या शिवत्वलाभ में प्रधान साधन है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में उत्पलदेवाचार्य करते हैं—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तव्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥ (४.२.२)

उत्पलदेव कहते हैं कि मैं जनोपकारेच्छा एवं समस्त सम्पत्तियों को प्राप्त करने हेतु प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपादन कर रहा हूँ —

समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि । (प्रत्यभिज्ञाकारिका)

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा ।' प्रत्यभिज्ञा 'प्रति' = प्रतीप । 'ज्ञान' = प्रकाश = 'प्रत्यभिज्ञा' । 'प्रत्यभिज्ञा' च भातभासमानरूपानुसन्धानात्मिका स एवायं चैत्र इति । प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम् । ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसन्धितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा ।

समावेश और उपाय—उच्चाररहित वस्तुतत्त्व का मनन, चिन्तन करते हुए जो समावेश होता है, उसे 'शाक्त समावेश' कहते हैं । उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान-प्रकल्पन आदि के द्वारा जो समावेश होता है, उसे 'आणव समावेश' कहते हैं ।

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते॥ (१.१६९)

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ (१.१७०)

साधक की दो अवस्थायें होती हैं—

१. विकल्पों के उपयोग ।

२. विकल्पों की अनुपयोगिता (चिन्तन नहीं, विकल्प नहीं) ।

निर्विचारावस्था में तीव्र बोध का प्रत्यभिज्ञान होने से जो आवेश उत्पन्न होता है । उसे 'शाम्भव समावेश' कहते हैं—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥ (१.१६८)

परम प्रबोध के उपाय तीन प्रकार के होते हैं—शाम्भव, शाक्त एवं आणव ।

साक्षात् उपाय शाम्भवोपाय है—'साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन' । शाम्भव उपाय का उपाय शाक्त उपाय तथा शाक्त ज्ञान का उपाय आणव उपाय है । शाम्भव उपाय यदि निरन्तर जागृत रहे तो परात्पर ज्ञान की अनुभूति शीघ्र होती है । शाम्भवोपाय जब चरम स्वरूप को प्राप्त होता है तो 'अनुपाय विज्ञान' कहलाता है । यह शाश्वत संविद् समावेश है । (विवेक)

परमप्रबोध के उपाय (जयरथ—विवेक)

शाम्भव उपाय (इच्छोपाय)	शाक्त उपाय (ज्ञानोपाय)	आणवोपाय (क्रियोपाय)	अनुपाय (आनन्दोपाय)

काश्मीरी शैव दर्शन कौल एवं केवलाद्वैतवादी शाङ्कर दर्शन से भी श्रेष्ठतर है । त्रिकदर्शन की दृष्टि में सर्वोच्च मत कौन है? अन्य मतों के अनुसार तो कौल मत हैं—

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं न हि ॥

कौलमत श्रेष्ठतम है; किन्तु—

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥
वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ॥

कहकर त्रिकाचार्यों ने अपने दर्शन को कौलदर्शन से भी उत्कृष्टतर कहा है । कौलदर्शन अद्वैतवादी शाक्तदर्शन है और त्रिकदर्शन अद्वैतवादी शैव दर्शन है ।

क. इच्छोपाय—

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम् ॥ (१.१४६)

ख. ज्ञानोपाय—

भूयोभूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात् ।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥ (१.१४८)

ग. क्रियोपाय—

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥ (१.१४९)

घ. 'क्रिया' क्या है ? ज्ञान ही रूढ़ि द्वारा योग की पराकाष्ठा में क्रिया हो जाता है—

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हि तत्तथा । (तन्त्रालोक)

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढ़ा हि या मतिः ।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥

(तन्त्रालोक १.१५१)

स्पन्दकारिका और मन्त्रविज्ञान (मन्त्रयोग)

स्पन्दकारिका को शिवसूत्र की ही व्याख्या माना गया है । अतः यदि शिवसूत्रों में 'चित्तं मन्त्र' (२.१) सूत्र द्वारा मन्त्र को स्पन्दीय दर्शन में स्थान दिया गया है तो स्वभावतः इसको 'स्पन्दकारिका' में भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए । कारिकाकार ने (२.२६, २.२७) कारिकाओं में मन्त्रों को पुष्कल महत्त्व प्रदान किया है ।

'मन्त्र' मनन—त्राणधर्म से संयुक्त हैं । 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'—मनन करने से जो त्राण करे, उसे मन्त्र कहते हैं—'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' । कारिकाकार का कथन है—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥ (२.२६)
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपाः निरञ्जनाः ।
सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥ (२.२७)[१]

आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में सूत्र (२.३) की व्याख्या करते हुए 'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः........' को उद्धृत भी किया है ।

द्वितीय उन्मेष 'शाक्तोपाय' के प्रथम सूत्र 'चित्तं मन्त्रः' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'मन्त्र' का स्वरूप निम्नांकित है—

१. पूर्णस्फुरत्ता सतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मन्त्र्यते गुप्तम्, अन्तर अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपमनेन, इति कृत्वा मन्त्रः ।[२]

२. अतएव च परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता भेदमयसंसारप्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते ।[३]

३. अथ च मन्त्रदेवता विमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः न तु विचित्रवर्णसङ्घट्टनामात्रकम् ।[४] उक्तम्—

१-४ शिवसूत्रविमर्शिनी

उच्चार्यमाणा ये मन्त्राः न मन्त्रांश्चापि तान्विदुः ।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः ।। (सर्वज्ञानोत्तर)
मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे निष्कलाः शरदभ्रवत् ।। (तन्त्रसद्भाव)

तत्र शक्तिः मन्त्रवीर्यस्फाररूपा, इति प्रथमोन्मेषान्तसूत्रिततत्स्वरूपविवेचनपुरःसरमुन्मेषान्तरमारभमाणो मन्त्रस्वरूपं तावत् निरूपयति—'चित्तं मन्त्रः' (२.१)।

'स्पन्दशास्त्र' में भी कहा गया है—'सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः'। 'तन्त्रसद्भाव' में तो सारे वर्णात्मक मन्त्रों को शक्त्यात्मक कहा गया है और शक्ति को मातृकारूपा एवं शिवात्मिका कहा गया है अर्थात् प्रत्येक मन्त्र शक्त्यात्मक एवं शिवात्मक दोनों है—'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये। शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका'। चूँकि मातृका परभैरवीय पर वाक् शक्ति से समन्वित है; अतः ज्येष्ठा-रौद्री-अम्बा शक्ति के प्रसार से युक्त समस्त वर्णों की आविर्भावभूमि है और इन वर्णात्मिका मान्त्री रचनाओं (मन्त्रों) में भगवती ही स्थित हैं—

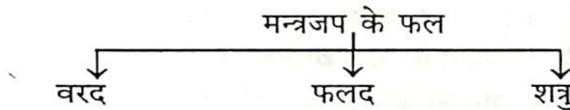
वर्णसङ्घट्टनाशरीराणां मन्त्राणां सैव भगवती व्याख्याता ।[१]

मन्त्रों के तत्त्व—मन्त्रों के नौ तत्त्व हैं—देवतत्त्व, प्राणतत्त्व, बिन्दुतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शक्तितत्त्व, योनितत्त्व आदि ।

देवतत्त्वं प्राणतत्त्वं बिन्दुतत्त्वं च सुन्दरि ।
ज्ञानतत्त्वं शक्तितत्त्वं योनितत्त्वं तथैव च ।।
नवतत्त्वमिदं प्रोक्तं कामधेनुमतं प्रिये ।। (शा०तं०)

मन्त्रों की सार्थकता एवं निष्फलता—जो मन्त्र अपने विधि-निर्दिष्ट स्थानों में जपे जाते हैं, वे वरद हैं एवं ध्यानानुगत मन्त्र फलदायी होते हैं; किन्तु जो मन्त्र स्थान एवं ध्यान दोनों से रहित हैं, वे शत्रु हैं—

स्थानस्था वरदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च फलप्रदाः ।
ध्यानस्थानविनिर्मुक्ताः सुसिद्धा अपि वैरिणः ।।



मन्त्र के स्थान—१. सकल स्थान—ब्रह्मरन्ध्रस्थ, २. प्रथम के नीचे—निष्कल, मानस स्थान—सूक्ष्म, ४. हृदय—सकल-निष्कल स्थान, ५. कलाभिन्न—बिन्दु, ६. बिन्दु के ऊपर—कलातीत ।

षट्कस्थानस्थिता मन्त्राः स्थानस्थाः परिकीर्तिताः । (शा०तरं०)

जप-प्रक्रिया—सन्धिस्थल में नादोर्ध्व ध्वनि से बोधित जप करना चाहिए। सूत्र में ग्रथित मणि के मनकों की भाँति ही शक्ति के ताने-बाने से निर्मित मन्त्राक्षरों का ध्यान करना

१. शिवसूत्रविमर्शिनी

चाहिये । वह शक्ति परम व्योम में निवास करती है तथा परमामृत से समृद्ध है । उक्त प्रक्रिया से जप करने पर 'मन्त्र' अपने स्वस्वरूप को प्रकट कर देता है; अपने को आच्छादित या गुप्त नहीं रखता ।[१] शब्द तो मूलत: नादात्मक हैं; अत: उनके साथ प्रत्यय एवं संवित् संलग्न रहने पर शब्द की शक्ति बढ़ती रहती है । मन्त्रबोध के स्वरूप में स्थित संवित् अभिन्न है; अत: वह आत्मबोध भी करा देती है ।[२]

चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है । भावाभाव उसकी अपनी दशायें या परिष्कार हैं । वह स्वसंवेदन-संवेद्य है । वह प्रकृति का विषय भी है और प्रकृति से अतीत भी है । यही मन्त्रों का प्रत्यात्मक कारण है । मन्त्र बाहर एवं भीतर वर्णरूप से प्रकट होते हैं । वे शाश्वत रूप में पदरूप भी होते हैं । वे मनुष्यों की भाँति कर-चरण आदि के समान कार्यसाधक हैं । वीर्य का योग होने पर वे किसी भी काल में प्रयोग करने पर साकल्य प्रदान करते हैं ।[३] जब शुद्ध बोधात्मक रूप से अन्तर्बाह्य दोनों में उदित मन्त्र का एक बार भी जप किया जाता है तब वह लक्ष बार जपे गए मन्त्र के समान साकल्य प्रदान करते हैं ।[४] एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य—दोनों में उदित होकर एक हो जाता है तब उस जप को लक्ष संख्या से भी अधिक फलप्रद समझना चाहिए ।[५]

हृदय में सोम-सूर्य के सञ्चार से कामनाओं की सिद्धि होती है और उनकी शक्ति से निरञ्जन तत्त्व का उदय होता है । यही शास्त्र का सर्वस्व है । इसी अवस्था में सहज मन्त्र का उदय होता है ।[६]

मन्त्रों का लय—'स्पन्दकारिका' (२.२७) में कहा गया है कि ये अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न मन्त्र साधकों के चित्त में लयीभूत हो जाते हैं । ये अपनी प्रवृत्ति-विवृत्ति अर्थात् अपनी आधारभूत इच्छा से शक्तिमान् स्वस्वभाव में पुन: लीन हो जाते हैं—

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा: निरञ्जना: ।

ये स्वस्वभाव के अनुगामी एवं शक्तिरूप हैं । पर अक्षररूप वृक्ष में अनेक शक्तियाँ हैं । उनके विवर्त शक्ति के रूप में वर्णों से प्रकट होते हैं । मुख के सम्बन्ध से उनका वरण करते हैं । ये शक्तियाँ कृतकृत्य होने के कारण शान्त एवं निरञ्जन (कालुष्यशून्य) हैं या ये निरञ्जन तत्त्व से अनुप्राणित हैं । यही कारण है कि जो शिवशङ्कर में धर्म हैं, वे ही धर्म या शक्तियाँ मन्त्रों में भी हैं, वे भी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्त्ता हैं ।[७]

'मन्त्र साधक के चित्त में लीन हो जाते हैं'—'स्पन्दकारिका' का यह कथन यह सिद्ध करता है कि 'आत्मा ही शिव है'[८]—

सह साधकचित्तेन लीयन्ते तत्र यत् स्मृतम् ।
शिवतात्मनि सर्वात्म्यात् चाहैतत्सोपपत्तिकम् ॥[९]

---

१. श्रीवैहायसी
२. श्रीकालपरा
३. सङ्कर्षणसूत्र
४. स्पन्दप्रदीपिका
५. जयाख्य संहिता
६. भोगमोक्षप्रदीपिका
७. कालपरा, स्पन्दप्रदीपिका
८-९. स्पन्दप्रदीपिका,

'एते मन्त्राः साधकचित्तेन तत्प्रवृत्तिनिमित्तेन तदाधारभूतयेच्छया सह सम्यक् प्रलीयन्ते अस्तं गच्छन्ति । यतस्ते तदनुगास्तच्छक्तिरूपाश्च ।'[१]

आराध्य देवतावाचक वर्णों के सन्निवेश से निर्मित ये मन्त्र शिवधर्मा ('शिवधर्मिणः' का-२.११) हैं अर्थात् ये शिव (परमेश्वर) के अनन्य साधारण सर्वज्ञत्वादि धर्म जिनमें विद्यमान रहते हैं, वे शिवादि से अभिन्न स्वरूप हैं ।[२] 'मन्त्र' परमेश्वर से अभेदात्मकता न प्राप्त रहने पर तृण को भी टेढ़ा नहीं कर सकते, किन्तु 'बल' प्राप्त करने पर ये अप्रतिहत शक्ति वाले बन जाते हैं— १. अनासादितपरमेश्वराभेददशा......तृणमपि कुब्जयितुमशक्ताः । बलाक्रमणेन......अप्रतिहतशक्तयो भवन्ति ।'[३]

आचार्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के सूत्र १९ की व्याख्या के सन्दर्भ में— १. 'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा .... त एते शिवधर्मिणः' ('स्पन्दकारिका') २. 'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः' (१३.२२ सू०) के उद्धरण दिये हैं ।[४]

आचार्य क्षेमराज ने समाधिलाभ के फलों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्ता के साथ अभेद होने से सदैव सभी प्रकार की सृष्टि एवं लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है—'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि निजसंविद्देवता चक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवतीति शिवम् ।'

'नित्योदित समाधि' प्राप्त हो जाने पर चिदानन्दघन, समस्त मन्त्रों की प्राणरूप, पराभट्टारिका अहन्ता (अकृत्रिम स्वात्मचमत्कार) से योगी अभिन्न हो जाता है ।[५]

यही अहन्ता समस्त मन्त्रों के उदय एवं विश्रान्ति का स्थान है । इसके बल से ही भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होती है । अतः इसे महती वीर्यभूमि कहा गया है । 'स्पन्दशास्त्र' में कहा गया है—'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः' । उस निरावरण चिद्रूप बल को अधिष्ठित करके मन्त्र सर्वज्ञत्व आदि सामर्थ्य से युक्त होकर अनुग्रहादि स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं; यथा—देहधारियों में इन्द्रियाँ; और अधिकार निवृत्त होने पर साधक के चित्त के साथ माया-कालुष्य से रहित एवं शान्त होकर उसी शाक्त बल में लीन हो जाते हैं; इसलिए वे 'मन्त्र' शिवात्मक ही हैं । शिवसूत्रों में भी कहा गया है—'महाह्रद अर्थात् पराशक्ति के तादात्म्य विमर्श द्वारा मन्त्रवीर्य का अनुभव होता है ।'[६]

'महामन्त्रवीर्यरूप पूर्णाहन्ता में आवेश' से तात्पर्य है—देह-प्राण आदि के निमज्जन (विलय) से पराहन्ता पद की प्राप्ति के द्वारा देहादिकों एवं नीलादिकों का भी उस रस में डूबने से तन्मयीकरण ।

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः एवं तत्रैव संप्रलीयन्ते....... ।'—इन दोनों कारिकाओं में कहा गया है कि योगियों की वाणी में आत्मबल का सञ्चार होने के कारण, उनके उच्चारित मन्त्र मात्र वर्णमात्र नहीं रहते; प्रत्युत अमोघ वीर्य बन जाते हैं । उनमें भोगरूप या मोक्षरूप फलों को प्राप्त करवाने की क्षमता निश्चित बन जाती है ।[७]

१-२. स्पन्दप्रदीपिका 　　 ३-७. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

भट्टकल्लट कहते हैं कि समस्त मन्त्र उस आवरणहीन व चिद्रूपता के साथ एकाकार होने से ही सर्वज्ञता इत्यादि माहेश्वर बलों को प्राप्त करके श्लाघ्य बन जाते है और शरीरधारियों की इन्द्रियों की भाँति ही अपने अनुग्रहादि अधिकारिता के कामों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। आत्मबल का स्पर्श प्राप्त करने के विना वे किसी अन्य प्रकार के आकारविशेष (अक्षरों और मात्राओं) की रचनामात्र के द्वारा किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते ।[१]

प्रत्येक मन्त्र उस स्पन्दरूप आत्मबल के साथ तादात्म्य प्राप्त करने से ही सर्वज्ञता आदि छ: प्रकार के माहेश्वर बलों की प्राप्त करके शोभित होने लगते हैं; फिर वे मन्त्र आक्रोशित कार्यों को सिद्ध करने हेतु प्रवृत्त होते हैं। ये मन्त्र शान्तरूप (शुद्ध संवित् रूप) और निरञ्जन (मायीय उपराग से रहित) होकर आराधक के चित्त के साथ-साथ चिदाकाश में ही लीन हो जाते हैं; अत: समस्त मन्त्र शिवरूप ही हैं।

भट्टकल्लट कहते हैं—ये ही मन्त्र सांसारिक भोगसिद्धि से निवृत्त होकर और माया के उपराग से रहित होकर शान्तरूप बन जाने के कारण साधक के चित्त के साथ ही उस स्वभाव (विशुद्ध चिद्रूपता) अर्थात् सामान्यात्मक, सामान्य स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका के असीम स्थान में लीन हो जाते हैं। प्रत्येक प्रकार के मन्त्र का पार्यन्तिक एवं अनौपचारिक स्वभाव यही है कि पशुभावस्थ आत्मा को शिवभाव के साथ एकाकार बना लेता है। इन कारणों से समस्त मन्त्रों को शिवात्मक (शिवरूप) कहा जाता है[२]—

१. स्वस्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकारा: प्रलीयन्ते ।

२. शान्तरूपा: मायाकालुष्यरहिता: सह साधकचित्तेन अनेन कारणेन शिव-संयोजनास्वभावेन इति शिवात्मका उच्यन्ते ।

प्रकाश, नील, सुख आदि की आत्मा में विश्रान्ति या लय को अहंभाव 'पराहन्ता परामर्श' कहा गया है। समस्त अपेक्षाओं के निरुद्ध होने पर वही 'विश्रान्ति' (तृप्ति) 'स्वातन्त्र्य' 'मुख्यकर्तृत्व' और 'ऐश्वर्य' के नाम से कही जाती है—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तित: ।
उक्ता च सैव विश्रान्ति: सर्वापेक्षानिरोधत: ॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ॥[३]

यही अहन्ता समस्त मन्त्रों के उदय और विश्रान्ति का स्थान है। इसके बल से ही भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होती है; अत: महती वीर्यभूमि कहा गया है। स्पन्दशास्त्र में भी कहा गया है कि[४]—

'उस निरावरण चिद्रूप बल को अधिष्ठित करके 'मन्त्र' सर्वज्ञत्व आदि से युक्त होकर (अनुग्रहादिक) स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं; यथा—देहधारियों में इन्द्रियाँ।' अधिकार निवृत्त होने पर साधक के चित्त के साथ माया-कालुष्य से रहित एवं शान्त होकर उसी शाक्तबल में लीन हो जाते हैं; इसलिए वे 'मन्त्र' शिवात्मक ही हैं।[५]

---

१. स्पन्दसर्वस्व : भट्टकल्लट २. स्पन्दसर्वस्व
३-५. आचार्य क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ।' (१३०, २२ सू०)

चिति ही देह-प्राण आदि आवरणों को निमज्जित करके स्वरूप को उन्मिषित करती हुई 'बल' के नाम से कही जाती है । चित् रूप बल को अधिष्ठित करके मन्त्र सर्वज्ञत्व आदि बल से अपने अधिकार में प्रवृत्त होते हैं ।[१] बलप्राप्ति (उदित स्वरूप) का आश्रय लेकर योगी पृथ्वी से लेकर सदाशिवपर्यन्त विश्व को आत्मसात् कर लेता है, अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में प्रकाशित करता है ।

समस्त मन्त्र नादस्वरूप हैं और नाद के नौ अङ्ग हैं या नौ के समूह को ही 'नाद' कहा गया है—

हृल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वामलोचना ।
बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्तशक्तयः ।।
व्यापिकासमनोन्मन्य इति द्वादश संहतिः ।
बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ।।

शिव और शक्ति के मध्य जो अन्तःसम्बन्ध है, वही तो नाद है । अतः 'नाद' के सूत्र से सारे मन्त्र ग्रथित हैं । भास्करराय कहते हैं—'यद्यपि बिन्दुर्विनिर्मुक्तानामष्टानामेव नादसंज्ञा मन्त्रशास्त्रे तथापि व्यवहारसौकर्याय तत्सहितानामेव सात्र कृतेति ध्येयम् ।[२] वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः' (प्रकाश) ।

'आधारोत्थित नादो गुण इव परिभाति वर्णमध्यगतः ।'[३] जिस प्रकार माला को गूँथने के लिए किसी सूत्र की आवश्यकता होती है और वह सूत्र माला के सभी मनकों के मध्य में अवस्थित रहकर मनकों की अनेकता का अन्त करके उन्हें एक माला के रूप में ढाल देता है, उसी प्रकार मन्त्राक्षरों की विविधता में नाद का सूत्र एकात्मता उत्पन्न करके उन अक्षरों की समष्टि को एक मन्त्र बना देता है ।

भगवती ही 'मन्त्र' हैं । इसीलिए परा शक्ति को मन्त्रमयी कहकर उनकी वन्दना की गई है । वे मातृकारूपा हैं, वे मन्त्रमयी हैं—

देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकापीठरूपिणीम् ।

मन्त्र 'षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा' भी हैं । उसी में छत्तीस तत्त्वों वाला विश्व अन्तर्गर्भित है—'षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा तत्त्वातीता च केवला विद्या ।' यही सम्प्रदायार्थ है—

ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु सम्प्रदायार्थः ।[४]

'कौलिकार्थ' तो यह है कि साधक यह अनुभूति करे कि माता (मन्त्र की अधिष्ठात्री देवी एवं परा जगदम्बा) विद्या (मन्त्र) स्वगुरु, चक्र एवं स्वयं साधक—सभी में तादात्म्य है—

इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति ।
पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ।।[५]

---

१. आचार्य क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्   २-३. भास्करराय—प्रकाश
४. वरिवस्यारहस्यम् (८१)   ५. वरिवस्यारहस्यम् (१०२)

'स्पन्दशास्त्र' में मन्त्रशास्त्र को आध्यात्मिक साधना के साधनों में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

मन्त्रों की उत्पत्ति का मूल केन्द्र (देवी द्वारा 'अनायास महाफलप्रद आरम्भशून्य, अनुपाय नामक योग' के विषय में सुश्रूषा व्यक्त करने पर शिव कहते हैं)—मैं श्रेष्ठतम 'अमृतयोग' का वर्णन करता हूँ, उसे सुनिए, जिससे अनायास शैवमहाभाव प्राप्त हो जाता है। इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। यह 'विसर्गभूमि' है। यहाँ परा विश्रान्ति प्राप्त होती है। इसे 'गुरुवक्त्र' एवं 'शक्तिचक्र' भी कहते हैं। यह सभी मन्त्रों की उत्पत्ति का स्थान है—

तस्मात्तदभ्यसेन्नित्यमविरक्तेन चेतसा ।
स विसर्गो महादेवि! तत्र विश्रान्तिमर्हति ॥
गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ।
तदेव सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिस्थानमुत्तमम् ॥ (विवेक)

आदि वर्ण 'अ' (अनुत्तर वर्ण अ) एवं अन्त्य वर्ण 'ह'—ये दोनों अहंपरामर्शात्मक हैं। इन दोनों से रहित और इनकी रहस्यात्मकता के न होने पर कोई भी मन्त्र साधक के लिए व्यर्थ हो जाता है। कहा भी गया है—

आदिमान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजानतः ।
न ते सिद्धिकरा मन्त्रा निष्फलाः शरद्धवत् ॥
खपुष्पं निष्फलं यद्वच्छशकस्य विषाणवत् ॥
वन्ध्यायाः प्रसवो देवि क्लीबस्य द्रवमेव च ।
अग्निभुक्ता यदा विप्रास्तदा एते तु निष्फलाः ।
आदिमान्त्यविहीनानि मन्त्राणि च तथैव च ।
निष्फलानि भवन्त्येवं पिबतो मृगतृष्णिकाम् ॥ (विवेक)

अर्थात् अहंपरामर्शशून्य मन्त्र (मूलकारणज्ञानशून्य) असिद्ध, आकाशकुसुम, शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, नपुंसक के शुक्र, यागशून्य विप्रों की भाँति आदिमान्त्यविहीन मन्त्र भी निष्फल होते हैं। इनका जप मृगतृष्णा के जल की भाँति निष्फल होता है (विवेक)।

शिव के विभिन्न स्वरूप एवं मन्त्र—पूजा के लिए भगवान् के छः रूपों की कल्पना की गई है, उसमें 'मन्त्र' भी एक है।

शिव के विभिन्न रूप
↓
भुवन | विग्रह | ज्योति | आकाश | शब्द | मन्त्र

बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ ।
षड्वस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः ॥

१. भुवन—निवृत्ति कला में १०८, प्रतिष्ठा कला में ५६, विद्याकला में २७, शान्ताकला में १८ और शान्त्यातीता कला में एक—शिवतत्त्व। (शक्तितत्त्व

में अनन्त भुवनों की समष्टि स्थित है—'स्वच्छन्दतन्त्र') (१०।६८४-९७४)।

२. विग्रह—मूर्ति ।

३. ज्योति—मूल ज्योति बिन्दु है । कदम्बपुष्पसदृश गोलक (नवोदित तारा) की भाँति जो बिन्दु है, वही 'ज्योति' कही जाती है । (शिवसूत्रविमर्शिनी)

४. आकाश—यह शक्ति-व्यापिनी-समना के सहस्रार क्षेत्र में स्थित है और शिवस्वरूप है ।

५. शब्द—नाद ।

६. मन्त्र— अ + उ + म का संघट्ट ।

बिन्दु एवं नाद में शाश्वत समन्वय है । मन्त्र सदैव नाद + बिन्दुसमवेत रहता है । बिन्दु, नाद, व्योम, मन्त्र, भुवन और विग्रह—इन छः वस्तुओं में शिव ध्येय है—'व्योमविग्रहबिन्द्वर्णभुवनाध्वविभेदतः । लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा ...... ।' (विवेक)

'ज्योति' के लिए बिन्दु, शब्द के 'नाद' भी प्रयुक्त । इनमें से किसी की भी साधना → मोक्ष

यो यदात्मकतानिष्ठस्तद्भावं स प्रपद्यते ।
व्योमादिशब्दविज्ञानात्परो मोक्षो न संशयः ॥ (तन्त्रा० १.६४)

भुवनध्यान → भुवनेशत्व । मन्त्र → मन्त्रसिद्धि । ज्योतिर्ध्यान → योग । तादात्म्य → चक्रेश्वरत्व । शून्यधान → सर्वत्र गति । समनाध्यान → सर्वज्ञता आदि (विवेक : जयरथ) ।

रामकण्ठाचार्य (स्पन्दकारिकाविवृति में) कहते हैं कि जिस प्रकार सभी इन्द्रियाँ सभी इन्द्रियों का नहीं; अपितु स्वाधीन कार्यों का ही निष्पादन कर पाती हैं, उसी प्रकार सभी मन्त्र सभी कार्यों के नहीं; प्रत्युत स्वाधीन कार्यों के ही निष्पादन एवं फलप्रदायकत्व में सक्षम हैं ।

मन्त्रों का उदय कब होता है ? चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्य का उदय न हो, उस समय समस्त देवताओं (इन्द्रियों) का विलय एवं समस्त मन्त्रों का उदय होता है ।[१]

मन्त्रतत्त्व—मन्त्रोत्पत्ति का स्थान कौन-सा है? जिस अवस्था में जीव अन्याधार-विनिर्मुक्त होकर स्वरूप में लीन होता है, वही सम्पूर्ण मन्त्रों की उत्पत्ति का स्थान है ।[२]

'मन्त्र' किसे कहते हैं? चित् तत्त्व की मरीचियों (किरणों) को ही 'मन्त्र' कहते हैं—'मन्त्राश्चिन्मरीचयः' ।

मन्त्र के कार्य—मन्त्र के कार्य हैं—१. मनन एवं २. त्राण ।

मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः ।
त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥ (कु०तं०)

---

१. बौधायनसंहिता   २. मालिनीविजय

मन्त्र का त्राण-व्यापार देखिए—

मातृकात्मतयालाभकरणाक्षमालिका ।
यमभूतादिसर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि ॥ (कुलार्णवतन्त्र)

'स्पन्दप्रदीपिका' में एक उद्धृत श्लोक के माध्यम से किसी के द्वारा कहलाया गया है कि—जब पुरुष का चित्त धर्माधर्म के सन्धिस्थल में निरुद्ध हो जाता है तो उस समय जो भी बोला जाता है, वही 'मन्त्र' बन जाता है। स्वरवर्ण-मातृका से निर्मित मन्त्र ही 'मन्त्र' नहीं होते।

मन्त्रावयव—मन्त्र में प्रमुखतः चार तत्त्व सन्निविष्ट रहते हैं—बीज, पिण्ड, पद एवं नाम।

मन्त्रों के धर्म—मन्त्रों के धर्म क्या है? मनन एवं त्राण। मन्त्र का 'बल' क्या है? निरावरण चित् का उल्लासन। इसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नाद शक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं। उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है। जब सिद्ध मन्त्री उनका प्रयोग करते हैं तब वे अनुग्रह एवं निग्रह करने में सफल होते हैं।

मान्त्री शक्ति—क्या मन्त्र भी अङ्गी होते हैं? 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा गया है कि जिस प्रकार एक शरीरधारी अपने कर-चरण का प्रयोग करता है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी अपने शरीराङ्गों का प्रयोग कहते हैं—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥ (स्पन्दप्रदीपिका)

वर्णातीत निराकार परमतत्त्व का बोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधिपों के किंकर हो जाते हैं अर्थात् उनके वशीभूत हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो बड़े प्रयत्न से प्रयोग करने पर भी कठपुतली के समान निष्कल निश्चेष्ट ही रहते हैं, क्योंकि सत्य सङ्कल्प चिच्छक्ति के बल का स्पर्श न होने के कारण वे केवल वर्णमात्र (जड़ अक्षर) ही रहते हैं।[1]

मन्त्रों के स्तरद्वय—मन्त्रों का पशुस्तर एवं पशुपति स्तर होता है। केवल वर्णरूप मन्त्र 'पशुभाव' में स्थित हैं, किन्तु सुषुम्नामार्ग से उच्चारित मन्त्र 'पशुपति' (शिव) बन जाते हैं।[2]

मन्त्रों की निरर्थकता की भूमि—स्पन्दप्रदीपिकाकार का कथन है कि 'मन्त्रों की सफलता केवल शाक्त मार्ग में ही है।' इसका अभिप्राय यह है कि 'शाम्भवोपाय' में मन्त्रादिक साधन निरुद्देश्य हो जाते हैं; क्योंकि उस अवस्था में साधक उपेयस्वरूपता की अनुभूति स्वयं करने लगता है; अतः उपाय निरर्थक हो जाते हैं। इसका दूसरा आशय यह भी है कि आत्मसंवित् या परमपद में मन्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह शक्ति और क्रिया से रहित है। शक्ति के विषय में ही मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। वही जप सफल होता है, अन्यत्र नहीं।[3]

---

१. त्रिकसार
२. हंसपारमेश्वर
३. तत्त्वरक्षाविधान

स्पन्दकारिका और योगमार्ग

वस्तु का अन्य वस्तु से एकत्व ही योग है—योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। 'तन्त्रालोक' (आ० १) में कहा गया है कि योग और क्रिया भिन्न-भिन्न वस्तुयें नहीं हैं; क्योंकि तत्त्व में आरूढ़ होने वाली मति ही अपने चित्त की वासना की शान्ति के कारण 'क्रिया' कहलाने लगती है—

क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ। (तन्त्रालोक)

१. प्राणापानयोग—स्पन्दकारिकाकार कहते हैं कि 'प्रबुद्ध भूमिका' पर अवस्थित एवं वृत्तिप्रत्यस्तमित (मानसिक एकाग्रता की) भूमि पर आरूढ़ योगी—'यह स्पन्दात्मिकाशक्ति मुझे जिस प्रकार की स्वरूप-विमर्शात्मक अनुभूति करायेगी, मैं उसी पर आरूढ़ रहूँगा'— इस प्रकार सङ्कल्पबद्ध होकर जिस-किसी भी प्रकार की वृत्तिप्रत्यस्तमित अवस्था का आश्रय ग्रहण करके स्थित रहता है, उस योगी की उसी अवस्था का आश्रय लेकर उसके चन्द्रमा और सूर्य (मन एवं प्राण या प्राण तथा अपान वायु) शरीर-व्याप्ति का त्याग करके ऊर्ध्व मार्ग से सुषुम्नाधाम में आरूढ़ होकर उसी में लयीभूत हो जाते हैं।[1]

जहाँ पहुँचकर चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों ही लीन हो जाते हैं, उस महान् व्योम में (तुर्यास्वरूपा शाक्त भूमि के असीम व्योम में) प्रबुद्ध योगी की चिन्मात्रानुभूति पर कोई भी आवरण नहीं रहता। इसके विपरीत मूढ़ (सम्यक् अनुभूति-शून्य) योगी, उस अवस्था में भी सुषुप्ति पद के समान प्रगाढ़ अन्धतमस् की दशा में अचेत (विसंज्ञ) पड़ा रहता है।[2]

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—जो भी कोई योगी तुर्यास्वरूपा शाक्त भूमिका में अपनी प्रवेशोन्मुखी अवस्था में इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्पित होकर कहता है कि—'यत्किंचित् अयं मम वक्ष्यति, तत् अवश्यं करिष्यामि' और स्पन्दतत्त्व में अधिष्ठित रहकर अवस्थित रहता है (स्पन्दतत्त्वात्मक अवस्था का आश्रय लेकर स्थित रहता है), उस योगी की उसी अवस्था के आधार पर उसके चन्द्रमा और सूर्य—दोनों शरीर की व्याप्ति का त्याग करके अर्थात् षाट्कौशिक शरीर में अपने बाह्यमुखी प्रसार का त्याग करके 'मध्यनाडी' (सुषुम्णा मार्ग) में लय हो जाते हैं। जिसमें चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों अस्त हो जाते हैं, उस महान् आकाश में (विशुद्ध चिन्मात्र तुर्या भूमि के आकाश में) ऐसा योगी, जिसे कि स्वस्वभाव की पूर्णाभिव्यक्ति भी प्राप्त न हो, सामान्य स्वप्न (स्वप्न एवं सुषुप्ति) के द्वारा तामसिक मूढ़भाव (मोह) में संलीन रहने के कारण अप्रबुद्ध बनकर निरुद्धावस्था में पड़ा रहता है। इसके प्रतिकूल प्रबुद्ध योगी की आत्मचेतना निरावृत रूप में प्रकाशित रहती है। 'सुषुप्ति'

---

१. स्पन्दकारिका

२. यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्॥
तदा तस्मिन् महोव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥ (स्पन्दकारिका : २३-२५)

पद का अर्थ है—आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी उस अवस्था का बोध न रहना। अप्रबुद्धता निरुद्धावस्था की उस दशा को सूचित करती है, जिसमें साधक में चैतन्यस्वरूप के साक्षात्कार करने के अवसर पर मोहजन्य स्तब्धता आ जाती है।[१]

२३वें सूत्र में 'विशेषस्पन्द' वाच्य बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों की निरोध-प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए इन बाह्यमुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने (चित्तनिरोध करने) से सम्बद्ध 'शाक्तोपाय' का वर्णन किया गया है। स्पन्दात्मिका शाक्त भूमिका पर आरोहण के लिए वृत्तियों पर नियन्त्रण, दृढ़ सङ्कल्प, आत्मबल, अविचल निष्ठा एवं अटल श्रद्धा अपेक्षित है। २४वें सूत्र में कहा गया है कि यौगिक साधना में मन एवं प्राण या प्राणापान को सुषुम्णा मार्ग के चिदाकाश में लयीभूत करना चाहिए।

'सोम-सूर्य' शब्द प्राण एवं अपान, प्रमेय पद एवं प्रमाण पद, शिवकला एवं जीव कला, चन्द्रनाड़ी तथा सूर्यनाड़ी, चन्द्रस्वर एवं सूर्यस्वर आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है और इसके समस्त अर्थ योगपरक हैं। इस प्रसङ्ग में सोम-सूर्य शब्द प्राणापान या मन तथा प्राण का वाचक है—'चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि'।

प्राण एवं अपान पञ्च प्राणों में अन्तर्भूत हैं। योगी प्राण के साथ मन का भी लय करता है; अतः इसे मन एवं प्राण का भी वाचक माना जा सकता है। क्षेमराज की दृष्टि में 'चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि' कहकर इन्हें प्राणापान का पर्याय ही स्वीकार किया गया है।

२. सुषुम्णा मार्ग—योग के ग्रन्थों में कहा गया है कि ३½ कोटि में से ७२ हजार एवं ७२ हजार में से १४ एवं १४ में से ३ एवं ३ में से एक नाडी श्रेष्ठतमा है और वह है—इड़ा-पिङ्गला के मध्य स्थित 'सुषुम्णानाड़ी'। यही है—'सौषुम्नाध्व'। यह आग्नेय पथ है। यह साधना का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। कुण्डलिनी, प्राण, अपान, मन्त्र एवं जीव इत्यादि सभी इसी मार्ग से होकर ऊपर उठते हुए अकुल धाम (सहस्रार) में पहुँचकर सामरस्य एवं शैवीभाव प्राप्त करते हैं। जीवों के मोक्ष का यही मार्ग है। यह नाड़ी संविद्रूपा है। 'मध्यनाड़ी मध्यसंस्था' (वि०भै०) कहकर ग्रन्थकार ने इसे 'मध्या' भी कहा है।

इसे 'मध्य' क्यों कहा जाता है? क्योंकि यह सभी नाड़ियों के मध्य में है। चूँकि संवित् जड़-चेतन सभी अस्तित्वों के अन्तरतम (मध्य) में स्थित है; अतः सुषुम्णा संविद्रूपा होने के कारण भी मध्य है—

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् संविदेव भगवती मध्यम्। (प्र०हृ०)

प्रत्येक प्राणी के शरीर में यह नाड़ी जीवनशक्ति का मूल केन्द्र है।

---

१. यां स्पन्दस्वरूपामवस्थामवलम्ब्य 'यत्किञ्चित् अयं मम वक्ष्यति तत् अवश्यं करिष्यामि' इत्यध्यवसायेन स्पन्दतत्त्वमधिष्ठाय यो वर्तते, तस्य तामवस्थामाश्रित्य पुरुषस्य, सोमसूर्यौ द्वावपि सौषुम्ने अध्वनि मध्यनाड्यभिधाने अस्तमयं कुरुतः ब्रह्माण्डगोचरं शरीरमार्गं परित्यज्य योगिनः तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमितशशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः।—स्पन्द-सर्वस्व (भट्टकल्लट)

भगवती संवित् अवरोहण के क्रम में सूक्ष्म प्राण का रूप धारण करके बुद्धि-देह आदि एवं उसमें प्रसृत सहस्रों नाड़ियों का स्वरूप धारण करके स्थित हैं—'सा तु मायादशायां.... प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवम् अधिशयाना नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता' (प्र०हृ०)। इन हजारों नाड़ियों के समूह के मध्य ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधारपर्यन्त प्रसृत यह प्राण शक्तिरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी योगियों के लिए वन्दनीया है। यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सतत् सञ्चारशीला है।[1]

उक्त कारिका में 'महाव्योम' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—'तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमितशशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः।' इस सुषुम्णा नाड़ी के मध्य-स्थित शून्याकाश ही महाव्योम एवं (अपरिमित चैतन्य-परिपूरित होने के कारण) चिदाकाश कहलाता है। इसी नाड़ी के माध्यम से शरीर के रोम-रोम में चैतन्य-सञ्चार हुआ करता है। सुषुम्णा के वाम-दक्षिण पार्श्वों में इड़ा एवं पिङ्गला (चन्द्रमा एवं सूर्य) नाड़ियाँ प्राण एवं अपान वायुओं का सञ्चरण करती हैं। योगी प्राणापान को इड़ा-पिङ्गला से छीनकर इन्हें सुषुम्णा में प्रवाहित करता है। इससे बहिर्मुखी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं—भेदभावना अभेदभावना में लीन होने लगती है और तुर्यारूपात्मिका शाक्त भूमिका का द्वार खुल जाता है।[2]

यह नाड़ी आग्नेयी, सूक्ष्मतमा, मृणालतन्तुतुल्या, चिद्रूपा एवं शून्यस्वरूपा है—'सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपा। मध्यनाड्यामन्तश्चिदात्मकं शून्यमेवास्ति।' (प्र०हृ०)

चिदात्मा परमेश्वर की अविनाशी एवं स्पन्दनसारकर्तृतारूप एक ही निजी ऐश्वर्य शक्ति है। जब वह शक्ति अपने स्वरूप को छिपाकर पशुदशा में प्राण, देह, समान शक्ति की दशाओं (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) भूमियों, देह, प्राण एवं पुर्यष्टकात्मक कलाओं द्वारा व्यामोहित करती है तब उसी से उत्पन्न व्यामोहितता ही संसारित्व है और जब वह ऐश्वर्य शक्ति 'मध्यधाम' (सुषुम्ना पथ के उल्लासरूप उदान शक्ति) एवं विश्व-व्याप्ति-सारभूत व्यान शक्ति को उन्मीलित करती है तब देहादि अवस्था में भी पति दशात्मक जीवन्मुक्ति उपलब्ध होती है।[3]

३. समाधियोग—भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं कि समाधि काल में कार्य सिद्ध करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाता है। बाह्य इन्द्रियों के विरत हो जाने की दशा में विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाने पर अबुध योगी ऐसा समझ लेता है कि मेरे स्वभाव का ही लोप हो गया है। परन्तु जो भाव हो अर्थात् जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो, उसका विनाश कभी नहीं होता।[4]

४. सुप्रबुद्ध योगियों की योगानुभूतियाँ—भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं सुप्रबुद्ध योगी को, विश्व के कण-कण में सर्वत्र अनुस्यूत चिद्रूप स्वभाव की अनुभूति जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में, प्रति समय (प्रत्येक दशा या अवस्था) के आदि, मध्य एवं अन्त में

---

१. तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्राद् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिमध्यनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

४. स्पन्दकारिका-१५

अखण्डरूप में होती रहती है; किन्तु प्रबुद्ध योगी को इन अवस्थाओं में से प्रथम (जाग्रत् अवस्था) के अन्त में (स्वप्न-सुषुप्ति में) तथा इन्हीं दो अवस्थाओं में अन्तर्भूत होने वाली अन्य अवस्थाओं में ही होती है। उसको जाग्रत् एवं तुर्यावस्थाओं में ऐसी अनुभूति केवल सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है—

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ (स्पन्दकारिका १७)

५. योगी की द्वन्द्वातीता समरसावस्था—भट्टकल्लट कहते हैं कि सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में प्रवहमान गुणस्पन्दों के अनन्त प्रवाह सामान्य स्पन्द पर ही आधृत हैं। ऐसी स्थिति में वे अजस्र रूप में प्रवहमान होते रहने पर भी उस योगी के प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनते हैं; जिसने ज्ञातव्य विषय जान लिया हो। वे उसके चिन्मात्र स्वभाव का आवरण नहीं बन जाते हैं—

गुणविस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥

६. समाधि एवं व्युत्थानावस्था में ऐकात्म्य—भट्टकल्लट कहते हैं कि जो कोई प्रबुद्ध योगी अपने में स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अनुभूति-प्राप्त्यर्थ प्रतिसमय उद्योग करता रहता है, वह जाग्रत् अवस्था में ही अपने भाव (तुर्य चमत्कारमय स्पन्दतत्त्व) की अनुभूति अत्यल्प काल में प्राप्त कर लेता है—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति ॥ (स्पन्द० २१)

यथा—धाता अभी देहाभिमान में ही अवस्थित, किन्तु नियमित रूप में योगाभ्यास करने वाले योगी द्वारा (सङ्कल्पात्क) इच्छा के रूप में अभ्यर्थना किये जाने पर, उसके नेत्रों में अत्यन्त तीव्र अवधानात्मक शक्ति का उदय करके उसको जाग्रत् अवस्था में उन्हीं पदार्थों का दर्शन करवाता है, जिनको देखने की इच्छा उसके हृदय में हो। स्वप्नावस्था में भी अवश्य अभिलषित पदार्थों का ही साक्षात्कार करवाता है। इसका कारण यह है कि मध्यधाम (सुषुम्णा) में प्रतिसमय स्फुटतर रूप में प्रकाशमान रहता है और उनके प्रणय का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता है।

भट्टकल्लट कहते हैं कि यदि योगी स्वस्वरूप में पूर्णतया अवस्थित रहने में सावधानी न रखे तो उसके लिए स्वप्नावस्था में असङ्गत भावों की ही सृष्टि स्वतन्त्र रूप में चलती रहती है। इसका कारण यह है कि स्पन्द शक्ति प्रसवधर्मा है अर्थात् उत्तरोत्तर भावों की सर्जना करते रहना उसका स्वभाव है। असावधान योगी को जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं में लौकिक लोगों की भाँति असङ्गत विकल्पों का ही साक्षात्कार होता रहता है।[१]

७. योगसिद्धियों की प्राप्ति—भट्टकल्लट कहते हैं कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ सावधानी से देखे जाने पर भी पहले स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होता; किन्तु अनन्तर उसी स्थान पर खड़ा रहते हुए ही विशेष प्रयत्न के द्वारा देखे जाने पर

१. स्पन्दसर्वस्व (का० ३३, ३४, ३५)

उनको वही पदार्थ बिल्कुल स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार स्पन्दात्मक स्वरूप में अवस्थित योगी को वैसा ही विशेष प्रकार का प्रयत्न काम में लाने पर थोड़े समय में समस्त पदार्थों के ठीक उसी रूप का बोध हो जाता है, जिस रूप में वे जिस-किसी देश, जिस-किसी काल और जिस-किसी आकार-प्रकार में वर्तमान हों । इसका कारण यही है कि उस योगी के स्वरूप पर से तामसिक आवरण हटा हुआ होता है । फलत: योगियों के लिए अतीत एवं अनागत पदार्थों का ही सही रूप में बोध होना एक छोटी-सी बात है । इसको कोई महान् आश्चर्य समझने की आवश्यकता नहीं है ।[१] ('स्वबल' = स्वस्वरूप) ।

परिपक्व योगी शरीर के अत्यन्त निर्बल होने पर भी स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरूढ़ होकर बड़े-बड़े दुष्कर कार्य सहज में ही कर लेता है और अत्यन्त भूखा होने पर अपनी क्षुधा को अभिलषित अवधि तक नियन्त्रण में भी रख लेता है । चेतयिता स्वभाव के द्वारा अधिष्ठित सर्वसामान्य जड़ शरीर में भी सर्वज्ञता आदि धर्म विद्यमान होते हैं, जिनसे वह जड़ शरीर एक छोटी-सी जूँ के दंश को भी तत्काल ही अनुभव कर लेता है । उस स्वरूप में ही अवहित पूर्णतया अधिष्ठित रहने वाले योगी में सार्वत्रिक समस्त भुवनों में समान रूप से कार्यक्षम सर्वज्ञता अवश्य अभिव्यक्त हो जाती है ।

मानसिक एकाग्रता की चरम सीमा पर पहुँचने पर योगी में 'उन्मेष' का उदय होता है—'उन्मेष: स तु विज्ञेय: स्वयं तमुपलक्षयेत् ।'[२] अनवरत अनुशीलन किये जाने वाले 'उन्मेष' के द्वारा योगी में अत्यल्प समय में ही 'बिन्दु' (एक विशेष प्रकार का तेज) नाद (प्रणव/अनाहत ध्वनि) शब्द, रूप (प्रगाढान्धकार में भी पदार्थों को देख सकने की शक्ति) एवं रस (मुख में अमृत का जैसा स्वाद)—इस प्रकार की सिद्धियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं; परन्तु देहाभिमान में ही अवस्थित योगियों को ये क्षोभ में डाल देती है[३]—

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रस: ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिन: ॥ (स्पन्दका० ४२)

बिन्दु—(भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षप्रवर्धमानोत्तरोत्तरप्रसादस्तेजोविशेषो यो बिन्दुभेदाभ्यासाद् धरातत्त्वध्यायिनामभिव्यज्यते । स्प०का० वि० ४.१२) । पृथ्वीतत्त्व के धारणान्यासी योगियों को, एकाग्र ध्यान करने की प्रखरता से भ्रूमध्य स्थान पर एक प्रकार का विशेष और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ तेज प्रकट हो जाता है, उसे ही 'बिन्दु' कहते हैं ।[४]

नाद—आकाशतत्त्व की धारणा का अभ्यास करने वाले योगी या नादानुसन्धान के अभ्यासी योगी ऐसे अनाहत नाद का श्रवण करते हैं, जो स्वयम्भू है—नित्य है—अखण्ड है—अप्रयत्नज है—नादो वेगवन्नद्यौघनिर्घोषघनोपक्रम: क्रमसूक्ष्मीभावाभिव्यज्यमान-मधुमत्तमधुकरध्वनितानुकारी स्वोच्चरितो ध्वनिविशेषो यं व्योमतत्त्वाभ्यासिन: शृण्वन्ति । (स्प०का०वि० ४.१२)

---

१. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व का० ३६, ३७
२. स्पन्दसर्वस्व (का० ३८-३९)
३. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व
४. इसे ही 'बिन्दुभेद' कहते हैं ।

रूप—तेजस् तत्त्व की धारणा के अभ्यासी योगी प्रगाढ़ान्धकार में वस्तुओं को देख लेते हैं—रूपं सन्तमसाद्यावरणेऽपि सति तत्तदवृश्यवस्त्वाकारदर्शनं यत् तेजस्तत्त्वन्यक्षनिक्षिप्त-मतयो निरीक्षन्ते ।

रस—जल तत्त्व की धारणा करने वाले या रससंवित् की साधना करने वाले योगियों को पदार्थ के अभाव में भी उसकी स्वादानुभूति होती रहती है—रसवद्वस्तुविरहेऽपि अमृतास्वादो मुखे लोलाग्रलम्बिकादिधारणानिरतैः आतत्वध्यायिभिर्य उपलभ्यते ।

भट्टकल्लट ४३वीं कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जब योगी समस्त भावों में स्वरूपतः व्याप्त होकर अवस्थित रहता है, तब स्वयं ही उस स्वभावभूत स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ ४३ ॥[1]

'सौषुम्ने ध्वनि' (स्पन्दकारिका २४) कहकर स्पन्दकारिकाकार ने 'स्पन्दशास्त्र' में योग-साधना का प्रतिपादन किया है । 'सुषुम्ना' इड़ा एवं पिङ्गला के मध्य एक नाड़ी है । 'सुषुम्ना' का योगमार्ग में अत्यधिक महत्त्व है । ब्रह्मानन्द जी का कहना है कि क्योंकि कुण्डली-बोध से ही षट्चक्रों का भेदन सम्भव हो पाता है; अतः साधक को चाहिए कि वह अपनी समस्त शक्ति लगाकर सच्चिदानन्द ब्रह्म के द्वार सुषुम्ना के अग्रभाग को (जिसे आच्छादित करके कुण्डलिनी अनादि काल से सो रही है) मुक्त करने का प्रयास करे—'यस्मात् कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं महामुद्रादीनामभ्याससमावृत्तिः समाचरेत् सम्यगाचरेत् ।'[2]

'सुषुम्णा' के अनेक नाम हैं; यथा—शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग आदि—

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥[3]
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥[4]

प्राण की शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सड़क) के समान हो जाती है और उस समय चित्त भी निरालम्ब हो जाता है (विषयमुक्त हो जाता है) और काल-वञ्चन होने के कारण मृत्यु-भय भी भाग जाता है—

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥[5]

अर्थात् 'सुषुम्णा' प्राणों की यात्रा का 'राजपथ' (सुखपूर्वक, निर्विघ्न एवं आनन्ददायक

---

१. स्पन्दकारिका (४३) २. ज्योत्स्ना (हठयोगप्रदीपिका की टीका)
३-५. हठयोग प्रदीपिका

मार्ग) है । इसमें प्राण की यात्रा से चित्त निर्विषय हो जाता है और उससे काल पर विजय प्राप्त होती है । 'शिवसंहिता' में इसे ही 'सरस्वती' कहा गया है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥

इसमें स्नान करने वाला योगी परागति प्राप्त करता है ।[1]

८. योगसाधना—कश्मीरीय शैवदर्शन (त्रिकाम्नाय, त्रिकनय) साधना में साकल्याप्ति हेतु योग-साधना को भी महत्त्व देता है । आचार्य क्षेमराज की दृष्टि में 'मध्य-विकास' (सुषुम्णा नाड़ी, भगवती संवित् की साधना) आवश्यक है; क्योंकि इसी में 'चिदानन्दलाभ' सम्भव है—

क. 'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ।' (प्रत्य०सूत्र १७)

प्रथमतः संवित् प्राण शक्ति के रूप में परिणत होती है । फिर अवरोहक्रम से बुद्धि-देहादि भूमियों को ग्रहण करके हजारों नाड़ियों के मार्ग का अनुसरण करती है और वहाँ पलाशपर्णमध्यशाखान्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधारपर्यन्त 'उदान' नामक प्राण शक्तिरूप ब्रह्म की आश्रयभूत सुषुम्ना नाड़ी के रूप में प्रधानतया स्थित रहती है; क्योंकि वहीं से सम्पूर्ण वृत्तियों का उदय होता है और वहीं लय होता है । यह शक्ति पशुओं में प्रच्छन्न रूप में ही रहती है । जब उक्त योगक्रम से सर्वान्तरतम मध्यभूत भगवती संवित् विकसित होती है या मध्यभूत ब्रह्मनाड़ी विकास प्राप्त करती है, तभी उक्त विकास के द्वारा चिदानन्द प्राप्त होता है और उसी से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है—

ख. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः—(प्र०हृ० सूत्र १६) ।

९. मध्य-विकास के उपाय—'मध्यविकास' के उपाय हैं—विकल्पक्षय, शक्तिसङ्कोच और विकास, वाहच्छेद, आदि और अन्त कोटि का परिशीलन । प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि समस्त पीड़ोत्पादक व्यवस्था निरर्थक हैं ।

१. विकल्पक्षय—हृदय में चित्त को स्थापित करके उक्त युक्ति से अपनी स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्पों को शान्त करता हुआ योगी अविकल्प दशा प्राप्त करता है । देहादिक कालुष्य से रहित अपनी चित्प्रमातृता के परिशीलन में प्रवीण बनकर वह विकासोन्मेषरूप तुरीय एवं तुरीयातीत दशा प्राप्त कर लेता है । विकल्प के विनाश एवं एकाग्रता के अभ्यास से पारमेश्वरी सृष्टि ईश्वर पद प्राप्त कराती है ।

२. शक्तिसङ्कोच—(शक्तिसङ्कोच प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में स्वीकृत नहीं है, तथापि इसी उपाय से परावस्था प्राप्त हो जाय) । शक्तिसङ्कोच = इन्द्रियों द्वारा बहिर्गत शक्ति को खींचकर अन्तर की ओर उन्मुख करना । यथा—कच्छप भयवश अपने अङ्गों को समेटकर भीतर कर लेता है, उसी प्रकार चारों ओर से निवृत्त हो जाना । निवृत्ति—नित्योदित स्थिति । 'शक्ति विकास' = विना किसी क्रम के समस्त इन्द्रियों को फैलाकर निमेषोन्मेषरहित दृष्टि बाहर रखकर,

---

१. शिवसंहिता (५।१६४)

किन्तु लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर रखकर भैरवी मुद्रा में अनुप्रवेश-सी विधि से अन्तर्निगूढ़ शक्ति का बाहर की ओर प्रसार ।

शक्ति का सङ्कोच—भूपृष्ठ में वर्तमान बिन्दु का भेदन करके—अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी एवं समना—इनको क्रमशः पार करती हुई सूक्ष्म प्राण शक्ति जब उन्मना धाम (ऊर्ध्व कुण्डलिनी भूमि) में विश्राम करती है तो इसे प्रसार का सङ्कोच कहा जाता है ।

शक्ति का विकास—यह प्राणशक्ति अभ्यासवश क्रमशः नासाभ्यन्तरचारी बन जाती है, तभी सूक्ष्म बन पाती है । मूलाधार के नीचे मेरुदण्ड से सबसे निचले भाग में त्रिकोणाकार 'अग्निचक्र' है, इसे 'कुलकुण्ड' कहते हैं । यह षष्ठ रूप 'अधःकुण्डलिनी पद' है । यहाँ पूर्वोक्त सूक्ष्म प्राणशक्ति को वश में करके उसके मूल, अग्र एवं मध्यभाग का स्पर्श करना ही शक्ति का विकास है ।

वाहच्छेद = 'वाह' अर्थात् वाम-दक्षिण नाड़ीगत प्राण एवं अपान का विच्छेद—हृदय देश में विश्रान्तिपूर्वक अन्दर ककार-हकारादिरूप, स्वररहित वर्णो के उच्चारण के साथ विच्छेद (वाहच्छेद नामक) उपाय है ।

'आदि कोटि' (हृदय) और 'अन्तकोटि' (द्वादशान्त)—इन दोनों में से क्रमशः प्राणोल्लास और विश्रान्ति के अवसर पर चित्त का निवेशपूर्वक परिशीलन (भी एक उपाय) है ।

चिदानन्द का लाभ ही परमयोगी की समाधि, समावेश एवं समापत्ति है ।

समाधि के संस्कार से सम्पन्न व्युत्थान दशा में बारम्बार चित् के साथ ऐक्य का परिशीलन करने से नित्योदित (एकरस) समाधि का लाभ होता है—

'समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः ॥ १९ ॥'

चित्प्रमातात्मक स्वस्वरूप में स्थित अनन्य योगी विश्वेशृतात्मक परमानन्द प्राप्त कर लेता है ।

जहाँ-जहाँ (कामिनी, कमल, मिष्ठान्न, सुरस आदि मनोहर वस्तुओं में) मन लगे, वहाँ उसे सुस्थिर करे; किन्तु वहाँ यह भावना भी करता रहे कि—'चिदानन्दात्मक शिव मैं ही हूँ । यह सौन्दर्य मेरी ही भंगिमा है'—तो वहाँ-वहाँ परानन्द स्वरूप प्रकाशित हो जाता है और ये सभी मध्य-विकास के उपाय हैं ।

१०. क्रममुद्रा—अन्तःस्वरूप 'क्रममुद्रा' के द्वारा बहिर्मुख होने पर भी साधक समाधिस्थ ही रहता है । प्रथमतः बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है और बाद में आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी समाधि बल से प्रवेश होता है । यही है—'मुद्राक्रम'; जो बाह्य एवं आभ्यन्तर से युक्त है ।

सृष्टि, स्थिति एवं संहार संवित् समूहरूप क्रम को जो मुद्रित करती है, आत्मसात् करती है, वह तुरीय चिति शक्ति ही 'क्रममुद्रा' है । इस 'पूर्णाहन्ता' स्वरूप 'क्रममुद्रा' के द्वारा विषयों में व्यापृत रहने पर भी जितने पर शक्ति के विकास का साक्षात्कार कर लिया

जाता है, वह परमयोगी हो जाता है और वहाँ वाह्य (अर्थात् निगीर्ण विषय-समूह) से अन्तः परा चिति भूमि में ग्रसनक्रम द्वारा समावेश होता है और आभ्यन्तर साक्षात्कृत चिति शक्ति स्वरूप समावेश के सामर्थ्य से ही, इदन्तात्मक विषयसमूह में वमन की युक्ति से प्रवेश चिद्रस की निबिड़ता का प्रसारस्वरूप समावेश सम्पन्न होता है। सम्पूर्ण विषयसमूह मेरे द्वारा ही उद्गीर्ण है—सूक्ष्म रूप से अन्तःस्थित जगत् जाल बाह्य रूप में प्रकाशित है—यही 'वमनयुक्ति' है। इस प्रकार यह नित्योदित बाह्याभ्यन्तर समावेश हर्ष के वितरण से परमानन्दस्वरूप होने से, पाशों को नष्ट करने तथा विश्व को अन्तः तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्टि आदि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने के कारण 'क्रम' कहा जाता है।

योगमार्ग में सुषुम्ना का प्रधान स्थान है। नित्योदित समाधि उपलब्ध हो जाने के अनन्तर, चिदानन्दघन, समस्त मन्त्रों की प्राणभूता पराभट्टारिका अहन्ता (अकृत्रिम स्वात्मचमत्कार) से योगी तादात्म्य प्राप्त करके उससे अभिन्न हो जाता है और तब उस योगी को कालाग्नि से शान्त्यतीता चरमकलापर्यन्त विश्व के विचित्र सृष्टि और प्रलय करने वाली संवित् शक्तियों का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। यदि चिति शक्ति में प्रवेश एवं स्थिरता प्राप्त कर ली जाती है तो परमयोगी को परभैरवरूपता प्राप्त हो जाती है—तत्र ईश्वरता साम्राज्यं परभैरवात्मता तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः। यथोक्तम्—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्॥ (स्पन्दकारिका)

'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि निजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्।' (प्र०हृ०-क्षेमराज २०)।

'स्पन्दकारिका' में 'सौषुम्नेऽध्वनि' पद का प्रयोग किया गया है। इड़ा-पिङ्गला के मध्य 'सुषुम्णा', सुषुम्णा के मध्य 'वज्रा', वज्रा के मध्य 'चित्रिणी' एवं 'चित्रिणी' के मध्य 'ब्रह्मनाड़ी' है।

आत्मशक्ति (शिव की वियुक्ता कुण्डलिनी शक्ति) मूलाधार चक्र में सो रही है। उसके जागे विना जीव को न तो ज्ञान प्राप्त हो पायेगा और न ही मुक्ति। कुण्डलिनी का परमशिव से मिलने का यात्रा-पथ ही सुषुम्णा है। इसीलिए नाड़ियों में सुषुम्णा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। 'अथ नाड़ीनां दश द्वाराणि। इडापिङ्गला नासाद्वारयोर्वहतः सुषुम्णा नाड़ी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति।' अर्थात् शरीर में प्राणवाहिनी दस प्रमुख नाड़ियाँ हैं। नासिका के दोनों रन्ध्र (द्वार) से बायें से 'इडा' एवं दायें से 'पिङ्गला' प्रवाहित होती है। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मदण्डमार्ग (मेरुदण्ड) से ब्रह्मरन्ध्र तक प्रवाहित होती है और सरस्वती मुखद्वार में प्रवाहित होती है।[१]

मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश में वाम एवं दक्षिण भाग में क्रमशः 'इड़ा' एवं 'पिङ्गला' नामक दो नाड़ियाँ स्थित हैं। मेरुदण्ड के मध्य में सुषुम्णा नामक नाड़ी स्थित है, जो कि

---

१. गोरक्षनाथ : सिद्धसिद्धान्तपद्धति।

सतोगुण-रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त है और चन्द्र-सूर्य तथा अग्नि के समान प्रखर प्रकाश वाली है। खिले हुए धत्तूर-पुष्प के समान शरीर वाली यह सुषुम्णा नाड़ी नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान कन्द के मध्य से निकल कर मस्तक में स्थित सहस्रदल कमलपर्यन्त गयी है। इसके मध्यभाग में देदीप्यमान 'वज्रा' नामक नाड़ी है, जो कि लिङ्गमूल से निकलकर मस्तक तक गई है।

नाड़ी	अधिष्ठाता देवता	स्थिति
१. इड़ा नाड़ी—गङ्गा। चन्द्र नाड़ी	चन्द्रमा	इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के वाम भाग में स्थित है।
२. पिङ्गला नाड़ी—यमुना सूर्य नाड़ी	सूर्य	पिङ्गला नाड़ी मेरुदण्ड के दाहिने भाग में स्थित है।
३. सुषुम्णा नाड़ी— 'कालभोक्त्री'		मेरुदण्ड के मध्यभाग में सुषुम्णा स्थित है।

सुषुम्णा = सत्त्व, रज, तम गुणत्रय से युक्त है। यह सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के समान स्वरूप वाली है। यह कन्द के मध्य से निकली है। गुदा से दो अङ्गुल ऊपर एवं लिङ्गमूल से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल विस्तार में पक्षी के अण्डे के समान नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान नाड़ीकन्द स्थित है। यहीं से ७२ हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। सुषुम्णा खिले धत्तूर के पुष्प के समान है। यह नाड़ी सहस्रार तक गई है। इसके मध्य में वज्रा है और यह लिङ्गमूल से निकली है। यह भी सहस्रार तक गई है।



नवम अध्याय

मोक्ष की अवधारणा : एक तुलनात्मक विहङ्गमावलोकन

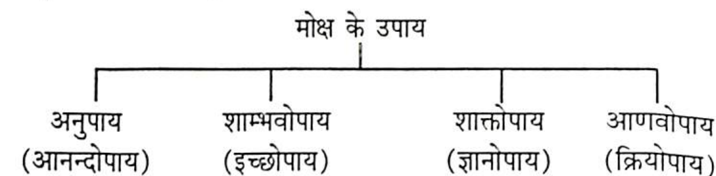
विभिन्न दार्शनिकों की विभिन्न दृष्टियाँ

* चार्वाक—देहोच्छेदो मोक्षः ।
* बौद्ध—आत्मोच्छेदो मोक्षः ।
* न्यायकन्दली— 'नोच्छेदो नित्यत्वात्'—आत्मा दिक् काल आदि की भाँति नित्य है; अतः आत्मा के उच्छेद को मोक्ष नहीं कहा जा सकता ।
* वैशेषिकोपस्कार—आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः मुक्तिः । (१।१।४)
* तर्कदीपिका—चरमदुःखध्वंसः मोक्षः ।
* न्यायवार्तिक—आत्यन्तिको दुःखाभावः मोक्षः ।
* न्यायकन्दली—अहितनिवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तिः ।
* न्यायसूत्र—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।
* तर्कभाषा—एकविंशतिभेदभिन्नस्य दुःखात्यन्तिकी निवृत्तिः मोक्षः ।
* सांख्यसूत्र—अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ।
* सर्वदर्शनसंग्रह—निर्वर्त्य सजातीयस्य दुःखस्य पुनस्तत्रानुत्पत्तिः ।
* न्यायभाष्य (वात्स्यायन)—यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपायन्ति । दोषपाये प्रवृत्तिरपैति । प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति । दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयम् । (१।१।१)
* योगशास्त्र—
  क. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति । (४।३४)
  ख. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (१।३)
  ग. तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् । (साधनपाद २५)
* वेदान्त—ब्रह्म और जीव का ऐक्य ही मुक्ति है ।
* आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम् । (१९)
* जैनदर्शन—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । मोक्षक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।
* मीमांसा का भाट्टमत—प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है—त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः ।
  (शास्त्रदीपिका)—'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः ।'
  प्रभाकर का मत—('प्रकरणपञ्चिका')

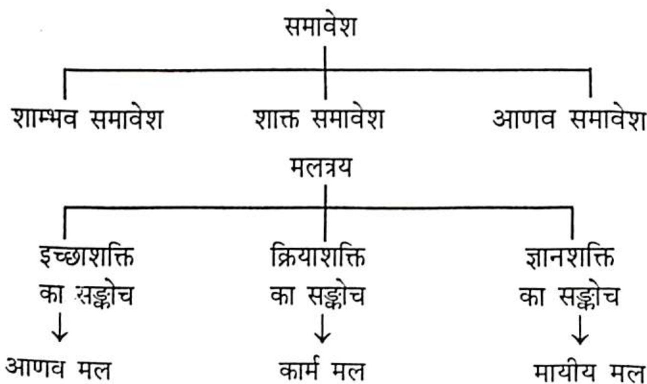
धर्माधर्म का निःशेष नाद → देह का आत्यन्तिक नाश = मोक्ष । सुख, आनन्द एवं ज्ञान से रहित तथा प्रपञ्च-विलयात्मक आत्मदशा ही मोक्ष है—तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः (शा०दी०) । भोगायतन (शरीर) + भोगसाधन (इन्द्रियाँ), विषय (शब्द-

स्पर्श आदि) → बन्धन। तीनों प्रकार के प्रपञ्च (भोगायतन + भोगसाधन + विषय) का आत्यन्तिक नाश → 'मुक्ति'।

मोक्ष के उपाय—मोक्ष के उपाय निम्नांकित हैं—



मुक्ति के इन उपायों को 'समावेश' भी कहते हैं।



अभिनवगुप्त पाद ने 'तन्त्रालोक' के तृतीय से द्वादश आह्निक तक तथा 'तन्त्रसार' में इन उपायों का सविस्तार वर्णन किया गया है। 'महार्थमञ्जरी' की चार कारिकाओं (५६-५९) में एवं 'परिमल' व्याख्या में भी संक्षेप के साथ इसका वर्णन किया गया है।

आणवोपाय—'आणवोपाय' क्या है? उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान-कल्पना का अभ्यास ही आणवोपाय है। इनमें से किसी एक के अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता को 'आणव-समावेश' कहते हैं। परिमित प्रमाता (अणु) परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि को उपाय के रूप में जिसमें स्वीकृत हैं, उस उपाय को आणवोपाय कहते हैं।

'ध्यान' बुद्धि का व्यापार है।

प्राण स्थूल एवं सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। स्थूल प्राण का व्यापार 'उच्चार' है। सूक्ष्म प्राण को 'वर्ण' कहा गया है। शरीर के अङ्गों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का नाम ही 'करण' है। घट-स्थापन, मण्डल-निर्माण, मन्दिर, मूर्त्ति एवं चित्र आदि की रचना-जैसी विधियों का समावेश 'स्थान-कल्पना' में होता है। सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता 'ध्यान' है। प्राण, अपान आदि वायु की श्वास-प्रश्वास, क्षुत् प्रभृति वृत्तियाँ 'उच्चार' कहलाती हैं। प्राण के उच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चारित होने वाले सकार एवं हकार 'वर्ण' कहे जाते हैं। ये सभी वर्णों एवं मन्त्रों का बोध कराते हैं। वर्ण शब्द काले, पीले आदि रङ्गों का भी बोधक है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक'

में 'त्रिशिरोभैरव' के साक्ष्य पर 'करण' के सात भेद बताए हैं; जो निम्न हैं—



'तन्त्रालोक' के १६वें आह्निक में ग्राह्य-ग्राहक का, ११वें आह्निक में संवित्ति का एवं १५वें आह्निक में व्याप्ति का, २९वें आह्निक में त्याग और आक्षेप का तथा ३२वें आह्निक में सन्निवेश (मुद्रा) का सविस्तार विवेचन किया गया है।

स्थानकल्पना की विधि प्राणशक्ति (हृदय के स्पन्दनात्मक सामान्य व्यापार) में, शरीरस्थ नाड़ियों एवं चक्रों में तथा लिङ्ग, चत्वर, प्रतिमा आदि में निष्पादित की जाती है। सामान्य स्पन्दतत्त्व के उन्मेष के बाद ही उसमें षडध्व का स्फुरण होता है। कुहत प्रयोग आदि में सभी पदार्थों की कलना करने वाला परमेश्वर का 'काल' नामक स्वरूप सबसे पहले भासित होता है। भगवान् का यह स्वरूप भेदावस्था में 'काली शक्ति' और अभेदावस्था में 'प्राण शक्ति' कहलाता है।

संवित्स्वरूपा काली शक्ति में अपनी इच्छा से नाना रूपों में भासित होने के लिए क्रिया का उन्मेष होता है। इस क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष प्राण-व्यापार है। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' कथन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। प्राण शक्ति अपने अपानादिक रूपों नें जीवों को व्याप्त रखता है। इसी के द्वारा जीव चेतन समझा जाता है। इस क्रिया के पूर्व भाग में 'कालाध्वा' एवं उत्तरभाग में 'देशाध्वा' की स्थिति होती है।

कालाध्वा में पर, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप वर्ण, मन्त्र एवं पद की स्थिति है। देशाध्वा में कला, तत्त्व एवं भुवन की स्थिति है।

शब्द एवं अर्थस्वरूप शिव एवं शक्ति में व्याप्य-व्यापकभाव से पर, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से विद्यमान वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व एवं भुवन नामक षडध्व है। यहाँ समस्त षडध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति का ही उन्मेष है। समस्त षडध्वात्मक जगत् में बाहर-भीतर सभी प्राणशक्ति का स्पन्दन तो प्रवृत्त है तथापि हृदय-प्रभृति स्थानों में ही इसके स्फुरण की अनुभूति होती है।

प्राणशक्ति के स्फुरण में ईश्वर की शक्ति, जीव की शक्ति और उसका प्रयत्न—इन तीनों की उपयोगिता है।

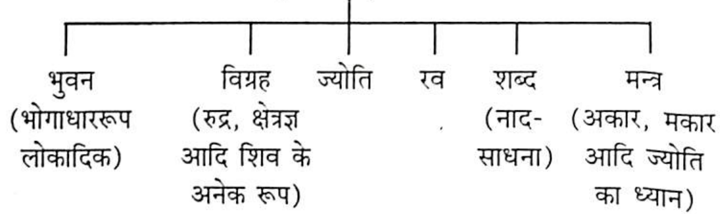
हृदय-प्रभृति स्थानों में स्पन्दमान इस प्राणशक्ति में चित्त को विलीन कर देना 'स्थान-कल्पना' नामक आणव उपाय का अङ्ग है।

शरीर के भीतर स्थित नाड़ी-चक्र आदि स्थानों में और लिङ्ग, चत्वर, प्रतिमा आदि में चित्त को नियोजित करना भी 'स्थानकल्पना' है।

बुद्धि, प्राण, देह आदि भी विकल्पात्मक हैं; अतः ये पारमार्थिक सत्तायें नहीं हैं। ये विकल्पात्मक स्थूल उपाय भी आणव उपाय हैं। इनकी सहायता से भी परमार्थ तक आरोहण किया जा सकता है; भले ही ये विकल्प अपारमार्थिक ही क्यों न हों—

अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते ।
बुद्धौ प्राणे तथा देहे या जडता स्थिता ।
तानिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ॥ (तन्त्रालोक ५।७, ५।१०)

साधना के लिए शिव के छः रूप स्वीकृत किए गए हैं; जो निम्न हैं—



अणुषु भेदिषूपायेषु भवः आणवः ।

उच्चार (उच्चारण, प्राणायाम, मन्त्रजप) जो प्राणापानादि पञ्चक एवं मुख्य प्राणस्वरूप है, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान की कल्पनाओं—भेदों से युक्त 'समावेश' (उपाय) 'आणवोपाय' कहा जाता है । भेदप्रथामयी कल्पनाओं से प्रकल्पित, उच्चारादि बहिर्भूत अर्थ का साधन होने के कारण इसे 'क्रियोपाय' भी कहते हैं । यह 'क्रियोपाय' ही ज्ञानोपाय का साधन है । साधन-साध्य क्रम यह है कि—

१. क्रियोपाय ज्ञानोपाय का हेतु है ।
२. ज्ञानोपाय इच्छोपाय का हेतु है ।
३. इच्छोपाय शाम्भवोपाय (अनुपाय) का हेतु है—

उच्चारकरणं ध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ १७० ॥ (प्र०आ०)

उच्चार पहले दो प्रकार है—क. प्राणात्मक (पञ्चप्राणस्वरूप)

उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्चवृत्तयः।
आद्या तु प्राणनाभिख्या परोच्चारात्मिका भवेत् ॥ (तन्त्रालोक, आ० ४)

ख. चिदात्मक । चिदात्मा भी । इसके दो प्रकार हैं—चित्प्राधान्य एवं विमर्शप्राधान्य ।

'तन्त्रालोक' (१२९ । आ० ५) में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने करणों के सात प्रकार बताए हैं—

ग्राह्य-ग्राहकचिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥

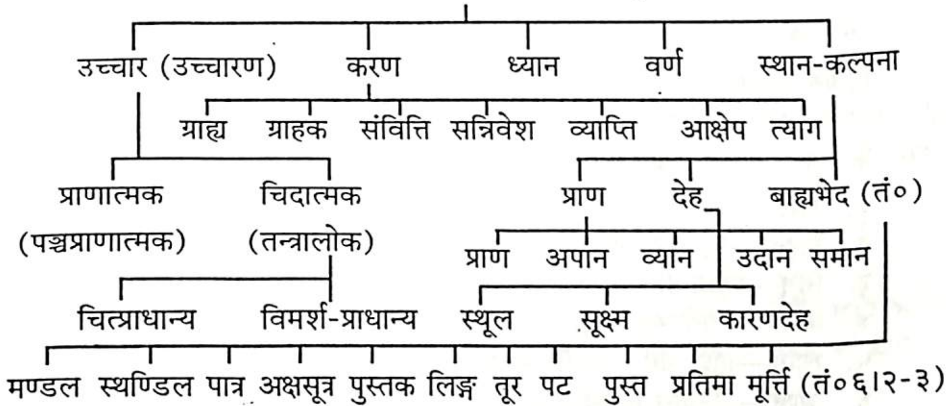
ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, संनिवेश, व्याप्ति, आक्षेप, त्याग । प्राणात्मक उच्चार में स्वयं स्फुरित अनाहत नाद वर्णोत्पत्ति का निमित्त होने के कारण 'वर्ण' कहलाता है । सृष्टि एवं संहार-बीज—इसका मुख्य शरीर है—

उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ॥
(१३१-३२ तन्त्रालोक आ०५)

'तन्त्रालोक' में कहा गया है कि हमारे शैव महाभाव की प्राप्ति का ध्यानरूप यह प्रथमोपाय गुरुवर्य शम्भुनाथ ने निरूपित किया था—

इत्येतत् प्रथमोपायरूपं ध्यानं न्यरूपयत् ।

क्रियोपाय या आणवोपाय के अङ्ग



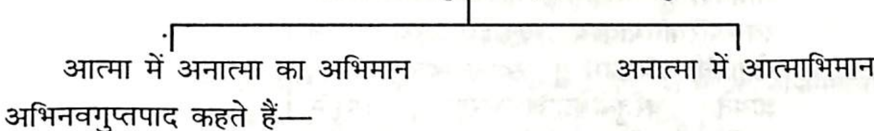
स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा ।
प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः ॥

मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम् ।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरिव च ॥
इत्येकादशधा .... ॥ ('तन्त्रालोक' आ० ६।२-३)

अभिनवगुप्त 'ध्यान' के विषय में कहते हैं कि ध्यान शैवभाव की प्राप्ति का साधन है तथा ध्यान अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है । साधक की रुचि एवं पात्रता का ध्यान आवश्यक है ।

शाक्तोपाय + आणवोपाय (भेदाभेद + भेददृष्टि)—ये दोनों स्नान, व्रत, देह-शुद्धि, मन्त्रयोजना आदि विधान के प्रतिपादक हैं । शाम्भवोपाय में पूर्ण अभेद भावना का प्राबल्य है और इस स्तर पर बाह्य क्रियाकलापों के लिए स्थान नहीं है । यह स्तर तीव्र शक्तिपातजन्य है ।

आणव मल के मुख्य भेद (अभिनवगुप्त)



अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

आत्मन्यनात्माभिमतौ सत्यामेव ह्यनात्मनि ॥ १०५ ॥ (तन्त्रालोक)
आत्माभिमानो देहादौ बन्धो मुक्तिस्तु तल्लयः ॥

आणवमल के मुख्य भेद— (उत्पलदेवाचार्य)

- बोध के स्वातन्त्र्य की हानि (स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य)
- स्वातन्त्र्य का अबोध (स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता)

द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः । —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३।२।४)

ध्यान अनुत्तर के उपाय का मूलाधार है—'अनुत्तरोपायधुरो' (तं०) ।

द्वितीय आणवोपाय—'करण' द्वितीय आणवोपाय है । बोधपूर्वक अभ्यास ही 'करण' है । करण के सात प्रकार हैं । 'करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम्' (तन्त्रालोक ५।१२९)। करण के सात भेद निम्नाङ्कित हैं—

१. ग्राह्य—व्यक्तिनिष्ठ द्रव्यत्व में व्यवस्थित विज्ञान ।
२. ग्राहक—ग्रहण-त्याग-रहित कर्ता ।
३. चित्—व्यक्त-अव्यक्त में उल्लसित तत्त्व ।
४. व्याप्ति—सर्ववस्तु-विचारनिष्ठ वृत्ति ।
५. त्याग—ग्राह्य धर्म की दृष्टि से एक को अस्वीकार करना ।
६. आक्षेप—निवृत्ति निषेधपूर्वक अन्यान्य की प्राप्ति का स्वभाव ।
७. निवेशन—विचार-निष्ठ लक्ष्य-लक्ष की दृष्टि से वस्तुस्वरूप के विभव का चिन्तन ।

ग्राह्य-ग्राहक-चिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥ (५।१२८-१२९)

सातों करणों का स्वरूप इस प्रकार है—

ग्राह्यस्वरूपविज्ञानं द्रव्यत्वे यद् व्यवस्थितम् ।
व्यक्तिनिष्ठं तु मन्तव्यं ग्राहकं तु स्फुटार्थकम् ॥
ग्राहयेच्चित्स्वरूपं तु व्यक्ताव्यक्तविचारकम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च ग्रहीता गोलकस्थितिः ॥
गोलकं द्वारमित्युक्तं मनसा बाह्यतां ततः ।
न जहाति न गृह्णाति ग्रहीता ग्राहकः स्मृतः ॥
लक्ष्यलक्षसमायोगात् प्रतिज्ञावस्तुयोगतः ।
उभयोर्नान्यविश्लेषं यथैवानुभवं स्मृतम् ॥
विचार्यमाणं यत्किञ्चित्स्वरूपविभवात्मकम् ।
सन्निवेशं तु यज्ज्ञेयं तद् व्याप्तिरभिधीयते ॥
स्वरूपस्थितिभावस्य एकदेशगतस्य च ।
घोणार्चिः प्रविकासं तु स्थानात्स्थानपदक्रमात् ॥
ज्ञायते वस्तुबोधज्ञस्त्रिप्रकारेण वस्तुनि ।
व्याप्तिस्तु कथिता सा तु सर्वज्ञा सर्वगा परा ॥

अनुभयस्वरूपं तु निवृत्तिं नैव गच्छति ।
ज्ञानभेदपदप्राप्त्या अत्याक्षेपगमात्मनः ॥
स्वरूपं चिन्त्यमानोऽपि ग्राह्यप्राकारधर्मधीः ।
त्यजेत्पूर्वपदाद्भेदात् त्यागं तु परिकीर्तितम् ॥
पदस्थस्त्यागभागी च संवृतात्मपरस्य च ।
आक्षेपं तं विजानीयात्सर्वत्रावस्थितं प्रिये ॥

अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'करण' अनुभव का विषय है; अतः इसे गुरु से जानना चाहिए—गुरुवक्त्राच्च बोद्धव्यं करणं यद्यपि स्फुटम् । अभिनवगुप्त कहते हैं—

१. ग्राह्य-ग्राहकरूपिणी अर्थप्रतिपत्ति मन्त्रशक्ति है (तं० १६।२५३) ।
२. सैंतीसवें परमशिव की सार्वात्म्यभाव बोध सुन्दर और स्वतन्त्र संवित्ति (आ० ११।२१)
३. दृक्क्रिया और इच्छा आदि सब शिव ही है (व्याप्ति आ० १५।३३) ।
४. संवित्परामर्शमयी ध्वनि ही मन्त्रवीर्य है । यह त्रिविध विसर्गों के आवेश की उच्चावस्था में होती है (त्याग और विक्षेप) (आ० २९।१४०) ।
५. जहाँ सभी लय होते हैं, जिस बोध-वह्नि में सारे तत्त्व जल जाते हैं, शरीर में रहने वाली कालाग्नि सरीखी उस चिति शक्ति का वर्णन है । ये रहस्य की बातें जहाँ से मिलें ग्राह्य हैं (आ० २५।१७२) ।

वर्णतत्त्व—प्राणरूप उच्चार में स्फुरित अव्यक्त ध्वनि ही वर्ण है—

उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ॥ १३१ ॥
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ॥ (तन्त्रालोक)

'स्वच्छन्दतन्त्र' (५.५७) में कहा गया है—इसका उच्चार कोई नहीं कर सकता । उसका प्रतिघात भी नहीं किया जा सकता । प्राणियों के हृदय में यह दिव्य शक्तिसम्पन्न तत्त्व स्वयम् उच्चरित होता है ।

आणवोपाय की दृष्टि—

नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः॥ (स्व०तं० ७।५७)

श्रीतन्त्रालोक (आ० ६।२१६) में कहा गया है—सभी वर्णों से अविभाजित रूप से स्थित नादात्मक अनाहत ध्वनि को 'वर्ण' कहा गया है ।' वर्णों की उत्पत्ति का निमित्त होने के कारण ही इसे 'वर्ण' कहते हैं—

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥

'सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वर्ण उच्यते वर्णशब्दाभिधेयो भवेत् इति ।' ('विवेक'—जयरथ : ५.१३१)

ऐसा 'वर्ण' कहाँ मिलता है? वर्ण के दो मुख्य शरीर हैं—सृष्टि-बीज, संहारबीज। ये दोनों वर्ण की अभिव्यक्ति के मुख्य स्थान हैं।

सृष्टिबीज से अभिव्यक्त नादानुसन्धान के अभ्यास से योगी क्रमश: चिन्मयता को प्राप्त कर लेता है। क से स तक के वर्णों के स्मरण या उच्चारण से उसी प्रकार की संवित्ति-तरंगें उत्पन्न होती है—

तथा ह्यनच्के साच्के वा कादौ सान्ते पुन: पुन: ॥ १३३ ॥
स्मृते प्रोच्चरिते वापि सा सा संवित्प्रसूयते ।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (१७।२७-३२) में कहा गया है कि—'आग्नेयीकरण के सन्दर्भ में स्वररहित अजीवक अर्थात् अनच्क आद्य वर्ण की चर्चा की गई है।' साधक कादि सान्त वर्णों का चक्रों के माध्यम से स्मरण या उच्चारण कर चिदैकात्मता की अनुभूति कर सकता है। यह क्रिया सहस्रार या विशुद्ध से मूलाधार के मध्य में होती है। मन्त्रों में प्रयुक्त लोकोत्तर वर्ण ही नहीं; प्रत्युत सामान्य लौकिक वर्णसमूह भी रहस्यमयी आर्थी शक्तियों को उत्पन्न करते हैं। बाह्य और अपने वाच्यार्थ से अनभिज्ञ घट कान्ता आदि ध्वनियाँ भी स्वात्म गर्भ में रहस्यार्थों को धारण करती हैं। मन पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है। मन्त्र वर्णों की अनन्त शक्तियों के उल्लास की कोई सीमा ही नहीं है।[1]

विज्ञानभैरव में भी कहा गया है कि इस जगत् में भैरव सर्वत्र व्याप्त है। उसका सततोच्चारण करना चाहिए। इससे शिवता की प्राप्ति होती है। उस शब्द के भी बार-बार उच्चारण या जप से (हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त इसके परामर्श से) भैरव महाभाव की उपलब्धि हो जाती है—'इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिव: ।'[2]

'उच्चारण' की भाँति 'स्मरण' से भी श्रेय की प्राप्ति होती है। स्मरणमात्र से कल्याण होता है। यही मन्त्रवीर्य का महत्त्व है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (१।४।१) के अनुसार स्मरण एक चिन्तामणि है। यह सम्पूर्ण सिद्धियों का प्रदाता है—'तत एव सकलसिद्धि-वितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यमागमिका: स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते ।'

वाच्य-वाचकरूप से स्फुरित होने वाले जितने जागतिक स्फुरण हैं, उनमें वस्तुओं को उत्पन्न करने के पूर्व ही संस्काररूप से रहने वाली एक सूक्ष्म स्पन्दनमयी स्फूर्ति है। यदि यह न होती तो सारा व्यवहार उच्छिन्न हो जाता। वही आदि उत्पादयित्री शक्ति है।[3] यह मन्त्रस्वरूपा होती है। 'मन्त्र' परप्रमाता माना जाता है। स्मृति वस्तु के 'स्व' रूप को अभिव्यक्त करती है—'स्मृति: स्वरूपजनिका सर्वभावेषु रञ्जिका ।' स्मृति या उच्चारित शब्द संवित् को ही स्पन्दित करते हैं। यदि इस प्रक्रिया के अनुसार जप किया जाय तो अनुत्तर परम धाम में उसका अनुप्रवेश अनायास हो जाता है—

इत्येनया बुधो युक्त्या वर्णजप्यपरायण: ।
अनुत्तरं परं धाम प्रविशेदचिरात् सुधी: ॥ (तन्त्रालोक ५।१४७)

१-३. विवेक (तन्त्रालोक)

'शब्द' विकल्पों से ही उत्पन्न हैं। समस्त स्फार संवित् तत्त्व का ही है। फिर भी संवित् के आधिक्य का अनुभव न रहने पर भेदानुभव होता है। संविद् के आधिक्य में अनुत्तर विमर्श ही स्फुरित होता है।[१]

आणवोपाय का स्वरूप—वर्णों के स्वरूपांश का स्पर्श करने से साधक को शिवात्मिका दशा में स्फुरित रखता है और स्वरूप स्पर्शाभाव की भौतिक दशा में संसार की भिन्नता का उज्जृम्भण हो जाता है[२]—

एवमेषां स्वरूपांशस्पर्शे शिवमयी स्थितिः ।
तदनाच्छुरणे भिन्नसंसारस्थितिवर्तनम् ॥ (५।१५२ तन्त्रालोक)

उच्चार-करण-ध्यान आदि का उद्देश्य क्या है? अनुत्तर पद-प्राप्त्यर्थ—

उच्चारकरणध्यानवर्णैरिभिः प्रदर्शितः ।
अनुत्तरपदप्राप्तावभ्युपायविधिक्रमः ॥[३]

१. 'शाम्भवोपाय' में चिन्तन का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता—यही उसका 'वीर्य' है।[४]

२. 'शाक्तोपाय' में भावना का ही प्राधान्य हैं। 'भावना' ध्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।[५]

३. 'उच्चार' में ध्यान, करण में उच्चार, ध्वनिरूप वर्ण में उच्चार, स्थान-कल्पन में ध्वनि—यह उत्तरोत्तर वीर्यक्रम है।[६]

आणवोपाय के माध्यम से अनुत्तर प्रकर्ष की प्राप्ति होती है[७]—'इत्याणवेऽनुत्तरताभ्युपायः' ('तन्त्रालोक' ५।१५८)।

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान-कल्पना—ये ही आणवोपाय के अङ्ग हैं।

१. ध्यान—'आणवोपाय' का ध्यान भी एक अङ्ग है। प्राणरूपी 'सूर्य', अपानरूपी 'चन्द्रमा' एवं उदानरूपी 'अग्नि'—इन तीनों के संघट्टात्मक ध्यान को 'अरणी' कहा जाता है। ध्यानानुसन्धानरूप अरणी का प्राणापानरूप गतिचक्र से एक प्रकार का मन्थन ही हो रहा है। मन्थन → क्षोभ। क्षोभ → एक निर्विकल्प भाव का उन्मेष। यहाँ महाभैरवरूप हव्यवाहन उद्दीप्त हो उठता है। प्रकाशमय हृदय का महाकुण्ड नई ज्वालाओं की लपटों से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है। पूर्णप्रज्ञ परभैरव का स्वात्म साक्षात्कार हो जाता है। उक्त ध्यान से परप्रमातृभाव का विकास स्वाभाविक है। अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में कहते हैं—

इस ध्यानयोग से विश्व संवित् चक्र में विलीन हो जाता है। उस समय उस संवित् में समस्त विश्व अन्तर्गर्भरूप से अवस्थित है—ऐसा आभास होता है—

अनेन ध्यानयोगेन विश्वं चक्रे विलीयते ॥ ३४ ॥
तत्संविदि ततः संविद्विलीनार्थैव भासते ॥

१-७. विवेक (तन्त्रालोक)

यह तो चित् शक्ति का 'स्व' भाव ही है। इसके इस स्वातन्त्र्य के प्रभाव से प्रलय ही नहीं; अपितु सृष्टि का भी समुल्लास होता है। यही चिति का माहैश्वर्य है—चित्स्वाभाव्यात् ततोभूयः सृष्टिर्यच्चिन्महेश्वरी। संवित् में विश्व के प्रलयोदय का ध्यान साधक में चमत्कार आविर्भाव करता है और परिणाम यह होता है—

१. स्वात्म संवित् में प्रमाता, सृष्टि, सोम आदि के रूप में भासित विश्व को प्रतिक्षण विलीन करके शाश्वत रूप से जागरूक रहता है।

२. विलयप्राप्त विश्व का विसर्ग भी करता हुआ साक्षी भाव से विराजमान रहता है तथा सहज भैरवी भाव प्राप्त कर लेता है—

एवं प्रतिक्षणं विश्वं स्वसंविदि विलापयन्।
विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद्भैरवतां व्रजेत्॥ (५।३६)[१]

योगसिद्ध साधकों को अनुत्तर एवं द्वादशात्मक चक्रों के अतिरिक्त अन्य चक्रों का भी ध्यान करना चाहिए। ५०, ६४, १०० और सहस्र अरों वाले चक्रों के अतिरिक्त असंख्यात अरों वाले चक्रों का भी योगी को अनन्य भाव से ध्यान करना चाहिए।

असंख्यारसहस्रं वा चक्रं ध्यायेदनन्यधीः। (तन्त्रालोक)

'ध्यान' शरीरांगों की कल्पना नहीं; प्रत्युत निराश्रया, निराकारा, निश्चला बुद्धि है—

ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना॥

इसमें परमात्मा अपनी स्वयं की आत्मा के रूप में ध्यान किया जाता है—'परमं ध्येयं शिवलक्षणं परमकारणं ध्यायते स्वात्माभेदेन परामृश्यते।' ध्याता को ध्यान के समय जो आनन्दाप्ति होती है, उसे 'पुष्टि' कहते हैं। ध्यान के समय संवित् शक्ति ध्याता की कल्पना के अनुरूप आकार ग्रहण करके प्रत्यक्ष होती है। संविद् देवी ध्यान एवं बाह्य व्यापारों के अनुरूप स्फुट होती है। ध्याता ध्यान में आनन्दानुभूति अमृत से जो ओत-प्रोत हो उठता है, उसकी यह दशा 'पुष्टि' कहलाती है। ध्यान पुष्टि का प्रयोजक हैं। पुष्टि में ध्यान ही प्रधान है। यथा ध्यान तथा ध्येयाकार, यथा भाव तथा फल।

ऋषि घेरण्ड ने 'घेरण्डसंहिता' में ध्यान के तीन भेद बताए हैं—स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान एवं सूक्ष्म ध्यान—

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा॥
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।

२. जप—'परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि।' (तन्त्रालोक १।९०)

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः॥

---

१. विवेक (तन्त्रालोक ५.३६)

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥ (१।९० तन्त्रालोक)

परम कारण शिव का आत्मरूप ही 'जप' है । भावाभाव (प्राणापानादि गत्यात्मक) पद की सीमा पार कर जाने की दशा जहाँ चिदैक्य परामर्श हो, वही 'जप' है ('तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाक्स्वभावम् आत्मरूपम् अर्थाद् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः') ।

शिव का स्वात्म रूप तो 'परावाक्' है; अतः परावाक् का शाश्वत परामर्श ही जप है । यहीं संवित् का अमृत परामर्श होता है । वही जप है । बारम्बार उस परमभाव में जो भावना भावित की जाती है, वही जप है । यह स्वयं एक नाद है । यह मन्त्रात्मक होता है । ऐसा परामर्श ही (या नाद ही) जप्य है । नादात्मक भावनावृत्ति ही जप है, जो कि परमभाव में भावित होती है । इस स्थिति में साधक भाव एवं अभाव—दोनों के मध्य स्थित रहता है । न केवल ध्यान से; प्रत्युत जप से भी साधक का भैरवरूप शिव में समावेश होता है । भावाभाव पद से ऊपर उठकर उसका परामर्श करना ही 'जप' है ।

यहाँ स्वात्माभेद परामर्शमात्र ही ध्यान एवं जप दोनों है—'इह पुनः स्वात्माभेदेन परामर्शमात्रमेवोभयरूपम्' (विवेक) । जो मन्त्र जपा जाता है, उन मन्त्रों का स्फुरितार्थ है—'जापक की पुष्टि करो, साधक को अमृतत्त्व से आप्यायित करो' (विवेक) ।

३. गुरु—साधना में गुरु का सर्वातिशायी महत्त्व है । इसीलिए गुरु को 'शिव' कहा गया—

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो य शिवः स गुरुः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥

'गुरुगीता' में कहा गया है—

न गुरोरधिकं शास्त्रं न गुरोरधिकं तपः ।
न गुरोरधिकं मन्त्रं न गुरोरधिकं फलम् ॥
न गुरोरधिका देवी न गुरोरधिकः शिवः ।
न गुरोरधिका मुक्तिर्न गुरोरधिको जपः ॥
गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः ।
देवरुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

मुक्ति के उपाय—जो भेदमयी कल्पनाओं से कल्पित है और बाह्य विकल्पमय (उच्चार, करण, ध्यान आदि) अर्थों का साधक है, वह 'क्रियोपाय' है, इसे ही 'आणवोपाय' भी कहा गया है । भेद 'अपवर्ग' का प्रतिबन्धक है—

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥ १।१४९ ॥ (तन्त्रालोक)

स्वरूप के प्रथन को ही अपवर्ग कहते हैं—'स्वरूपप्रथनं हि अपवर्गः' (जयरथ) । भेदबुद्धि के रहते स्वरूप-प्रथन सम्भव नहीं है । 'उपेय' स्वबोधरूप है । 'आणवोपाय' को 'क्रियोपाय' क्यों कहा गया ? तीनों उपायों में भेद क्या है?

जब बारम्बार विकल्पांश के निश्चय का क्रम संस्कार में उदित होने लगता है तब विकल्पात्मक परामर्श ही साक्षात्कार का विषय बनने लगता है । यह ज्ञानशक्ति का स्फार है । इसलिए इसे 'ज्ञानोपाय' या 'शाक्तोपाय' भी कहते हैं—

भूयोभूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात् ।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥

साधना-लीन साधक की चरम तल्लीनता में समस्त विकल्पों का नाश हो जाता है । यह तैजसावस्था है । उससे ही आत्मपरामर्श की प्रथमानुभूति होने लगती है । अन्य समस्त वैकल्पिक परामर्श नष्ट हो जाते हैं । एक स्फुरत्ता मात्र सूक्ष्मावस्था आती है । उसमें स्पष्टतः साक्षात् स्फुरण की आद्यानुभूति होती है । यह 'इच्छा' नामक उपाय है । इसे ही 'शाम्भव उपाय' भी कहते हैं; क्योंकि उस समय शैव महाभाव का पथ प्रशस्त हो जाता है—

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम् ॥ (११।१४६)

उपायों की सार्थकता—जैसे जागरूक भाव से पर्यवेक्षण में तत्पर पुरुष को विना किसी सहारे के पदार्थ का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, उसी प्रकार कोई साधक जब सचेत रहता हुआ विकल्पों के क्षय के उपरान्त निर्विकल्प धाम में पहुँच जाता है तो उसे स्वात्मपरामर्शरूप शिवात्मक महाभाव स्फुरित हो जाता है । अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में कहते हैं—

यथा विस्फुरितदृशामनुसंधिं विनाप्यलम् ।
भाति भावस्फुटस्तद्वत्केषामपि शिवात्मता ॥ (१।१४७)

क्या स्वप्रकाश परमशिव अपने से प्रकाशित उपायों से प्राप्य हैं? क्या 'उपेय' उपायों से प्रकाशित हो सकता है?

अनुपाय (आनन्दोपाय)

शास्त्रों में कहा गया है कि उपायों के द्वारा शिव का भान नहीं होता । उपाय तो स्वयं उनकी (उपेय की) कृपापूर्ण प्रसन्नता से भासित होते हैं—

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ।

'मैं वही स्वप्रकाश परमेश्वर हूँ । मैं स्वयं भासित हो रहा हूँ । मैं विश्वरूप हूँ ।' गुरुदेव की इन बातों को सुनकर कुछ दत्तावधान शिष्य निश्चित रूप से यह दृढ़ धारणा बना लेते हैं । किसी अनुसन्धान, ऊहापोह या तर्क के विना ही ये संविन्मय स्थितप्रज्ञ, स्वात्मस्थित एवं स्वयंप्रकाश यही 'अनुपाय विज्ञान' है । जिनकी चेतना स्वच्छ दर्पण के समान हो गई है, उनके ऊपर अनुग्रह होता है । इससे उपायरहित (अनुपाय) विज्ञान प्राप्त होता है— 'नानिर्मलचित्तः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ।' अनुपाय आदि के भेद से यह विज्ञान चार प्रकार का है—

यच्चतुर्धोदितं रूपविज्ञानस्य विभोरसौ ॥
स्वभाव एव मन्तव्यः स हि नित्योदितो विभुः ॥ २।४ ॥

अर्थात् इच्छोपाय, ज्ञानोपाय, क्रियोपाय एवं अनुपाय—चार उपाय हैं ।

'अनुपाय' अनुग्रह मार्ग पर आधृत है । गुरु का शक्तिपात या गुरुकृपा शिष्य में शक्ति का एक साथ सञ्चार कर देती है—एक साथ स्वप्रकाश का उन्मीलन हो जाता है । एतदर्थ बार-बार भावनात्मक अनुसन्धान नहीं करना पड़ता । इसे 'आनन्दोपाय' भी कहते हैं । इसमें सकृद्देशना होती है । यह अल्पोपाय है । अन्य उपायों में असकृद्देशना हुआ करती है ।

अनुपाय या आनन्दोपाय का स्वरूप—जयरथ ने 'विवेक' में अनुपाय को 'अनुदरा कन्या' संज्ञा दी है और इसे अल्पोपायात्मक कहा है । 'शाम्भवोपाय' तीव्र शक्तिपातसापेक्ष है; किन्तु निरुपायस्वरूप 'आनन्दोपाय' (अनुपाय) तीव्र-तीव्र-शक्तिपातसापेक्ष है ।

जयरथ ने 'विवेक' में कहा है कि इच्छा-ज्ञान एवं क्रियासम्बन्धी समावेशत्रय से भी उत्कृष्ट एक और उपाय है और वह है—अनुपाय ।

विभुशक्त्यणुसम्बन्धात् समावेशस्त्रिधा मतः ।
इच्छाज्ञानक्रियायोगादुत्तरोत्तरसम्भृतः ॥
ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥ २४२ ॥

यह उत्कृष्टतम उपाय है, परमज्ञानस्वरूप अनुत्तर ज्ञान है । यह 'आनन्दशक्ति' में विश्रान्त रहता है । अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक २।७) कहते हैं—

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम् ।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते ॥ २।७ ॥

शैवसमावेश के उच्च स्तर पर तीव्र-तीव्र शक्तिपात से पवित्रीभूत जो निर्मल आत्मा वाले साधक अपनी भैरवीय स्वात्म संविद् की निरुपाय उपासना में लीन हैं, वे धन्य हैं । वे समस्त विकल्प-कालुष्यों से निर्मुक्त हैं और निरपेक्ष उपासक हैं ।

'शाम्भवोपाय' से उत्कृष्टतर 'अनुपाय' का महत्त्व सर्वोच्च है—

शाम्भवादप्यनुपायस्योत्कृष्टत्वम् । (जयरथ—'विवेक')

अनुपाय में देशना निरर्थक होती है—

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै ।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते ॥ २।२ ॥

इसके अन्तर्गत सिद्धों एवं मातृरूपा योगिनियों के दर्शन, चरु भोजन, सुन्दर उपदेश, शास्त्र-स्वाध्याय, साधना एवं गुरु की सेवा आदि अन्तर्भूत हैं—

सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम् ।
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने ॥

अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिनकी चेतना स्वच्छ दर्पण के समान है, उनके ऊपर अनुग्रह होता है । इससे उपाय-रहित अर्थात् अनुपाय विज्ञान प्राप्त होता है—

अनुपायमिदं तत्त्वमित्युपायं विना कुतः ।
स्वयं तु तेषां तत्तादृक् किं ब्रूमः किल तान्प्रति ॥ २।३ ॥

अनुपाय से क्रियायोग का आविर्भाव होता है—

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।
स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते ॥ २।८ ॥ (तन्त्रालोक)

जितने भी उपाय हैं, वे सभी संवित् शक्तिसापेक्ष हैं—'संविदधीनसिद्धिः' (विवेक)।

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी त्रयोपायत्वभाक्कथम् ॥ २।११ ॥

अनुपाय आनन्दशक्ति-विश्रान्त तथा आनन्द शक्ति में विश्राम करने वाला योगी समरस हो जाता है—

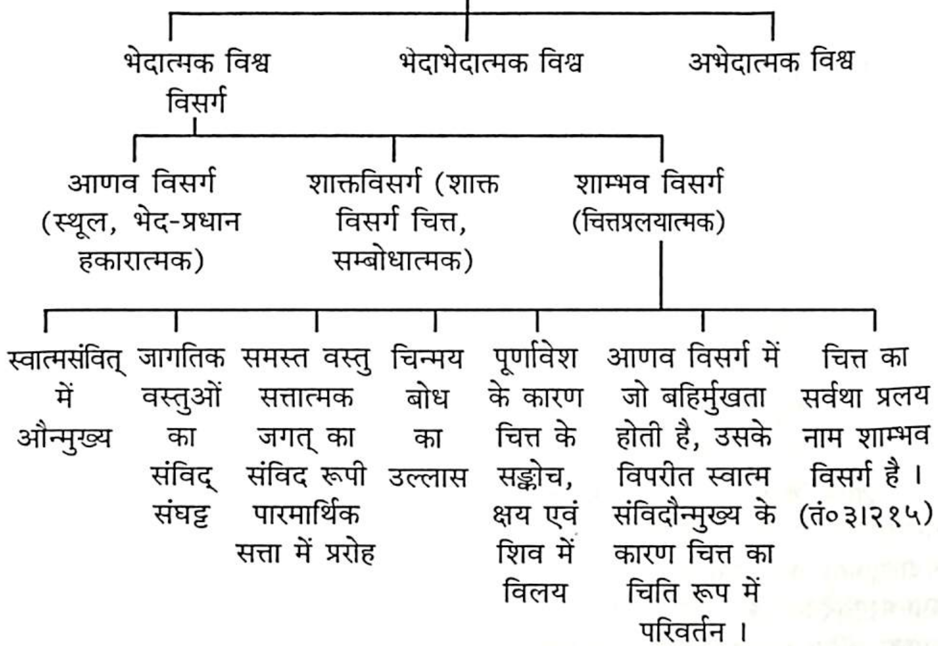
आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत् ।

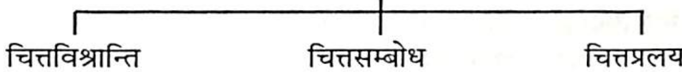
अपने अहमात्मक स्वात्मसत्ता के संज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है । उसी का सतत् स्मरण करता हुआ योगी 'स्व' में स्थित और सुखी हो जाता है—

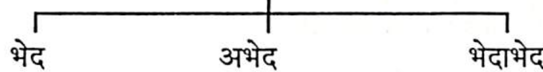
उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते ।
तामेवानुसरन् योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत् ॥

ऐसे अनुपाय-समावेश विश्रान्त योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह समस्त समक्ष समुल्लसित भावमण्डल सम्पूर्णतया संवित्तिरूपी भैरवी भाव के प्रकाश में समाहित हो रहा है। उसे लगता है कि यह निखिल स्फुरण मुझसे ही उदित है । यह मुझमें ही प्रतिबिम्बित है । यह सब कुछ मुझसे भिन्न नहीं है; अपितु आत्ममय ही है ।—इत्यादि अनुभूति के अनुसार पूर्ण संविद् सद्भाव से भावित होकर ही यह सारा उल्लास अवभासित है । नमक-निर्माण-निर्मात्री भट्ठी में पत्ता, उपल आदि जो भी पड़ जाए, सभी नमक हो जाता है; उसी प्रकार चिदात्म भैरवभाव में जो कोई भी पड़ जाय वह वैसा ही हो जाता है । (तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त) ।

अनुपाय एवं ईश्वरानुग्रह तथा अन्य उपाय—'इदं कार्यम् इदं न' (विधि-निषेध) रूप यन्त्रणा के समान नियमों का विधि-निषेध ग्राह्य नहीं है । अनुपाय विज्ञान के अनुसार इसके त्रोटन के लिए टङ्क (छेनी या कैंची) की आवश्यकता है । अनुग्रह से बढ़कर यह काम कोई नहीं कर सकता । इसके अतिरिक्त शेष वृत्ति में दूसरा प्रयोजन नहीं है । विवेक में कहा गया है—यथा हि टङ्कस्तन्त्रं छिनत्ति, तथायमपि अनुपायसमाविष्टशास्त्रीययन्त्रणाः । यह विधि-निषेध से परे है । पर अकुल धाम परमेश्वर की कौलिकी शक्ति ही विसर्ग है । वह शक्तिमान में सतत स्फुरित है । अनुपाय ईश्वरानुग्रहजन्य है ।







वाच्य-वाचकात्म बाह्य विस्फुरण ।

परिस्फुरत्ता ही शिव का स्वातन्त्र्य है । यही विमर्श है । यही आनन्द है । इसी की प्रतिष्ठा से जड़ पुरुष भी चेतन कहलाते हैं । यह विश्व आनन्द शक्ति का स्फार है; किन्तु यह विमर्श रसिक पुरुषों के हृदय में ही अभिव्यक्त होता है—

> विसर्गशक्तिर्या शम्भोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते ॥ २०८ ॥
> तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः ।
> तथा हि मधुरे सति स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥ २०९ ॥
> माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।
> आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥ २१० ॥

१. स्वातन्त्रमिति विमर्श इति आनन्द इति सर्वत्रैव उद्घोष्यते । (विवेक)।

२. यन्माहात्म्यादेव च जडोऽपि निखिलोऽयं जनः सचेतन इत्युच्यते ।

३. यद्यपि सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः तथापि स्फुटोपलम्भादत्र तस्या एव । (विवेक—जयरथ)

४. देश और काल में सामान्यतया शाश्वत विद्यमान महासत्तारूप होने के कारण स्फुरत्ता ही परमेष्ठी का हृदय कहलाती है—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ (ई०प्र० १।५।१८)

५. चिति ही चेतन पद से स्खलित होकर चेत्य के संघट्ट से चित्त बन जाती है। बाह्य और आन्तर प्रमेयों के प्रभाव से संकुचित हो जाती है । इस प्रकार चित्त सङ्कोच-प्राधान्य के कारण अर्थ में विश्रान्त हो जाता है । यही भेदप्रधान नर-सम्बन्धी हकारात्मक स्थूल 'आणव विसर्ग' है ।

शाक्त विसर्ग—शाक्त विसर्ग चित्तसम्बोधात्मक होता है । इसमें इन्द्रियसन्निकर्ष-ग्राह्य चराचरात्मक जगत् रूपी वस्तु स्वात्म संवित् प्रकाश की ओर उन्मुख हो जाता है । ग्राहकरूप भेदात्मकता का अपहस्तन हो जाता है । निष्कलता का उद्रेक होने लगता है । स्वात्मसंविदैक्यानुभूति जागृत हो जाती है । चित्त का संकुचित ज्ञान समाप्त हो जाता है । स्वात्म संवित् में वह विश्राम करने लगता है । शाक्तोल्लासरूप एक विलक्षण बोध उद्बुद्ध हो जाता है । इसे ही 'चित्तसम्बोध' या 'शाक्त विसर्ग' कहते हैं ।

यह सूक्ष्म विसर्जनीयात्मा भेदाभेद प्रधान शाक्त विसर्ग है । अकुल धाम ही परम श्रेय का कारण है । यहीं से विसर्ग शक्ति भेद, भेदाभेद एवं अभेद—तीन रूपों में प्रस्फुरित होती है । हृदय में एक आनन्दशक्ति स्फुरित हो रही है । चन्दनादिक के सुखद स्पर्श में भी ऐकात्म्य बोध होता है और मध्य की समस्त दूरियाँ समाप्त हो जाती हैं ।

चित्तविश्रान्ति—भेदोन्मुखता की चरम सीमा में चित्त को स्थित कर देना ही चित्त की विश्रान्ति है । यह दशा तभी होती है, जब शून्यता में आग लग जाय । भाव के प्रक्षय की उच्चावस्था ही शून्यता है । यही निष्कल दशा कहलाती है । इसके विरुद्ध प्रमातृ प्रमेयात्मक विश्वभावमय 'सकल दशा' होती है । चित्त वहीं रम जाता है । सङ्कोचप्रधान हो जाता है । यही है—'आणव विसर्ग' ।

शाम्भव विसर्ग—शाम्भव विसर्ग चित्तप्रलयात्मक होता है । इस स्थिति में सात क्रियायें होती हैं । उदाहरणार्थ—स्वात्म संविद् में औन्मुख्य, चिन्मय बोध का उल्लास आदि । यह 'चित्तप्रलय' नामक शाम्भव विसर्ग है । पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति का प्रस्फार नरशक्ति शिवात्मक ही होता है । तत्त्वरक्षा के विषय में विसर्ग की त्रिविधात्मकता सभी को स्वीकार है ।

तृतीय विसर्ग (शैवविसर्ग) ही चित्त-प्रलय विसर्ग है; क्योंकि इसमें ग्राह्य-ग्राहकता की स्वात्मसंविद् में रूढ़ि हो जाती है । समस्त यन्त्रणा-तन्त्र का सोटन हो जाता है । परप्रकाश में सार्वत्म्य और ऐकात्म्य का उदय हो जाता है । स्वात्म संविदावेशात्मक पूर्णज्ञान स्वभाव

अभेदप्रधान यह शाम्भव विसर्ग अन्तिम विसर्ग है। कौलिकी शब्दव्यपदिष्ट पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति ही गर्भीकृत निखिल विश्वात्मिका कुण्डलिनी है और अनच्क कलारूपा है। यह बीजात्मिका है। यह संवित् में स्थित होने के कारण समग्र सर्जन की जीवभूता प्राण है। यह कुण्डलिनी जगत् की योनि है। यह जीवभूता, बीजात्मिका, चिद्रूपिणी, तुटिरूपा एवं सर्वप्राणप्रेरिका है। तृतीय विसर्ग चित्तप्रलयलक्षण है—

तृतीयः स विसर्गस्तु चित्तप्रलयलक्षणः।
एकीभावात्मकः सूक्ष्मो विज्ञानात्मात्मनिर्वृतः॥

द्वितीय विसर्ग चित्तसम्बोधलक्षणात्मक है—

विसर्गोऽन्तः स च प्रोक्तश्चित्तविश्रान्तिलक्षणः।
द्वितीयः स विसर्गस्तु चित्तसम्बोधलक्षणः॥

कुण्डलिनी तो जगद्योनि, जगत्प्राण एवं चिद्रूपा है—

या सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता।
तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि।
बीजरूपा समाख्याता चिद्रूपापि प्रकीर्तिता॥

शक्तित्रय का उदय → वर्णोत्पत्ति—

शक्तित्रयसमुद्भूतिस्ततो वर्णसमुद्भवः।

समस्त वर्ण-विस्फार विसर्ग से ही उत्पन्न हुआ है और उन-उन परामर्श रूपों में 'विसर्ग' ही प्रस्फुरित होता है। प्रकाश की आत्मविश्रान्ति अहम्भाव है—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः। (अजड प्र० सि० २२)।

विसर्ग शक्ति ही विश्व का आदि कारण है—

विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता। (तन्त्रा० ३।२२६)

शक्ति योनि है और शिव बीज है। इन दोनों के परस्पर संघट्ट से आविर्भूत स्निग्ध भाव सामरस्य है और इसे ही विसर्गोदय कहते हैं—

बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा।
मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी॥ (३।२३३ तन्त्रा०)

समस्त विश्व का इतना प्रसार विसर्ग शक्ति का ही चमत्कार है।

शाम्भवोपाय—शाम्भव समावेश में चिन्तन का भी त्याग कर दिया जाता है, विकल्प की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। श्रेष्ठ गुरु द्वारा प्रदत्त, ज्ञेय पारमार्थिक चिदात्मारूप अवश्य ज्ञातव्य बोध से विकल्प विगलित हो जाता है। भावनादि की अपेक्षा न करने वाली अविकल्परूप संवित् शिव के साथ तादात्म्यलाभ करती है। यही 'शाम्भव समावेश' है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः॥ १६८॥
अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते॥ १७१॥
तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।

शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥ १७८ ॥

'समावेश' के केवल भेदत्रय ही नहीं; प्रत्युत (श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार) इसके पचास भेद हैं—

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥
पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिंशद्धा तु तथापरः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधा मन्त्रसंज्ञकः ॥
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥

श्रेष्ठतम ज्ञान—इच्छात्मक ज्ञान (शाम्भव ज्ञान) है—ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं त्विच्छात्मकं मतम् । (तन्त्रा० १।१४४)

रुद्रशक्ति समावेश के मुख्य पाँच भेद हैं—भूत, तत्त्व, आत्मा, मन्त्र एवं शक्ति । इनके भी क्रमशः ५, ३०, ३, १० और २ भेद होते हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर ५० भेद होते हैं ।

यह समस्त जगत् शिवमय है या विज्ञानभैरवस्वरूप है । यह जगत् बोधगगन में उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है, यथा मुकुर में मुख दृष्टिगत होता है । जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो किसी द्वितीय पदार्थ में संक्रान्त होकर ही प्रकाशित होता है, उसी को 'प्रतिबिम्ब' कहते हैं—'यद् भेदेन भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत् प्रतिबिम्बम् मुखरूपमिव दर्पणे ।' (अभिनवगुप्त : 'तन्त्रसार')

अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' (३।५३) में बिम्ब का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा ।' 'प्रतिबिम्ब' वैसा ही होता है जैसे कि दर्पण आदि में दृष्टिगत प्रतिकृति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है । यह विना किसी की सहायता के प्रकाशित होता है; यथा—मुख स्वयं भासित होता है । मुख को भासित करने हेतु दर्पण की अपेक्षा नहीं है । विश्व भी दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरी के समान शिवमय दर्पण में भासित हो रहा है ।

दर्पण में भासित प्रतिबिम्ब (मुखादिक की प्रतिकृति) विना बिम्ब (मुख) के प्रकाशित नही होता । इसी भाँति दर्पणस्थानीय शिव में प्रकाशित प्रतिबिम्बस्थानीय इस विश्व के बिम्ब की भी सत्ता होनी चाहिए ।[1]

यह बिम्बस्थानीय पदार्थ क्या है? वस्तु के स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न करना उचित नहीं है । जल में शैत्य एवं अग्नि में ताप जल एवं अग्नि का स्वभाव है । शिव का यह स्वभाव है कि वह अपने में ही अपने विज्ञानमय स्वरूप को जगत् के रूप में भासित होने देता है ।[2]

ईश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति की ही यह क्रीड़ा है । शिवमय दर्पण में विना किसी बिम्ब

१-२. तन्त्रालोक (१।१४४)

की सत्ता के भी यह जगत् रूपी प्रतिबिम्ब भासित होता है । शिव के निर्विकल्प स्वरूप के अलावा इस जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है । इस निर्विकल्प-शून्य स्थिति में अपने चित्त को समाहित करने का प्रयास ही शाम्भव उपाय है ।[१]

तन्त्रालोक के अनुसार सर्वोच्च ज्ञान (पर ज्ञान) शाम्भव ज्ञान है । यह स्थूल, आणव, शाक्त ज्ञानों से श्रेष्ठ है । यह इच्छात्मक (इच्छाशक्तिप्रधान) ज्ञान है ।[२]

शाक्तोपाय—शाक्तोपाय में बाह्य उच्चार, करण, ध्यान, करण, वर्ण और स्थान-कल्पना की उपयोगिता एवं ग्राह्यता नहीं है; क्योंकि यह अभेदावस्था का स्तर है ।

चूँकि चित्त से इनके चिन्तन का विधान भी है; अत: इस विकल्पात्मकता के कारण यहाँ भेदाभेद की स्थिति है । यही शाक्त समावेश या शाक्त उपाय है । 'तन्त्रालोक' में अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत् ।
य: समावेशमाप्नोति शाक्त: सोत्राभिधीयते ।। (प्र० आ० १६९)

इस 'उपाय' या 'समावेश' को 'ज्ञानोपाय' भी कहते हैं; क्योंकि जब योगी 'आत्मैवेदं सर्वं' इस प्रकार से चिन्तन करता है तो इसमें आत्मा और अनात्मा रूप दो विकल्पांश विद्यमान रहते हैं और क्रमश:—'यह आत्मा ही अनात्मा रूप से प्रकाशित हो रहा है'—ऐसा बार-बार अभ्यास करने पर अभेद परामर्श प्राप्त होता है और पूर्वोक्त विकल्प निर्विकल्पता के रूप में परिणत हो जाता है और यही 'ज्ञान' है ।

जब साधक सत्तर्क, सदागम, सद्गुरु एवं सदसत् विवेक की सहायता से उच्चार, करण आदि विकल्प व्यापारों का शोधन कर लेता है अर्थात् इन सभी में स्वात्मस्वरूप का ही दर्शन करने लगता है तो उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास होने लगता है । वह जान जाता है कि यह समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप है, मेरा शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो इससे भी परे है ।

इस प्रकार के सार्वात्म्य भावना के आश्रय से साधक के चित्त में शुद्ध विकल्पों की सृष्टि होने लगती है—

अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थ: प्रकाशते । (तन्त्रालोक ५।७)
बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता ।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ।। (तन्त्रालोक ५.१०)

सभी जागतिक पदार्थों को अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् नहीं देखता; बल्कि उन सबमें अपने शुद्ध स्वरूप की ही भावना करता है ।

शाक्तोपाय के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्रविमर्शिनी' (द्वि०उन्मेष के प्रारम्भ) में कहते हैं—'इदानीं शाक्तोपाय: प्रदर्श्यते । तत्र शक्ति: मन्त्रवीर्य-स्फाररूपा इति प्रथमोन्मेषान्तसूत्रिततत्स्वरूपविवेचनपुर:सरमुन्मेषान्तरमारभमाणो मन्त्रस्वरूपं तावत् निरूपयति—'चित्तं मन्त्र: ।'

१-२. तन्त्रालोक (१।१४४)

'आणवोपाय' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य क्षेमराज ने तृतीय उन्मेष के प्रारम्भ में कहा है कि—'इदानीमाणवोपायं प्रतिपिपादयिषुः अणोः तावत्स्वरूपं दर्शयति—'आत्मा चित्तम्' ।

शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय में विशिष्ट अन्तर यह है कि शाम्भवावस्था में ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती; किन्तु शाक्तावस्था में इसकी आवश्यकता है ।

शाम्भव उपाय की अवस्था में साधक ज्ञान के द्वारा निर्विकल्प में विश्राम प्राप्त करता है । शाक्त स्थिति में चित्त, बुद्धि, अहङ्कारादि स्पष्ट रहते हैं । इसमें विकल्पों की विद्यमानता है ।

शाङ्कर वेदान्त तो यह मानता है कि मन, चित्त, बुद्धि एवं अहङ्कार आदि का विनाश हो जाता है; किन्तु काश्मीरी अद्वैत शैवमत के अनुसार मन, चित्त, बुद्धि आदि विकल्पों के माध्यम से साधक सिद्धि प्राप्त करने का यत्न करता है । संन्यासप्रधान वेदान्त एवं तान्त्रिक सम्प्रदायों में यह बहुत बड़ा भेद है ।

शाक्तावस्था में कर्तृत्वाभिमान भी रहता है और जगत् की मायात्मक एवं विकल्पात्मक दृष्टि भी रहती है । 'मैं ही सर्वत्र स्थित हूँ, मेरे द्वारा ही सब स्थित है'—ऐसी भी रहती है; तथापि मायात्मक विकल्प रहते हैं । शनैः शनैः साधक समावेश की ओर बढ़ता जाता है । भेदों से अभेद की ओर बढ़ने से भेद और अभेद दोनों की स्थिति बनी रहती है; अतः यह अवस्था भेदाभेद की है । 'भेदाभेदौ हि शक्तिता' (तन्त्रालोक आ० १। पृ० २४३) कहकर अभिनवगुप्त ने इसी ओर संकेत किया है । 'शाम्भवावस्था' तो ध्याननिरपेक्ष है; किन्तु 'शाक्तोपाय' की अवस्था ध्यानसापेक्ष है ।

शाक्तोपाय में गृहीत शाक्त प्रक्रिया संस्कार को बहुत महत्त्व देती है । संस्कार का अर्थ है—श्रुति, चित्त आदि के द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान तत्त्व को स्फुटता प्राप्त कराना । इस संस्कार के द्वारा निर्विकल्प में प्रवेश होता है । अतः विसर्ग का संस्कार ही निर्विकल्प का साधन है । यदि विसर्ग का संस्कार (न कि विसर्ग का नाश) नहीं हो पायेगा तो 'विरुद्ध विकल्प' बने रहेंगे और संस्कार का प्ररोह सम्भव नहीं हो सकेगा । विरुद्ध विकल्प के नष्ट होते चलने पर आत्मशुद्धि होती है और अन्त में अविकल्प स्थिति प्राप्त हो जाती है ।

चूँकि विकल्प भी संवित् के ही रूप हैं, इसलिए विकल्पों से आच्छादित संवित् तत्त्व अन्ततः अपने मूल रूप को प्राप्त कर लेती है । विकल्पों के आरूढ़ होने पर भी संवित् सतत् स्फुरित होती रहती है । शाक्तोपाय द्वारा भैरवी तेज भी प्राप्त हो जाता है । संवित् का बार-बार विमर्श → भैरवी तेज (चैतन्य) की स्फुटता—

अतश्च भैरवीयं यत्तेजः संवित्स्वभावकम् ।
भूयोभूयो विमृशतां जायते स्फुटात्मता ।। (तन्त्रालोक ४ आ०)

माया के विनाश हेतु तत्त्व का बार-बार परामर्श आवश्यक है । शैव शासन के आत्मप्रत्यभिज्ञा स्वरूप 'तर्क' परामर्श के सहायक हैं । तर्क है क्या? क्या खण्डन-मण्डन तर्क हैं ? नहीं ।

तर्क—तर्क है—आत्मप्रत्यभिज्ञा। शुद्ध विद्या के स्पर्श से पवित्रीभूत बुद्धि के द्वारा 'मैं शिव हूँ' (शिवोऽहं) की भावना का उद्रेक करने वाली वृत्ति ही 'तर्क' है। यही भेद का कुठार है। अद्वैतभाव ही तर्क है। इसी के द्वारा समस्त अभिलाषायें पूर्ण होती हैं—

दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तति कोविदा: ।
धारारूढ़ेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चय: ॥ (तन्त्रालोक आ० ४)

भेदभावना के पेड़ के मूल को काटने वाला कुठार है—तर्क। भावनाविशेष ही तर्क है; न कि खण्डन-मण्डन। यह भावना ही सर्वकामदुघा कामधेनु है—सर्वसिद्धिप्रदा एवं मुक्तिदा है। योग का यह उत्तम अङ्ग है और 'अन्तरङ्ग योग' है। 'षडङ्ग योग' में तर्क भी एक अङ्ग है, जिसका अर्थ है—स्वसिद्धान्त के विरुद्ध न जाकर तर्क करना।

खण्डन-मण्डनात्मक तर्क ग्राह्य नहीं है—

१. 'तार्किकं न गुरुं कुर्यात्, तार्किके बन्ध बन्धनम्' (तन्त्रालोक)।
२. गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमा: ।
असद्युक्ति: विचारज्ञा: शुष्कतर्कावलम्बिन: ॥ (तन्त्रालोक)

अकस्मात् तर्क (ज्ञान) प्राप्त योगी 'सांसिद्धिक' कहलाते हैं। इन्हें—गुरु, शास्त्र, साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रातिभ महाज्ञान ही इसे सफलता प्राप्त कराता है। अकस्मात् ज्ञानाप्ति होने पर यन्त्र, मन्त्र आदि निरर्थक हो जाते हैं। स्वसंवित्ति को भी संक्रान्त करने वाले = 'निर्भित्तिक' परोपजीवी = 'सहभित्तिक'। सामान्यत: सांसिद्धिक साधकों को भी दीक्षा दी जाती है। दीक्षा + मण्डल की अपेक्षा न रखने वाले = 'अकल्पित सांसिद्धिक'। अन्य साधकों को 'साधना' करना आवश्यक है। साधना में दीक्षा, मण्डल, कुल आदि आवश्यक नहीं होता।

योग—शाक्त साधना में 'योग' मुख्य अङ्ग है। योग का अर्थ क्या है? प्राण (सूर्य) अपान (चन्द्र) के मध्यमार्ग में चित्त को लय करना ही 'योग' है। योग → ग्राह्य-ग्राहक भाव का नाश। प्राणायाम निरर्थक हैं। 'रहस्य' ही स्पृहणीय है। 'रहस्य' क्या है? प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता के भेदभाव का नाश एवं शुद्ध चैतन्य परतत्त्व का ज्ञान ही रहस्य है।

शशिभास्करसंयोगात् जीवस्तन्मयतां व्रजेत् ।
अत्रं ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकांक्षया ॥ (तन्त्रालोक आ० ४)
प्राणायामो न कर्तव्य: शरीरं येन पीड्यते ।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र स मुक्त: स च मोचक: ॥ (तन्त्रालोक आ० ४)

मन की गति क्या होनी चाहिए—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत् ।
चलित्वा कुत्र गन्तासि सर्वं शिवमयं यत: ॥ (तन्त्रालोक आ० ४)

प्रत्याहार—इन्द्रियों को भोगों से बाहर विरत रखना व्यर्थ है। चूँकि संवित् तो सर्वत्र विद्यमान है; अतएव मन जहाँ-जहाँ जाय; वहीं-वहीं उसे लीन रखने, मन को इच्छित वस्तु में लीन करने का प्रयास करना चाहिए; क्योंकि सब कुछ शिवमय है; अत: मन शिव से बाहर जायेगा कहाँ?

धारणा एवं ध्यान—संवित् के प्रति तो इसका उपयोग निरर्थक है; किन्तु तान्त्रिक योग में इसका उपयोग स्वीकृत है। शुद्ध चैतन्य का बोध हो जाने पर इसकी भी उपयोगिता नहीं रह जाती। ये समस्त योगाङ्ग 'समाधि' प्राप्ति तक ही उपयोगी है, इसके आगे नहीं।

प्राणायाम से ध्यान एवं ध्यान से समाधि श्रेष्ठतर है। प्रत्याहार से तर्क एवं तर्क से समाधि श्रेष्ठ है। संवित्, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में व्याप्त है। अत: यम-नियमादिक साक्षात् रूप से उसके सहयोगी नहीं हैं, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से (दृढ़ता हेतु) उनका उपयोग निषिद्ध भी नहीं है। योगाङ्ग द्वैतनाश के लिए उपयोगी है। लिङ्गादि-पूजन भी साक्षात् रूप से उपयोगी नहीं है। जिसका जैसे ध्यान लग जाय और जिस उपाय से शुद्ध चैतन्य का बोध हो जाय, उसके लिए वही श्रेष्ठ है। हठयोग आदि प्रत्यक्षतया सहायक नहीं हैं—'तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्।' यही 'सहजयोग' है।

विकल्प परामर्श—स्वभाव परामर्श का नाम है—'विकल्प'। विकल्प के दो प्रकार हैं—नैश एवं स्वच्छ। भेदों के द्वारा तत्त्व-सन्धान 'नैश' है और भेदों की सहायता के लिए तत्त्व-परामर्श 'स्वच्छ विकल्प' है। नैश या मायीय विकल्प-परामर्श भी अन्त में अभेदाप्ति के साधन हैं। स्नान, अर्चना, होम, ध्यान, जप, चक्रपूजा आदि मायीय विकल्प हैं।

शाक्तोपाय के आधारभूत तत्त्व हैं—बुद्धि, मन एवं अहङ्कार। अभिनवगुप्त कहते हैं कि शाक्तोपाय—

१. साक्षात् अभिव्यक्त होता है।
२. यह बुद्धि, मन एवं अहङ्काररूप है—अन्त:करणत्रयात्यात्मक है।
३. सविकल्पता के कारण यह 'मायामय' है।
४. यह भेदप्रथारूप है; क्योंकि सारा विकल्प संसार है—सर्वो विकल्प: संसार:।

शाक्तोऽथ भण्यते चेतोधीमनोहंकृति: स्फुटम्।
सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुत: ॥ (१।२१४)

शिवसूत्रवार्तिक में वरदराज कहते हैं—

१. इदानीमेतदन्तस्थ: शाक्तोपाय: प्रदर्श्यते ॥ १ ॥
तत्र शक्तिर्महामन्त्रवीर्यविस्काररूपिणी।
इति प्राथमिकोन्मेषपर्यन्ते प्रकटीकृता ॥ २ ॥
तत्स्वातन्त्र्यं विविच्यादावुन्मेषान्तरमान्तरम्।
सम्यग्दर्शयता मन्त्रस्वरूपं तावदीर्यते ॥ ३ ॥
२. चित्तं मन्त्र: ॥ २ ॥

अभिनवगुप्तपाद (तन्त्रालोक में 'शाक्तोपाय' के अनेक लक्षणों को निम्न रूप से प्रस्तुत करते हैं—

स्वात्म में अशुद्ध 'अहम्' अभिमान से स्वयं को कर्ता मानने के कारण, बाह्य हेयोपादेय रूप सङ्कल्प के कारण और अध्यवसाय के कारण एक शाक्त अर्थात् वैकल्पिक प्रत्यय उदित होता है। ऐसा लगता है—'अहमेव सर्वत्र स्थित: सर्वं वा मय्येव स्थितम्' ('मैं ही सर्वत्र स्थित हूँ', 'मुझमें ही सब कुछ है या मैं ही सब कुछ हूँ')। यह भेद-निष्ठा होती है। यह

मायात्मक उपाय है ।

अभिमानेन सङ्कल्पाध्यवसायक्रमेण यः ।
शाक्तः मायोपायोऽपि तदन्ते निर्विकल्पकः ॥ (१।२१५)

शाक्तोपाय की उपयोगिता—इन विकल्पों के अभ्यास से क्रमशः संस्कृत होकर सर्वातिशायी शुद्ध विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं और अन्त में तत्त्वसाक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक शाम्भव समावेश हो जाता है । परमेश्वर के 'स्व' भाव में अनुप्रवेश का अभिलाषी विकल्पों का त्वरित संस्कार कर लेता है । इसके बाद विकल्पों के शुद्ध हो जाने पर अत्यन्त स्फुट, उदात्त एवं ताद्रूप्य से संवर्द्धित संविद् अत्यन्त निर्मल निर्विकल्पात्मकता में परिणत हो जाती है । इसीलिए शाक्तोपाय को शाम्भव उपाय का भी उपाय माना जाता है ।

यह भी ध्यातव्य है कि पाशबद्ध पुरुषों में भी एक निर्विकल्पक भूमिका की अनुभूति होती है और उस दशा में पशु को भी ऐश्वरभाव प्राप्त हो जाता है—'तस्यां दशायामैश्वरो भावः पशोरपि ।' किन्तु पशु का ज्ञान संकुचित होता है ।

'शाक्तोपाय' की वैकल्पिफ भूमि में ज्ञत्व एवं कर्तृत्व निर्विकल्प की अपेक्षा स्फुट होते हैं, तथापि प्रमाता के दौरात्म्य (आत्मसङ्कोच) के कारण संकुचित ही रहते हैं । सङ्कोच के इस संभार के विलापन में तत्पर प्रमाता की यह शाक्ती भूमि विकस्वर हो जाती है ।

'शाक्त' का 'शाम्भव' से विकल्पाविकल्पात्मक भेद है, किन्तु विकल्प स्वभाव 'आणव' से क्या भेद हैं? वस्तुतः शाक्ती वैकल्पिकी बुद्धि तो आणवोपाय में भी होती है । आणवोपाय की दशा में यह अन्योपाया है (बाह्य उच्चार आदि का आश्रय लेती है) । 'शाक्तोपाय' में उच्चार आदि का रहितत्व है । उच्चार का संकेत करण, ध्यान, वर्ण, स्थानप्रकल्पन की ओर भी है ।

शाक्तोपाय की दशा में (शाक्त में) बाह्योच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थानप्रकल्पन से रहितत्व होने के कारण अभेदभूमि और वैकल्पिक होने से भेदभूमि दोनों सम्भव है । आणव में भेद-प्राधान्य एवं शाक्त में भेदाभेद प्राधान्य है—

उच्चारशब्देनात्रोक्ता बह्वन्तेन तदादयः ।
शक्त्युपाये न सन्त्येते भेदाभेदौ हि शक्तिता ॥ (१।२२०)

'आणवोपाय' भेदप्रधान है । इसकी भी विश्रान्ति शाम्भव में ही है; किन्तु तब जब निर्विकल्पकता आ जाती है । तीनों उपायों की दृष्टियाँ पृथक्-पृथक् हैं—

उपाय	भेदात्मक	भेदाभेदात्मक	अभेदात्मक	अभेदात्मक
उपाय का नाम	आणवोपाय	शाक्तोपाय	शाम्भवोपाय	अनुपाय
ज्ञान के प्रकार	भेदात्मक ज्ञान	भेदाभेदात्मक ज्ञान	अभेदात्मक ज्ञान	अनुत्तर विज्ञान

वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ॥ (तन्त्रालोक)

'इह खलु भेदभेदाभेदात्मना त्रिधा ज्ञानं'—जयरथ-'विवेक' ।

आणव समावेश में स्थित साधक भी शाम्भव समावेश विश्रान्ति प्राप्त कर सकता है।

'अनुपाय'—

रत्नतत्त्वमविद्वान्प्राङ्निश्चयोपायचर्चनात् ।
अनुपायाविकल्पाप्तौ रत्नज्ञ इति भण्यते ॥ (तन्त्रालोक १।२२९)

वस्तुज्ञान की सत्ता तीन प्रकार से उल्लसित है—भेदरूप से, भेदाभेदरूप से, अभेदरूप से। इसी से सम्बद्ध हैं तीन ज्ञान—आणव ज्ञान = भेदात्मक, शाक्त ज्ञान = भेदाभेदात्मक एवं शाम्भव ज्ञान = अभेदात्मक।

'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' ज्ञान मोक्ष का एकमात्र उपाय है। गुरुशिष्यैक्य → बोधस्फुरण। स्व + पर का भेद नष्ट → एकात्मता उल्लासन। संविदैक्यपरामर्श → गुरु का शैव महाभाव में प्रतिष्ठामोचक गुरु स्वात्मत्वेन स्फुरित होता है। संविदैक्य → गुरु-मिलाप। अनुत्तर ज्ञान क्या है? अनुपाय क्या है।

ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥ (तन्त्रालोक २४२)
इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम्। (१।२४५)

स्थापन, मुद्रा द्वारा प्राणप्रतिष्ठा, सन्निधान मुद्रा से आसन देकर पूजा के प्रति उन्मुख होना, उसी भावना में अविचल स्थिति से अन्य वृत्ति का निरोध करना, अर्घ, मन्त्रसन्धान, आवाहन, विसर्जन आदि व्यापार यहाँ (अभेद भूमि में) अमान्य है, क्योंकि अविकल्प प्रकाश में कर्ता-कर्म और क्रियारूप विकल्प व्यापारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

स्थानासननिरोधार्घसन्धानावाहनादिकम् ।
विसर्जनान्तं नास्त्यत्र कर्तृकर्मक्रियोज्झिते ॥ २७ ॥

नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्येयवर्जनात् ।
न पूज्यः पूजकाभावात् पूज्याभावान्न पूजकः ॥ (२.२५)

न मन्त्रो न च मन्त्र्योऽसौ न मन्त्रयिता प्रभु ।
न दीक्षा दीक्षको वापि दीक्षावान्महेश्वरः ॥ ३६ ॥ (तं० २।२६)

अद्वैत भूमिका में सब समरस होता है; अतः द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं रहता। समरस योगियों के लिए समग्र सुख, दुःखरूप लौकिक-अलौकिक परिमित शङ्काओं के कालुष्य से कलंकित विकल्पों की कल्पना भी निर्विकल्प समावेश सिन्धु में समाहित हो जाती है। इसके लिए मन्त्र, जप, ध्यान, पूजा की कल्पना या समय-साधनासहित आचार्यों द्वारा निर्धारित आचार आदि नियमों के पालन का कोई विभ्रम शेष नहीं रह जाता है—

एतेषां सुखदुःखांशशङ्कातङ्कविकल्पनाः ।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः ॥ २।३६ ॥ (तन्त्रा०)

एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना ।
न समय्यादिकाचार्यपर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः ॥ (२।३७: तन्त्रा०)

काश्मीरीय शैव दर्शन (अद्वैतवादी शैवदर्शन = त्रिकशासन) में मोक्ष की दृष्टि अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। इसकी दृष्टि में—

१. मोक्ष का तो स्वभाव ही ज्ञान है (तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम्)।
२. अख्याति के अभाव को ही पूर्ण ख्याति कहते हैं (अख्यात्यभाव एव हि पूर्णा ख्याति:)—(तन्त्रा०)।
३. प्रकाशानन्दघन आत्मा का तात्त्विक रूप पूर्ण ख्याति है (सैव च प्रकाशानन्दघनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपम्—तन्त्रा०)।
४. इसके प्रथन को ही 'मोक्ष' कहते हैं—'तत्प्रथनमेव मोक्ष इति'।
५. बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति से नहीं, पौरुष अज्ञान-निवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है; क्योंकि बौद्ध अज्ञान नष्ट होने पर बौद्ध ज्ञान ही उत्पन्न होगा।
६. 'मोक्ष' स्वरूप-प्रथनमात्र है। स्वात्मतत्त्व संवित् चैतन्य है।

उसका यथातथ्य ज्ञान ही स्वरूप का प्रथन है। यही स्वरूपप्रथन मोक्ष है—'स्वस्य आत्मनो रूपं संविच्चैतन्यम्, तस्य प्रथनं यथातथ्यं ज्ञानम् स एव मोक्ष इति।'

मोक्षो हि नाम नैवान्य: स्वरूपप्रथनं हि स:।
स्वरूपं चात्मन: संविन्नान्यत्तत्र तु या: पुन:॥ (तन्त्रालोक १।१५६)

ज्ञान इसका उपकारक है—'ज्ञानमेव विमोक्षाय' (तन्त्रा० १।१५५)। 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है कि जब स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी में भी अवस्थित रहता हुआ योगी अपने चित्त को स्पन्दतत्त्व में लीन कर देता है तब प्रत्ययोद्भव के संहार एवं सृष्टि को निष्पादित करता हुआ अपने खोये हुए भोक्तृभाव को पुन: प्राप्त कर लेता है और चक्रेश्वर बन जाता है और यही चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति निर्वाण है। शङ्कराचार्य कहते हैं—

ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्ष: सिद्ध्यति नान्यथा॥ (५८)

वस्तुत: बन्धन एवं मोक्ष हैं ही नहीं; क्योंकि ये मन की कल्पनायें मात्र हैं—

मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते॥ (१७४)

'स्पन्दशास्त्र' के अनुसार पूर्णाहन्ता, स्वातन्त्र्य, शिवभाव या चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है?

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्॥ ५१॥ (स्पन्दकारिका)

क्रियोपाय—ग्राह्य एवं बाह्य भेदद्वय। वैसे भेदोपभेदों की दृष्टि से इसके अनन्त प्रकार हैं—

क्रियोपायेऽभ्युपायानां ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्।
भेदोपभेदवैविध्यान्नि:संख्यत्वमवान्तरम्॥ १।१६४॥

ग्राह्यभेद = उच्चार आदि। प्राणव्यापार ही उच्चार है। ये सभी ग्राह्य हैं तथा 'बाह्य' = कुण्डल-मण्डल आदि हैं। उच्चार बाह्य नहीं है, मात्र ग्राह्य है। कुण्डल, मण्डल आदि बाह्येन्द्रिय-गोचर हैं। अत: बाह्य हैं। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानप्रकल्पन आदि भेदों के अतिरिक्त पाँच भेद हैं। बिन्दु, नाद अनेक उपभेद हैं। मन्त्रों के भी अनन्त भेद

हैं—'उच्चार्यमाणानां आनन्त्यम् इत्यसंख्यभेदत्वम्' (विवेक)।

आवेश एवं समावेश—अस्वतन्त्र जड़ बुद्धि आदि मितप्रमाताओं का जो अपना संकुचित रूप, उसके निमज्जित हो जाने पर (अर्थात् उसकी प्रमुखता समाप्त हो जाने पर) स्वतन्त्र बोध का जो ताद्रूप्य प्राप्त हो जाता है, इसी ताद्रूप्य को 'आवेश' कहते हैं—अस्वतन्त्रस्य जडस्य बुद्ध्यादेर्मितस्य प्रमातुः स्वम् असाधारणम्, तत् संकुचितं यद् रूपं तस्य निमज्जनं गुणीभावः तदवलम्ब्य परेण स्वतन्त्रेण बोधेन या तद्रूपता, तादात्म्यम् स आवेशः। (तं०)

जब चिदात्मक बोध और स्वात्म कर्तृत्व की मुख्यता हो जाय, साथ ही संकुचित जड़ता की गौणता हो जाय और एकज्ञानात्मक प्रकाश का उल्लास हो जाय, तो यह समझना चाहिए कि यह 'समावेश' की स्थिति है।

'शाम्भव समावेश' अणु या शक्ति से अप्राप्य है। यह शम्भु-प्राप्य है। शम्भु की आद्या शक्ति (ज्ञान एवं क्रिया नहीं; प्रत्युत) इच्छा है—

आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ॥ १।१७३ ॥ (तन्त्रा०)
मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ॥

समावेश के भेद—समावेश दो भेद हैं; एक वह जो जड़ के साथ समावेश होता है, वह प्रतिच्छन्दात्मक होता है और दूसरा यह कि चैतन्य से जो समावेश होता है, वह तादात्म्यमात्र होता है।

सारांश—समावेश द्विविधात्मक है—छायात्मक तथा तादात्म्य बोध से ऐकात्म्य ही समावेश है। जड़ पदार्थों की परतद्रूपता ही आवेश है—तेन बोधैकात्म्यमेव समावेशः। अस्वतन्त्रस्य परतद्रूपता नामावेशः ('विवेक'—जयरथ)।[1]

चेतन ज्ञेय 'कल्पित' कहलाता है। 'कल्पित वेद्य' का तात्पर्य है—परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपना वेदक रूप अक्षुण्ण रखते हुए भी स्वात्म को ओट में करके वेद्य रूप से अवभासित करने लगता है। यही उसकी स्वतन्त्रता है कि वेदक होता हुआ भी वेद्यरूप से भासित होता है; इसलिए चेतन का ज्ञेयत्व कल्पित माना जाता है। जहाँ तक जड़ ज्ञेयत्व का प्रश्न है, वह दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति छायात्मक समावेश दशा है—तादात्म्य नहीं है।[2] निर्विकल्प परामर्श के प्रसाद से शिव-तादात्म्य की उपलब्धि होती है। तदनन्तर होने वाले विकल्पों का वहाँ कोई महत्त्व नहीं होता; अतः वे उपाय नहीं माने जाते।[3]

'आणव' को क्रियोपाय क्यों कहा गया? उपाय तो ज्ञान है; न कि क्रिया; फिर क्रिया को उपाय क्यों कहा गया?



१-३. 'तन्त्रालोक'—'विवेक'

दशम अध्याय
स्पन्दशास्त्र : तुलनात्मक विश्लेषण एवं मूल्यांकन

सृष्टिविषयक विभिन्न दृष्टियाँ

सृष्टि के मूल कारणतत्त्व के विषय में औपनिषदिक दृष्टि—सृष्टि के मूल तत्त्व या जगत् के मूल बीज के विषयों में उपनिषदों की दृष्टियाँ क्या हैं और स्पन्दशास्त्र उनमें से किस दृष्टि को अंगीकृत करता है? इसका तुलनात्मक विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा; अत: उसका सम्पूर्ण विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

सृष्टि का मूल तत्त्व या जगत् का बीज तत्त्व

जल तत्त्व	वायु तत्त्व	अग्नि तत्त्व	आकाश तत्त्व
'बृहदारण्यकोपनिषद्' यूनानी दार्शनिक Thales जल को अखिल वस्तु जगत् का मूल स्रोत मानता था । जल के पटल पर विचरण करने वाली ईश्वरीय आत्मा की ईसाई दृष्टि एवं जल को ईश्वरीय सृष्टि की आदि सत्ता मानने वाली मनु की दृष्टि में निहित नियामक 'ईश्वर' की यहाँ आवश्यकता नहीं पड़ी है ।	रैक्व का मत— यूनानी दार्शनिक अनैक्जीमैण्डर का भी यही मत था कि वायु ही सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि-अन्त है । रैक्व का मत था कि समत वस्तु जगत् का लय वायु में ही हुआ करता है; अत: वायु ही समस्त पदार्थो का मूल कारण है ।	'कठोपनिषद्' (अग्नि ने जगत् के अन्तस्तल में प्रवेश करके विविध रूप धारण कर लिए) । यूनानी दार्शनिक हैराक्लाइटस का मत है कि अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं में एवं सम्पूर्ण वस्तुएँ अग्नि में परिणत हो जाती हैं । हैराक्लाइटस अग्नि को सम्पूर्ण पदार्थो का मूल मानता है और 'छान्दोग्योपनिषद्' में अग्नि को आदि पुरुष से उत्पन्न मूल तत्त्व स्वीकार किया गया है।	प्रवाहण जैवालि का मत यूनानी दार्शनिक Aristotle तथा Philolo भी आकाश तत्त्व को चरम तत्त्व स्वीकार करते हैं । प्रवाहण जैवालि का कथन था कि पदार्थों की चरम परिणति या चरम गति 'आकाश-तत्त्व' है । आकाश से ही समस्त पदार्थों का उद्भव होता है और उसी में सभी का लय भी हो जाता है । आकाश ही चरम गति है । आकाश को ही चरम सत्य मानकर उसका चिन्तन करना चाहिए ।

असत् तत्त्व	सत् तत्त्व	प्राण तत्त्व	आत्म तत्त्व
'तैत्तिरीयोपनिषद्' के अनुसार सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि में असत् की ही सत्ता थी । 'नासदीय सूक्त' Gorgias जैसे दार्शनिक ने पार्मेनिडीज के सत् के विपरीत असत् की सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तैत्तिरीय श्रुति तो असत् से ही सत् की भी उत्पत्ति स्वीकार करती है । 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी कहा गया है कि आदि में एक असत् की ही सत्ता थी, असत् ने अपने को सत् रूप में परिणत किया, सत् अण्डा बन गया । टूटने पर उसके दो टुकड़े हो गए, जिसमें एक सोने का था और दूसरा चाँदी का था । चाँदी का भाग तो पृथ्वी बन गया, किन्तु सोने का भाग आकाश बन गया । यूनान में आर्किक देश के 'क्रोनास' एवं 'अड्रास्टिया' के अण्डे का वृत्तान्त भी इसी के समतुल्य है ।	'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सत् ही एकमात्र सत्ता था । उसमें कहा गया है— 'आदि में सब कुछ सत् था, एक एवं अद्वितीय था ।'	'कौषीतकी उपनिषद्' प्राण को मूल तत्त्व मानता है । 'प्रश्नोपनिषद्' भी इसी तथ्य को स्वीकार करता है । 'छान्दोग्योपनिषद्' में उषस्ति चाकायण का कथन है कि समस्त पदार्थों का परम तत्त्व 'प्राण-तत्त्व' है । प्राण में ही समस्त सत्तायें प्रवेश कर जाती हैं । 'वायु' विश्व का एवं 'प्राण' मनुष्यों का जीवन तत्त्व है । सनत्कुमार ने भी नारद को (छान्दोग्योपनिषद् में) यही उपदेश दिया है । कौषीतकी उपनिषद् भी यही मानता है ।	'माण्डूक्योपनिषद्' 'बृहदारण्यकोपनिषद्' आदि अनेक उपनिषद् आत्मा को ही जगत् का मूल कारण या सृष्टि-बीज स्वीकार करते हैं ।

सृष्टि का मूल

सृष्टि का मूल क्या गतिहीन, क्रियाहीन, निरीह, शक्ति-हीन एवं स्पन्दशून्य अकर्ता ब्रह्म है या उसकी (सत्, असत् एवं सदसत् से अतीत) अनिर्वचनीय वह माया है, जो जड़ है, अस्वतन्त्र है और मिथ्या है? स्पन्दशास्त्र की मान्यता है कि सृष्टि का मूल स्पन्द है । महासत्ता में अकस्मात् एक स्पन्द-सा उत्थित होता है । इस स्पन्दन का उदय होने पर भी महासत्ता की नि:स्पन्दता ज्यों की त्यों ही बनी रहती है । यह स्पन्दन केवल एक ही बार

उठता है और निरन्तर उठता रहता है । वस्तुत: यह एक बार ही उठता है; किन्तु यह वन्दन होकर निरन्तर उठता ही रहता है, सदैव गतिशील रहता है । सामान्य रूप से जो एक है, वही विशेष रूप से अनेकात्मक है । काल के ऊपर एक ही स्पन्दन काल के राज्य में अनन्त स्पन्दनों के रूप में रूपायित हो उठता है । यह नि:स्पन्द स्पन्दरूप युगलावस्था ही विश्वातीत स्थिति है । इसकी भी एक अतीत अवस्था है और वही चरमावस्था है । यह अतीत की अतीत सत्ता यद्यपि निर्विकल्प अद्वैत स्थितिरूप से स्वीकृत है तथापि इसका निर्देश करना सम्भव नही है । यह पूर्ण ब्रह्म की स्वरूपस्थिति या आनन्दमयी निष्ठा के रूप में भी उल्लिखित है । यह स्पन्द का उदय वास्तव में ॐकार का ही उल्लास है अर्थात् परब्रह्म सत्ता में शब्दब्रह्म का आविर्भाव है । यह विशुद्ध सत्त्वमय महामाया का उन्मेष है । सच्चिदानन्दमय पूर्ण अद्वय स्थिति के ऊपर स्पन्दन के उदय या प्रणव के प्रकाश से एक ओर चित् और दूसरी ओर सत्—दोनों मानों अनादि सिद्धरूप से ही फूट उठते हैं । यही विरुद्ध भाव में पूर्व स्फुरण की पृष्ठभूमि है । अविभक्त स्वरूप भावातीत, गुणातीत एवं नि:स्पन्द है ।

अतीतावस्था से जब एक का आविर्भाव होता है तब क्षणमात्र में ही होता है और अखण्डभाव से ही होता है; क्योंकि उसमें क्रम नहीं होता । सारी समष्टियाँ एक साथ ही प्रकट होती हैं । यही है—नित्यसिद्ध परमात्मावस्था । एक में अनन्त की क्रीड़ा चल रही है ।

एक मात्रा ही एकाग्र मन की मात्रा है । एक के भंग हो जाने पर ही सर्वप्रथम दो भागों का ज्ञान होता है । एक पहले दो रूपों में विभक्त होता है । एक मात्रा से अर्धमात्रा में उन्नयन होता है । उनमें एक मात्रा 'एक' की ओर सम्बद्ध होकर, 'एक' में प्रतिष्ठित होकर समस्त सृष्टि के साथ अखण्ड सम्बन्ध रखती है । द्वितीय क्रमश: अर्धमात्रा के क्रम से विभक्त होते-होते अनन्त की ओर दौड़ता है । अर्द्धमात्रा के दो भागों में विभक्त होने पर भी फिर 'अर्द्धमात्रा' उत्पन्न होती है । यहाँ भी एक अर्द्धमात्रा पहली अर्द्धमात्रा की ओर सम्बद्ध होती है और दूसरी अर्द्धमात्रा अर्थात् आदि दृष्टिसम्मत एक चतुर्थांश मात्रा अनन्त की ओर धावित होती है । ये सभी मात्रायें मन की ही मात्रायें हैं । एकमात्र से अर्द्धमात्र मन सूक्ष्मतर है ।

काश्मीरीय शैवागम के दो भाग हैं—स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र । स्पन्दशास्त्र के प्रचारक वसुगुप्त एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द हैं । स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक ग्रन्थों में अवान्तर विषयों में थोड़ा मतभेद का आभास भले लगे, किन्तु दोनों शास्त्रों के मूल सिद्धान्त और आलोचना-प्रणाली में कोई भी भेद नहीं है । 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' शब्द से स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा—दोनों ही मतों का निर्देश होता है ।[1]

शांकर अद्वैत एवं आगमिक अद्वैत में भेद—प्राचीन काल में शैवागम में अद्वैतवाद का प्रतिपादन मिलता है । काश्मीर में 'प्रत्यभिज्ञा' एवं 'स्पन्ददर्शन' के नाम से शैवागम शिवसूत्र, शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों के आधार पर जिस दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ, वह

१. मा० सं० और साधना, महा० गोपीनाथ कविराज ।

अद्वैत प्रस्थान के अन्तर्गत ही है । दक्षिणामूर्तिस्तोत्र एवं सुरेश्वर का मानसोल्लास आदि ग्रन्थ इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं । स्वच्छन्दतन्त्र क्षेमराज की 'उद्योत' टीका तथा शैवागम के अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करने से जिस शिवाद्वैतवाद का साक्षात्कार होता है, वह किञ्चित् भिन्न है । वह शांकर केवलाद्वैत भी नहीं है और न तो सांख्य का कैवल्य ही है । आगमवेत्ताओं का कथन है कि शंकराचार्य का केवलाद्वैत वेदान्त आगमिकों के शिवाद्वयवाद (शिवाद्वैतवाद : द्वयात्मक अद्वयवाद) से भिन्न है ।

आगमिक मत में आत्मा का परम रूप चिदानन्दघन, स्वातन्त्र्यसार एवं परमशिवात्मक है । आगमिक यह भी कहते हैं कि सांख्य के पुरुष एवं वेदान्त के ब्रह्मतत्त्व में आत्मा का स्वस्वरूप प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है । सांख्य का पुरुष बहुसंख्यक है और वेदान्त का ब्रह्म विमर्शहीन है ।

आगम, सांख्य और वेदान्त—तीनों आत्मतत्त्व पर प्रकाश डालते हैं; किन्तु तीनों की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं ।

सांख्य और आगम के कैवल्य में भिन्नता—सांख्यदर्शन के कैवल्यप्राप्त पुरुष की तुलना करें तो यह आगमिकों के विज्ञानकैवल्य की अवस्था में अवस्थित है, उससे ऊपर नहीं है । पुरुषों को 'कैवल्य' (प्रकृति से पृथक्त्व) तो प्राप्त है; किन्तु उसकी यह केवलावस्था भी आत्मा के (यथार्थ) स्वस्वरूप की परिचायक नहीं है । चूँकि विवेकख्याति रूप विज्ञान से इस 'कैवल्य' का आविर्भाव होता है; अतः इसका नाम 'विज्ञानकेवली' एवं इस अवस्था का नाम 'विज्ञानकैवल्य' हो सकता है; किन्तु यह अवस्था स्वस्वरूप एवं स्वस्वरूपावस्थान की नहीं है । पशुत्व की निवृत्ति न हो पाने के कारण यह अवस्था कैवल्यावस्था होने पर भी अशुद्ध अवस्था है । यहाँ भी आणवमल तो शेष रह ही जाता है । यह अवस्था माया के अन्तर्गत भी है । आगमिकों के मत में दीक्षा द्वारा कार्ममल, मायामल एवं आणवमल—तीनों मलों से निवृत्ति हो जाने पर और उसके फलस्वरूप वासनाओं की निवृत्ति हो जाने से आत्मा अपने स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है । सत्ता का यह स्वरूप प्रकाशात्मक है । यह शुद्ध विज्ञान कैवल्य की ऊँची अवस्था है और सांख्य के कैवल्य से पृथक् भी है । शुद्ध विज्ञान कैवल्यावस्था में परमशिव की सामरस्यावस्था तो विद्यमान नहीं है—सामरस्यमय ज्ञानक्रिया की अवस्था तो विद्यमान नहीं है, तथापि आत्मा में स्वभावानुरूप ज्ञानक्रिया की ही अभिव्यक्ति है ।

यहाँ ज्ञानक्रिया ही चैतन्य है; अतः इस प्रकार के मलिन कैवल्य से विशिष्ट है; क्योंकि आगमवेत्ताओं के अनुसार सांख्य के कैवल्य में ज्ञान एवं क्रिया विद्यमान नहीं है । यह अवस्था माया के ऊपर की अवस्था है । जब तक समस्त अध्वाओं को अपने ज्ञान से प्रत्यक्षीकृत न कर लिया जाय तब तक शुद्ध कैवल्य का भी साक्षात्कार नहीं किया जा सकता ।

सांख्य दर्शन का कैवल्य शुद्ध कैवल्यावस्था से अभिन्न नहीं है; क्योंकि वह माया एवं पुरुष का विवेकात्मक ज्ञान है । कैवल्य में ज्ञेय से सम्बन्ध का अभाव होने के कारण यह 'सदाशिवतत्त्व' के अन्तर्गत 'मन्त्र' एवं 'मन्त्रेश्वर' की अवस्था से भी भिन्न है । निष्कर्ष

यह कि यह चिदानन्दघन, स्वतन्त्र, परमशिव की अभिव्यक्ति का परिचायक नहीं है । इस स्तर पर आत्मा बोद्धा-मात्र रहती है और विशुद्ध कैवल्य में व्याप्त होकर 'उन्मना पद' आरोपित होती है और उसके पश्चात् चिदानन्दघन शिव परमतत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

शुद्धकैवल्य में समना तक के सभी बन्धन उपशान्त हो जाते हैं; किन्तु उपशम के संस्कार यथावत् बने रहते हैं । ये संस्कार ही अवच्छेदक के रूप में स्थित रहते हैं । अतः निष्कर्ष यह कि कैवल्यावस्था भी सोपाधिक है । विद्यात्मिका उन्मना शक्ति की व्याप्ति का प्रभाव अवच्छेदक का निवारण कर देता है । इस स्थिति में चिन्मय, आनन्दमय, अनवच्छिन्न एवं स्वतन्त्र शिवभाव का उदय होता है । यह अवस्था विश्वमयी होकर विश्वोत्तीर्ण है ।

सांख्य का पुरुष वेदान्त का ब्रह्म एवं परमशिव—आगमिक शैवाचार्य सांख्य-योग के पुरुष एवं वेदान्त के ब्रह्म अर्थात् इन दोनों से परमशिव को परे मानते हैं; क्योंकि ये सांख्य दर्शन के पुरुष एवं वेदान्त दर्शन के ब्रह्म को अपरावस्था में अवस्थित मानते हैं । वे मानते हैं कि वेदान्त का ब्रह्म आत्मा की परापरावस्था भी नहीं है, फिर परावस्था की तो बात ही क्या है?

परमशिवावस्था ही आत्मा की परावस्था है । यह परमशिवावस्था वेदान्त आदि किसी भी शास्त्र में न तो प्रतिपादित है, न ज्ञात है और न ही व्याख्यात है । यह परमशिवावस्था ही वास्तविक अद्वैत की अवस्था है । परमशिव ही अद्वयतत्त्व है ।

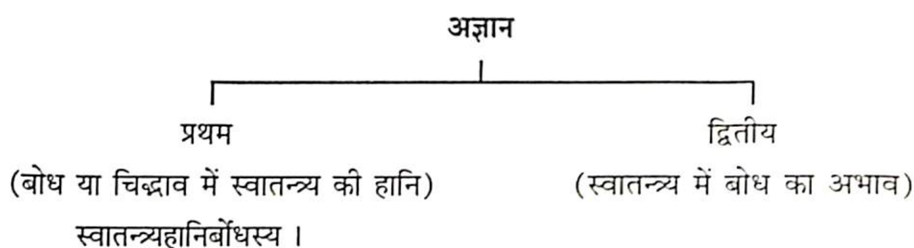
जीव और शिव में जो स्थूल भिन्नता है, वह यह है कि जीव में आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति एवं शिवव्याप्ति पूर्ण नहीं रहती । और जब तक यह पूर्णता नहीं आती तब तक आत्मोपासना द्वारा ज्ञानाप्ति होने की स्थिति में भी परमशिवपद में प्रतिष्ठित होना सम्भव नहीं होता । इसी तथ्य को आचार्य क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र की अपनी टीका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'तैः शैवपाशुपतलाकुलादिभिः नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितम् । आत्मनां व्यापकत्व-नित्यत्वामूर्तत्वचित्वस्रष्टृत्वाद्यनन्तधर्मणामेव शिवैकरूपाणामपि केनचित् कल्पनामात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नशिवरूपत्वमुच्यते । ते सर्वे व्याख्यातव्यापिकात्मोपासकाः शैवेऽस्मिन् अद्वयनये परमशिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति, न तन्मयीभवन्ति । सांख्ययोगवेदान्तवाद्यादयस्तु अपरदशावस्था एव, इति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसम्भावनापि ।

अज्ञानतत्त्व

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा में अज्ञानविषयक दृष्टि—शिवाद्वयवाद में अज्ञान का स्वरूप शांकर अद्वयवाद से पृथक् है । काश्मीरीय शिवाद्वैतवाद में अज्ञान संसार का एवं ज्ञान मोक्ष का कारण है । आगमिक दृष्टि में मूल अज्ञान आणवमल है । यह द्विप्रकारक है—

आणवमल के भेद

बोध या चिद्भाव में स्वातन्त्र्य की हानि	स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव या जडत्व



स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य ।

अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है । अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान है । यह अज्ञान भी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य शक्ति से आविर्भूत होता है । यह स्वरूपगोपन की क्रीडा है । अज्ञान से आत्मा एवं अनात्मा में पारस्परिक अहंता का बोध एवं अनुभव होता है ।

ज्ञान→मोक्ष । अज्ञान→संसरण, बन्धन । अज्ञान के दो भेद पौरुष एवं बौद्ध अज्ञान कहलाते हैं । बौद्धज्ञान से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

१. दीक्षादिक साधन→पौरुष अज्ञान की निवृत्ति ।

२. फिर अध्यवसायात्मक ज्ञान का अभ्यास→बौद्ध ज्ञान की भी निवृत्ति ।

बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है । बौद्ध ज्ञान तो विकल्पात्मक होने पर भी शुद्ध है । विकल्पमात्र ही 'संसार' है ।

बौद्ध अज्ञान (बुद्धिगत अज्ञान) का स्वभाव

अनिश्चयपूर्ण ज्ञान | विपरीत ज्ञान

पौरुष अज्ञान (पुरुषगत अज्ञान) का स्वरूप



विकल्प या संकुचित ज्ञान = संसार का मूल कारण

'दीक्षा' क्या है? दीक्षा है—तत्त्वशुद्धि एवं शिवसंयोजन । हेयोपादेय का निश्चय होने पर ही तत्त्वशुद्धि एवं शिवसंयोजन सम्भव है । अध्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रधान ज्ञान है । इस अध्यवसायात्मक ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करते रहने से बौद्धज्ञान एवं पौरुष अज्ञान—दोनों ही नष्ट हो जाते हैं । विकल्पात्मक ज्ञान की सततावृत्ति से अविकल्पक ज्ञान का आविर्भाव होता है । आत्मा तो स्वभावतः प्रकाशस्वरूप है; अतः इसमें विकल्पज संकोच का अभाव होने पर (विकल्पज संकोच निवृत्त होने पर) इसका स्वस्वरूप शिवस्वभाव स्वयमेव उन्मिषित हो उठता है । सभी विषयों, पदार्थों एवं तत्त्वों में निश्चयात्मक सम्यक् ज्ञान ही अपेक्षित है । बौद्ध ज्ञान के आविर्भाव से जीवन्मुक्ति की दशा का आविर्भाव भले हो जाय; किन्तु उससे तथापि यह पूर्ण नहीं; क्योंकि पौरुष ज्ञान ही (निरपेक्ष होने के कारण) मोक्ष का यथार्थ साधन है । पुरुष के समस्त पशुसंस्कारों के क्षीण हो जाने तथा आणवमल, कार्ममल एवं मायिक मल के नष्ट हो जाने पर (समस्त बन्धनों की निवृत्ति हो जाने के कारण) पुरुष का परासंवित् के साथ ऐकात्म्य भाव एवं ताद्रूप्य प्राप्त हो जाता है और निर्विकल्पक ज्ञान का

उन्मेष होता है । इस निर्विकल्पक ज्ञान का स्वस्वरूप है—पूर्णोऽहं की अनुभूति और यही है—पौरुष ज्ञान का स्वरूप ।

आचार्य शंकरप्रभृति का कथन है कि अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति हो जाती है; किन्तु स्पन्ददर्शन का मत है कि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी आत्मज्ञान (अज्ञानाभाव) उदित नहीं हो जाता; क्योंकि शारीर 'कार्ममल' आत्मज्ञानोदय में प्रतिबन्धक प्राचीर है ।

यह भी ध्यातव्य है कि भले ही शिवाद्वयवादी ग्रन्थों का श्रवण करने से बौद्ध ज्ञान का उदय हो जाय और अज्ञानसञ्जात बौद्ध ज्ञान विलीन हो जाय तथा जीवन्मुक्ति की अवस्था उन्मिषित हो जाय; किन्तु अदीक्षित (शक्तिसञ्चार से रहित, शक्तिपात से प्राप्त शक्ति से रहित) व्यक्ति को यह बौद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उसे शास्त्रश्रवण का अधिकार ही नहीं प्राप्त है । पौरुष अज्ञान के निवृत्त होने के पूर्व बौद्ध ज्ञान मुक्ति नहीं प्रदान कर सकता ।

यही दृष्टि शाक्तमत में भी है । शाक्ताद्वैत एवं शिवाद्वैत दोनों में कोई भी मौलिक भेद नहीं है । उनमें केवल उपासना का बहिरंग भेदमात्र है । इसी दृष्टि से सोमानन्दपाद की शिवदृष्टि की व्याख्या करने के समय आचार्य उत्पलदेव ने शाक्तों का खण्डन नहीं किया । शिवदृष्टि में शक्ति की उपासना का निर्देश है—

यस्या निरुपाधिज्योतिरूपायाः शिवसंज्ञया ।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे ।।

शाक्त शक्तिरहित शिव को स्वीकार नहीं करते । शक्तिमान वही है, जो शक्तिसमन्वित, शक्तिसमवेत एवं शक्तिपरिणद्ध हो । शक्तिमान (शि) शक्ति की ही उपाधिहीन परमावस्था है ।

शिवसूत्र में कहा गया है—'वितर्क आत्मज्ञानम्' अर्थात् 'मैं विश्वात्मा शिव ही हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं'—इत्याकारक वितर्क (विचार) आत्मज्ञान है—'विश्वात्मा शिव एवास्मि' इति यो वितर्को विचारः एतदेव अस्य आत्मज्ञानम् । विज्ञानभैरव में भी इसी सत्य को पुष्ट करते हुए कहा गया है—

सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ।।

'यद्विश्वात्मकशिवाभिन्नत्वम्' यही ज्ञान है । विश्व के साथ शिव की एकात्मकता की अनुभूति भी ज्ञान है ।[१]

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।।
अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायि चेतसि ।
तदात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा ।।

१. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी

इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽत्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ।।

यह उदय, तदात्मता, समापत्ति, अमृतप्राप्ति, आत्मग्रह, निर्वाणदीक्षा, शिवसद्भाव आदि ही साधक की मुक्ति है और इस अवस्था का अनुभव ही परम ज्ञान है ।

चाहे 'बिग बैंग' के समय होने वाला अणु-विस्फोट का प्रकाश हो और चाहे मातृकाओं का प्रकाश हो; किन्तु ये सभी प्रकाश किसी न किसी शब्द और उसकी ऊर्जा के निस्सरण एवं उसकी गति से ही होते हैं । प्रत्येक अक्षर (नाद) के साथ बिन्दु (प्रकाश) अनुस्यूत है । यह प्रकाश इड़ा-पिंगला नाड़ी से चलने वाले श्वास-प्रश्वास के साथ भी (सूर्यकोटि एवं चन्द्रकोटि के प्रकाश से युक्त प्रकाश होकर) सन्नद्ध है । हम लोग जो स्वप्न देखते हैं वह भी प्राणमय कोष के प्रकाश में देखते हैं और प्राणमय कोष प्रकाशमय है । डा० कित्नर ने प्राणमय कोष Etheric body को देखते हुए Aurospec (आरोस्पेक) नामक चश्मे का आविष्कार किया था । इसके द्वारा हम किसी भी व्यक्ति का प्राणमय शरीर देख सकते हैं । प्राणमय शरीर की प्रकाशरूपता भी महाप्रकाश कुण्डलिनी के दिव्य प्रकाश पर निर्भर है । मनोमय कोश में जो क्रियाओं का (क्रिया की मानस तरंगों का) आविर्भाव होता है, वही अन्नमय कोश की क्रियाओं का भी आधार है अर्थात् प्राणमय कोश (या प्राणमय शरीर) अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) की क्रियाओं का भी आधार है ।

अव्यक्त 'सोऽहं' शब्द कुण्डलिनी शक्ति की साम्यावस्था है । 'सोऽहं' की अनुभूति आज्ञाचक्र में होती है । यही 'सोऽहं' शब्द प्राणवायु की सहायता से अनाहत चक्र में पहुँच कर अनाहत चक्र की प्रथम मातृका 'क' के सम्पर्क में आकर 'कोऽहं' शब्द में परिणत हो जाता है । नीचे उतरते हुए जीव 'सोऽहं' के स्थान पर 'कोऽहं' कहने लगता है । और नीचे उतरने पर 'देहोऽहं' कहने लगता है । ठीक भी है—'अधःस्रोता वै जीवाः ।' जीव सहस्रार से नीचे आज्ञा-विशुद्धि-अनाहत-मणिपूर-स्वाधिष्ठान से होते हुए मूलाधार चक्र में आकर प्राणशक्ति की सहायता से शिवतत्त्व भूल कर पूर्णतया जीवत्वभाव प्राप्त कर लेता है ।

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि जगत् की उत्पत्ति एक बहुत बड़े विस्फोट के स्पन्दन से हुई । उस आद्य विस्फोट का स्पन्दन अभी भी चल रहा है । उस स्पन्दन के कारण ही अब भी विश्व का विकास होता चला जा रहा है । ये वैज्ञानिक विस्फोट और उसके स्पन्दन के विषय में तो जानते हैं; किन्तु उस स्पन्द के मूल को नहीं जानते । हजारों वर्ष पूर्व काश्मीर के शैव दार्शनिकों ने उस मूलतत्त्व को चैतन्य शक्ति का स्फुरण कहा । यह चैतन्य शक्ति का स्फुरण ही स्पन्द है ।

चेतन प्रकाश-विमर्शरूप परमेश्वर शिव के संकल्परूप 'उन्मेष' से जगत् की उत्पत्ति हुई और उसके 'निमेष' से प्रलय हुआ । स्पन्दसूत्र में कहा गया है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकर स्तुमः ।।

भट्टकल्लट 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में परमात्मा शिव के संकल्प को ही जगत् की उत्पत्ति

एवं संहार का कारण उद्घोषित करते हैं—स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पमात्रेण जगदुत्पत्ति-संहारयोः कारणत्वम् ।

शिवात्मक स्वभाव वाले (कल्याणकारी स्वभाव वाले) शिव ने अपने संकल्प (अपनी विमर्शात्मक स्पन्दता) से ही जगत् की सृष्टि की एवं प्रलय किया ।

क. सृष्टि एवं संहार का कारण है—उन्मेष और निमेष ।

ख. उन्मेष एवं निमेष है—संकल्पात्मक स्फुरण या स्पन्द = विमर्शात्मक स्पन्दन ।

ग. स्पन्द शिव की सिसृक्षा है ।

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ।।

अर्थात् वह जिसके परे कुछ भी नहीं है, अपनी इच्छा से इस अखिल जगत् की सृष्टि करने के लिए स्पन्दित होता है । उसका वह स्पन्द ही ज्ञानी पुरुषों द्वारा 'शिवतत्त्व' कहलाता है ।[१]

यह स्पन्द वस्तुतः शिव की स्वसमवायिनी इच्छाशक्ति है और वही चराचर समस्त जगत् का बीज है और यथार्थतः उसी की कुक्षि में यह जगत् बीजरूप में संलीन रहता है ।

इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी सती शक्तिः ।
चराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ।।[२]

चिदाकाश में स्पन्द हुआ । 'एकोऽहं बहु स्याम' ही वह स्पन्द है—सिसृक्षा ही वह स्पन्द है । स्पन्द से नाद उत्पन्न हुआ । अब नाद के आविर्भाव के लिए गति की अपेक्षा होती है । विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होने के समय विद्युत्कण विलक्षण वेग से घूमा करते हैं । उनकी गति का यह वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्व प्राप्त कर लें । वक्र गति और ऋजु गति से घूमने वाले विद्युत्कण ही शब्दस्वरूप 'गति' हैं । यह शब्द श्रव्य नहीं है, केवल योगिगम्य है । दिव्य श्रवण वाला ही इस शब्द को सुन सकता है । ये ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं—आहत एवं अनाहत । आहत ध्वनि अर्थोपत्ति नहीं होती । अनाहत ध्वनि का अर्थ है—'सोऽहं' ध्वनि । यह ध्वनि प्रथमतः अव्यक्त रूप से आज्ञाचक्र में अनुभूत होती है और उसके अनन्तर अनाहत चक्र में श्रुतिगोचर होती है । आज्ञाचक्र के 'सोऽहं' ध्वनि में जो प्रणव (ॐकार) है, उससे स्वर एवं व्यञ्जन आविर्भूत हुये । इन्हें ही अक्षर एवं वर्ण कहते हैं । अक्षर→पद→वाक्य→'भाषा' । (वाक्य-समुदाय→भाषा) ।

सच्चिदानन्द और स्पन्द—स्पन्द सच्चिदानन्द का ही एक स्फुरण है । स्पन्द सच्चिदानन्द की शक्ति का बाह्योन्मेष है । स्पन्द चाहे आन्तर हो, चाहे बाह्य, चाहे अव्यक्त हो और चाहे व्यक्त—वह सभी स्थितियों में एक स्फुरत्ता, गति एवं किञ्चित् चलत्ता है और अपनी गतिमयता में ही स्थित है । चाहे सूक्ष्म सृष्टि हो और चाहे स्थूल, सभी का आरम्भ किसी न किसी स्पन्दन से ही होता है ।

१-२. तत्त्वसन्दोह

वैसे तो ब्रह्म में सत्-चित्-आनन्द अपृथक् भाव से रहते हैं; अतः वहाँ सत्, चित् एवं आनन्द को पृथक्-पृथक् देखना असम्भव है; क्योंकि पूर्ण तत्त्व की गम्भीरतम अवस्था में सत् चित् आनन्द की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

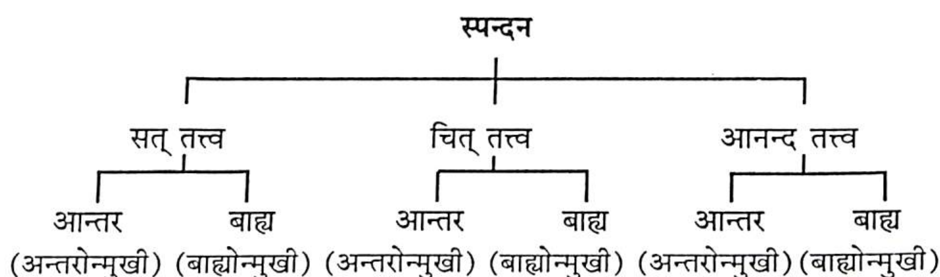
चित् की स्थिति—जब शिव की आत्मसत्ता (निज सत्ता) शिव के सत् से चिद्रूप में बाहर निकलती है तब चित् की स्थिति होती है; किन्तु चित् की यह बहिर्मुख स्पन्दनात्मक स्थिति, जो कि चिद्भाव को व्यक्त करती है, वह अपने मूल रूप में चिद्भाव के रूप में स्पन्दन करता हुआ कार्य करता रहता है, क्योंकि सृष्टि एवं प्रलय आदि किसी भी स्थिति में स्पन्द निस्पन्द नहीं होता। शक्ति का धर्म या उसका स्वभाव ही स्पन्द है; अतः वह निस्पन्द (परमशिव) में रहते हुए भी कभी स्पन्दन-हीन (निस्पन्द) नहीं रहती। क्रिया, गति एवं स्पन्द (स्फुरणा—चलत्ता) शक्ति का आत्मस्वभाव है और शक्ति परमशिव का आत्मधर्म एवं आत्मस्वभाव है। पूर्ण तत्त्व की सन्मात्र की स्थिति में इसी सन्मात्र की एक कला (शक्ति) बाह्योन्मिषित होती है और इस चिद्भावरूप शक्ति को तान्त्रिकों ने 'अनुत्तर' की आख्या दी है। यह सत् से निर्गत बहिर्मुख स्पन्दन ही चिद्भाव है।

बाह्योन्मुखी चिद्भाव जिस चिद्रूपा आत्मशक्ति से आंशिक रूप में बाहर निकलती है, वही बाहर आनन्दतत्त्व के रूप में स्फुरित होती है। शुद्ध सन्मात्र परमशिव तो निस्पन्द है; किन्तु सारे स्पन्दनों का मूल उत्स तो वही है (वह अपनी निजा मूल शक्ति स्पन्द के रूप में ही समस्त स्पन्दों का मूल उत्स है)। यह निस्पन्द तत्त्व एक दृष्टि से तो निस्पन्द है; किन्तु दूसरी दृष्टि से वह स्पन्दशून्य नहीं है; क्योंकि उसकी स्पन्दात्मिका निजा शक्ति (आदि स्पन्द) तो उसका आत्मधर्म है। धर्म के विना तो धर्मी रह ही नहीं सकता; अतः निस्पन्द परमशिव निस्पन्द होते हुए भी सस्पन्द है और सस्पन्द होते हुए भी निस्पन्द है और इसी प्रकार वह विश्वातीत होते हुए भी विश्वमय है और विश्वमय रहते हुए भी वह विश्वातीत है। वह निस्पन्द तो है; किन्तु वह 'स्पन्दवान् स्वप्रतिष्ठः' भी है।

स्पन्दनहीन के आन्तर (भीतरी) स्पन्दन का पता नहीं चलता। शुद्ध सन्मात्र स्पन्दनहीन कहा तो जाता है, किन्तु वस्तुतः स्पन्द-शून्य है नहीं। जिस स्पन्दन से सत् तत्त्व चिद् रूप में उदित होता है, वह बाह्य स्पन्दन है; किन्तु इसके भीतर भी एक स्पन्दन है, जो अत्यन्त गुप्त और अज्ञेय है।

सत्, चित् और आनन्द—तीनों में स्पन्दन है।

स्पन्दन



चित् आदि प्रत्येक स्थिति में अन्त:स्पन्दन एवं बाह्य स्पन्दन दोनों ही समान रूप से विद्यमान रहते हैं ।

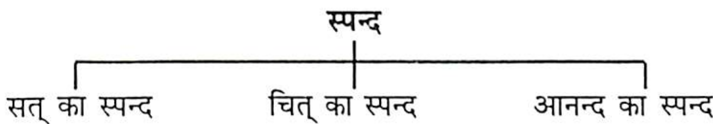
१. जिस प्रकार चित् तत्त्व स्पन्दन के कारण आनन्दोन्मुखी (आनन्दाभिमुख) है, उसी प्रकार वह चित् तत्त्व सत् की ओर भी उन्मुख है ।

२. जिस प्रकार प्रत्येक जीव में अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख वृत्तिद्वय विद्यमान है, उसी प्रकार परमार्थ सत्य के भीतर भी चित् और आनन्द के अन्त:स्पन्द एवं बाह्य स्पन्द विद्यमान हैं । चित् और आनन्द—ये द्विविध स्पन्दन परमशिव में भी स्थित हैं ।

३. चित् तत्त्व से बाह्य स्पन्दन के कारण जब द्वितीय चित् का आविर्भाव होता है तब बहिर्मुख प्रथम चित् तत्त्व उस द्वितीय चित् तत्त्व के भीतर अपने को प्रतिबिम्बित रूप में देख पाता है और उसकी अपनी सत्ता के रूप में प्रत्यभिज्ञा कर पाता है अर्थात् उसे स्वस्वरूप के रूप में पहचान पाता है । इस स्वस्वरूप प्रत्यभिज्ञा को ही शास्त्र में 'आनन्द' की आख्या दी गई है ।

जिस प्रकार दर्पण में अपना स्वरूप देखकर द्रष्टा यह मानता है कि यह मेरा ही प्रतिरूप है—मेरा ही स्वरूप है, उसी प्रकार चित् तत्त्व से विश्लिष्ट चित् सत्ता में जब चित् तत्त्व अपना साक्षात्कार करता है तब वह उसे 'आनन्द' के रूप में ग्रहण करता है । प्रतिरूप भी अपनी ही सत्ता है ।

जिस प्रकार सत् से चित् पृथक् नहीं है, किन्तु फिर भी पृथक् है, उसी प्रकार चित् से आनन्द भी पृथक् नहीं है तथापि पृथक् रूप में अनुभूत होता है ।



चित् तत्त्व 'अ' (वर्णमाला का आद्यक्षर) का प्रतीक है और तान्त्रिकों द्वारा 'अनुत्तर' कहा जाता है । 'अ' अनुत्तर तत्त्व का बोधक है । 'आ' आनन्द का प्रतीक है । 'इ' इच्छाशक्ति के विकास का प्रतीक है । 'ई' इच्छाशक्ति के घनीभूत होने पर (संवेग के कारण स्पन्दित होने पर) जिस 'ईशन शक्ति' का उदय होता है, उसी 'ईशन शक्ति' का प्रतीक है । 'उ' ज्ञानशक्ति का प्रतीक है । 'ऊ' ज्ञानशक्ति के विषयों का प्रतीक है । 'ऊ' 'उ' की घनीभूतावस्था है । यही है—'ऊनता' या 'ऊर्मि' । 'ए ऐ ओ औ' क्रियाशक्ति की चार अवस्थाओं के प्रतीक हैं । क्रियाशक्ति की अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम—ये चार अवस्थायें होती हैं ।

स्पन्द के बहिर्मुख संवेग के द्वारा एक के बाद दूसरे एवं दूसरे के बाद तीसरे के उत्तरोत्तर क्रम से विभिन्न शक्तियों (कलाओं) का आविर्भाव होता है । इन्हीं पाँच कलाओं को परमशिव की पाँच शक्तियाँ कहा गया है ।

परम शिव की पञ्च शक्तियाँ

चित्शक्ति इच्छाशक्ति आनन्दशक्ति ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति

शिव के जो पाँच मुख बताये गये हैं, वे ये शक्तियाँ ही हैं, जिन्हें शिवमुख के रूप में वर्णित किया गया है ।

परम शिव की शक्तियाँ (आन्तर एवं बाह्य)

अन्तरंग शक्तियाँ (स्वरूपशक्तियाँ)	बहिरङ्ग शक्तियाँ
१. चित् शक्ति	१. इच्छाशक्ति
२. आनन्द शक्ति	२. ज्ञानशक्ति
(सच्चिदानन्द स्वरूपान्तर्गत शक्तियाँ)	३. क्रियाशक्ति

'बहिरंग शक्तियाँ' आन्तर शक्तियों की तुलना में बहिरंग कही जाने वाली परमशिव की शक्तियाँ । यह आपेक्षिक रूप में बहिरंग कही जाने वाली शैवी शक्ति त्रिकोणात्मिका विश्वयोनि या माया है ।

मूल स्वरूप में तो पाँच शक्तियाँ ही 'शक्ति' कही गई हैं और ये 'स्वरूपशक्तियाँ' भी शक्तियाँ ही हैं—शिव की शक्तियाँ हैं । अन्तरंग शक्ति के भी अन्तस्तल में जो शक्ति स्थित है, उसका नामकरण 'शक्ति' भी नहीं किया जा सकता । यही है वह परमा शक्ति ।

शक्ति-प्रवाह 'स्पन्द' का बहि:प्रवाह है । प्रत्येक स्तर एवं अवस्था में आन्तर एवं बाह्य प्रवाह हैं—अन्त: स्पन्द एवं बाह्य स्पन्द हैं । स्पन्द के अनेक रूप हैं—

१. सृष्ट्युन्मुखी प्रवाह—बहिर्मुखी (बहि:प्रवाह) ।

२. प्रलयोन्मुखी प्रवाह—अन्तर्मुखी ।

३. 'बहु स्याम' का ईक्षण—बहिर्मुखी (बहि:प्रवाह) ।

४. स्वरूप की ओर ईक्षण—अन्तर्मुख प्रत्येक स्तर पर एक अन्त:प्रवाह विद्यमान है ।

५. वह स्तर जहाँ न अन्तर्मुख स्पन्द है और न तो बहिर्मुख स्पन्द है (यह वागिन्द्रिय से अगोचर है) ।

६. 'अ' से 'ऊ' तक का प्रवाह (प्रवृत्ति-धारा) शक्ति का बहिर्मुख प्रवाह है ।

'क्रियाशक्ति' की पूर्णता होते ही बहिर्मुखी प्रवाह का अवसान हो जाता है और परिणामत: अन्तर्मुखी प्रवाह आरम्भ हो जाता है ।

प्रवृत्ति-प्रवाह के निवृत्ति-प्रवाह में लयीभूत हो जाने पर समस्त शक्तियाँ भी स्पन्दन के कारण एकीभूत होकर जिस समष्टिभाव में एकाकार परिणत हो जाती हैं, उसकी संज्ञा है—बिन्दु ।

७. बिन्दु की अभिव्यक्ति होने पर बिन्दु अकार को अंगीकृत करके उद्भासित होता है। उसके आश्रय से प्रकाशित होता है।

चूँकि अकार ही चित् शक्ति (अनुत्तर तत्त्व) है; अतः सभी तत्त्व उसका ही अवलम्बन लेकर प्रकट होते हैं—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अपने मूल स्वरूप में यह अकार सबिन्दुस्वरूप है—'अं' है। स्पन्दनों की अनेक भूमियाँ है—

१. बहिःस्पन्दन के वेग से होने वाला आद्य आविर्भाव सन्मात्र या अव्यक्त से होता है।

२. तदनन्तर होने वाली बहिर्मुखी धारा चित् या अकार से होती है। इसका अन्त औकार में (अर्थात् चित् शक्ति से क्रियाशक्ति-पर्यन्त पञ्च शक्तियों के आविर्भाव में) सम्पन्न होता है।

इस स्थिति में अनुत्तर पाँच शक्तियों से संयुक्त होने के कारण बिन्दु से अलंकृत हो गया। अतः आगे की सृष्टि 'अ' से नहीं 'अं' से होती है। प्राथमिक सृष्टि 'बैन्दव सृष्टि' है; किन्तु यह परवर्ती सृष्टि 'वैसर्गिक सृष्टि' है। एक ही बिन्दु अपने को दो बिन्दुओं में विभक्त कर लेता है। यही है—विसर्ग। इससे सञ्जात सृष्टि 'वैसर्गिक सृष्टि' कहलाती है। वैसर्गिक सृष्टि व्यञ्जन वर्णों की सृष्टि है। यही 'तत्त्वसृष्टि' है।

'क' से 'ह' पर्यन्त समस्त वर्ण विभिन्न तत्त्वों के बोधक हैं।

जिस प्रकार बैन्दव सृष्टि के काल में शक्तियाँ बहिर्मुख वृत्ति के बाद अन्तर्मुख गति से बिन्दु का रूप धारण करके अकार से संयुक्त हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्यावर्तन क्रम से अकार से हकारपर्यन्त सृष्टि अहम्भाव में पर्यवसित हो जाती है। यही अवस्था 'पूर्ण अहं' है।

यही 'पूर्ण अहं' है; क्योंकि इस स्तर पर प्रतियोगी 'अहं' का अस्तित्व नहीं है। 'पूर्णाऽहं'—

१. सन्मात्रावस्था 'अहं' नहीं है।

२. चिदानन्द एवं सच्चिदानन्द अवस्था में भी 'अहं' नहीं है।

३. तत्त्वसृष्टि पूर्ण होने के कारण ही 'अहं' की प्राथमिक अभिव्यक्ति होती है।

४. 'पूर्णाऽहं' में समस्त तत्त्व, समस्त शक्तियाँ, (बहिरंग एवं अन्तरंग समस्त शक्तियाँ) विद्यमान हैं।

५. पूर्णाऽहं की अवस्था परमशिवावस्था है। इसमें परमशिव के साथ परम शक्ति अभिन्न रूप में स्थित है।

६. इस 'पूर्णाऽहं' की भी सूक्ष्म एवं स्थूल—दो अवस्थायें हैं।

अनन्त भुवनों के सृजन से युक्त जिस विराट विश्व को हम 'सृष्टि' समझते हैं उसका आरम्भ तो 'अहम्भाव' से 'इदम्भाव' के उदय के विना सम्भव ही नहीं है।

७. 'इदंभाव' के आविर्भाव के पूर्व एक अहं ही अनन्त अहंरूपों में अपने को प्रकट करता है ।

इसके बाद 'इदम्भाव' की स्फुरत्ता होने पर सर्वप्रथम सर्वशून्यस्वरूप 'परमाकाश' प्रादुर्भूत होता है और उसका अवलम्बन ग्रहण करके वह अनन्त अहं द्वितीय रूप में आविर्भूत होता है । यही 'इदं सृष्टि' है । यह महासमष्टिस्वरूप सृष्टि है । महासमष्टि सृष्टि में काल, क्रम, कार्य-कारणभाव, भूत, वर्तमान, भविष्य की क्रियायें एवं देशगत भेद नहीं रहते । इस 'महासमष्टि सृष्टि' में समष्टि सृष्टि के समान कर्म, जन्म, मृत्यु, सृष्टि, प्रलय नहीं होते । महासृष्टि से खण्डसृष्टियाँ होती हैं । इनमें कालिक-देशिक एवं स्वरूपगत भेद अवश्य रहते हैं ।[१]

भगवान् की जिन शक्तियों से सृष्टि का विकास स्वीकार किया गया है, उनमें नित्य, सर्वाकार, निराकार एवं स्वतन्त्र प्रकाश परमशिव का —

१. भासमान प्रकाश ही चित् शक्ति है ।

२. स्वातन्त्र्य ही आनन्दशक्ति है ।

३. चमत्कार (क्रीडा) ही इच्छाशक्ति है ।

४. शिव की आमर्षरूपता ही ज्ञानशक्ति है ।

५. शिव की स्वीकार-योग्यता ही क्रियाशक्ति है ।

यह पञ्चशक्तिवाद ही शिव का पञ्चमुखत्व है । चित् और आनन्द को स्वरूपशक्ति कहा जाता है । परावस्था क्रमरहित है अवश्य, किन्तु कतिपय मनीषी कहते हैं कि शक्ति को स्पन्द मानने पर अतिसूक्ष्म क्रम तो मानना ही पड़ेगा । वैसे लोकोत्तर क्रिया में क्रम होता नहीं; क्योंकि क्रम कालसापेक्ष है और परावस्था में काल रहता ही नहीं ।

जहाँ परमार्थ परमशिव वाच्य है, वहाँ पर शक्ति ही स्पन्दवाच्य है । जहाँ शिव-शक्ति परमार्थ पदवाच्य है, वहाँ सदाशिवादि स्पन्दवाच्य हैं । अत: स्पन्द शब्द विभिन्न स्थलों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । आनन्द भी स्पन्दात्मक है ।

शिव का आनन्द ह्लादिनी शक्ति का ही स्वरूप है । 'आ' इसी आनन्द का प्रतीक है । चित् (चित् शक्ति का स्वरूप ही चित् है) जब अपने अभिमुख होता है और अनुकूल संवेदन के रूप में प्रकाशित होता है तब 'आनन्द' कहलाता है ।

आनन्द सृष्टिवाद—आनन्द ही सृष्टि का मूल है । चित् की सत्ता में मात्र एक ही स्थित है, अन्य कोई नहीं है । यही स्वरूप है चित् सत्ता का । आनन्द सत्ता में एक ही द्वितीय का अभिनय करके अपने-आपमें अपने से क्रीड़ा करता है। यह सृष्टि के पूर्व की अवस्था है । इस आनन्द से ही सृष्टि होती है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।' दो के विना आनन्दाविर्भाव नहीं और आनन्दभाव के विना सृष्टि नहीं । इसीलिए 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है—

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि

स एकाकी न अरमत । तदात्मानं द्विधा अकरोत् ।

यही है—आत्मरमण एवं आत्माराम की (ब्रह्मवेत्ताओं के ब्रह्मास्वादन की) अवस्था ।

आनन्दं ब्रह्म—इस अनन्त आनन्द के स्रोत से सतत आनन्द के कण छलक-छलक कर बाहर भागे चले जा रहे है; किन्तु ये आनन्दकण अपने मूल आनन्द-स्रोत से पृथक् होते ही एक आवरण से आच्छादित होने के कारण अपनी अन्तःस्थित आनन्दसत्ता की अनुभूति नहीं कर पाते । यही है—इच्छा का विकास ।

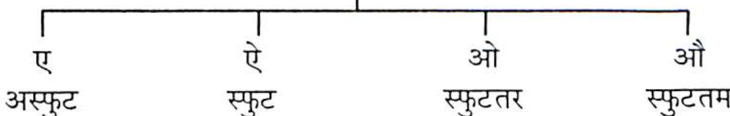
इच्छा का प्रतीक है—'इ' । जहाँ पूर्ण आनन्द है—अभाव का अत्यन्ताभाव है, वहाँ इच्छाशक्ति का भी अभाव है । इच्छा का इष्ट है—आनन्द । इच्छा आनन्दाकांक्षिणी हैं । आनन्द मिलते ही इच्छा अपने-आप विलीन हो जाती है । इच्छा आनन्दान्वेषण की शक्ति है । इच्छा से ही जगत् की सृष्टि होती है; क्योंकि इच्छा का व्यापार आनन्दान्वेषण है । अतः सम्पूर्ण जगत् मे और उसके प्रत्येक कार्य में अन्वेषण व्यापार चल रहा है—आनन्दान्वेषण का व्यापार । जब तक आनन्दाप्ति नही तब तक तृप्ति नहीं—तब तक आनन्दान्वेषणरूप जागतिक व्यापारों का अन्त नहीं । न तो सांसारिक इच्छाओं द्वारा आनन्द की खोज कभी तृप्ति दे सकेगी और न तो पूर्णत्व की प्राप्ति होगी । निष्कर्ष—इच्छा की तृप्ति नहीं और न तो पूर्णत्व की प्राप्ति ही ।

इच्छाशक्ति जब घनीभूत होती है या संवेग द्वारा स्पन्दित होती है तब 'ईशनशक्ति' प्रकट होती है । इसका प्रतीक है—'इं' । यह इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । 'ईशन शक्ति' ही इच्छाशक्ति का प्राण है । 'इं' इच्छा का अभीष्ट विषय है ।

इच्छाशक्ति ही 'ज्ञानशक्ति' का स्वरूप ग्रहण करती है । ज्ञानशक्ति का नामान्तर है—'उन्मेष' । इसका प्रतीक है—'उ' ।

उन्मेषस्वरूप ज्ञानशक्ति अपने विषय (ज्ञेय सत्ता) को प्रकट करती है । ज्ञानशक्ति = उ । ज्ञान का विषय = ऊ । 'ऊ' = उ की घनीभूतावस्था । 'इ' 'ई' से एवं 'उ' 'ऊ' से अभिन्न है । बर्फ जल की घनीभूत अवस्था ही तो है; अतः जल से अभिन्न है । अतः ज्ञान का विषय (ज्ञेय) ज्ञान से अभिन्न है । अविद्या हट जाने पर ज्ञेय ज्ञान से अभिन्न ही प्रतीत होगा । अविद्या ही ज्ञेय को ज्ञान से पृथक् करती है । यह अविद्या ही क्रियाशक्ति है, जिसके कारण ज्ञेय ज्ञान से पृथक् आभासित एवं अनुभूत होता है । इस क्रियाशक्ति के अनेक व्यापार हैं ।

क्रियाशक्ति की विभिन्न अवस्थायें



क्रियाशक्ति की क्रीड़ा समाप्त होते ही समस्त क्रियाओं का अन्त हो जाता है । इस प्रकार स्पन्द के बहिर्मुख संवेग से एक के बाद दूसरे के अनन्त क्रमों से अनन्त शक्तियों एवं अनन्त जगत् की उत्पत्ति होती है ।

अद्वैत के सम्बन्ध में स्पन्दशास्त्र की दृष्टि

अद्वैतभाव और स्पन्द-दृष्टि—कारिकाकार का कथन है आत्मबल के स्पर्श से पुरुष (पशु) उसके समान अर्थात् पशुपति के समान बन जाता है—

अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ।

आत्मबल अर्थात् परप्रमाता, सर्वकर्ता ईश्वर के स्वभाव का बल या सामर्थ्य (इन्द्रियों आदि की अपेक्षा के विना समस्त कार्यों को निष्पादित करने की शक्तता)[1] के द्वारा पुरुष परमात्मा के समान बन जाता है (यहाँ 'आत्म' शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है) ।[2]

रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि 'जहाँ स्वस्वभाव में स्थित होकर 'आत्म' शब्दप्रतिपादित परमेश्वर इस जगत् की सृष्टि-स्थिति एवं संहार करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है, वहीं स्थित होकर यह संसारी पुरुष भी इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में अर्थात् प्रवृत्ति-स्थिति आदि नियुक्त करने में स्वतन्त्र है; अतः वह परमात्मा के समान है ।'[3]

जिस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापिका ज्ञान-क्रियाशक्तियों से विश्व को प्रवृत्ति आदि में संयुक्त करके सब कुछ जानता है और सब कुछ करता है, उसी प्रकार पुरुष भी उस परमात्म बल के स्पर्श से ही ज्ञातृत्व-कर्तृत्व शक्तियों से समर्थ होकर, मायावश नियत विषयों में ज्ञान-क्रिया शक्तियों से अन्तर्बाह्य स्वरूप वाली इन्द्रियों के द्वारा प्रसृत अपने-अपने विषयों को जानता है और उनका निष्पादन करता है । अतः उसका कर्म-स्वातन्त्र्य एवं ज्ञान-स्वातन्त्र्य होने के कारण परमेश्वर के साथ साम्य तो है ही अर्थात् जीवात्मा भी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता बन जाता है—सर्वज्ञः सर्वकर्ता स्यादित्यर्थः ।[4]

स्पन्दशास्त्र में पतिप्रमाता (पूर्ण प्रमाता = शिव), पशुप्रमाता (मित प्रमाता, संसारी ग्राहक, पशु, जीव) एवं ग्राह्य वर्ग (ज्ञेय विषय, जड़वर्ग, ग्राह्य)—ये तीनों एक ही मूलभूत सत्ता के तीन रूपान्तरण हैं । अविश्रान्त स्पन्दायमान पारमेश्वर सत्ता इन तीनों रूपों में अभिव्यक्त है । वह सत्ता बहुरूपात्मक है—

ततोऽस्य बहुरूपत्वम् । (तं० १.६१-६२)

विश्व के साथ परमात्मा का अद्वैत है; क्योंकि जगत् उसी की आत्माभिव्यक्ति है—'विश्वनिर्माणणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत् अयमेव हि आदिसर्गः तत्र तत्रागमेषु उच्यते । (तं० वि० १.१३५)

जगत् का शिव के साथ अद्वैत क्यों है? कैसे है?—अनन्त शक्तिसम्पन्न परमशिव जगत् का बाह्यावभासन करने एवं (अपनी) संकल्पात्मक उन्मुखता के समय, जगत् का अवभासन अहंविमर्श के रूप में (जगत् को अपने में अहमाकार रूप में अवस्थित रहने के रूप में, अपने से अभिन्न रूप में) करते हैं ।[5] निष्कर्ष यह है कि सृष्टि के पूर्व जगत् शिव

१-३. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
४. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलाचार्य)
५. स्पन्दकारिकाविवृत्ति

एवं शक्ति के साथ उनका अहंभाव बनकर स्थित रहता है, न कि उनसे पृथक् कोई अन्य सत्ता बनकर । अभिन्न अहंविमर्श के रूप में अवस्थित जगत् का अवभासन (न कि सृष्टि) ही आदिसर्ग है—'अयमेव हि 'आदिसर्गः' तन्त्रतन्त्रागमेषु उच्यते' (तं० वि० १.३५) । इसके बाद शिव की अपनी ही 'स्वातन्त्र्य शक्ति' मायाशक्ति के रूप में रूपान्तरित होकर स्वरूप पर आवरण डाल देती है । इसके परिणामस्वरूप मायाशक्ति स्वात्मारूप दर्पण में अनन्त प्रकार के ग्राहकों एवं ग्राह्यों को अवभासित करने लगती है—

अनन्तरं यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणेऽनन्तग्राह्य-ग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति । (तं०वि०)

परा सत्ता विभु होने के कारण सर्वव्यापक, नित्य होने के कारण आदि-अन्त से शून्य, विश्वाकार होने के कारण स्वयं ही चेतन एवं जड़ बनकर विचित्र रूपों एवं आकारों का सृजन करती है—

विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ।
विश्वकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ॥[१]

जगत् के अनन्त आकार-प्रकार, असंख्य नाम-रूप परमात्मा की अनन्त शक्तियों का विश्वात्मक प्रसारमात्र है । इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । चैतन्य द्वारा आत्मप्रसार किया जाना उसका आत्मस्वभाव है । बीज का अंकुरण बीज का स्वभाव है ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२।४।२) में भी यही बात कही गई है कि विश्व की अनन्तरूपता एवं अनेकात्मकता परमात्मा की अनन्त शक्तियों का विश्वात्मक प्रसारमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं—

एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासासयत्यमून् ।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥

मितप्रमाता एवं पतिप्रमाता भिन्न-भिन्न नहीं; प्रत्युत अभिन्न हैं । यहाँ जीवात्मा-परमात्मा का अद्वैत स्वतः सिद्ध है ।

इच्छा-ज्ञान एवं क्रियाशक्तियों में भिन्नता न होने से यहाँ भी अद्वैत है । यह विभिन्न शक्तियों में द्वैताभावरूप अद्वैत है ।

जीवात्मा एवं परमात्मा में इसलिए भी साम्य है कि दोनों स्तर के अनुसार इच्छा-ज्ञान-क्रिया को विश्वाकार प्रदान करते हैं । पतिप्रमाता इन शक्तियों का असीम रूप से तो पशुप्रमाता संकुचित रूप से प्रयोग करता है । चिद्रूपता पर पड़ा आवरण ही इन तीनों शक्तियों की हीनता एवं प्रबलता का विधायक है । प्रमाता चाहे पतिभाव पर स्थित हो और चाहे पशुभाव पर; किन्तु दोनों के स्पन्दात्मक चैतन्यस्वरूप में कोई पार्थक्य (वैभिन्न्य) नहीं आने पाता ।

पतिप्रमातृभाव एवं पशुप्रमातृभाव में अन्तर यह है कि—

---

१. तन्त्रालोक (१.६१-६२)

१. जब प्रमाता को समस्त भावमण्डल अपने शरीर का अंग-प्रत्यंग जैसा प्रतीत होने लगे—अहंविमर्शात्मक स्वभाव से अभिन्न प्रतीत होने लगे तब वह प्रमाता 'पतिप्रमाता' कहलाता है ।

२. जब प्रमाता पर मायीय आवरण पड़ जाने के कारण स्वरूप आच्छादित हो जाता है और अपने ही अंग-प्रत्यंग अपने से पृथक् दिखाई पड़ने लगते हैं तब वह प्रमाता 'पशुप्रमाता' कहलाता है । मूलत: हैं दोनों अभिन्न ।

पतिप्रमाता को 'पति' इसलिए कहा जाता है; क्योंकि वह समस्त भावमण्डल पर स्वतन्त्र राज्य करता है और समस्त भावों का अपने चैतन्य-पीयूष से पालन-गोषण करता है । 'कूर्माङ्गानीव सर्वशः' के रूप में जगत् को अपना अंग-प्रत्यंग मानना एवं अंग-प्रसार को सृष्टि एवं अंग-संकोच को प्रलय मानते हुए जगत् को अहमाकार के रूप में अनुभव करना ही पतिप्रमातृत्व है—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥[१]

'आत्मबलस्पर्शात्' (का० ८) में 'आत्मबल' क्या है? यह आत्मा में स्पन्दात्मिका पूर्णाहन्ता की शक्ति है । पतिप्रमाता में तो इसकी शक्ति अपरिमित एवं स्वतन्त्र रहती है, किन्तु पशुप्रमाता में परिमित एवं अस्वतन्त्र रहती है । दोनों प्रमाताओं की क्रियाशक्ति इसी आत्मबल पर आश्रित है ।

आत्मबल के प्रकार

- पशुओं का आत्मबल (ससीम, संकुचित, सादि-सान्त)
- पशुपति का आत्मबल (असीम, अनन्त)

पतिप्रमाता की ही भाँति पशुप्रमाता भी स्वरूप में अवस्थित है । आत्मबलस्पर्श स्वरूप की पूर्णानुभूति है । पूर्णाहन्ता स्वरूप की अनुभूति ही आत्मबल का स्पर्श है । आत्मबल के स्पर्श से इन्द्रियाँ, शरीर, अन्तःकरण एवं समस्त विश्व रूपान्तरित हो उठता है ।

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—'स चास्य आत्मबलस्पर्शः सहजया अशुद्ध्या व्याप्तस्य कार्यमिच्छतोऽपि न भवति किन्तु यदा क्षोभः 'अहमिति' प्रत्ययभावरूपोऽस्य प्रलीयेत, तदास्य भवति परमे पदे प्रतिष्ठानम् ।'

रामकण्ठाचार्य 'स्पन्दकारिकाविवृति' में कहते हैं कि पुरुष अपने कार्यों में इन्द्रियों को संयोजित करके ईश्वरभूमिका प्राप्त करके[२] ईश्वरवत् स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेता है । इससे सिद्ध है कि ईश्वर एवं पुरुष में अभेद (अद्वैत) है—'ननु स्वव्यापारे करणवर्गं प्रवर्तयन् पुरुषः ईश्वरभूमिकासादनात् तद्वत् स्वातन्त्र्यम् आप्नोति—इति तयोः ईश्वरपुरुषयोः अभेद एव प्रतिपादितः ।'

---

१. ई०प्र० (३।२-३)

२. स्पन्दकारिकाविवृति (सूत्र ८)

प्रश्न उठता है कि इस अभेद के बाद भी भेदनिबन्धन कैसे हुआ?—'कथं भेदनिबन्धनम् ईश्वरसाम्यं पुरुषस्य प्रतिपादितं तस्यां दशायाम् ?'[१] इसी प्रश्न के उत्तर में नवीं कारिका में कहा गया है कि इसका कारण है—'अशुद्धि' = 'आणव मल' (अविद्या')। 'कर्तव्याभिलाषा' = 'कार्ममल' एवं 'क्षोभ' = 'मायीय मल'।

निजशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम् ॥

अशुद्धि कर्तव्याभिलाषा एवं क्षोभ के नष्ट होते ही प्राणी को 'परमपद' की प्राप्ति हो जाती है। क्षोभ एवं अविद्या के कारण ही 'मितात्मा' परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी अपने को उसी तरह भिन्न मानने लगती है, जैसे स्वप्नभीत पुरुष—

अविद्याकृतसङ्कोचगृहीताहंयुतास्य या।
तयाऽभिन्नोऽपि भिन्नोऽयं तत्त्वतः स्वप्नभीतवत् ॥[२]

'स्व' का भाव ही सत्ता है और यदि परमेश्वर ही मितात्मा का स्वभाव हो तो मितात्मा एवं परमेश्वर में भिन्नता कैसी? समस्त प्राणियों का 'स्वभाव' परमेश्वर है; अतः सर्वत्र अद्वैतभाव व्याप्त है—

स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ॥[३]

अद्वैतवाद और उसके विभिन्न पक्ष—अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं—परमात्मा और जीवात्मा का अद्वैत एवं परमात्मा और जगत् का अद्वैत। स्पन्ददर्शन में अद्वैतवाद का तृतीय पक्ष भी है—जीवात्मा और जगत् का अद्वैत।

इस प्रकार स्पन्द दर्शन तीनों में अद्वैत मानता है। शांकर दर्शन में जगत् तो मिथ्या है; अतः उससे परमात्मा या जीवात्मा का अद्वैत कैसे सम्भव होता ? माधवाचार्य जगत् एवं जीव को ईश्वरवत् अनादि एवं पृथक् सत्ता मानते हैं। सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन भी इन्हें अनादि एवं पृथक्-पृथक् सत्ताएँ मानते हैं; अतः इनके साथ अद्वैत की कल्पना कैसे की जा सकती है? यथार्थ तो यह है कि समस्त जगत् शक्ति का आत्म-प्रसार है; अतः स्वातन्त्र्य शक्ति (शक्तिमान शिव की आत्मशक्ति) का विराट स्थूल प्रसार ही जगत् है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥

चिदात्मा ही अपनी इच्छावश बाहर प्रकट हो गया है और उसका यह बाह्य प्रसरण ही जगत् है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।

---

१. रामकण्ठाचार्य (स्पन्द का०वि० ८)
२. षाड्गुण्यविवेक (स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत)
३. बोधपञ्चाशिका

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।[१]

स्पष्ट है कि सर्वत्र अद्वैत ही अनुस्यूत है ।

जगत् तो केवल एक 'अवभास' है और इस अवभास की आत्मा या 'स्वभाव' मात्र 'विमर्श' (चित् शक्ति । संवित् शक्ति) है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विन्दुरन्यथा ।[२]

अत: 'विमर्श' (परमात्म शक्ति) एवं जगत् में अद्वैत तो स्वत: सिद्ध है ।

एकेश्वरवाद एवं अद्वैतवाद—सर्वब्रह्मवाद, सर्वात्मवाद एवं सर्वचिन्मयवाद आदि अद्वैतवाद के ही भेद हैं, किन्तु एकेश्वरवाद अद्वैतवाद नहीं है । पैगम्बरी एकेश्वरवाद (Monotheism) और अद्वैतवाद (Monism) में बहुत बड़ा भेद है । एकेश्वरवाद एक स्थूल देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद । एकेश्वरवाद है—बहुत से देवी-देवताओं को मानते हुए उनमें ईश्वर को सर्वोपरि मानना । एकेश्वरवाद भी देववाद ही है । अद्वैतवाद एक दार्शनिक दृष्टि है, जो यह मानकर चलती है कि उस 'एक' के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व ही नहीं है । वही 'एक' जीव एवं जगत् दोनों रूपों में भी प्रसृत है । एकेश्वरवाद का अर्थ है कि एक सर्वशक्तिमान देव सबसे बड़ा देव है और वही सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार करता है । अद्वैतवाद का अर्थ है कि दृश्य जगत् के अन्तस्तल में एक ही अखण्ड नित्य तत्त्व है और वही सत्य है । उस नित्य सत्ता से स्वतन्त्र अन्य कोई पृथक् सत्ता है ही नहीं । आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद नहीं है । एकेश्वरवाद के भीतर बाह्यार्थवाद छिपा है, क्योंकि यह जीव, जगत् एवं परमेश्वर तीनों की पृथक्-पृथक् सत्तायें मानता है । ब्रह्मवाद में शुद्ध परमात्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता स्वीकार ही नहीं की जाती । इसीलिए एकेश्वरवादियों की दृष्टि में—

१. आत्मा और परमात्मा एक हैं ।

२. 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह कहना धार्मिक अपराध (कुफ्र) है, किन्तु अद्वैतवाद 'अहं ब्रह्मास्मि' को एक शाश्वतिक सिद्धान्त मानकर चलता है । एकेश्वरवाद ही 'तौहीद' है, किन्तु यह 'अन अल हक़' नहीं है । कुरान में अल्लाह एक 'पुरुषविशेष' है, अद्वैत नहीं है ।

दाराशिकोह (शाहजहाँ के पुत्र) ने 'रिसालए हक़नुमा' में जगत् के चार स्तर या चार जगत् स्वीकार किए थे—

१. 'आलमे नासूत' (भौतिक जगत्), २. 'आलमे मलकूत' (आलमे अरवाह = चित् जगत् । आत्मजगत् । आत्मा का जगत्) ३. 'आलमे ज़बरूत' (सुख-दु:ख आदि के द्वन्द्वों से अतीत आनन्दमय जगत्), ४. 'आलमे लाहूत' (सत्य जगत् या ब्रह्म) ।

दाराशिकोह आत्मा और बाह्य रूपों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध स्वीकार करता था । (Wordsworth) ने भी जन्म को भौतिक घटना न मानकर—पार्थिव सत्तामात्र न मानकर—किसी रहस्यमयी सत्ता एवं रहस्यलोक की परिणति माना था—Our birth is but a sleep and a forgetting जन्म एक सुषुप्ति है । अपनी किसी पूर्वसत्ता, पूर्व निवासलोक

१. ई० प्र० (१।५।७)   २. ई० प्र० (१।५।१०)

पूर्ववर्ती चेतनामण्डल एवं पूर्ववर्ती दिव्य जीवन की विस्मृति है—एक सुषुप्ति है—पूर्ववर्ती जागृति का सुषुप्तिस्वरूप परिणमन है। इस जीवन का सूत्र तो कहीं अन्यत्र किसी दिव्य रहस्यलोक में है; अतः—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises withus, our life's star,
Hath had elsewhere its setting,
And cometh from a far,
Not in entire forget fulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory dowe come,
From god, who is our home,
Heaven lies about in our infancy!
Shades of the prison-house begin to close,
Upon the growing boy.*

'परमार्थचर्चा' में अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि परतत्त्व तो अद्वैत है और वही विश्व का प्रकाश है। वही अपनी शक्ति में ग्राह्य एवं ग्रहीतारूप जगत् को समाविष्ट किये हुए है—

इत्थ स्वसंविद्धन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः।
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्यग्रहीतृप्रविभागभेदः॥

यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार शिव एवं शक्ति से अपृथक् है, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर एवं यथार्थ नगर। 'जगत्' शिवरूप आत्मदर्पण में शिवरूपी 'बिम्ब' का प्रतिबिम्ब है (तन्त्रसार, ३ आ.)—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयोगाद्विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥[२]

उत्पलदेवाचार्य ने 'विश्वरूपो महेश्वरः' (प्रत्यभिज्ञा कारिका) कहकर एवं क्षेमराजाचार्य ने—

१. ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्।

२. चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः।

३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। (शक्तिसूत्र)

४. जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्। विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। उल्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।

५. शिवादिधरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।

---

* Ode on Intimation of Immortality from Recollection of Early Childhood.

६. भगवान् विश्वशरीरः ।[१]

७. श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम् ।[२]

८. विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव, एवं भगवान् विश्वशरीरः । न सावस्था न यः शिवः ।[३]

९. स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञान-क्रिया-मायाशक्तिरूपा पशुदशायां सङ्कोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति इति प्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ।

१०. चिदात्मा शिवभट्टारक एव 'एक' आत्मा न तु अन्यः कश्चित् ।[४]

११. एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्यप्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः, अत एक एव एतावदव्याप्तिक आत्मा ।[५]

१२. जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः ।[६]

—कहकर जीवात्मा एवं परमात्मा, परमात्मा एवं विश्व तथा जीवात्मा एवं विश्व—तीनों में एकात्म्य, एकीभाव, तादात्म्य एवं अद्वैत सिद्ध किया है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसी अद्वैत को मुक्ति का उपाय स्वीकार किया है । इसी अद्वैतभाव की अपर संज्ञा (मुक्त्योपाय के रूप में) 'शाम्भवोपाय' है—

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ।।

जगत् सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा ।
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः ।।

अर्थात् (१) 'मत्त एवोदितं'—समस्त विश्व मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुआ है । (२) 'मय्येव प्रतिबिम्बितम्'—यह निःशेष विश्व मुझमें ही प्रतिबिम्बित है, कहीं मुझसे पृथक् होकर स्वतन्त्र सत्ता के रूप में अवस्थित नहीं है और न तो बिम्बस्वरूप ही है; अपितु यह मेरे 'बिम्ब' का ही प्रतिबिम्ब है और वह प्रतिबिम्ब भी कहीं पृथक् देश में नहीं प्रत्युत मुझमें ही स्थित है । (३) 'मदभिन्नमिदं चेति'—यह विराट् विश्व (इदं रूप से प्रतिभासित यह विश्वरूप प्रतिबिम्ब) मुझसे (मेरी सत्ता से) पृथक् नहीं है—ये तीन प्रकार के अद्वैतात्मक विमर्श ही 'शाम्भवोपाय' के तीन घटक हैं ।

यह अनेकात्मक विश्व 'एक' ही परमेश्वरी भैरव संवित् में अविभागात्मक रूप से अवस्थित है—'इदं............... विश्वं एकस्यां वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते ।'

विश्व एवं महाचिति में अद्वैत एवं ऐकात्म्य इसलिए है; क्योंकि जो शक्ति की कुक्षि में पूर्व से ही (शक्ति का ही स्वरूप) कारणरूप में विद्यमान था, वही (विश्व) तो बाह्यावभासित

१-५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
६. क्षेमराजाचार्य : 'शिवसूत्रविमर्शिनी'

होकर जगत् कहलाता है। वह कोई अन्य पृथक् सत्ता थोड़ी है—

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥[1]

यह जगत् शक्ति के भीतर ही स्थित है, जो कि बाहर भासमान होने पर 'विश्व' कहलाता है—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं विसृष्टौ।[2]

'जगत्' मिथ्या है या सच्चिदानन्दस्वरूप

आचार्य शंकर ने जगत् को मिथ्या माना है। वे कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'

आचार्य शंकर इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है और ब्रह्म सत्य, चित् एवं आनन्द का सागर है तो उसका जगत् असत्य, जड़ एवं आनन्दशून्य तथा दुःखागार क्यों?

स्पन्दशास्त्रियों ने कहा कि जगत् मिथ्या एवं जड़ नहीं है और न तो यह दुःखागार ही है। 'जगत्' सच्चिदानन्द शक्ति का स्वस्वरूप होने के कारण सत्, चित् एवं आनन्द तीनों है।

जगत् की चिन्मयता : सर्वचिन्मयवाद—स्पन्दकारिकाकार इसी प्रसंग में कहते हैं कि चिन्मयी शक्ति जड़ के रूप में प्रतीयमान पदार्थों, इन्द्रियों, प्राणों, शरीरों एवं इनसे निर्मित समस्त जगत् को चैतन्य प्रदान करती है। उन्हें सृष्टि, स्थिति एवं संहार की शक्ति प्रदान करती है—

यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत् स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः॥

लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा॥

अर्थात् जिस स्पन्दात्मक शक्ति के स्पर्शमात्र से आन्तर शक्तिचक्र के साथ ही साथ अचेतन इन्द्रियसमूह को भी चेतन की भाँति सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने की शक्ति प्राप्त होती है, उस स्पन्दात्मक स्वभाव की सश्रद्ध परीक्षा की जानी चाहिए; क्योंकि उस तत्त्व की स्वभावभूता स्वातन्त्र्य शक्ति विश्व के प्रत्येक अणु-अणु एवं प्रत्येक पिण्ड में अवस्थित है—सञ्चरित है।

भट्टकल्लट कहते हैं कि स्पन्दतत्त्व में किसी को भी चैतन्य प्रदान करने की पूरी शक्ति है—यथास्य करणादिषु चैतन्यदाने स्वातन्त्र्यम्।[3]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा   २. अभिनवगुप्त
३. स्पन्दसर्वस्व

स्पन्दात्मक बल (आत्म बल) के कार्य

(आन्तर शक्तिचक्र को चैतन्य-दान १. अनन्त शक्तिधारायें । प्रधान शक्तियाँ—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी—ये शक्तिचक्र के ४ प्रधान विभाग हैं) ।	१. अचेतन इन्द्रियवर्ग को चैतन्य दान ।	आत्मबल की स्वतन्त्रता
२. आन्तर शक्तिचक्र को सृष्टि, स्थिति एवं संहार की क्षमता एवं शक्ति का दान ।	२. अचेतन इन्द्रियों को भी सृष्टि-स्थिति-संहार की क्षमता प्रदान करना ।	विश्व के प्रत्येक अणु-अणु एवं प्रत्येक शरीर में व्याप्ति ।

स्पन्दात्मक पारमेश्वरी शक्ति की स्वतन्त्रता का प्रसार विश्व के अणु-अणु में है । यह स्पन्द शक्ति अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा जड़ पदार्थों में भी व्याप्त होकर उन्हें भी चेतनधर्मा बना देती है । वह शरीर, प्राण आदि को भी चेतन बना देती है ।

सहज स्वातन्त्र्य (अकृत्रिम एवं स्वभावभूत धर्म) अर्थात् स्वतन्त्र (निरपेक्ष) 'अहंप्रत्यवमर्श' ही प्रत्येक तत्त्व एवं पदार्थ का 'स्वभाव' [यथार्थ स्वरूप, स्व की सत्ता (भाव)] बनकर विद्यमान है ।

परमशिव की यही स्वातन्त्र्य शक्ति विश्व की बाह्याभिव्यक्ति करने के स्तर पर 'वामेश्वरी' कहलाती है—किञ्च चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती ।[१]

क. विश्व का वमन—अपनी कुक्षि में 'अहं' के रूप में धारण करने वाली शैवी शक्ति द्वारा इस 'अहं' को 'इदं' रूप में अवभासित करना ही 'वमन' है ।

ख. वामेश्वरी—वामाचार करने से 'वामेश्वरी' है । विपरीत आचरण (वामाचार) यह है कि अपने स्वभाव के विपरीत स्वरूप वाले संसार का रूप धारण करके विश्व को दु:ख एवं जन्म-मरण का केन्द्र बनाने, होने से यह शक्ति वामेश्वरी है ।

संसारभाव (संसरण व्यापार) के विरुद्ध आचरण करने वाली होने से भी यह शक्ति 'वामेश्वरी' है; क्योंकि यह शक्तिपात के अधिकारी सत्पात्रों में शिवभाव को उन्मीलित करती है; अत: यह 'वामेश्वरी' कहलाती है ।

'शक्तिसूत्र' में कहा गया है कि खेचरी आदि शक्तियाँ पशुभावापन्न प्राणियों को मोहाच्छन्न करके जागतिक पदार्थों के प्रति अहंबुद्धि उत्पन्न करती हैं, जिससे वे अपने शिवत्व एवं विश्वात्मभाव को विस्मृत करके और अपने पञ्चकृत्यकारित्व की शक्ति को भूलकर सांसारिक भावों के कारण पशुप्रमाता बन जाते हैं ।

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र १२)

शक्तिवर्ग के कार्यद्वय

अज्ञानी पुरुषों को पतन एवं संसारित्व के गर्त में डालना	शिवभाव पर आरूढ़ साधकों को मोह में न डालकर उन्हें शिवत्व प्रदान कराने हेतु सहायता करना ।

१. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहिता संसारित्वम् (प्र०हृ०) ।
(अधोगति) (मूढ़भावोत्पत्ति)।

२. पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥ (भट्टदामोदर)

३. एवं सङ्कुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति तदा अयम् ....शरीरी परमेश्वरः ।[१]

४. एकैव स्फुरत्ता...................व्यामोहयति तदा तद् व्यामोहितता संसारित्वम् । यदा............चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति ।[२]

क्या यह स्पन्द शक्ति केवलाद्वैत की माया की भाँति 'स्व' के भाव से रहित है? क्या सृष्टि में उसकी (समवायिनी शक्ति की भाँति) अनुस्यूतता नहीं है? क्या वह 'रज्जौ यथा-हेर्भ्रमः' (रस्सी में मिथ्या सर्पभ्रान्ति) या सत्, असत्, सदसत् से परे कोई अनिर्वचनीय जड़ एवं मिथ्या सत्ता है?

आचार्य शंकर इसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त एवं अनिर्वचनीय संज्ञा कह कर भी इससे सम्बद्ध प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके ।

स्पन्दशास्त्रियों ने इन सारी शंकाओं का निराकरण किया । उन्होंने कहा कि—'स्पन्दशक्ति' आत्मशक्ति है और चूँकि यह सभी को 'भाव' (सत्ता) प्रदान करती है तो फिर स्वतः निःस्वभाव कैसे हो सकती है? यह सभी को चैतन्य प्रदान करती है, फिर इसे 'निःस्वभाव' कैसे कह सकते हैं ? भट्टकल्लट कहते हैं—

१. सोऽन्येषां चैतन्यापादने समर्थः कथं निःस्वभावः ?

२. स्वातन्त्रस्य स्वस्वभावभूतस्य ।

३. सर्वत्राकृत्रिमम् ।

अर्थात् यह शक्ति स्वभावस्वरूप है और स्वातन्त्र्य उसका स्वभावभूत आत्मधर्म है; अतः उसे शंकर के ब्रह्म की माया के समान अपनी शक्तिमत्ता ब्रह्म से प्राप्त करने की विवशता नहीं है; प्रत्युत वह स्वभावतः 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं' की शक्ति से सम्पन्न एवं अघटन-घटना पटीयसी अद्वितीया महाचेतन शक्ति है । स्वातन्त्र्य (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा-कर्तुं तथा निरपेक्षरूपेण सर्वकर्तुं) उसका आत्म धर्म है ।

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

यह अकृत्रिम तत्त्व (स्वाभाविक रूप से) समस्त जड़-चेतन पदार्थों के अणु-अणु में उसका स्वभावभूत धर्म, शक्ति, प्राण एवं सत्ता बनकर अवस्थित है ।

जीवों को कर्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त है या नहीं?—क्या आत्मा (मितप्रमाता = जीव) किसी अंशी का अंश, किसी विशेष्य का विशेषण, किसी प्रकारी का प्रकार या किसी स्वामी का दास होने के कारण पारमात्मिक प्रेरणा (पारमेश्वरी इच्छा) को पूर्ण करने-मात्र का ही अधिकार रखती है और उसमें निजी स्वातन्त्र्य का कोई अस्तित्व नहीं है? क्या वह अनन्त काल तक 'पशु' ही बनकर रह सकती है; 'पशुपति' बनने का उसको कोई स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं है?

क्या पशु और पशुपति की दूरी की इस लक्ष्मण रेखा को कोई भी अतिक्रान्त करने का अधिकार नहीं रखता? क्या पशु कभी पशुपति नहीं बन सकता? क्या 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, शिवोऽहं' आदि के कथन मिथ्या है?— इन्हीं समस्त प्रश्नों एवं शंकाओं का उत्तर देने के लिए कारिकाकार का कथन है—

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।।[१]

अर्थात् मितप्रमाता (जीव) मात्र पारमेश्वरी इच्छा के अंकुश का प्रेरक बनकर ही नहीं स्थित है; प्रत्युत आत्मबल का स्पर्श होने पर वह (पुरुष) पतिप्रमाता के समान बन जाता है ।

भट्टकल्लट कहते हैं कि पशुप्रमाता पारमेश्वरी इच्छारूपी अंकुश के द्वारा इन्द्रियों को अपना-अपना कार्य निष्पादित करने की प्रेरणामात्र नहीं देता; प्रत्युत वह अपनी इच्छा के अनुरूप सारे बाह्याभ्यन्तर कार्य निष्पन्न करता है । अत: उसमें इन्द्रियों को विषयाभिमुख करने के साथ ही साथ प्रत्येक कार्य को स्वतन्त्रतापूर्वक करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त है । जीव कठपुतली नहीं है ।

परमार्थ सत्ता का स्वरूप

कारिकाकार का कथन है कि जिसमें दु:ख, सुख की अवस्थायें नहीं हैं, जिसको ग्राह्यता या ग्राहकता स्पर्श भी नहीं कर सकती और जो मूढ़भाव (वेद्य पदार्थ को जानने की सामर्थ्य का अभाव) से रहित है, वही तत्त्व परमार्थ सत् है—

न दु:खं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थत: ।।

भट्टकल्लट कहते हैं कि स्पन्दतत्त्व का यह आत्मस्वभाव है कि उसको सुख-दु:ख, ग्राह्यता-ग्राहकता एवं मूढ़ता आदि भाव कभी स्पर्श नहीं कर पाते हैं । वही यह तत्त्व परमार्थ सत् है; क्योंकि वह नित्य है । सुखादिक तो केवल मानसिक संकल्पों की सृष्टियाँ हैं और क्षुण्य हैं; अत: आत्मा के स्वाभाविक रूप से बाह्य हैं । अत: वे भी शब्दादि ज्ञेय विषयों

---

१. स्पन्दकारिका (क्र० ८)

के ही तुल्य है । यह सोचना भी व्यर्थ है कि यदि उस तत्त्व को सुखादिक की अनुभूति नहीं है तो वह प्रस्तर के समान जड़ है—'न च सुखादिस्वरूपो यदा नासौ तदा पाषाणप्रख्य एव ।'[1]

यही है—स्पन्द शक्ति का पारमार्थिक स्वरूप । भट्टकल्लट इसी परमार्थ सत्ता के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

१. तस्य चायं स्वभावो यत् सुखदुःखग्राह्यग्राहकमूढतादिभावैरस्पृष्टः । स एव च परमार्थोऽस्ति नित्यत्वात् ।

२. सुखादयः पुनः सङ्कल्पोत्थाः क्षणभङ्गुरा आत्मस्वरूपबाह्याः शब्दादिविषय-तुल्याः ।[2]

अवस्थाओं की विभिन्नता होने पर भी क्या उनमें एक स्वरूप की एकता सम्भव है?—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, भेदाभेदवादी आदि दार्शनिक विभिन्नता में एकता नहीं मानते; अन्यथा उनमें एवं शंकराचार्य के केवलाद्वैत में क्या अन्तर रह जाता । शंकराचार्य अनेकताओं में एकता का सन्धान तो करते हैं; किन्तु अनेकताओं को मिथ्या कहते हैं । स्पन्दशास्त्र मानता है कि यदि 'एक' सत्य है तो उस 'एक' की बाह्यावभासन वाली 'अनेकता' भी सत्य होनी चाहिए और अनेक में भी मूल स्वरूप की विद्यमानता रहनी चाहिए । इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुये स्पन्दकारिका में कहा गया है—

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ।।

भाव यह कि जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति आदि (चेतना की) विभिन्न अवस्थाओं में वेदक की अनुभूतियाँ तो बदल जाती हैं; किन्तु वेदक नहीं बदलता । स्वभाव एकरस रहता है—स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता । यथा—विषबीज से उत्पन्न अंकुर आदि के पाँचों स्कन्धों (मूल, शाखा, पत्र, पुष्प एवं फल) में व्याप्त विष के रूप में कोई अन्तर नहीं होता—यथा विषस्याङ्कुरादिषु च पञ्चसु स्कन्धेषु ।[3]

समस्त अवस्थाओं में स्वरूप की एकता सदैव विद्यमान रहती है; अतः अनेकताओं में भी एकता का सूत्र एकरूप रहता है—जाग्रदादिनापि भेदे प्रथमाने न तस्य स्वरूपमाव्रियते ।[4]

अवस्थाओं एवं अनुभूतियों की भिन्नता से चिदात्मा या मितप्रमाता भिन्न नहीं हो जाता । सारांश यह कि—

१. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य एवं तुर्यातीत आदि अनेक अवस्थायें एक ही अनुभविता में रहती हैं; किन्तु इन अवस्थाओं की अनेकता में भी इनमें स्थित अनुभविता अनेक नहीं, एक ही रहता है । अवस्थाओं की भिन्नता अवस्थाता को भिन्न नहीं बना देती ।

---

१. भट्टकल्लट (स्पन्दसर्वस्व)
२. स्पन्दकारिकावृत्ति
३-४. भट्टकल्लट : 'स्पन्दसर्वस्व' (स्पन्द का० वृत्ति)

२. 'मैं सुखी हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं कृश हूँ, मैं कुछ भी नहीं हूँ' आदि विकल्पात्मक अनुभूतियाँ हैं, जो कि शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्य से सम्बद्ध 'अहंप्रतीति' से जुड़ी हैं और विभिन्न जीवात्माओं के अनुभवों से सम्बद्ध हैं; फिर प्रत्येक अनुभव के साथ एक ही अनुभावी की विद्यमानता कैसे स्वीकार की जाय?

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप कारिकाकार ने कहा है कि स्पन्दात्मक स्वभाव समस्त अवस्थाओं में सूत्र की भाँति अनुस्यूत है; क्योंकि 'जो ही मैं पहले सुखी था, वही अब दु:खी या अनुरक्त हूँ' एतत्प्रकारक अनुभवों में सामान्य 'अहंप्रतीति' के रूप में एक ही वेदक की अनुस्यूतता (सूत्रात्मकता) दृष्टिगत होती है। वेदक सत्ता स्वत: इन सभी से भिन्न होने पर भी सभी में अनुस्यूत रहती है। कारिकाकार इसी तथ्य को प्रकाश में लाते हुए कहते हैं—

अहं सुखी च दु:खी च रक्तश्चेत्यादिसंविद: ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ता: स्फुटम् ॥

स्पन्दशास्त्र में आत्मा का स्वस्वरूप

आत्मा—आत्मा का स्वरूप क्या है? इस विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं। कोई वेदान्ती उसे अंश, विशेषण, प्रकार या परिणाम कहता है तो कोई उसे उपाधिशून्य ब्रह्म कहता है—जीवो ब्रह्मैव नापर: (शंकराचार्य)।

चार्वाक आत्मा को अनेक स्वरूपों में अवस्थित पाते हैं; अत: वे कहते हैं—

१. देह ही आत्मा है—देहात्मवाद। इसीलिए चार्वाक कहते हैं कि चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है—'चैतन्यविशिष्ट: काय: पुरुष: ।'[१]

स वा एष अन्नरसमय: पुरुष: ।[२]
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (श्रुति)

२. इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं—इन्द्रियात्मवाद। 'ते ह प्राणा: प्रजापतिं पितरं प्रेत्य ऊचु: ।'[३]

३. 'पुत्र' ही आत्मा है—'पुत्रात्मवाद'—'आत्मा वै जायते पुत्र: ।'[४]

४. 'प्राण ही आत्मा है—'प्राणात्मवाद'—'अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमय: ।'[५]

५. एक शरीर में एक या अनेक 'इन्द्रियाँ' ही आत्मा हैं—'एकेन्द्रियात्मवाद, मिलितेन्द्रियात्मवाद ।'[६]

६. 'मन' ही आत्मा है—'मनसात्मवाद'—'अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमय: ।'[७]

भूतों के संघटन से ही चैतन्य (आत्मा) उत्पन्न हो जाती है—'तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।'[८]

---

१. चार्वाकसूत्र
२. तैत्तिरीय उपनिषद् (२।१।१)
३. छान्दोग्योपनिषद् (५।१।७)
४. कौषीतकी उपनिषद् (१।२)
५. तैत्तिरीयोपनिषद् (२।२।१)
६. सिद्धान्तबिन्दु
७. तैत्तिरीयोपनिषद् (२।३।१)
८. चार्वाकसूत्र (४।५)

'शतपथ ब्राह्मण' (७.१.१) में मनुष्य के शरीर के मध्यम भाग के लिए त्वक्, शोणित, मांस और अस्थि के लिए मन-बुद्धि-चित्त एवं अहंकार के लिए तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

आरण्यक ग्रन्थों में प्राण को आत्मा से अभिन्न कहा गया है।[१] आत्मा को 'विज्ञानमय' एवं 'आनन्दमय' भी कहा गया है।[२] आत्मा को 'आनन्द' के साथ अभिन्न कहकर भी वर्णित किया गया है।[३] 'ऐतरेय आरण्यक' में ही आत्मा को सोपाधि, निरुपाधि जगत्स्रष्टा एवं ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक में ही आत्मा को द्यावा तथा पृथिवी के मध्य अवस्थित आकाश के साथ अभिन्न कहा गया है (ऐत०आ० १।३।८)। यह भी कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ विश्व में है ही नहीं। आत्मा ही सम्पूर्ण देवता है, स्थावर-जंगम आदि (जगत् का प्रत्येक भाव) आत्मा ही है। आत्मा ही स्रष्टा, पालक एवं संहर्ता तथा सभी को अपने में लीन रखने वाला है (२।६।१)। इस प्रकार 'तैत्तिरीय आरण्यक' में ही ब्रह्म एवं आत्मा को अभिन्न प्रतिपादित किया गया है (२।६।१)। उपनिषदों में परमात्मा को ही अविद्या के बन्धन में पड़ने पर 'जीवात्मा' कहा गया है।

'तत् त्वं असि' के माध्यम से भी यही कहा गया है कि 'त्वं' (जीवात्मा) 'तत्' (परमात्मा) है। 'अहं' (जीवात्मा) 'ब्रह्म' (परमात्मा) है; इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' कहा गया है। न्याय-शास्त्र की दृष्टि में आत्मा ज्ञान का अधिकरण है। आत्मा सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य एवं सर्वव्यापक है। मुक्ति की अवस्था में भी जीवों की अनेकता रहती है।

न्याय शास्त्र की दृष्टि में जीवात्मा ज्ञानाधिकरण तो है; किन्तु स्वभावतः वह ज्ञानरहित है। वह स्वभावतः जड़ है। उसमें स्वभाव से चैतन्य नहीं है। आत्मा में मन के विशेष संयोगमात्र से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान जीवात्मा का आगन्तुक धर्म है। नैषधचरितकार श्रीहर्ष ने उपहास के स्वर में कहा था—'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्'। एक भक्त ने तो वृन्दावन में स्यार का जन्म लेना अधिक श्रेयस्कर माना, अपेक्षाकृत न्याय एवं वैशेषिक की मुक्ति के—

वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकी मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन॥[४]

'प्रशस्तपादभाष्य' में जीवात्मा के गुण बताए गए हैं।

जीवात्मा के गुण (वैशेषिक दर्शन की दृष्टि में)

ज्ञान | सुख | दुःख | इच्छा | द्वेष | प्रयत्न | धर्म | अधर्म | संस्कार | संख्या | परिमाण | पृथक्त्व | संयोग | विभाग

जीवात्मा विभु है, सर्वव्यापी है। संस्कार इसी आत्मा में रहते हैं। जीव, शरीर, इन्द्रिय भोग्य एवं भोक्ता के रहने पर ही 'ज्ञान' उदित होता है, अन्यथा नहीं। जीवात्मा में (स्वभावतः) ज्ञान एवं चैतन्य दोनों नहीं है।

१-३. तैत्तिरीय आरण्यक
४. न्यायभाष्य (१।१।९)

'मीमांसा' आत्मा को नित्य, विभु, कर्ता, भोक्ता, अहंभावस्वरूप, शुद्ध ज्ञानस्वरूप, देशकालापरिच्छिन्न, ज्ञाता, अनेक, मानस प्रत्यक्षगम्य तो मानता है; किन्तु उसकी दृष्टि में यह (आत्मा) स्वप्रकाश नहीं है ।[1]

आचार्य शंकर का केवलाद्वैत वेदान्त आत्मा में क्रिया नहीं स्वीकार करता; किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो ज्ञान एवं क्रिया को प्राणियों का जीवन मानते हैं । उत्पलदेव 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहते हैं—'ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।'

न्याय एवं वैशेषिक आत्मा में ज्ञान एवं चैतन्य को उसका स्वरूपलक्षण नहीं मानते; प्रत्युत उन्हें उसका आगन्तुक धर्म मानते हैं; किन्तु स्पन्ददर्शन उन्हें आत्मा का स्वरूपलक्षण मानता है; इसीलिए शिवसूत्रों का जिस सूत्र से आरम्भ किया गया है, उसके आदि में कहा गया है कि चैतन्य ही आत्मा है—'चैतन्यमात्मा' (१।१) ।

१. चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा स्वभावः ।

२. चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति, चेतयते इति चेतनः, सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः तस्य भावः चैतन्यम् । सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते । तच्च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति ।[2]

आत्मा है क्या? आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि चार्वाक का कथन गलत है कि आत्मा शरीर, प्राण, बुद्धिशून्य आदि है । चार्वाक, योगाचार, माध्यमिक आदि के मत भी अनुपपन्न हैं । आत्मा का स्वरूप तो मात्र चैतन्य है—

१. न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिका-द्यभ्युपगतानि आत्मा, अपितु यथोक्तं चैतन्यमेव ।[3]

२. चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा स्वभावः भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगतः ।

३. चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यात्मैव ।[4]

सर्वचैतन्यवाद—स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों सर्वचिन्मयतावाद के प्रतिपादक हैं । दोनों सर्वचैतन्यवाद के पोषक हैं ।

द्रष्टव्य बिन्दु—

१. आत्मा और परमात्मा तो चैतन्यस्वरूप हैं ही, साथ ही साथ—

२. समस्त जड़ जगत् (अचेतन एवं जड़ कहा जाने वाला यह तथाकथित चैतन्यशून्य विश्व) भी चेतन है—चैतन्यस्वरूप है—

क. जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः ।

ख. चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा इति आदिशति चैतन्यमात्मा ।

---

१. पाँच तत्त्व

२-३. शिवसूत्रविमर्शिनी (आचार्य क्षेमराज) सूत्र-१ की व्याख्या ।

४. शिवसूत्रविमर्शिनी

जो अचेतित है, उसकी सत्ता ही सम्भव नहीं है; क्योंकि चिति क्रिया सर्वसामान्य-स्वरूप है—

इह अचेतितस्य कस्यापि सत्वाभावात्, चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति । चेतयते इति चेतन: सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्र:, तस्य भाव: चैतन्यम् सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्ण स्वातन्त्र्यम् उच्यते ।[१]

चैतन्य आत्मा का स्वभाव है—'चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा, स्वभाव: भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगत: ।'[२]

यही चैतन्य विश्व का भी स्वभाव है । इस प्रकार सत्ता का (चाहे वह सत्ता चेतन की हो और चाहे जड़ की) स्वभाव ही है—चिन्मय होना । संसार का कण-कण चिन्मय है, कहीं जड़त्व है ही नहीं । चैतन्य आत्मा का स्वरूप है और जगत् आत्मा में अवस्थित है—आत्मा का स्वप्रसार है; अत: सम्पूर्ण जगत् भी चेतन है । चैतन्य के अनुपात एवं परिमाण में स्वल्पता एवं बाहुल्य हो सकता है, किन्तु हैं सभी चेतन ।[३]

उत्पलदेवाचार्य ने 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में आत्मा को आत्मा नहीं; चिदात्मा कहा है—'चिदात्मैव हि देवोऽन्त: ।' शंकराचार्य ने भी 'प्रत्यक् चैतन्य' शब्द का प्रयोग किया है । उपनिषदों में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर ब्रह्म की सन्मात्रता, ज्ञानस्वरूपता एवं अनन्तात्मकता का उल्लेख तो किया गया; किन्तु उसकी चेतनता (चैतन्य पक्ष) पर अधिक बल नहीं डाला गया । स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा (सम्पूर्ण त्रिकदर्शन) आत्मा के इसी पक्ष को प्रामुख्य प्रदान करते हुये अपने मूल ग्रन्थ का प्रारम्भ ही 'चैतन्य' से करता है (चैतन्यमात्मा) तथा जगत् के परम सत्य को मूलत: चैतन्यस्वरूप वाला प्रतिपादित करता है ।

आचार्य उत्पलदेव आत्मा के जो भी विभिन्न नाम बताते हैं, उनमें भी प्रथम नाम 'चिति' (चैतन्य) ही है—

चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मन: ।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन: ।।

आत्मा का द्वितीय प्रधान धर्म है—प्रत्यवमर्श । इसका सम्बन्ध है ज्ञान से । इसका तृतीय प्रधान धर्म है—स्वातन्त्र्य । चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही चैतन्य का प्रसार भी होता है—'आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता ।'

आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—'विमर्शाख्यं मुख्यं रूपमुक्तं चैतन्यं चितिशक्तिर्दृशिरिति सा चेतनक्रिया चितिकर्तृतैव ।' वही शिव का हृदय भी है, शिव की आत्मप्रतिष्ठा भी है—'सा विश्वात्मन: परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति ।' आत्मा का प्रत्यवमर्श क्रियाशक्ति

१. शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज)
२. शिवसूत्रविमर्शिनी ।
३. लाइबनीज ने भी Monadology में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया था ।

भी है—'प्रत्यवर्शात्मा चितिशक्तिः ।' परमात्मा से अभिन्न उसकी शक्ति के पाँच रूप है, जो निम्न हैं और वे आत्मस्वरूप भी हैं ।

विश्वात्मा-संवित् शक्ति की शक्तियाँ

चिति शक्ति	आनन्द शक्ति	इच्छा शक्ति	ज्ञान शक्ति	क्रिया शक्ति

परमात्मा की यह विश्वात्मारूप शक्ति मायाशक्ति में परिणत होकर अपने स्वरूप को विश्व के रूप में उद्भासित करके 'एक' से अनेकाकार बन जाती है—'प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।'[१]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्पलदेव कहते हैं कि 'स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।'

सारांश यह कि—

१. भेद एवं अभेद द्वैत एवं अद्वैत में भी विरोध नहीं सामरस्य है, अद्वैत अनुस्यूत है—अभेद (परमात्मा । परमात्म शक्तिरूप अद्वैत तत्त्व) भेद (अनेकात्मक । भेदात्मक जगत्) बनकर उपस्थित हो गया है ।

२. विश्व शिव एवं शक्ति से भिन्न न होकर उसी का स्वस्वरूप है, स्वात्मरूप है । दोनों में अद्वैत है ।

क्या एक एवं अनेक में कोई तात्त्विक भेद है?

एक एवं अनेक में भेददृष्टि का प्रत्याख्यान—स्पन्दशास्त्र एक एवं अनेक में अभेद मानता है । आचार्य शंकर अद्वैतवादी थे; किन्तु वे 'शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं' कहते हुए भी यह कह ही डालते हैं कि 'यद्यपि मुझमें एवं तुममें (परमात्मा में) तत्त्वतः तो कोई भिन्नता नहीं है तथापि 'मैं' तुम्हारा ही हूँ, तुम मेरे नहीं हो; क्योंकि समुद्र की तरंगें होती हैं, तरंगों का समुद्र नहीं हुआ करता'—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाऽहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो वै तरङ्गः न तु तारङ्गो वै समुद्रः ॥

न्यायशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र, मीमांसाशास्त्र एवं सांख्यशास्त्र तथा चार्वाक आदि सभी दर्शन यही मानते हैं कि परात्पर एक एवं अनन्त अनेक में इतने अन्तर हैं कि दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते; अतः इन दोनों की सत्तायें पृथक्-पृथक् हैं ।

रामानुजाचार्य का दर्शन है तो अद्वैतवादी (एक एवं अनेक में एकता मानने वाला) तथापि उनका विशिष्टाद्वैतवाद यह मानता है कि—

१. 'दूध' से पृथक् होकर जो दूध 'दही' बन जाता है, वह कभी पुनः 'दूध' नहीं बन सकता ।

---

१. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति

२. कारणस्वरूप दूध कितना भी चाहे, किन्तु अपने कार्यरूप दही को पुनः दूध नहीं बना सकता।

दही दूध का परिणाम है। जीव परमात्मा का परिणाम है। अतः जिस प्रकार दही (दूध से तत्त्वतः अभिन्न रहने पर) भी दूध नहीं बन सकता, उसी प्रकार जीव भी कभी परमात्मा नहीं बन सकता। विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्त का यही सिद्धान्त 'परिणामवाद' कहलाता है। स्पन्दशास्त्र की मान्यता है कि एक ही अनेक बनकर सर्वत्र फैला हुआ है—वह सर्वाकार है, सर्वरूप है, सर्वानुस्यूत है और सर्वव्यापक है।

सामान्य स्पन्दभूमिका (संवित् तत्त्व) ही समस्त प्रमेयस्वरूप विश्व के प्रत्येक पदार्थ के रूप में प्रवहमान है। शंका यह उठती है कि संसार की अनेकताओं—विचित्रताओं—अनन्त रूपों—में सर्वत्र अनेकाकारता ही तो सन्निविष्ट है, फिर संसार के अनेकत्वात्मक स्वभाव में शिवरूप एकत्व कैसे स्थित माना जाय? अनेकत्व में एकत्व कैसे स्वीकार किया जाय? स्पन्दशास्त्र कहता है कि प्रमेयस्वरूप अनेकाकारता 'अहंविमर्श' की एकाकारता में अनादि काल से अभिन्न रूप में अन्तर्निहित है। जो अनेकाकार वस्तु 'विमर्श' में (बीजरूप से) अवस्थित है, उसी का बाह्यावभासन ही तो 'अनेक' (अनेकाकार विश्व) है। यह छत्तीस तत्त्व ही तो विश्व है और यह छत्तीस तत्त्व 'एक' शक्ति का ही तो अपना रूप है।

१. अहमखिलं जगत् (अथर्ववेद)।

२. शिव एव विश्वस्य आत्मा (शि०सू०वि०)।

३. चितिः स्वतत्रा विश्वसिद्धिहेतुः (शक्तिसूत्र)।

४. ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्।

(अर्थात् जगत् भी चित्शक्ति से स्वल्पांश में भी पृथक् नहीं है।)

५. चिति शक्ति ही अनन्त जगत् के रूप में स्फुरित हो रही है। स्पन्दशास्त्र में 'कारण' एवं 'कार्य' भिन्न-भिन्न नहीं है। परा शक्ति ही कारण भी है और जगत् रूप कार्य भी है। इस दर्शन में यही 'कार्यकारणभाव' का स्वरूप है—'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति। इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः।'[१]

जगत् वाच्य-वाचकरूप में अवभासित होता है। प्रकाशात्मा शिव वाच्यात्मक विश्व के रूप में स्फुरित होते हैं और विमर्श 'अ' से 'ह' तक वाचक वर्णों के रूप में। शक्ति, अनुत्तर एवं अनाख्य परमशिवस्वरूप 'अकार' से 'हकार' तक वाचकों का विमर्शन करती है और साथ ही वह वाच्यात्मक शिव एवं प्रमेय जगत् से अभिन्न भी है और वही सबका कारण है—

१. तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वम्।[२]

२. पराशक्तिरूपा चितिः एव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना

१-२. आचार्यक्षेमराज : 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'

हेतु: कारणम् (प्र०हृ०)।

क्षेमराज इसी परा शक्ति को सदाशिव से भूमिपर्यन्त समस्त तत्त्वों एवं तत्त्वगर्भित विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं (परप्रमाता में विश्रान्तिस्वरूप) संहार का मूल कारण कहते हैं अर्थात् अनेकाकार जगत् एकस्वरूप शक्ति का ही आत्मप्रसार है या स्वविस्तार है। अत: अनेक भी एक ही है और एक भी अनेक है; अतएव एक एवं अनेक में ऐकात्म्य, एकरूपता एवं अभिन्नता है।

जो वस्तु विमर्श में बीजात्मना गुप्त रूप से अवस्थित रहती है उससे उसका मात्र बाह्यावभासन होता है (उसकी नव्य सृष्टि नहीं होती है) और यही बाह्यावभासन अनेकाकारता एवं अनेकाकार जगत् है। इसीलिए स्पन्दकारिका में कहा गया है—

यत्र स्थितमिदं सर्वं यच्च यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥

भट्टकल्लट कहते हैं कि यदि कोई यह पूछे कि जब निजी स्वभाव (शंकर) ही संसारी बनकर आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है तो उसको उस रूप में 'शिव' कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि अभेदभूमिका में तो यह समस्त विश्व अनादि काल से अहंरूप में अवस्थित ही है और उसी से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। उस सत्ता के स्वभाव—अहंविमर्शस्वरूप एकाकारता पर संसारी अवस्था में भी कोई आवरण नहीं पड़ा है; अत: उसके स्वतन्त्र प्रसार में कोई रूकावट नहीं पड़ सकती। यही कारण है कि उसको 'शिव' कहा जाता है।[१]

प्रश्न उठता है कि क्या कार्य बन जाने पर कारण (स्पन्द) का स्वरूप कार्य के रूप में आवृत्त हो जाता है और वह पुन: अपने कारणस्वरूप (स्वस्वभाव) को प्राप्त नहीं कर पाता? क्या उसकी सर्वव्याप्ति कार्य तक ही सीमित रह जाती है अर्थात् स्वस्वरूप का विस्तार सङ्कुचित हो जाता है? इसके उत्तर में भट्टकल्लट कहते हैं कि ऐसा नहीं है— 'संसार्यवस्थायामपि अनाच्छादितस्वभावत्वात् न क्वचित् निरोध: अत: शिवत्वमुच्यते'।[२]

स्पन्दात्मक विमर्शभूमि में समस्त प्रमेय पदार्थ विमर्श की कुक्षि में बीजरूप से एकात्मना (एकरूप होकर) अवस्थित रहते हैं।

प्रत्येक प्राणी के आन्तर विमर्श में भी उसके चिरपरिचित प्रमेय विमर्शरूप में ही अवस्थित रहते हैं। जिस प्राणी का विमर्श जितना व्यापक होता है, उसका उतना ही व्यापक संसार भी होता है। जो विमर्श में होता है, उन्हीं का बाहर अवभासन होता है—बाह्य जगत् तो आन्तर जगत् का ही बाह्यावभासन है। विशिष्टाद्वैती अद्वैतवाद में विश्वास रखते हुए भी कहते हैं कि अभेदज्ञान मिथ्याज्ञान है। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है और ईश्वर इसका प्रेरक है। यह भेद इनके स्वरूप में भी स्थित है; अत: जीवात्मा एवं परमात्मा की एकता (एक की अनेक के साथ अभिन्नता) एक मिथ्या कल्पना है।

---

१. स्पन्दसर्वस्व (भट्टकल्लट)
२. स्पन्दकारिकावृत्ति

विशिष्टाद्वैतवादी भी परिणामवाद मानते हैं और भेदाभेदवादी भास्कर भी परिणामवाद मानते हैं। भास्कर वेदान्तभाष्य में कहते हैं—'परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास ।'[१]

'स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थ परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति ।'

भास्कर मानते हैं कि संसारावस्था में जीव परमात्मा से भिन्न है; किन्तु मोक्षावस्था में यह परमात्मा में मिल जाता है; अतः जीव एवं परमात्मा में भेदाभेद दोनों है । दोनों में स्वभावतः अभेद रहते हुए भी संसाररूपी उपाधि के कारण भेद है । यही भास्कराचार्य का 'भेदाभेदवाद' का सिद्धान्त है । प्राचीन वेदान्तियों में 'आश्मरथ्य' एवं 'औडुलोमी' भी भेदाभेदवादी दार्शनिक थे ।

निम्बाकाचार्य भी अद्वैतवादी हैं; किन्तु वे यह मानते हैं कि जीवात्मा, परमात्मा एवं प्रकृति—तीनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं । जीव एवं प्रकृति परमात्मा के अधीनस्थ हैं; यथा तरंग समुद्र के अधीनस्थ है । इस प्रकार ये भेदवादी एवं अभेदवादी दोनों होने के कारण 'द्वैताद्वैतावादी' कहे जाते हैं ।

वल्लभाचार्य भी अद्वैतवादी हैं, किन्तु उनका मत है कि जीव भगवान् का अंश है ।[२] जीव और ईश्वर में स्वाभाविक भेद नहीं है । वे केवल अवस्था के भेद से दो प्रतीत होते हैं। जीव, ईश्वर एवं पुरुष—ये शब्द एक ही तत्त्व की भिन्न-भिन्न तीन आख्यायें हैं, 'जीव' पुरुषतत्त्व से भिन्न है, किन्तु ये दोनों चिद्रूप होने के कारण एक ही जाति के हैं । लौकिक दृष्टि से दोनों में भेद अवश्य है । 'शुद्धाद्वैतवाद' की यही दृष्टि है । द्वैतवादी माधावाचार्य आदि जीव एवं परमात्मा में भेद मानते हैं ।

उपनिषदों में कहा गया है कि एक ही अनेक बन गया । उस 'एक' ने सोचा कि 'मैं एक हूँ, मैं एक से अनेक बन जाऊँ'—'एकोऽहं बहु स्याम'—यह एक की अनेकरूपता ही जगत् है; अतः एक एवं अनेक में कोई भेद ही नहीं है ।

१. एकोऽहम्' (ज्ञान) ।

२. बहु स्याम' (इच्छा) ।

'शिवसूत्र' में कहा गया है कि स्वशक्ति का प्रचय ही विश्व है—'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ।'

जगत् 'शक्ति' के प्रचय (स्फुरण) का परिणमन है अर्थात् अनेक एवं एक में कोई भेद नहीं है ।

आचार्य शंकर की दृष्टियाँ—१. वेदान्ती (ब्रह्मसूत्रभाष्यकार) शंकर तो कहते हैं कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् कोई अन्य नहीं है । जीवत्वभाव 'विवर्त' है । इसी आधार पर शांकर मत को 'विवर्तवाद' का प्रतिपादक माना जाता है ।

२. गीताकार कृष्ण कहते हैं कि जीव और मुझमें अभेद तो नहीं है तथापि जीव मेरा अंश है और मैं अंशी हूँ—'ममैवांशो हि जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

---

१. वेदान्तभाष्य (१-४-२५) २. अणुभाष्य

वैदिक दृष्टि—अनेक एक का ही आत्मप्रसार है। वेदों में अनेक एवं एक में कोई भेद स्वीकार ही नहीं किया गया। यथा, वेदों में कहा गया है—

१. स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् (अ०वेद० १३।४।३)।

२. सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः (अ०वेद० १३।४।४)।

३. सोऽग्निः स उ सूर्य स उ एव महायमः (अ०वेद० १३।४।५)।

४. स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यमो दिवम् (अ०वेद० १३।३।१३)।

५. वेदों के भाष्यकार निरुक्तकार आचार्य यास्क निरुक्त के दैवतकाण्ड (सप्तम अध्याय) में कहते हैं कि इस जगत् के मूल में एक महाशक्तिशालिनी शक्ति अवस्थित है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर कहलाती है। वह एक एवं अद्वितीय है तथा उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है। उस एक आत्मा के ही ये सारे देवता अंगमात्र हैं—महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'[1]

६. तदेवाग्निस्तत्तादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः॥[2]

७. जो यह कहा जाता है कि 'उसका याग करो, उसका याग करो' इस प्रकार एक-एक देवता का याग बतलाते हैं वह इसी 'एक' की विसृष्टि है। ये सारे देवता एक हैं (उनमें परस्पर कोई भेद नहीं है)।

८. 'तद् यदिदमाहुः—'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम् एतस्यैव सा विसृष्टिः एष उ ह्येव सर्वे देवाः।'[3]

९. एक परम तत्त्व को ही विद्वान् तत्त्वज्ञ पुरुष अनेक रूपों में प्रपञ्चित करके प्रस्तुत करते हैं—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

अनेकता में एकता के इसी सत्य को अथर्ववेद में भगवती द्वारा देवताओं से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

१०. अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्त प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् शून्यं चाशून्यं च॥ २॥ अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्॥ ३॥ वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्॥ ४॥ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ॥ ५॥ अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि। अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥ ६॥

---

१. निरुक्त (७।४।८-९)   २. यजुर्वेद अ० ३२ मं०१

३. बृ० (१।४।६)

देवता 'अनेक' को उसी का रूपान्तर मानते हुए 'एक' के विषय में कहते हैं— 'सैषाष्टौ वसवः । सैषैकादश रुद्राः । सैषा द्वादशादित्याः । सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च । सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः । सैषा सत्त्वरजस्तमांसि । सैषा ब्रह्मविष्णु-रुद्ररूपिणी । सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः । सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि । कलाकाष्ठादिकालरूपिणी । तामहं प्रणौमि नित्यम् ।'[१]

सारांश यह कि वही परात्पर तत्त्व अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वेदेव, यातुधान, असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष, सिद्ध, गुणत्रय, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी कुछ है ।[२]

सृष्टि में शब्दतत्त्व की भूमिका

स्पन्दशास्त्र 'शब्दसृष्टिवाद' को स्वीकार करता है । व्यक्त एवं अव्यक्त अक्षरों की उत्पत्ति के साथ ही साथ प्रकाश की उत्पत्ति भी होती है । इसे एकाग्रता की साधना से देखा जा सकता है ।

प्रकाश और विमर्श ही सृष्टि के मूल तत्त्व हैं । शब्द इन्हीं का रूपान्तर है । शाब्दी सृष्टि और आर्थी सृष्टि—इन दोनों का मूल भी शब्द 'ॐ' है और ॐ 'शब्दब्रह्म' है । जहाँ शब्द है, शक्ति है, नाद है, वहाँ प्रकाश भी रहेगा । शब्द एवं प्रकाश का अविनाभाव सम्बन्ध है । ऊषाकाल में 'मध्यमा वाक्' से नामस्मरण करते हुए, जिस नाड़ी से योगश्वास प्रवाहित हो रहा हो, उस ओर अर्धोन्मीलित दृष्टि से ध्यान लगाने पर छः मास के अभ्यासोपरान्त अपनी श्वासगति के साथ आने वाली प्रकाशरश्मियों का दर्शन अवश्य हो जाता है ।

प्रकाश प्रत्येक अक्षर में अनुस्यूत है । मातृकाओं (अक्षरों के ऊपर बिन्दु लगाने पर जो रूप बनता है, उन्हें 'मातृका' कहते हैं; यथा—कं, खं, गं आदि) या अक्षरों के साथ प्रकाश अनिवार्य है ।

नाद के आविर्भाव के लिए गति अनिवार्य है । ऊष्णता के विना गति की उत्पत्ति नहीं होती । ऊष्णता, नाद एवं गति—तीनों परस्पर अवलम्बित हैं । जहाँ ऊष्णता होगी, वहीं गति होगी एवं जहाँ गति होगी, वहीं नाद होगा । ऊष्णता दृश्यरूप प्रकाश है ।

सृष्टि के पूर्व उत्पन्न स्फोट या महानाद से ही अक्षरोत्पत्ति हुई । शिव के डमरू से 'अइउण्' आदि अक्षर उत्पन्न हुए । ये अक्षर ही मातृकाएँ हैं । जीव की उत्पत्ति के साथ ही साथ नाद, अक्षर एवं प्रकाश उत्पन्न हुए ।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व एक स्फोट हुआ अर्थात् महानाद आविर्भूत हुआ । परब्रह्म की इच्छाशक्ति ही स्फोट है । महानाद उसकी क्रियाशक्ति है। नाद के आविर्भाव होने के लिए गति आवश्यक है और गति होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है ।

समष्टि सृष्टि की उद्भाविका वह कुण्डलिनी जो सहस्रार में परमशिव के साथ सामरस्यपूर्वक निवास करती है, 'महाकुण्डलिनी' कहलाती है । व्यष्टि में उसी को 'कुण्डलिनी' कहते हैं । सम्पूर्ण जगत् को सञ्चालित करने वाली कुण्डलिनी 'अव्यक्त कुण्डलिनी' है तो व्यष्टिरूप में

१-२. अथर्ववेद (अथर्वशीर्ष)

जीव को सञ्चालित करने वाली कुण्डलिनी 'व्यक्त कुण्डलिनी' है। 'कुण्डले अस्या: स्त इति कुण्डलिनी' जिसके कुण्डल हो, वह कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी के चारो ओर ब्रह्मनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी के चारो ओर चित्रिणी नाड़ी, चित्रिणी नाड़ी के चारो ओर वज्रनाड़ी, वज्रनाड़ी के चारो ओर सुषुम्णा नाड़ी एवं सुषुम्णा नाड़ी के दोनों ओर (या चारो ओर) 'इड़ा-पिंगला' नाड़ी—कुण्डलिनी के ये सभी कुण्डल ही तो हैं। कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी से होकर सहस्रार चक्र में पहुँचती है।

कुण्डलिनी शक्ति जैसे ही अव्यक्त से व्यक्त होती है, उससे एक वेग उत्पन्न होता है। उससे जो प्रथम स्फोट होता है, उसे ही 'नाद' कहते हैं। नाद से 'प्रकाश' होता है। प्रकाश का व्यक्त रूप 'महाबिन्दु' है। नाद के तीन भेद हैं—महानाद, नादान्त एवं निरोधिनी। 'बिन्दु' के भी तीन भेद हैं—

इच्छा	ज्ञान	क्रिया
सूर्य	चन्द्र	अग्नि
ब्रह्मा	विष्णु	महेश

जीव-सृष्टि में आविर्भूत नाद का अभिधान ही है—प्रणव (ॐकार) = शब्दब्रह्म। ॐकार→५२ मातृकाओं का आविर्भाव। ५२ मातृकायें—

५० मातृकायें अक्षरात्मक हैं।

५१वीं मातृका प्रकाशरूप है।

५२वीं मातृका प्रकाशप्रवाह है।

५२वीं मातृका ही १७वीं 'जीवनकला' कहलाती है। ५० मातृकायें लोम-विलोम से १०० हो जाती हैं। ये १०० मातृकायें ही कुण्डलिनी के १०० कुण्डल हैं। इन १०० कुण्डलों को धारण करने वाली यह कुण्डलिनी 'मातृकामयी कुण्डलिनी' कहलाती है।

सहस्रार चक्र में अव्यक्त नाद है। वही अव्यक्त नाद आज्ञाचक्र में आने पर ॐ (शब्दब्रह्म) के रूप में व्यक्त होता है। ॐकार से समुत्पन्न ५० मातृकाओं की अव्यक्तावस्था (या अव्यक्तावस्थान) सहस्रार में है। सहस्रार ही 'अकुल स्थान' भी कहलाता है। यही शिव-शक्ति का शौध भी है।

शक्ति व्यक्त है और शिव अव्यक्त है। अव्यक्त व्यक्त का पल्लू पकड़कर खड़ा होता है। परमशिव शक्ति के सहारे सृष्टि के रूप में व्यक्त होते हैं। ॐकार से सबसे पहले 'स्वर' और उसके बाद 'व्यञ्जन' उत्पन्न हुए। स्वर-व्यञ्जन का बीज ॐकार है।

चक्रों से ही मातृकाएँ तथा मातृकात्मक वर्णमाला उत्पन्न हुई है। शाब्दी सृष्टि का क्रम निम्नांकित हैं—

१. मूलाधार में 'परावाणी' (परावाक्) है।

२. प्रथमत: मन में 'वृत्ति' उठती है। फिर वृत्ति के ही सदृश 'विचार' उत्पन्न होते हैं। विचार प्रकट करने का मूल स्थान 'परावाक्' है।

३. विचार सूक्ष्म शब्द का रूप ग्रहण करता है । यह दिखाई भी पड़ता है । इसे ही 'पश्यन्ती वाक्' कहते है ।

१. परावाक् मूलाधार चक्र में व्यक्त होता है ।

२. पश्यन्ती वाक् मणिपूर चक्र में व्यक्त होता है ।

३. मध्यमा वाक् अनाहत चक्र में व्यक्त होता है ।

४. वैखरी वाक् विशुद्धि चक्र में व्यक्त होता है ।

पश्यन्ती के बाद जब वाक् अर्धवाक् के स्तर पर अनाहत चक्र में आता है तब उसे 'मध्यमा वाक्' कहते हैं । कण्ठगत होने पर यही शब्द स्पष्ट शब्दोच्चारण के स्तर पर 'वैखरी वाक्' कहलाता है ।

'शब्द' शक्तिस्वरूप या कुण्डलिनीस्वरूप हैं—'शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः ।'[१]

चक्रों से ही मातृकात्मक वर्णमाला उत्पन्न हुई है ।

'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' कहकर आगमिकों ने वर्णात्मिका कुण्डली को ही सृष्टिस्वरूपा कहकर जगत् को शब्द का 'परिणाम' एवं 'विवर्त' स्वीकार किया है । 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि कहते हैं—'अनादिनिधनं ब्रह्म' ।

'अकुल स्थान' (सहस्रार = सहस्रदल पद्म = महाबिन्दु) से आविर्भूत मातृकायें जिस-जिस स्थान में आकर व्यक्त हुई उन-उन मातृकाओं और उन-उन स्थानों का लोम-विलोम पद्धति से इस प्रकार चित्रांकन किया जा सकता है ।

	क्षं	
अं	अकुल	ळं
आं	महाबिन्दु	हं
इं	उन्मना	सं
ईं	समना	षं
उं	व्यापिका	शं
ऊं	शक्ति	वं
ऋं	नादान्त	लं
ॠं	नाद	रं
ऌं	रोधिनी	यं
ॡं	अर्धचन्द्रिका	मं
एं	बिन्दु	भं
ऐं	आज्ञा	बं
ओं	अन्तराल	फं

	क्षं	
औं	लम्बिका	पं
अं	विशुद्धि	नं
अः	अन्तराल	धं
कं	अनाहत	दं
खं	अन्तराल	थं
गं	अन्तराल	तं
घं	मणिपुर	णं
ङं	स्वाधिष्ठान	ढं
चं	आधार	डं
छं	विषुव	ठं
जं	कुल पद्म	टं
झं	कुला	ञं

१. योगकुण्डल्युपनिषद्

ऊपर प्रदर्शित २५ स्थानों के सम्बन्ध में लोम-विलोमात्मक श्लोक निम्नांकित हैं—

लोमश्लोक—

आधारनादसूत्रेण ध्यायेद्वर्णमणीन् क्रमात् ।
अकुलं च महाबिन्दुः उन्मना समना तथा ॥
व्यापिका शक्तिनादान्तनादरोधार्धचन्द्रिका ।
बिन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बिकाथ विशुद्धिका ॥
एकं ततोऽनाहतं द्वे मणिपूरं तथैव च ।
साधिष्ठानाधारके च विषुसंज्ञं कुलं तथा ।
कुलाथ चेति स्थानानां पञ्चविंशतिसंख्यका ॥

विलोम श्लोक—

कुलाथ कुलपद्मं च विषुवाधारसंज्ञकम् ।
स्वाधिष्ठानं मणिपुरमन्तरालद्वयं तथा ॥
अनाहतं चान्तरालं विशुद्धिश्चाथ लम्बिका ।
अन्तरालाज्ञा च बिन्दुरर्धचन्द्रा च रोधिनी ॥
नादो नादान्तशक्तिश्च व्यापिका समना तथा।
उन्मना च महाबिन्दुरकुलं च विलोमतः ॥[1]

	चक्र	दल	वर्णसंख्या
१.	मूलाधार चक्र	०४	०४
२.	स्वाधिष्ठान चक्र	०६	०६
३.	मणिपूर चक्र	१०	१०
४.	अनाहत चक्र	१२	१२
५.	विशुद्ध चक्र	१६	१६
६.	आज्ञा चक्र	०२	०२
	६ चक्र	**दल ५०**	**वर्ण ५०**

१. मूलाधार से आज्ञाचक्र तक ५० मातृकायें हैं और ५० दल हैं। ये मातृकायें लोम-विलोम मिलाकर १०० हैं।

२. सहस्रदल कमल में १००० दल हैं। १००० कैसे हैं? सहस्रार चक्र में २० विवर हैं, उनमें ५०-५० मातृकायें गिनी जायँ तो भी दलसंख्या १००० होती है। कुण्डलिनी सहस्रार में प्रकाशरूप में अवस्थित है।

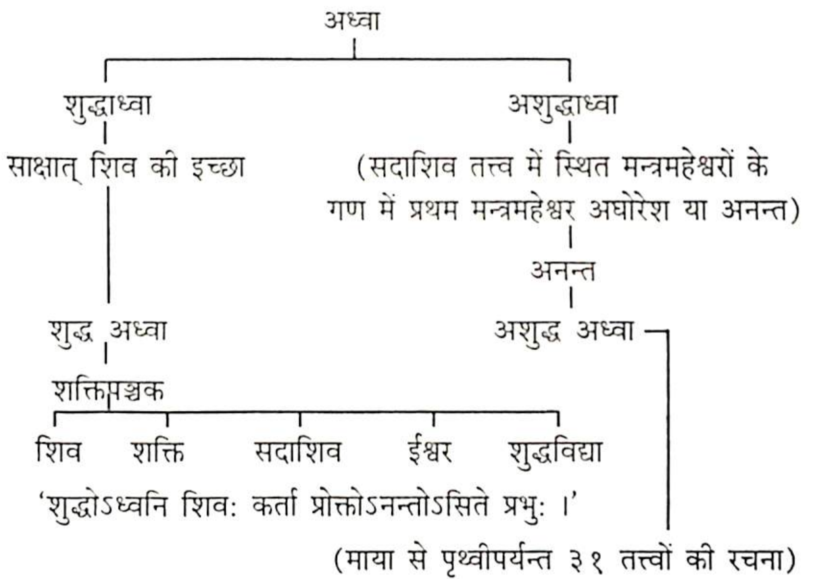
वेदान्त एवं स्पन्द में माया का स्वरूप

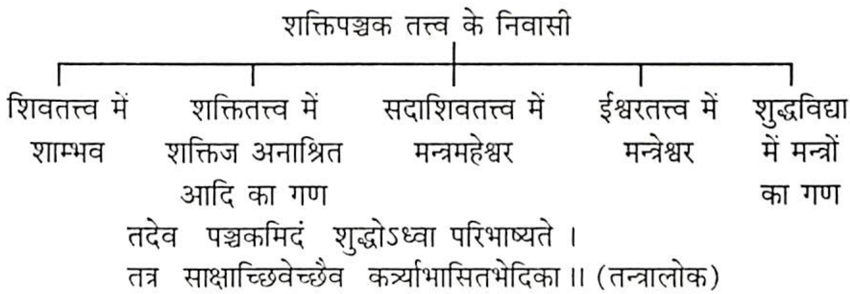
माया—वेदान्त की माया ब्रह्म में समवेत नहीं है। उसे न तो 'सत्' कह सकते हैं, न

१. योगांक (पृ० ३८९)

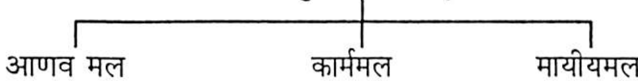
ही 'असत्' । उसे न तो 'सदसत्' कह सकते है और न ही उससे अतीत । स्पन्दशास्त्र के अनुसार 'माया' की सृष्टि महामन्त्रेश्वर 'अनन्त' करते हैं । माया क्या है? शिवसूत्रकार ने कहा है कि कलादिक तत्त्वों का अविवेक ही 'माया' है—'कलादीनां तत्त्वानां अविवेको माया ।'

माया अशुद्धाध्वा का प्रथम तत्त्व है ।





तदेव पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ॥ (तन्त्रालोक)



'मल' क्या है? संकुचित ज्ञान को ही 'मल' कहते हैं । शुद्धविद्यातत्त्व के नीचे और मायातत्त्व के ऊपर 'विज्ञानकेवली' प्रमाताओं का गण रहता है । अज्ञान नामक आणव रूप 'मूल मल' से युक्त होने के कारण ये 'शुद्धाध्वा' में प्रवेश नहीं कर सकते । 'कार्ममल' के अभाव होने से इनका 'अशुद्ध अध्वा' में गमन सम्भव नहीं होता ।

मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः ।

'विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यरहितमस्य इति विज्ञानकेवली ।'

उत्पलदेवाचार्य 'माया' का निम्न लक्षण बताते हैं—

१. माया भिन्नसंवेद्यगोचरा है ।

२. यह स्वात्मरूप विश्व को भेददृष्टि से प्रस्तुत करती है ।[१]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

क. मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिनामभिः ।। (१.४९)

ख. प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।[२]

३. माया चित्तत्त्व को आच्छादित करके उसे भिन्न रूप में प्रस्तुत करती है—

चित्तत्त्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः ।[३]

माया परमशिव की अपनी निजा शक्ति है; किन्तु उसका स्वरूप शंकराचार्य की माया से भिन्न है । माया के प्रति शांकर दृष्टि एवं स्पन्दीय दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है ।

माया की सबसे बड़ी विशेषता या शक्ति यह है कि यह अद्वैत, अद्वय, अभेद एवं अद्वितीय को भी द्वैत, द्वय, भेद एवं सद्वितीय के रूप में अवभासित करने की शक्ति रखती है और शिव के अद्वैतात्मक स्वात्मरूप को भेदात्मक बनाकर उसे विश्व के रूप में प्रस्तुत कर देती है—'प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।'[४]

मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचराः ।[५]

माया परमात्मा की क्रियाशक्ति है । 'क्रियाशक्ति' क्या है? चिद्वपु (चैतन्यशरीरी) एवं सर्वस्वतन्त्र परमात्मा (शिव) में सृष्टि-निर्माण (सृजन करने) की जो इच्छा है, वही जगत् के प्रति कारणता है और वही कर्तृतारूपा 'क्रियाशक्ति' है—चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना कर्तुमिच्छैव जगत्प्रति कारणता कर्तृतारूपा सैव क्रियाशक्तिः ।[६]

इस प्रकार चिद्रूप कर्ता शिव की चिकीर्षा (करने की इच्छा) ही मुख्य 'क्रिया' है । अकर्मा कभी कर्म नहीं करता । कर्मादिकों का उल्लेख उपचारदृष्टि से है—'एवं चिद्रूपस्यैकस्य कर्तुरिव चिकीर्षाख्या क्रिया मुख्या, नाकर्तृकं कर्मास्ति, कर्मादीनां कर्तृमुखेनोपचारात् ।'[७]

परमात्मा को कुछ करना नहीं पड़ता । वह पृथक् से कोई क्रिया नहीं करता; क्योंकि वह जो इच्छा करता है, वही उसका ज्ञान है और उसका जो ज्ञान है, वही उसकी क्रिया है । अतः परमात्मा में इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनों की एकता-सामरस्य एवं अद्वैतता है । स्पन्दशास्त्र माया को लीलापुरुष का स्वेच्छा परिगृहीत रूप मानता है । शांकर 'मायावाद' के अनुरूप यह कोई आकस्मिक पदार्थ नहीं है । यह परम तत्त्व का ही अपना रूपान्तरण या लीला-विग्रह है । परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा सर्वप्रथम स्वस्वरूप को आवृत करने वाली 'महामाया' को व्यक्त करता है । परिणामस्वरूप निर्मल व्योम की भाँति स्वच्छ आत्मा में संकोच का उदय होता है । यह संकोच परमेश्वर के 'स्वातन्त्र्य' का ही ह्रास है । इसे ही

१-३. प्रत्यभिज्ञाकारिका
४. उत्पलदेवाचार्य : 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति'
५-७. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति

तान्त्रिकों ने 'आणव मल', 'अज्ञान', 'अख्याति' कहा है। यह 'आणव मल' ही मुख्यतम 'बन्धन' है।

विश्व की अनेकात्मकता में भी एकात्मकता की सिद्धि हेतु शंकराचार्य ने भी 'प्रतिबिम्बवाद' स्वीकार किया है और स्पन्दानुयायी तान्त्रिकों ने भी। जगत् को शक्ति में दर्पणनगरवत् स्थित कहकर दर्पण की उपमा शंकराचार्य ने भी दी है और तान्त्रिकों ने भी; किन्तु आगमिक (स्पन्द आदि) शंकरघोषित माया के जड़ स्वरूप को जड़ न मानकर अपने दर्शन में उसे चिन्मयी शक्ति कहते हैं। शंकराचार्य की भाँति आगमिकों ने भी (अनेक तत्त्वों में से) 'माया' को भी एक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि वे (आगमिक) ब्रह्म, जीव एवं जगत् को शांकर दृष्टि से नहीं देखते। स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा ३६ या ३७ तत्त्व मानते हैं; किन्तु शंकराचार्य मात्र एक तत्त्व ब्रह्म को ही मानते हैं, शेष दो की सत्ता को व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक मानते हैं। दोनों में साम्य के भी बिन्दु हैं—

१. शंकराचार्य एवं स्पन्द दोनों ही सृजन-व्यापार माया द्वारा स्वीकार करते हैं।
२. दोनों मानते हैं कि माया संवित्तत्त्व को आवरण में डालकर उसके स्वरूप को आच्छादित कर देती है।
३. माया स्वरूप-विस्मृति के साथ अनात्मा में आत्मभाव एवं जगत् में द्वैतभाव का सृजन करती है।
४. भेदप्रथा को उन्मुख करने के कारण आगमिक भी माया को जड़ मानते हैं।
५. माया को दोनों ही उपादान कारण मानते हैं। जगत् उसी मायात्मिका शक्ति से उत्पन्न होता है।
६. माया को दोनों ही तिरोधान एवं विक्षेप (आवरण एवं विक्षेप) की जनयित्री मानते हैं।
७. दोनों दर्शन मानते हैं कि माया के कारण ही मुक्त स्वभाव एवं निरवच्छिन्न प्रकाशात्मा शिव 'जीव' बन जाता है।
८. दोनों दर्शन मानते हैं कि माया के कारण ही जीवभाव के उदित होने के परिणामस्वरूप शिवरूप जीव की समस्त शक्तियाँ (सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वज्ञातृत्व, पूर्ण तृप्ति आदि) संकुचित हो जाती हैं और उनके स्थान पर अल्पकर्तृत्व, संकुचित देशत्व, अनित्यत्व, अल्पज्ञत्व, अतृप्ति आदि का उदय होता है।
९. दोनों दर्शन माया को असत् नहीं कहते। आगमिक उसे सत् कहते हैं और शंकराचार्य उसे सत्-असत् से पृथक् 'अनिर्वचनीय' कहते हैं।
१०. दोनों दर्शन माया को ब्रह्म या परमशिव की शक्ति मानते हैं।

व्यावर्तक बिन्दु—शांकर वेदान्त एवं स्पन्द दर्शन की मायासम्बन्धिनी दृष्टियों में साम्य के बिन्दु के अतिरिक्त वैषम्य के भी बिन्दु हैं।

आगमिक, प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द के अनुसार—

१. मूल माया 'महामाया' है और माया उसी का स्थूल अंश है ।

२. माया के दो भेद हैं—विद्यामाया और अविद्यामाया ।[1]

३. माया अपने मूल स्वरूप ('महामाया' के रूप) में चिन्मयी नित्य शक्ति है ।

४. चिन्मयी मूल शक्तिस्वरूपा महामाया परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है और वह परमेश्वर के साथ अभिन्नतया समवेत रहती है । यह परमेश्वर की इच्छाशक्ति का नामान्तर है ।

५. जगत् इसी माया का आभास, परिणाम या अवस्थान्तरात्मक प्रकटीकरण है । यही जगत् का मूलोपादान है; किन्तु यह जड़ नहीं, चेतन शक्ति का रूप है ।

६. शंकर का ब्रह्म अकर्ता है और उसकी माया आकस्मिक है; किन्तु आगम का ब्रह्म कर्ता है और माया उसकी इच्छाशक्ति है; न कि कोई आकस्मिक पदार्थ ।

७. आगमिकों की माया मुक्ति भी प्रदान करती है—

क. तुष्टा सा परमा माया मुक्तिमात्रं प्रयच्छति ।
रुष्टा सा परमा माया भूमियोगं प्रयच्छति ॥
यस्य तुष्टा महादेवी मम माता महेश्वरि! ।
ददौ तस्यै च तां मुक्तिं महामाया च शाङ्करि ॥[2]

ख. तस्याः पदाम्बुजे देवि! वश्या मुक्तिः समाश्रिता ।[3]

माया लीलामय का स्वेच्छया स्वगृहीत स्वरूप है । स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा की माया-सम्बन्धिनी दृष्टि शांकर दृष्टि से पृथक् है । स्पन्दशास्त्र में माया भगवान् शिव की 'शक्ति' तो है ही; साथ ही यह परमात्मा में स्थित एक नित्य, समवायिनी एवं अभिन्न शक्ति है; यथा—चन्द्रिका चन्द्र में । इसके अतिरिक्त यह मिथ्या नहीं; प्रत्युत सत् है, यह जड़ नहीं चेतन है, यह निरानन्द नहीं आनन्दस्वरूपा है, यह मात्र बन्धनकारिणी नहीं बन्धन-मोचिनी भी है और साथ ही यह शिव की स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा है—'माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा ।' उसी के कारण ही यह विश्व भासित होता है—तन्निमित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते ।

माया और स्पन्द-सम्बन्धिनी दृष्टियाँ

डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि माया वेदान्तियों की 'ब्रह्म और जगत् में सम्बन्ध बता सकने की अशक्ति या अक्षमता' का नाम है । 'शिवसूत्र' में कहा गया है कि कला आदि तत्त्वों का अविवेक ही माया है—'कलादीनां तत्त्वानां अविवेको माया ।' यदि एक निर्गुण, निरञ्जन एवं निर्विकार ब्रह्म ही यथार्थ तत्त्व है तो यह जगत् आया कहाँ से? एक से अनेक

---

१. शाक्तदर्शनम् (हयग्रीव) २-३. योगिनीतन्त्र

का आविर्भाव हुआ कैसे? भेदशून्य से भेदों की सृष्टि हुई कैसे? इसका एक ही उत्तर है—माया। वेदान्त का कथन है कि जगत् के दो कारण हैं—तात्त्विक, अतात्त्विक और अनिर्वचनीय। अभेद का कारण है—'ब्रह्म' तथा भेद का कारण है—'अविद्या'। ब्रह्म जगत् का 'विवर्तकारण' है और विश्व के विवर्तो का कारण है—'अविद्या' या 'माया'। माया जगत् का उपादान कारण है। जगत् माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त है।

स्पन्ददर्शन की दृष्टि—एकरसात्मक अभेद तत्त्व में संकुचित अहन्ता की भेददृष्टि चाहे वह बुद्धिगत हो, चाहे शरीरगत या अन्य किसी संकुचित क्षेत्र में हो किन्तु यह मायाशक्ति का ही कार्य है—

भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृंभते॥[१]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि मलत्रय के निर्माण में प्रभु की इच्छा ही मायाशक्ति है—'तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते।'[२]

भिन्नवेद्यप्रथात्मक एवं जन्मभोगप्रद भेददृष्टि ही 'माया' है—'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।'[३] वस्तुतः माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति ही है। इसे परमेश्वर की 'स्वरूपगोपनात्मिका इच्छाशक्ति' भी कहते हैं—'माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छा-शक्तिः।[४] माया परमेश्वर की वह स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो भेददशा का अवभासन करती है—'परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते।'[५] 'अशुद्ध अध्वा' में मायाशक्ति उसके स्वयं प्रकाशस्वभाव का तिरोधान कर देती है और शून्य, बुद्धि, शरीर आदि अचिद् रूपों में उसके प्रमातृभाव को दृढ़ कर देती है—'मायाशक्तिः पुनरचिद् रूपे शून्यादौ प्रमातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयानभेदेनाभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते।'[६]

'परापर दशा' से नीचे की ओर स्पन्दन करता हुआ परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के प्रच्छादन की क्रीड़ा से भेददशा पर उतर कर सर्वप्रथम 'माया' का अवभासन करता है—

देवः स्वतन्त्रचिद्रूपः प्रकाशात्मास्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः॥[७]

अनात्म रूपों में आत्मभाव का परामर्श ही जीव का स्वरूप-विपर्यास है। इस स्वरूप-विपर्यास के दृढ़ हो जाने पर वह चिन्मय भावों को भी अपने से सर्वथा भिन्न जड़ रूप में देखने लग जाता है—ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढ़ौ तु मायाशक्तिः।[८]

चित्प्रमाता के प्रकाशस्वभाव एवं यथावस्तुस्वरूप परामर्श को आच्छादित कर देने के कारण माया शक्ति को 'विमोहिनी शक्ति' कहा गया है।[९]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२।३-१-८) २. प्रत्यभिज्ञाकारिका
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
४-७. तन्त्रालोक (भाग-३,६,२, ८।१३।१०३)
८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
९. 'मायाविमोहिनी नाम' (विज्ञानभैरव' का० ९५)

यह भी ध्यातव्य है कि मायाशक्ति का 'तिरोधान' उस 'विलय' का पर्यायवाची शब्द नहीं है, जो परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में एक कृत्य माना जाता है—'तिरोधान मत्र न विलयरूपं मन्तव्यं, यत् कृत्यपञ्चकमध्ये आगमेषु गण्यते ।'[१]

माया शक्तिस्वरूपा तो है, किन्तु इसके अतिरिक्त माया अपने एक रूप से समस्त 'जडाभास' का मूल कारण भी है, उसे ही 'मायातत्त्व' कहते हैं—'मायातत्त्वं विभु किल गहनरूपं समस्तविलयपदम् ।'[२]

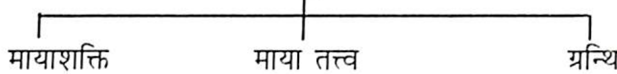
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ॥[३]

जिसमें 'मायातत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है और जो अविभक्त भेदावभास की आद्यावस्था है, उसे 'परानिशा' कहा गया है—

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परानिशा ॥[४]

माया भेददृष्टि उत्पन्न करने के कारण जडात्मिका भी कही गई है—'सा जडा भेदरूपत्वात् ।' इसमें परिच्छिन्न रूप से पदार्थों का प्रकाशन होता है और प्रकाश की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है । इसीलिए माया को जड़ भी कहा गया है—'सा जड़ा भेदरूपत्वात्' । समस्त विश्व का उपादान होने तथा सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण माया को 'व्यापिनी' भी कहा गया है—'व्यापिनी विश्वहेतुत्वात्' (तन्त्रालोक ६-९।१५२) । यह कार्यों की कल्पना करने के कारण 'सूक्ष्मा' तथा शिवशक्ति से अभिन्न नित्य एक होने के कारण 'मूल कारण' भी कही गई है ।

माया का त्रिपुटिका रूप



'स्वच्छन्दतन्त्र' की टीका (६।१२ पटल) में इसे ग्रन्थिरूपा कहा गया है । 'स्वच्छन्दतन्त्र' की टीका (५ भाग ५) में कहा गया है—'एवं मायास्तत्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम् । तत्र तत्त्वात्मकमशेषविश्वव्यापकाण्डरूपसन्निभं, ग्रन्थ्यात्मकं त्रिविधं, शाक्तं तु स्वातन्त्र्यशक्तिसारमेव ।'

माया का यह त्रिविध ग्रन्थ्यात्मक स्वरूप ही प्रमाता में संकुचित जीवस्वभाव उत्पन्न करती है ।[५] माया की ये तीन ग्रन्थियाँ उससे उद्भूत तीन पाश हैं, जिन्हें कि 'मलत्रय' (आणव मल, मायीय मल, कार्ममल) कहा गया है । इन पाशों की उत्पादिका होने के कारण ही इसे 'पाशानामुत्पत्तिभूः' कहा गया है ।

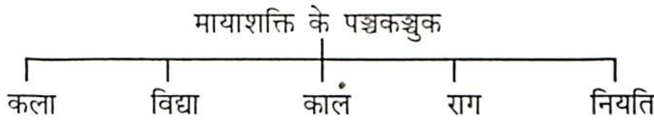
'काश्मीर शैवदर्शन' में माया शिव की एक व्यापिका एवं अभिन्ना शक्ति है, जिससे शिव भेदभूमिका पर अवतरित होकर भेदावभास की क्रीड़ा करता रहता है ।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी २-४. तन्त्रालोक (भाग-६)
५. स्वच्छन्दतन्त्र टीका

माया तिरोधानकारी भी है । वह अपनी अघटन घटना पटीयसी शक्ति (दुर्घट सम्पादन सामर्थ्य) के कारण शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप का तिरोधान कर देती है, जिससे वह अनवच्छिन्न प्रकाशरूप से परिच्छिन्न प्रकाशस्वरूप हो जाता है—'तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः ।' जो अपनी पूर्णता में 'शिव' है, वही संकोचग्रहण के कारण 'जीव' बन जाता है । अपनी स्वातन्त्र्य क्रीड़ा से परिगृहीत स्वसंकोच के द्वारा जब शिव जीव बन जाता है तब उसकी शक्तियाँ इस प्रकार संकुचित हो जाती है—

१. सर्वकर्तृत्व अल्पकर्तृत्व में, २. सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व में, ३. नित्यत्व अनित्यत्व में, ४. पूर्णत्व अपूर्णत्व में, ५. स्वातन्त्र्य (व्यापकता) संकुचित शक्ति के रूप में रूपान्तरित हो जाती है । इन्हें ही—कला, विद्या, काल, राग एवं नियति कहा गया है ।



मायोत्पन्न शक्ति का संकोच ही जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत करता है; अतः इसे आवरण शक्ति कहा जाता है । 'कंचुक' आवरण के ही अपर पर्याय हैं । माया की ये शक्तियाँ (कञ्चुक) जीवों का बन्धन या 'पाश' हैं । ये 'पाश' बाह्य बन्धन नहीं है; प्रत्युत ये जीव के अन्तरंग स्वभाव-संकोच के धर्म हैं—'मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ।'[१] कला, विद्या, राग, काल एवं नियति ही 'बन्धन' हैं—'कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते ।'[२] ये ही शिव में जीवत्वरूप संकोच लाते हैं—

सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्व्यः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य।
सङ्कोचात्सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम् ॥[३]

माया की चिद्रूपता, परा शक्तिरूपता एवं शिवशक्तिरूपता—शांकर दर्शन में कहा गया है कि माया मिथ्या है एवं अनिर्वचनीय है तथा ब्रह्म जगत् का 'विवर्त' एवं माया का 'परिणाम' है; किन्तु यह दृष्टि स्पन्ददर्शन को स्वीकार्य नहीं है ।

ब्रह्मवादी वेदान्तियों एवं स्पन्दानुयायियों तथा 'ईश्वराद्वय दर्शन' को मानने वाले दार्शनिकों में हर स्तर पर दृष्टि-भेद है और इसे आचार्य क्षेमराज भी स्वीकार करते हुए 'शक्तिसूत्र' में कहते हैं कि—'इह हि ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः ।'

आचार्य क्षेमराज ने 'शक्तिसूत्र' में माया एवं माया की पाँच शक्तियों (कञ्चुकों) को भगवती स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप माना है । आचार्य क्षेमराज 'शक्तिसूत्र' में कहते हैं कि जब चिदात्मा परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति को संकुचित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियाँ, असंकुचित होने पर भी संकुचित प्रतीत होती हैं; तभी जीव मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है और अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूप 'इच्छाशक्ति' संकुचित होकर अपूर्णम्मन्यतात्मक 'आणव मल' के नाम से कही जाती है ।

---

१. तन्त्रालोक टीका
२. अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका
३. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह

जब ज्ञानशक्ति क्रमशः संकुचित होकर भेददशा में सर्वज्ञता से अल्पज्ञत्व को प्राप्त करती है और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियता की प्राप्तिपूर्वक अत्यन्त संकोच ग्रहण करती है तब उसको देह आदि भिन्न-भिन्न वेद्यों का विकासरूप 'मायीय मल' कहते हैं ।

भेददशा में क्रमशः जब क्रियाशक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होती है तथा कर्मेन्द्रियरूप संकोच ग्रहण करके अत्यन्त परिमित हो जाती है तब उसे ही शुभ और अशुभ कर्मयुक्त 'कार्म मल' कहा जाता है और सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ जब संकुचित होकर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल एवं नियति के रूप में भासित होती हैं, तब आत्मा की शक्तियों से दरिद्र होकर 'संसारी' कहा जाता है और अपनी शक्ति की विकासदशा में तो वह 'शिव' ही है—'अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।'

संसारी दशा में भी आत्मा शिव के सदृश ही कार्य किया करता है—'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति (शक्तिसूत्र—१०) । जिस प्रकार भगवान् 'अशुद्ध अध्वा' के विकास-क्रम से स्वरूप-विकासात्मक सृष्टि आदि की रचना करते हैं, उसी प्रकार चित् शक्ति के संकुचित होने पर 'संसार भूमिका' में भी पञ्चकृत्यों का निष्पादन करते हैं ।[१]

सारांश यह कि माया के 'पञ्चकञ्चुक' एवं 'माया शक्ति' भी चिद्रूपा शैवी शक्ति से भिन्न नहीं है; क्योंकि—'सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति ।'[२]

'स्पन्ददर्शन' में जगत् को परमशिव का परिणाम या विवर्त नहीं; प्रत्युत 'आभास' माना गया है । स्पन्दशास्त्र वेदान्त के विवर्तवाद एवं परिणामवाद—दोनों को स्वीकार नहीं करता; वह 'आभासवाद' मानता है और जगत् को जड़ एवं मिथ्या शांकरी माया का जृम्भण नहीं; प्रत्युत चिदात्मिका शैवी शक्ति का स्वरूप मानता है । यहाँ माया स्वरूपतः चिन्मयी है (शांकर अद्वैत की 'माया' की भाँति जड़ नहीं है) । यहाँ 'माया' शांकर वेदान्त की माया की भाँति ब्रह्म से भिन्न नहीं; प्रत्युत उससे अभिन्न है और उसकी स्वसमवायिनी आत्मशक्ति है । वेदान्त की माया मिथ्या है; किन्तु स्पन्द की माया शक्ति परमशिव की चिद्रूपिणी, नित्य स्वसमवेता, स्वाभिन्ना वह नित्या पराशक्ति है, जो परमशिव से उसी प्रकार अभिन्न है; यथा—चन्द्रमा से उसकी चन्द्रिका । शांकर वेदान्त की माया ब्रह्म में समवायिनी शक्ति बनकर स्थित नहीं है ।

'स्पन्ददर्शन' में कहा गया है कि परमशिव ही जगत् के मूल हैं और वे अपनी पाँच शक्तियों—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति—की सहायता से स्वात्मभूत भित्ति पर जगत् को चित्रित करते हैं—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।' शांकर वेदान्त के ब्रह्म की माया ब्रह्म के भीतर अपनी भित्ति पर विश्वोन्मीलन नहीं करती । ब्रह्म की आत्मशक्ति के भीतर जगत् की विद्यमानता की बात वेदान्त मानता ही नहीं ।

शांकर वेदान्त की दृष्टि में माया मिथ्या है; अतः उसकी सृष्टि भी मिथ्या है । 'स्पन्दशास्त्र'

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

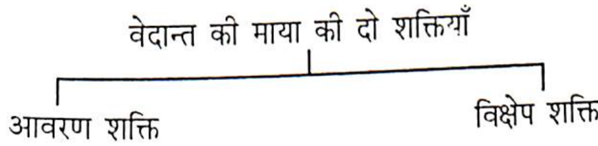
की दृष्टि से माया भी महामायारूप चिद्रूप स्वातन्त्र्य शक्ति (विमर्श) का रूप है । अत: सत्य है, विवर्त नहीं है । स्पन्दशास्त्र की दृष्टि में जगत् 'आभास' है । इसे ही स्पन्दशास्त्र 'आभासवाद' कहता है । आभासवाद यह मानता है कि जगत् के जड़-चेतन पदार्थ मिथ्या या असत् नहीं है । वे न तो 'परिणाम' हैं और न ही 'विवर्त'; प्रत्युत वे 'आभास' हैं— 'आभासरूपा एव जड़चेतनपदार्था: ।'

स्पन्ददर्शन का परमशिव जब सृष्टि करना चाहता है तब अपने को दो भागों में विभक्त कर लेता है—शिव एवं शक्ति । शिव प्रकाशरूप है और शक्ति विमर्शस्वरूप । शिव-शक्ति के आन्तर निमेष को 'सदाशिव' एवं बाह्य उन्मेष को 'ईश्वर' कहते हैं—'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव:' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा) ।

वेदान्त के ब्रह्म की न तो इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि शक्तियाँ ही हैं और न तो जगत् उसका आत्मविभक्त स्वरूप ही है । वेदान्त के माया की दो शक्तियाँ हैं—आणवशक्ति एवं विक्षेप शक्ति । स्पन्दशास्त्र के माया की पाँच शक्तियाँ हैं—कला, विद्या, राग, काल, नियति । ये वेदान्त में उल्लिखित नहीं हैं । वेदान्त का ब्रह्म माया या अज्ञान के कारण 'जीव' बना हुआ है; किन्तु स्पन्ददर्शन का शिव आणव मल, मायीय मल एवं कार्ममल के कारण 'पशुपति' से 'पशु' बन गया है ।

वेदान्त का जीव अज्ञान या अविद्या की अचिन्त्य महाशक्ति के प्रभाव से विवश होकर अपना 'ब्रह्मत्व' भुला बैठा है और उसने जीवत्व की उपाधि धारण कर ली है; किन्तु स्पन्द का शिव लीलावश आत्मगोपन की क्रीड़ा द्वारा स्वेच्छया 'जीवत्व' ग्रहण किये हुए है । जीवत्व ग्रहण शिव की स्वेच्छा गृहीत एक अभिनय लीलामात्र है ।

वेदान्त की माया एवं स्पन्द की माया में भेद—



शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ॥[1]

माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करती है तथा विक्षेप शक्ति से प्रपञ्च को उत्पादित करती है । पञ्चदशीकार कहते हैं कि माया की दो शक्तियाँ हैं—विक्षेपशक्ति और आवरण शक्ति । विक्षेप शक्ति सूक्ष्म से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् का सृजन करती है और आवरण शक्ति द्रष्टा एवं दृश्य तथा ब्रह्म एवं सृष्टि को भेदावरण से आच्छादित करती है और वही संसार का कारण है—

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयो: ।
आवृणोत्यपरा शक्ति: सा संसारस्य कारणम् ॥

१. पञ्चदशी

विक्षेप शक्ति—कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैः
व्यथयति हिमझंझावायुरूपो यथैतान् ।
अविरततमसाऽऽत्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ॥

आवरणशक्ति—अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या
स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा
तमोभयो राहुरिवार्कबिम्बम् ॥

अर्थात् जैसे घने मेघों से दिन में सूर्य से ढक जाने पर शीतल एवं प्रचण्ड वायु जगत् को सुखी करती है, वैसे ही बलवती विक्षेप शक्ति घोर अज्ञान के द्वारा आत्मा के आच्छादित हो जाने पर मूढ बुद्धि को अत्यधिक दुःख देती है । अखण्ड, नित्य एवं अद्वय बोधशक्ति से देदीप्यमान अनन्त वैभवसम्पन्न आत्मा का आवरण अज्ञानमयी आवरण शक्ति उसी प्रकार करती है, जैसे कि राहु सूर्य को आच्छादित करती है ।[१]

स्पन्दशास्त्र में आवरण डालने वाली पाँच शक्तियाँ हैं । ये ही 'कञ्चुक' पदवाच्य हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. कला का स्वरूप—

सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्व्यः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
सङ्कोचात्सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येनम् ।
तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥[२]

२. विद्या का स्वरूप—

सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥

३. राग का स्वरूप—

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती ।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता ॥

४. काल का स्वरूप—

सा नित्यताऽस्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण ॥

५. नियति का स्वरूप—

याऽस्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥

---

१. विवेकचूड़ामणि
२. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

६. **प्रकृति का स्वरूप**—

इच्छादित्रिसमष्टि: शक्ति: शान्ताऽस्य सङ्कुचद्रूपा ।
सङ्कलितेच्छाद्यात्मकसत्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती ।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृति: ।।

७. **इच्छा**—इच्छाऽस्य रजोरूपाऽहंकृतिरासीदहम्प्रतीतिकरी ।

८. **ज्ञान**—ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धि: ।

९. **क्रिया**—तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी ।

क. काल—वेद्यरूप वस्तुओं में स्वरूप-संकोच आने से कोई वस्तु पहले और कोई पीछे और कोई उसके अनन्तर अवभासित होने लगती है । यही पौर्वापर्य का क्रम 'काल' है । इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति 'कालशक्ति' है (क्रमं च 'कालो' सेयम् इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्ति: भगवत: कालशक्ति: इत्युच्यते ।'—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' भाग-२) ।

ख. विद्या—माया के द्वारा स्वरूप-संकोच हो जाने पर उस प्रमाता की सर्वज्ञता (ज्ञानशक्ति) संकुचित हो जाती है । इस संकुचित ज्ञानशक्ति को ही 'विद्या' कहते हैं । प्रमेयों को अपने से भिन्न समझने वाला संकुचित ज्ञान अशुद्ध विद्या (किञ्चिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा—ई०प्र०वि०) या विद्या कहलाता है ।

ग. कला—जिस समय माया से मितात्मा (जीव) का पूर्ण प्रकाशस्वरूप तिरोहित हो जाता है, उस समय उसकी (ज्ञानशक्ति के साथ) क्रियाशक्ति भी संकुचित हो जाती है और उसका सर्वकर्तृत्व किञ्चित् कर्तृत्व में रूपान्तरित हो जाता है । उसके इस 'किञ्चित्कर्तृत्वो-पोद्बलनमयी' शक्ति को ही (किञ्चित्कर्तृत्व लक्षण क्रिया शक्ति को ही) 'कला' कहा जाता है । यह माया की प्रथम सृष्टि है । कहीं-कहीं काल को ही प्रथम माया-कार्य माना गया है ।

तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ।।

घ. राग—माया के द्वारा स्वरूप-संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर-जैसी वस्तु को 'अहं' और किसी वस्तु को 'मम' समझने लगता है । जिसे 'अहं' या 'मम' समझता है, उसे गुणशालिनी मानने लगता है । मितात्मा के शरीरादि प्रमातृभाव एवं प्रमेय में गुणारोपणयुक्त आसक्ति ही 'राग' है (ई०प्रत्य०विम०) । राग तत्त्व बुद्धितत्त्व से ऊपर का तत्त्व है । यह 'राग' नामक कञ्चुक मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरञ्जित करता है—'रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि' (मालिनीविजयोत्तर तन्त्र) ।

ङ. नियति—कौन-सी वस्तु मितात्मा का प्रेय बने एवं कौन-सी न बने—इस नियम की नियामिका होने के कारण ही इसे 'नियति' कहते हैं । नियति ही जीवों के सुख-दुःख आदि का नियन्त्रण करती है ।

१. नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः (पराप्रवेशिका)।

२. नियच्छति भोगेषु अणूनिति नियतिः (तन्त्रालोक टीका, भाग-६)।

माया और प्रकृति—सांख्य शास्त्र के अनुसार संसार का मूल कारण 'प्रकृति' है। यह किसी की 'विकृति' नहीं है और नित्य है। यह 'पुरुष' से पृथक् है। पुरुष एवं प्रकृति दोनों पृथक्-पृथक् नित्य तत्त्व हैं।

स्पन्दशास्त्र का कथन है कि प्रकृति अपने मूल रूप में माया, महामाया एवं शक्ति का स्वरूप होने के कारण नित्य है, चेतन है, सृष्टि-उद्भाविका है, सृष्टि का मूल है और शिव की आत्मभूता शक्ति का एक रूप है; किन्तु सांख्य एवं वेदान्त प्रकृति एवं माया के विषय में यह दृष्टि नहीं रखते।

सांख्य प्रकृति, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि की बात तो करता है, किन्तु कहीं भी 'माया' का नाम नहीं लेता। वेदान्त एवं स्पन्द प्रकृति तथा माया दोनों की विवेचना करते हैं। सांख्य की प्रकृति जड़ है और वेदान्त की माया भी अचेतन है; किन्तु स्पन्द की महामाया चेतन है। यह शिव की प्राणभूता, समवायिनी एवं अभिन्ना आत्मशक्ति है।

सांख्य की प्रकृति एवं स्पन्द की माया बन्धन का भी कारण है और मुक्ति का भी। स्पन्द की माया को जो जान लेता है उसके लिए वह (बन्धनकारिणी) माया रह ही नहीं जाती। सांख्य की प्रकृति जब किसी के द्वारा (विवेक ज्ञान के साथ) देख ली जाती है तो वह भी पुरुष के सामने कभी नहीं आती। दोनों का लक्ष्य है—पुरुष या मितात्मा की मुक्ति।

शंकराचार्य ने माया की बात तो कही, किन्तु 'अविद्या' की बात नहीं कही। स्वामी विद्यारण्य ने कहा कि—

क. सत्त्व-रजस् एवं तमस्—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। प्रकृति के दो भेद हैं—माया एवं अविद्या।

ख. रजस् और तमस् की मलिनता से रहित; अतः विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'माया' कहते हैं और मलिन सत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'अविद्या' कहते हैं।

ग. माया से आच्छन्न ब्रह्म = ईश्वर।

घ. अविद्या से आच्छन्न ब्रह्म = जीव।

ङ. अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरणशक्ति एवं विक्षेपशक्ति।

च. आवरणशक्ति से तत्त्व ढक जाता है और विक्षेपशक्ति से उस तत्त्व के स्थान पर अतत्त्व के अध्यारोपस्वरूप 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' का विकल्प उत्पन्न हो जाता है; यथा—रज्जु में सर्पभ्रान्ति।

छ. रज्जु के स्वरूपज्ञान का आवरण = आवरणशक्ति; रज्जु में सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाना = विक्षेपशक्ति।

चिदानन्दमयं ब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ।[१]
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ।[२]

आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती है ।

विक्षेप शक्ति ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च उत्पन्न कर देती है ।

रस्सी का अज्ञान अपनी शक्ति से रस्सी में साँप उत्पन्न कर देता है । उसी प्रकार माया अपनी शक्ति से आत्मा में आकाशादि पूर्ण जगत् उत्पन्न कर देती है । इसी शक्ति का नाम है—माया की विक्षेप शक्ति । आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती है; यथा—मेघखण्ड सूर्य को । वस्तु से उसके यथार्थ स्वरूप को छिपा लेना 'आवरण' है और उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना 'विक्षेप' है । यही जादू के खेल में भी होता है । माया का कार्य है—भ्रमोत्पादन ।

वेदान्त की माया बन्धन तो उत्पन्न करती है; किन्तु मुक्ति नहीं देती । सांख्य एवं स्पन्द की प्रकृति एवं माया दोनों कार्य करती है ।

प्रकृति और माया

बन्धन	बन्धन	मुक्ति
(वेदान्त की माया)	१. सांख्य की प्रकृति	१. सांख्य की प्रकृति
	२. स्पन्द की माया	२. स्पन्द की माया

आत्माश्रित अज्ञान आत्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप को आच्छादित करके उसमें अपनी विभ्रम शक्ति से आत्मतत्त्व को जीव, ईश्वर एवं जगत् की आकृतियों में विक्षिप्त कर देता है—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम्
जीवेश्वरश्च जगदाकृतिभिर्मृषैव ।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥[३]

आचार्य शंकर जगत् को मिथ्या मानते हैं ।

जगत् का मिथ्यात्व—आचार्य शंकर (अद्वैत वेदान्त) 'संसार मिथ्या है' इसे सिद्ध करने हेतु निम्न तर्क देते हैं—

१. जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा ।
२. दृश्यत्वादिति हेतुः ।
३. स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः ।

---

१. पञ्चदशी
२. पञ्चदशी (१.१५, १.१६)
३. संक्षेपशारीरक (१।२०) (श्री सर्वज्ञ मुनि)

४. यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः ।[१]

५. तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम् ।

माया के भेद—'मूला विद्या' और 'तूला विद्या'—

१. जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण 'मूला विद्या' ।

२. जगत् के व्यवहार में भी सत्य-असत्य, भ्रम-यथार्थ ज्ञान भ्रान्ति-(भ्रान्तिनिरास से उत्पन्न) यथार्थ बोध तो होता है । इसका कारण 'तूला विद्या' है । तूला विद्या है—व्यावहारिक अज्ञान । शुक्ति में रजत् का ज्ञान या रजत के अध्यास का कारण है—'तूलाविद्या' । ब्रह्म में शुक्ति (सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत्) का अध्यास 'मूलाविद्या' है । 'तूलाविद्या' का नाश तो सत्तर्क, विज्ञान, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सहायता से होता है, किन्तु 'मूलाविद्या' का निरास ब्रह्मज्ञान से ही होता है । उपाधिसहित चैतन्य का आच्छादन करने वाली अविद्या का नाम ही है—'तूलाविद्या' । वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' के मंगलाचरण में कहा है कि ब्रह्म दो प्रकार की अविद्याओं से सहचरित है । वे ये ही दो अविद्यायें हैं ।

शुद्ध सत्त्वप्रधान 'माया' है । मलिन सत्त्वप्रधान 'अविद्या' है । माया ईश्वर की उपाधि है और अविद्या जीव की उपाधि है—

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिको खलु ।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

अविद्या से संसक्त होकर अविद्या की उपाधि से ब्रह्म विशुद्ध चैतन्यस्वरूप 'जीव' बन जाता है । ईश्वर में अविद्या नहीं है, किन्तु अविद्या ही जीव का जीवन है । अविद्या में रजोगुण एवं तमोगुण का प्राधान्य है और सत्त्वगुण की न्यूनता है—'मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या ।'

जगत् का उपादान कारण है—'ईश्वर' और विवर्तोपादान है—'ब्रह्म' । रस्सी सर्प का विवर्तोपादान कारण है ।

शांकर अद्वैत में अपरोक्षानुभूति ही 'मोक्ष' है । शंकर जीव को ब्रह्म से अपृथक् मानते हैं; अतः वे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्ति भी नहीं मानते । देहात्मभाव का त्याग करके स्वस्वरूप में अवस्थान ही 'मोक्ष' है । अपने विस्मृत स्वस्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है । मोक्ष आत्मस्वरूप है । मोक्ष द्वैत का नाश नहीं, द्वैत भावना का नाश है । इसके लिए वेदान्त श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को साधन स्वीकार करता है । ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही मोक्ष है । अज्ञान-निवृत्ति ही मुक्ति का स्वरूप है ।

स्पन्दशास्त्र में माया का स्वरूप—स्वातन्त्र्य शक्ति सर्वतोमुखी एवं परम सामर्थ्यशालिनी है । वह स्वेच्छा से अपने स्वरूप पर अख्याति (अपूर्ण ज्ञान) का आवरण डालकर अपने विश्वाहं विमर्श में अभेदरूप में अवस्थित विराट को अपने से भिन्न रूप में अवभासित करके उसकी सृष्टि-स्थिति एवं संहार का व्यापार निष्पादित करना, स्वयं ही आवरण बनकर अपने

---

१. शंकराचार्य : माण्डूक्यकारिका : वैतथ्य प्रकरण (भाष्य)

ही पूर्ण रूप को अपूर्ण बनाना और अपने भेदहीन स्वरूप मे भेद का सूत्रपात करना जिसका कार्य है, वही शक्ति 'मायाशक्ति' है।

मायाशक्ति एक सर्वव्यापक, सूक्ष्म, खण्डो या भागों से हीन, समग्र संसार को अपने गर्भ में धारण करने वाली, अनादि, अनन्त, अकल्याणकारी होने पर भी स्वातन्त्र्यपूर्ण एवं विकाररहित है—

> सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः ।
> अनाद्यन्ता शिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥ (मा०वि० १.२६)

जो परम स्वातन्त्र्य है और जो महेश की दुर्घटसम्पादन की शक्ति है, वही शिव का स्वात्मावरण 'मायाशक्ति' है—

> परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य ।
> देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ (प०सा० १५)

माया भगवान् की अव्यतिरेकिणी शक्ति है। यह भेदावभासन के दुर्घट व्यापार में स्वतन्त्र है—

> माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
> भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथापि स तया कृतः ॥ (तं० ९.१४९-५०)

महामाया या मायाशक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति की वह अवस्था है, जिसमें अहन्तारूप में अवस्थित इदन्ता को भेदरूप में अवभासित करने की ओर केवल प्राथमिक संकल्पात्मक स्फुरणा या उन्मुखतामात्र होती है और अभी 'इदन्ता' का पृथक् रूप में विभाग नहीं हुआ होता है। यह आन्तर विमर्श में भेदावभास के उपक्रम के सूक्ष्म आसूत्रणमात्र की अवस्था है। यहीं से स्वातन्त्र्य में संकोचरूप मलत्रय का भी प्रारम्भ होने लगता है। यही आद्य भेदावभास करने वाली और मौलिक रूप में समस्त विश्व को अपने गर्भ में स्थित रखने वाली है मूल 'मायाशक्ति' है—

> आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
> गर्भीकृतानन्तभावि विभागा सापरा निशा ॥ (तं०)

मायाशक्ति के गर्भ में भविष्यवर्ती 'इदन्ता' का (सारे स्थूल विश्व का) भेदपूर्ण वैचित्र्य उसी प्रकार अन्तर्निहित रूप में अवस्थित होता है, जिस प्रकार सेम की फली के गर्भ में असंख्य बीज पृथक्-पृथक् होकर भी बाहर से कहीं भी दिखाई नहीं देते हैं—'बहिर्मुखतया भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवदस्यां गर्भीकारोऽस्ति (तं०वि० ९.१५१)।

मायातत्त्व क्या है? शुद्धविद्या से नीचे पृथ्वी तत्त्व तक के 'अशुद्धाध्व' में मायाशक्ति का जो रूप है, वही है—'मायातत्त्व'। इस अवस्था में 'अहन्ता' का सम्पूर्ण तिरोधान हो जाता है। मायाशक्ति के कारण 'इदन्ता' अहन्ता से पूर्ण भिन्न होकर स्थूल देह एवं प्राण इत्यादि का रूप जड़ बन जाता है। स्वरूप पर सम्पूर्ण आवरण पड़ जाने के कारण शक्ति का रूप भी जड़ बन जाता है। वह जड़ तत्त्व का ही रूप धारण करके जड़ कार्यवर्ग का कारण बन जाती है। इस अवस्था में उसे 'मायाशक्ति' न कहकर 'मायातत्त्व' कहा जाता

है। मायाशक्ति अपूर्णता द्वारा स्वरूप का हनन करती है—'अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिरुच्यते।' भेदात्मकता के कारण ही इस शक्ति को 'जड़' कहा गया है—'सा जड़ा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यत: (ई०प्र० ३.१.७)। 'अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् 'इदमत्र इदानीं भाति' इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति (तं०वि० ९.१५२)।

स्वातन्त्र्यशालिनी शक्ति होकर भी देश, काल एवं आकार की सीमाओं से वह संकुचित बन जाती है।

मायाशक्ति के द्वारा जो संकोच उत्पन्न किया जाता है, उसमें सर्वप्रथम सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, पूर्ण तृप्ति आदि पाँच स्वतन्त्र शक्तियाँ किञ्चित्कर्तृत्व, किञ्चित् ज्ञातृत्व, अपूर्णत्व, अनित्यत्व एवं अव्यापकत्व में परिणत कर दी जाती हैं। इन संकुचित शक्तियों के शास्त्रीय नाम क्रमश: कला, विद्या, राग, काल और नियति हैं। इस दशा में ये स्वतन्त्र शक्तियाँ न रहकर पाँच प्रकार के बन्धन बन जाती हैं और संसारी पशु बन जाता है।

तत्त्वरूपा माया—

१. जिसके गर्भ में समस्त प्रपञ्च स्थित है, वह माया है—'मात्यस्यां विश्वमिति' (तं०वि०)।

२. जिसे योगी हेय मानकर अपने से पृथक् कर देते हैं, वह है—'माया'—'मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभि:' (तं०वि० ९.१५२)।

३. जो स्वयं 'मा' शब्द से वाच्य निषेध (विनाश) का विषय नहीं बनती है अर्थात् जो नित्य है, वही 'माया' है।[१]

४. जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध में सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थित रहती है—'सर्वत्र मातीति'।[२]

५. जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वरूप में अवस्थित समस्त विश्वसत्ता को (अखिल भावराशि को) अपने से भिन्न रूप में स्थापित करता है—'स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति।'[३]

६. माया अकल्याणकारिणी भेदप्रसू है—'अशिवा भेदप्रथासारा'।

केवल अनुत्तरतत्त्वस्वरूप परमशिव पर ही इसका प्रभाव नहीं है, अन्यथा सर्वत्र है। यह सौ-सौ टुकड़ों में काटी जाने पर भी काटती रहती है—'उन्मूलितापि शतश: खण्डितापि सहस्रश: गोनासेवाप्रथोदेति द्रागत्र शरणं शिव:।' इसी के पाश में पड़ने पर काल, कला, नियति, राग एवं विद्या के वशीभूत होकर ज्ञानी मितात्मा भी 'पशु' बन जाता है—

मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिन: पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन सम्बद्ध:॥[४]

---

१. माशब्दवाच्याद्विनाशरूपान्निषेधात् यातेति।
२-३. तं० वि०
४. प०सा० (१६)

वस्तुत: माया के दो रूप हैं । एक है—शक्तिरूपा माया और दूसरी है—तत्त्वरूपा माया । शक्तिरूपा माया 'महामाया' (मायाशक्ति) है और तत्त्वरूपा माया 'मायातत्त्व' है ।[१]

महामाया और मायातत्त्व में भेद—

१. महामाया शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का वह स्फुरणोन्मुखी स्वरूप है, जो कि अहन्ता में अवस्थित संपूर्ण इदन्ता भावमण्डल को भेदरूप में अवभासित करने की ओर मात्र आद्य संकल्पात्मक उन्मुखता (स्फुरणा) की ओर अग्रपद हो रही है, किन्तु अभी तक उससे 'इदन्ता' का पृथक् रूप से विभाजन नहीं हुआ होता । यह आन्तर्विमर्श में भेदावभास के आरम्भ का आसूत्रणमात्र है । इसी स्वर से 'स्वातन्त्र्य शक्ति' में संकोचात्मक मलत्रय का आरम्भ होता है—'मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ।'[२]

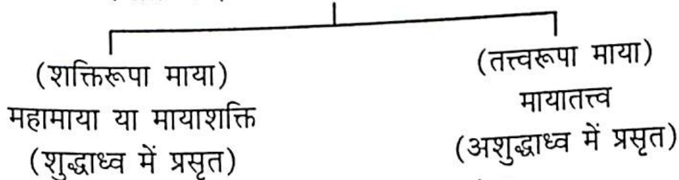
२. मायाशक्ति का कार्यक्षेत्र 'शुद्धाध्व' (शिवतत्त्व से शुद्ध विद्या तक) के प्रमातृमण्डल तक प्रसृत है ।

३. यद्यपि इस महामाया (मायाशक्ति) के स्तर पर 'इदन्ता' (भेदप्रथास्वरूप प्रमेय विश्व) का स्पष्ट अवभासन होता तो नहीं, किन्तु इस बहिरंगात्मक अवभासन की प्रक्रिया का विकासारम्भ अवश्य हो जाता है । इतना होने पर भी 'अहन्ता' (प्रमातृभाव) का पूर्ण तिरोधान नहीं हुआ करता ।

४. महामाया के गर्भ में भावी इदन्ता का भेदप्रथात्मक स्वरूप (समस्त प्रपञ्च की भेदपूर्ण अनेकात्मकता, वैचित्र्यात्मक भिन्न स्वरूप) उसी प्रकार अवस्थित रहा करता है, जिस प्रकार शिम्बिका के गर्भ में असंख्य बीज पृथक्-पृथक् होते हुए भी बाहर (भिन्न-भिन्न रूप से व्यक्त) दृष्टिगत नहीं होते—'बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवदस्यां गर्भीकारोऽस्ति ।'[३]

निष्कर्ष—

स्वातन्त्र्य शक्ति के विकासात्मक रूप



इसी महामाया या मायाशक्ति के विषय में कहा गया है कि—

सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ता शिवेशानि व्ययहीना च कथ्यते ।।[४]

---

१. एक ही शक्ति के दो रूप हैं । 'महामाया' भी शुद्धाध्व की 'अहन्ता' का तिरोधान करती है और माया भी 'अशुद्धाध्व' का तिरोधान करती है ।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३.२.५) ३. तं०वि० (९.१५१)
४. मा०वि० (१.२६)

इससे पृथक् 'मायातत्त्व' का स्वरूप इस प्रकार है—

माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥ (तं० ९-१४९-५०)

इसी माया के कारण क्षोभ फैलता है, 'अशुद्धियाँ' जन्म लेती है, 'ग्लानि' प्रादुर्भूत होती है और जब तक इनका अपने कारण में लय नहीं हो जाता तब तक 'परमपद' प्राप्त नहीं होता । स्पन्दशास्त्र में कहा गया है—

निजशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥[1]

'क्षोभ' = देहादिक अनात्म पदार्थों में आत्माभिमान की विकल्प-परम्परा (मायीय मल) । 'अशुद्धि' = (आणवमल, अख्याति = मल = बन्ध ।) स्वरूप का अज्ञान ही अशुद्धि है । 'अभिलाषा' = कार्म मल ।

त्रिकदर्शन और स्पन्दसूत्र में परमात्मा का स्वरूप

त्रिकदर्शन का शिव 'कला' है । 'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है—

त्रिधा तिसृष्ववस्थासु रूपमास्थाय शक्तिमान् ।
उद्भवस्थितिसंहारान्कृत्स्नविश्वस्य शक्तितः ॥
विधाता यो नमस्तस्मै शुद्धामृतमयात्मने ।
शिवाय ब्रह्मविष्ण्वीश पराय परमात्मने ॥

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के मंगलाचरण में उसी 'शिव' की वन्दना की गई है, जिसके पाँच कृत्य हैं ।

शिव के पञ्चकृत्य

सृष्टि स्थिति संहार विलय (निग्रह) अनुग्रह

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥

शिव के अन्य कार्य

आभासन रक्ति विमर्शन बीजावस्थापन विलापन

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यादि करोति' (शक्तिसूत्र १०) ।

'इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः' । भगवान् शिव की भाँति उसके अभिनीत मितात्मा के द्वारा भी पञ्च कृत्यों का निष्पादन किया जाता है—'यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारणक्रमेण स्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति तथा सङ्कुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि पञ्चकृत्यानि निधत्ते ।'

---

१. स्पन्दकारिका (९)

'कामकलाविलास' में कहा गया है—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ।।

नटनानन्द 'चिद्वल्ली' में कहते हैं—'सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्व-रूपपञ्चशक्तिसंवलितं परं ब्रह्मेत्युक्तं भवति ।' यह भी कहा गया है कि—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छा तूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ।।

'परवासना' में कहा गया है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वयमेवात्मविग्रहम् ।
स्वयमेव समालोक्य सन्तुष्टां परमाद्भुतम् ।।

भगवान् परमशिव पञ्चशक्तिसमन्वित एवं पञ्चकृत्यकारी हैं । पाँचों कृत्यों का निष्पादन शिव के आगन्तुक धर्म नहीं हैं; प्रत्युत शिव की आत्मशक्तियों में स्थित आत्मधर्म हैं ।

यह भी ध्यातव्य है कि आचार्य शंकर ने जहाँ माया को जड़ मानकर उसे ब्रह्म से पृथक् माना है, वहीं स्पन्ददर्शन उसे परमेश्वर शिव की क्रीड़ा मानता है । उत्पलदेवाचार्य 'अजड़प्रमातृसिद्धि' में कहते हैं—'माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूप-गोपनात्मिका क्रीडा ।'

इसी क्रीडा के निमित्त यह अख्यातिमय विश्व अवभासित किया जाता है और इन विश्वाभासों का निर्मातृत्व भी ईश्वरत्त्व ही है, अन्य नहीं—'तन्निमित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते ..... तस्माद्विश्वाभासानां निर्मातृत्वमीश्वरत्वम् ।'[१] 'जगत्' बाह्य वस्तु नहीं है; प्रत्युत शिव के भीतर स्थित बीजात्मक विश्व का बाह्य प्रकटीकरण है—'इच्छया भासयेद्बहिः ।'

आचार्य उत्पलदेवाचार्य 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति' में कहते हैं कि (स्पन्द का) शिव या आत्मा (महेश्वर) ही मायाशक्ति के द्वारा देहादिक अनात्म पदार्थों में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर उन्हें अपनी कर्तृशक्ति से व्यक्त कर रहा है—'महेश्वरो मायाशक्त्या देहादिमात्मत्वेनाभि-निविश्य..........अन्तःस्थितं कर्तृशक्त्याऽऽभासयति ।' 'विज्ञानभैरव' में उस परा सत्ता को सर्वज्ञ के साथ-साथ 'सर्वकर्ता' भी कहा गया है—'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।' उत्पलाचार्य भी ईश्वर को ज्ञाता-कर्ता कहते हैं—'कर्ता ज्ञाता स चेश्वरः ।'[२] जिस क्रिया को सांख्य दर्शन एवं वेदान्त दोनों प्रकृति का धर्म मानते हैं न कि आत्मा एवं परमात्मा का, उसी ज्ञान एवं क्रिया को उत्पलदेवाचार्य जीवों का 'जीवन' मानते हैं—'ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।'

क्रियाविस्तारस्वरूप जगत् शंकर की दृष्टि में तो मिथ्या है, किन्तु 'स्पन्दशास्त्र' में महेश्वर का स्वरूप है—'विश्वरूपो महेश्वरः ।' अवभासस्वरूप जगत् के स्व का भाव केवल विमर्श (शिव की शक्ति) है—'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।'[३] उत्पलदेवाचार्य कहते

---

१. उत्पलदेवाचार्य : 'अजप्रमातृसिद्धिवृत्ति' २. ईश्वरसिद्धि (४२)
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका

हैं कि यदि जगत् है तो वह मिथ्या हो ही नहीं सकता; क्योंकि सत्य की अभिव्यक्तिस्वरूप जगत् असत्य कैसे हो सकता है?

परमात्मा अपनी मायाशक्ति के द्वारा आत्मरूप को भेदरूप में आभासित करते हुए भेदात्मक 'विश्व' बन गया है—'प्रकाशात्मन: परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते ।'[1] वे 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहते हैं—

मायाशक्त्या विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा: ।

यदि यह कहा जाय कि परमात्मा तो अभेदात्मक है, फिर वह भेदात्मक विश्व कैसे बन सकता है? तो उत्पलदेव इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि उसी परमात्मा ने चित् तत्त्व को माया के द्वारा भिन्न रूप में विभाजित करके अपने चित् स्वरूप को भेदात्मक रूपों में प्रस्तुत किया है—

चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति य: ।

यह चित् तत्त्व ही भेदावभासन-व्यापार में देह, बुद्धि, प्राण एवं आकाश आदि बनकर चित् तत्त्व से पृथक् पदार्थ के रूप में प्रसृत हो रहा है—'देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ।'[2] क्या क्रियाशक्ति (यदि वेदान्त के ब्रह्म में नहीं है तो क्या स्पन्द के) शिव में भी नहीं है? उत्पलदेव कहते हैं कि क्रिया तो शिव की मुख्य शक्ति है ।[3]

१. चैतन्य-प्रसार, २. स्वातन्त्र्य आनन्द, ३. चमत्कार-इच्छाशक्ति, ४. आमर्शात्मकता-ज्ञानशक्ति, ५. सर्वाकारयोगित्व क्रिया शक्ति शिव के आत्मधर्म है—

१. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्ति: ।

२. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति: ।

३. तच्चमत्कार: इच्छाशक्ति: ।

४. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति: ।

५. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति: इति ।

६. इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि अभिर्मुख्याभि: शक्तिरुपचर्यते, स च भगवान् स्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं सङ्कुचितमिव आभासयन् अणु: इति उच्यते ।

व्यापको हि शिव: स्वेच्छाक्लृप्तसङ्कोचमुद्रणात् ।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्च्छरीरभाक् ॥

वही शिव जिसके विषय में वामभट्टाचार्य 'जन्ममरणविचार ग्रन्थ' में इस प्रकार कहते हैं—

'इह खलु निखिलजगदात्मा सर्वोत्तीर्णश्च सर्वमयश्च विकल्पासङ्कुचितसंवित्प्रकाशरूप:, अनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्त: प्रसरदविरलविचित्रपञ्चवाहवाहवाहिनी महोदधि:, निरतिशयस्वातन्त्र्यसीमानि प्रगल्भमान: सर्वशक्तिखचित एक एवास्ति संविदात्मा महेश्वर:' । वही परमशिव

१. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
२-३. प्र०का० (५६, ५३)

निजस्वरूपगोपनार्थ अपने स्वरूप को आच्छादित करके मितप्रमाता (जीवात्मा) बन जाता है—'निजस्वरूपगोपनकेलिलोलम् एवं माहेशशक्तिपरिस्पन्दं प्रवरगुरवः प्रतिपेदिरे ।' इसीलिए कहा गया है—

अतिदुर्घटकारित्वात्स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः ॥

अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः ।
सैवाविद्या यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥

परमात्मा ही जीव भी है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः' तो शांकर वेदान्त में कहा गया है । शिव ही जीव के तीन स्वरूप में रूपान्तरित हो जाते हैं—'असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरितस्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं सङ्कुचितमिव अवभासयन् 'विज्ञानाकलः' 'प्रलयाकलः' 'सकलश्च' सम्पद्यते ।

विज्ञानाकल—'तत्र आणवेन एकेनैव मलेन संयुक्तो 'विज्ञानाकल' उच्यते ।

प्रलयाकल—'द्वाभ्याम् आणवमायीयाभ्यां अपवेद्यः प्रलयाकलः ।'

सकल—'त्रिभिराणवमायीयकार्मैः संवेद्यः तैरेव कलादिधरण्यन्ततत्त्वमयः सकलः तदर्थमेव अयमर्थसर्गः ।' (अर्थसर्ग) ।

कला, विद्या, राग, काल एवं नियति भी शिव से पृथक् नहीं हैं; प्रत्युत माया एवं माया की इन शक्तियों में भी वे ही शिव विद्यमान हैं; क्योंकि कारण सुस्पष्ट है । यथा पञ्चकञ्चुकों के सृजन में शिव की भूमिका देखिए—

१. तत्र सृष्ट्युन्मुखो भगवान् शुद्धाध्वनि वर्तमानः स्वशक्तिभिः मायां विक्षोभ्य कलातत्त्वं—किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणं पुद्गलस्य सृजति ।

२. ततोऽपि किञ्चिदवबोधाख्यं विद्यातत्त्वम् ।

३. किञ्चिदभिलाषरूपं च रागतत्त्वं, तदेतत्सरागं कर्तृतत्त्वम् ।

४. भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिधा अवच्छिद्यते तत् कालतत्त्वम् ।

५. तुल्यत्वेऽपि रागे येन कर्तृत्वस्य अवच्छेदः क्रियते तत् नियतितत्त्वम् ।

६. तदेतत् कञ्चुकषट्कम् अन्तर्मलावृतस्य पुद्गलस्य बहिराच्छादम् ।

७. 'चिल्लाचक्रेश्वरमत' में कहा गया है—

माया कला शुद्धविद्या रागकालौ नियन्त्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात्कञ्चुकानि मितात्मनः ।
एवं च पुद्गलस्यान्तर्मलः कञ्चुकवत्स्थितः ।
तुषवत्कञ्चुकानि स्युस्तस्माज्ज्ञानक्रियोज्झितः ॥'

यही किञ्चित्कर्तृत्वस्वरूप 'कला' पुरुष में सुख-दुःख उत्पन्न करती है, अव्यक्त को आविर्भूत करती है, अष्टगुणात्मक बुद्धि उत्पन्न करती है, सात्त्विक-राजस-तामस त्रिस्कन्ध

को आविर्भूत करती है, अहंकारत्रय को जन्म देती है, इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं का आविर्भाव करती है ।[१] स्पन्दशास्त्र ज्ञान एवं क्रिया को आत्मा-परमात्मा का सहज धर्म मानते हैं— 'तस्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।'

स्पन्दशास्त्र की आत्मासम्बन्धिनी दृष्टि—यदि हम आत्मतत्त्व पर विचार करें तो सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शन तो यह मानते हैं कि जीवात्मायें अनादि एवं नित्य सत्ता हैं, किन्तु ये सभी (आत्मायें) पृथक्-पृथक् हैं और संख्या में अनन्त हैं । मोक्ष प्राप्त करने पर भी आत्मायें पृथक्-पृथक् सत्तायें ही रहती हैं । वेदान्त, त्रिकदर्शन, अद्वैतवादी शैव-शाक्त और स्पन्ददर्शन भी आत्माओं का बहुत्व नहीं मानते । वेदान्त तो कहता ही है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः ।' जीव ब्रह्म है, जो कि एक है । चैतन्य-विकास, ज्ञान एवं आत्मोत्कर्ष के धरातल पर 'त्रिकदर्शन' आत्मा के मुख्यतः दो भेद स्वीकार करता है—मितात्मा (अणु) एवं अमितात्मा (परमात्मा) । उत्पलदेवाचार्य 'अजडप्रमातृसिद्धि' में कहते हैं—

द्विधा स एष एवात्मा मितोऽपरिमितस्तथा ।
प्राणादिना निरुद्धोऽणुः परमात्मात्व खण्डितः ॥

दोनों में कोई (तात्त्विक) भेद नहीं है । उत्पलदेव कहते हैं कि संविदात्मा परमेश्वर ही जीव है, जो कि विश्व-क्रीड़ाहेतु 'जीव' बन गया है—'स एव संविदात्मा परमेश्वरः स्वेच्छया विश्वक्रीडोल्लासयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन सङ्कुचितीभूय जीवतामेति, प्राणाद्यनिरुद्धस्तु विश्वनिर्भरितात्मतया पूर्णः स्वतन्त्रश्चिदात्मैवेति परिमितापरिमितत्वेन द्विविधत्वम ।'[२]

स्पन्द की आत्मा शांकर वेदान्त की आत्मा नहीं है; प्रत्युत यह कर्ता है ।[३]

सांख्यदर्शन तो आत्मबहुत्ववादी है; अतः उसकी दृष्टि में संसार में जितनी भी आत्मायें हैं, उनमें आद्यन्त भिन्नता रही है और सदा रहेगी क्योंकि—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥[४]

न्यायशास्त्र एवं वैशेषिक शास्त्र भी यही मत मानते हैं; किन्तु आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि विश्व में जितने भी जीव हैं, सभी की आत्मा तो एक ही है और वह है—'महेश्वर' और जहाँ तक विश्व की बात है तो वह भी तो 'महेश्वर' ही है—

स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः ।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ॥[५]

जो ज्ञान शिव को 'पशुपति' बना देता है, उसी का अपूर्ण ज्ञान शिव को 'पशु' बना देता है । शिव जगत् एवं जीव को अपने शरीर का अंग मानकर चलते हैं, यही है—

---

१. जन्ममरणविचार
२. उत्पलदेव (अ०प्र०वृत्ति १६)
३. तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ (१०)
४. सांख्यकारिका (१८)
५. तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार (१)

पशुपति का ज्ञान । किन्तु मितात्मा उसे अपने से पृथक् मानता है और इसीलिए 'पशु' है ।

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥

विकल्पज्ञान ही भेदभावना उत्पन्न करते हैं; अतः उनका त्याग करके यह विमर्श करना कि—'मै वही शिव हूँ', 'यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ऐश्वर्य-प्रसार है'—महेश्वरत्व है और इस विमर्शनात्मक महेश्वरत्व के रहते हुए विकल्पों का प्रसार होने पर भी मितात्मा की 'महेश्वरता' कभी खण्डित नहीं होती—

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥[१]

स्पन्दसूत्र में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि जीव जगत् को अपनी क्रीड़ा समझे—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।

ऐसा ही ज्ञानी इस 'जीवन्मुक्ति' को प्राप्त करता है, अन्य नहीं—

स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।[२]

नैयायिकों आदि की यह दृष्टि कि एक जीव दूसरे से पृथक् है; अतः कोई भी जीव सर्वमय नहीं हो सकता, 'स्पन्ददर्शन' को स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि जब सबमें एक स्थित है तब प्रत्येक 'एक' सर्वमय होगा ही—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।

क्योंकि उसका उन सभी से तादात्म्यभाव है—

तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।[३]

ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिव न हो । भोक्ता एवं भोग्य का भेद भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वत्र 'शिव' ही तो स्थित है—

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥[४]

जीवात्मा सर्वमय होने से शिव की ही भाँति विश्वशरीरी है । वेदान्त की आत्मा एवं परमात्मा में कर्तृत्व नहीं है; किन्तु स्पन्द इसे आत्मा का स्वाभाविक धर्म मानता है—

तस्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः । (स्पन्द०का० १०)

न्यायशास्त्र तो आत्मा के दो भेद मानता है और साथ ही प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा का अवस्थान मानता है—'आत्मा द्विविधः जीवात्मा परमात्मा च । तत्र जीवात्मानः प्रतिशरीरं भिन्ना बन्धमोक्षयोग्याः ।'[५]

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (४।१२)
२-४. स्पन्दकारिका (३०, २९)
५. 'तर्कामृतम्' (जगदीशभट्टाचार्य)

शांकर अद्वैत में जीवविषयक दृष्टि-भेद— अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर के पश्चात् जीव के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत निर्मित हो गए—अवच्छेदवाद एवं आभासवाद।

आभासवाद में आभासयुक्त अन्त:करण जीव का विशेषण है और आभाससहित अन्त:करण साक्षी की उपाधि है। स्वामी विद्यारण्य ने आभासवाद की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, किन्तु आचार्य शंकर ने दोनों में से किसी भी वाद का समर्थन नहीं किया है। आभासवाद से सम्बद्ध उदाहरण ईश्वर को जीव के दोषों से पृथक् रखने के लिए दिये जाते हैं।[१]

अवच्छेदवाद का समर्थन जीव एवं ईश्वर के अभेद-प्रतिपादन के लिए किया गया है। एक स्थान पर आचार्य शंकर कहते हैं—'जिस प्रकार घटादि में रहा हुआ आकाश उपाधिसहित देखने से आकाशरूप है, इसी प्रकार विज्ञानात्मा परमात्मा से भिन्न है। यह कहना ठीक नहीं है।'

आचार्य शंकर कहते हैं—'देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि—इन उपाधियों से परिच्छिन्न किये हुए परमात्मा को ही अज्ञानी गौण रूप में शरीर कहते हैं; यथा—घट, कमण्डल आदि उपाधिवश अपरिच्छिन्न आकाश भी परिच्छिन्न-सा दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अपरिच्छिन्न परमात्मा उपाधिभेद से परिच्छिन्न शरीर प्रतीत होता है। ब्रह्म के साथ जीव की अभेदता होने से ही आकाश के साथ उसकी उपमा दी जाती है।'[२]

अवच्छेदवाद के समर्थक अधिक हैं। सूर्य की भाँति ब्रह्म साकार नहीं है कि उसका कहीं 'प्रतिबिम्ब' पड़ सके। अविद्या की उपाधि ही ब्रह्म के अन्य रूपों में भासमान होने का कारण है। अवच्छेद और परिच्छेद समानार्थक हैं। अविद्या की उपाधि से अवच्छिन्न (परिच्छिन्न) ब्रह्म जीव और जगत् बन जाता है। अवच्छेदक का अर्थ है--सीमित कर देने वाला। अज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म खण्ड-खण्ड प्रतीत होता है।

'प्रतिबिम्बवाद' क्या है? सूर्य का सहस्रों घटों, नदियों एवं समुद्रों में प्रतिबिम्ब है। एक सूर्य अनेक होकर दिखता है, स्थिर सूर्य लहरों में हिलता-डुलता हुआ प्रतीत होता है। घड़ों को नष्ट कर दीजिए, नदियों एवं समुद्रों को हटा दीजिए तो फिर एक ही सूर्य रह जाता है। इसी प्रकार अविद्या में ब्रह्म के अनेक प्रतिबिम्ब वास्तविक प्रतीत होते हैं। वास्तव में ब्रह्म अनेक या विकारी नहीं हो जाता। अविद्या के नष्ट होते ही ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। यही 'प्रतिबिम्बवाद' है। 'पञ्चपादिका विवरण' जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है—प्रतिबिम्बो जीव: बिम्बस्थानीय ईश्वर:।[३]

स्वामी विद्यारण्य कहते हैं कि मन में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब 'जीव' है और सारे प्राणियों के वासना संस्कारों सहित माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब 'ईश्वर' है।

जीव—अविद्या से संसक्त होकर अविद्या की उपाधि से ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य स्वरूप ही 'जीव' बन जाता है। प्रत्येक जीव के साथ एक अन्त:करण की उपाधि रहती है; अत: जीव परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है। ईश्वर में अविद्या नहीं है, किन्तु अविद्या ही जीव का

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य (१।३।०७) २. ब्रह्मसूत्रभाष्य (१।३।१५)
३. सिद्धान्तलेश

जीवन है । अविद्या में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता है तथा सतोगुण की न्यूनता (मलिनसत्त्वप्रधाना विद्या) । समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर है और समस्त ब्रह्माण्ड का स्वार्थ ही उसका स्वार्थ है । जीव का अपना पृथक् स्वार्थ होता है । इसी के कारण वह कर्ता, भोक्ता एवं बद्ध तथा साधक बनता है । कुछ के मत में अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही 'जीव' है । इस मत मे माया में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का नाम ही है—'ईश्वर' ।

एकजीववाद एवं अनेकजीववाद—कतिपय विचारकों का मत है कि जीव एक ही है और उपाधि अविद्या है । एक ही जीव है और एक ही शरीर है । शेष जीव एवं शरीर उक्त एक जीव की कल्पनासृष्टि या स्वप्नमात्र है ।[१] एक मुख्य जीव 'हिरण्यगर्भ' है और शेष जीव हिरण्यगर्भ की छायामात्र है । स्वयं हिरण्यगर्भ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है ।[२] इस मत के अनुसार जीव एक है और शरीर अनेक । इन शरीरों में अवास्तविक जीव है । एकजीववादियों का एक तृतीय समूह भी है । इसके अनुसार एक ही जीव बहुत से शरीरों में रहता है । ये समस्त मत शांकर मत के विरुद्ध हैं । यहाँ जीवों की अनेकता का प्रतिपादन किया गया है ।

अनेक जीववादियों में भी मतभेद है । एक अनिर्वचनीय तत्त्व 'अविद्या' की धारणा अद्वैत वेदान्त की महत्त्वपूर्ण दृष्टि है । चैतन्य तत्त्व की एकता एवं अविद्या की धारणा—यही अद्वैत वेदान्त के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं ।

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिको खलु ।
मायाकार्यगुणाच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

जीव की उपाधि है—'अविद्या' । ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर की उपाधि 'माया' है; क्योंकि वे माया के गुणों से आच्छन्न हैं ।

स्पन्दशास्त्र की माया और बन्धन तथा मुक्ति का स्वरूप

बन्धन का कार्य—'स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः' (स्पन्दकारिका ४७) अर्थात् ब्राह्मी आदि मायिक शक्तियाँ मितात्मा के स्वरूप पर आवरण डालने हेतु प्रत्येक समय उद्यत रहती हैं ।

भट्टकल्लट कहते हैं—'स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य शक्तयो ब्राह्म्याद्या पूर्वमुक्ताः याः ताः सततम् उद्युक्ताः ।'[३]

जो क्रियात्मिका शक्ति है, वही ईश्वरीय क्रिया शक्ति अज्ञात होने की स्थिति में बन्धन का कारण है; किन्तु यथार्थ स्वरूप के ज्ञात हो जाने पर वही मनुष्यों को पररूप एवं अपररूप सिद्धियाँ भी प्रदान करती हैं—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥[४]

१-२. सिद्धान्तलेश   ३. स्पन्दसर्वस्व
४. स्पन्दकारिका (४८)

भट्टकल्लट कहते हैं—'सा चेयं क्रियास्वभावा भगवतः पशुवर्तिनी शक्तिः । यदुक्तम्—

न सा जीव कला काचित् सन्तानद्वयवर्तिनी ।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ।।

सैव च बन्धकारणम् अज्ञाता, ज्ञाता सा च पुनः परापरसिद्धिप्रदा भवति पुंसाम् ।'[१]

प्रकृति या माया मुक्ति के साधन के रूप में—

(क) सांख्य दर्शन—(प्रकृति के स्वरूप का पुरुष के द्वारा देखा जाना)—'दृष्टास्मि' का अनुभव होने पर प्रकृति 'पुरुष' को बन्धन से मुक्त कर देती है ।

१. या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।[२]

२. दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।।

३. तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तात् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ।।

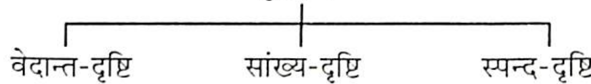
४. सप्तैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।।

५. सांख्य की प्रकृति 'देखे जाने पर' एवं स्पन्द की माया 'जान लिए जाने पर'— 'पुरुष' एवं 'पशु-प्रमाता' पर बन्धन डालना छोड़ देती है ।

(ख) स्पन्ददर्शन—(माया के स्वरूप को मितात्मा के द्वारा जान लिया जाना)—दो दृष्टियाँ—

१. प्रकृति के स्वरूप को जान लेने से मुक्ति हो जाती है—स्पन्ददर्शन ।

२. प्रकृति के स्वरूप को देख लेने से मुक्ति हो जाती है—सांख्यदर्शन ।



१. वेदान्त-दृष्टि—माया से बन्धन तो होता है, किन्तु 'माया' या माया की शक्तियों से मुक्ति नहीं होती ।

२. सांख्यदृष्टि—प्रकृति का दो ही उद्देश्य हैं—पुरुष को भोग प्रदान करना एवं मुक्ति (अपवर्ग या कैवल्य) प्रदान करना ।

३. स्पन्ददृष्टि—माया का कार्य है—आत्मविस्मृति (अपने शिव होने की विस्मृति) उत्पन्न करना एवं शिवत्व की स्मृति जगाकर पशुप्रमाता को मुक्ति देते हुए निवृत्त हो जाना ।[३]

---

१. स्पन्दसर्वस्व (का० ४८ की व्याख्या २. सांख्यकारिका (६१)
३. स्पन्दशास्त्र एवं सांख्य की माया एवं प्रकृति में बहुत साम्य है ।

बन्धन और मोक्षसम्बन्धिनी दृष्टि का तुलनात्मक विश्लेषण—सांख्य दर्शन की दृष्टि तो यह है कि—

१. पुरुष (आत्मा) का न तो बन्धन होता है और न तो उसकी मुक्ति होती है, न उसका संसरण होता है और न तो जन्म-मरणचक्र का प्रवाह ।

२. जो बन्धन, मुक्ति एवं संसरण होता है, वह मात्र 'नानाश्रया प्रकृति' का होता है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः ।।

विज्ञानभैरव की दृष्टि—'विज्ञानभैरव' में भी यही दृष्टि रखते हुए कहा गया है कि न तो आत्मा का बन्धन होता है और न ही मोक्ष । बन्धन और मोक्ष के विचार तो केवल भयभीत लोगों की काल्पनिक सृष्टिमात्र हैं । यदि सूर्य के प्रतिबिम्ब को जल में देखते समय वायु की तरंगें प्रतिबिम्ब को विकृत कर दें, खण्ड-खण्ड कर दें या चलता हुआ दिखने लगें और इन परिवर्तनों को सूर्य के आत्मगत बिम्ब में आरोपित कर दिया तो जिस प्रकार यह आरोप मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मा में बन्धन, संसरण, मोक्ष आदि की कल्पना भी आत्मा में मिथ्यारोप होने के कारण मिथ्या है—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्वेव विवस्वतः ।।

कल्हण की दृष्टि—कल्हण ने भी यही दृष्टि प्रस्तुत की है—

शालीन् पलालपुरुषोऽवति यः कृशानु
दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ।
त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्
किं तत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम् ।।

अर्थात् फूस का बनाया गया मुझौसा पुतला, जिसका मुँह आग से जलाकर काला कर दिया गया है, यदि खेत में खड़ा कर दिया जाय तो वह पक्षियों को तो डरा कर उनसे अनाज की रक्षा कर सकता है, किन्तु जंगलों में भी तोड़-फोड़ करने वाले हाथियों का भला वह क्या बिगाड़ सकता है?

स्पन्दसूत्र की दृष्टि—स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि बन्धन दुःख, सुख, ग्राह्य भाव, ग्राहक भाव एवं मूढ़भाव ही (जीवात्मा में) उत्पन्न करता है, किन्तु ये सभी भाव मितात्मा (जीव) के हैं ही नहीं; अतः—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ।।[1]

जो अशुद्धि (आणवमल), कर्तव्याभिलाषा (कार्ममल) एवं क्षोभ (मायीय मल) हैं, वे

---

१. स्पन्दकारिका (५)

अखण्डरूप में होती रहती है; किन्तु प्रबुद्ध योगी को इन अवस्थाओं में से प्रथम (जाग्रत् अवस्था) के अन्त में (स्वप्न-सुषुप्ति में) तथा इन्हीं दो अवस्थाओं में अन्तर्भूत होने वाली अन्य अवस्थाओं में ही होती है। उसको जाग्रत् एवं तुर्यावस्थाओं में ऐसी अनुभूति केवल सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है—

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ (स्पन्दकारिका १७)

५. योगी की द्वन्द्वातीता समरसावस्था—भट्टकल्लट कहते हैं कि सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में प्रवहमान गुणस्पन्दों के अनन्त प्रवाह सामान्य स्पन्द पर ही आधृत हैं। ऐसी स्थिति में वे अजस्र रूप में प्रवहमान होते रहने पर भी उस योगी के प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनते हैं; जिसने ज्ञातव्य विषय जान लिया हो। वे उसके चिन्मात्र स्वभाव का आवरण नहीं बन जाते हैं—

गुणविस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥

६. समाधि एवं व्युत्थानावस्था में ऐकात्म्य—भट्टकल्लट कहते हैं कि जो कोई प्रबुद्ध योगी अपने में स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अनुभूति-प्राप्त्यर्थ प्रतिसमय उद्योग करता रहता है, वह जाग्रत् अवस्था में ही अपने भाव (तुर्य चमत्कारमय स्पन्दतत्त्व) की अनुभूति अत्यल्प काल में प्राप्त कर लेता है—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति ॥ (स्पन्द० २१)

यथा—धाता अभी देहाभिमान में ही अवस्थित, किन्तु नियमित रूप में योगाभ्यास करने वाले योगी द्वारा (सङ्कल्पात्क) इच्छा के रूप में अभ्यर्थना किये जाने पर, उसके नेत्रों में अत्यन्त तीव्र अवधानात्मक शक्ति का उदय करके उसको जाग्रत् अवस्था में उन्हीं पदार्थों का दर्शन करवाता है, जिनको देखने की इच्छा उसके हृदय में हो। स्वप्नावस्था में भी अवश्य अभिलषित पदार्थों का ही साक्षात्कार करवाता है। इसका कारण यह है कि मध्यधाम (सुषुम्णा) में प्रतिसमय स्फुटतर रूप में प्रकाशमान रहता है और उनके प्रणय का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता है।

भट्टकल्लट कहते हैं कि यदि योगी स्वस्वरूप में पूर्णतया अवस्थित रहने में सावधानी न रखे तो उसके लिए स्वप्नावस्था में असङ्गत भावों की ही सृष्टि स्वतन्त्र रूप में चलती रहती है। इसका कारण यह है कि स्पन्द शक्ति प्रसवधर्मा है अर्थात् उत्तरोत्तर भावों की सर्जना करते रहना उसका स्वभाव है। असावधान योगी को जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं में लौकिक लोगों की भाँति असङ्गत विकल्पों का ही साक्षात्कार होता रहता है।[१]

७. योगसिद्धियों की प्राप्ति—भट्टकल्लट कहते हैं कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ सावधानी से देखे जाने पर भी पहले स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होता; किन्तु अनन्तर उसी स्थान पर खड़ा रहते हुए ही विशेष प्रयत्न के द्वारा देखे जाने पर

१. स्पन्दसर्वस्व (का० ३३, ३४, ३५)

उत्पलदेव की मोक्षसम्बन्धिनी दृष्टि—उत्पलदेव की दृष्टि में जगत् को अपने से अभिन्न मानना—विश्व को अपना ऐश्वर्य मानना ही महेश्वरतारूप मुक्ति है—

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशितुः ॥[१]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मोक्षसम्बन्धिनी दृष्टि—प्रत्यभिज्ञादर्शन प्रत्यभिज्ञा को ही मुक्ति मानता है । 'प्रत्यभिज्ञा' ही मुक्ति है । 'प्रत्यभिज्ञा' है क्या? 'भामती' (अध्यासभाष्य) में तो प्रत्यभिज्ञा का यह स्वरूप बताया गया है—'असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं सन्निहित-विषयं च प्रत्यभिज्ञानम् ।'

'प्रत्यभिज्ञा' आत्मज्ञान है । यह स्वस्वरूप की पहचान है । 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् पहचान । 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् प्रति + अभिज्ञा । 'प्रति' अर्थात् प्रतीत अर्थात् ज्ञात होने पर भी मोहवश विस्मृततत्त्व का 'अभि' = अभिमुख रूप से 'ज्ञान' । स्फुट रूप से होने वाला ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञा' है । शास्त्र, साधना, पूर्वानुभव या शक्तिपात द्वारा पूर्वानुभूत स्वात्मावभास का अभिमुखीकरण होने पर प्रतिसन्धान के सामर्थ्य द्वारा 'सोऽहं' का ज्ञानोदय ही 'प्रत्यभिज्ञा' है ।

'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा । प्रतीपमिति स्वात्मावभासो हि न अनुभूत-पूर्वो अविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यत इति वक्ष्यते ।'[२]

'प्रत्यभिज्ञा च भावभासमानरूपानुसन्धानात्मिका 'स एवायं चैत्र' इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम् । लोकेऽपि एतत्पुत्र एवङ्गुण एवंरूपक एत्येवं वा, अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसन्धितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा इति व्यवह्रियते इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत् प्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति—'नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति ।[३]

भास्करकण्ठ इसकी व्याख्या इस प्रकार कहते हैं—

स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः ।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता ॥

उत्पलदेवाचार्य ने 'स एव ईश्वरः अहम्' इस अर्थ में 'प्रत्यभिज्ञा' का सर्वप्रथम प्रयोग किया है ।

व्यवहारदशा में स्वरूपविस्मृत सुख-दुःखादि अनेक संवेदनों से समाकुल समल पशु (जीव) को स्वरूपाभिज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसके विना वह अपने पूर्व स्वातन्त्र्य या आनन्द से रहित होकर कृपण बना रहता है । इस कार्पण्य को दूर करना प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रयोजन है । आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका
२-३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥[1]

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥[2]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज ने मुक्ति एवं बन्धन के सम्बन्ध में (शिवसूत्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में) दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है । आचार्य क्षेमराज पहले 'बन्ध' के विषय में पूछते हैं कि यदि जीव जड़ात्मक विश्व का परमशिवस्वरूप चैतन्य ही स्वभाव है तो फिर बन्धन कैसा? अर्थात् क्या परमशिव को भी बन्धन हो सकता है?—'यदि जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः तत् कथम् अयं बन्धः?'

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि स्पन्दसूत्र—'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य' की दृष्टि से देखें तो बन्धन का स्वरूप इस प्रकार है—आत्मा में अनात्माभिमानरूप अख्याति-(अज्ञान)-जन्य जो ज्ञान है, वही 'बन्ध' है । इस बन्धन के दो पक्ष हैं ।

बन्धन के दो रूप

(प्रथम रूप)	(द्वितीय रूप)
आत्मा में अनात्माभिमानरूप अख्याति से उत्पन्न ज्ञान ही इस बन्धन का प्रथम रूप है—	शरीरादिक अनात्मा में आत्माभिमानात्मक अज्ञानमूलक ज्ञान ही बन्धन का द्वितीय रूप है—
आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो ।	यावदनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव ।

आचार्य क्षेमराज के कथनानुसार बन्धन के इस द्वितीय रूप का प्रतिपादन भी 'स्पन्दकारिका' में किया गया है । जो निम्नांकित है—'परामृतरसापाय...........।'

'मालिनीविजय' का उल्लेख करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि जो परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से आभासित स्वरूपगोपनात्मिका 'महामाया' शक्ति के द्वारा अपनी आत्मा में आकाश के समान 'अनाश्रित' से लेकर माया प्रमाता-पर्यन्त जो संकोच अवभासित है, वही शिवाभेद नामक अज्ञानात्मक ज्ञान अर्थात् 'अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमलसतत्त्वसङ्कुचितज्ञानात्मक ज्ञान' ही बन्धन है—'यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या स्वात्मन्याकाशकल्पेऽनाश्रितात् प्रभृति मायाप्रमात्रन्तं सङ्कोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसङ्कुचितज्ञानात्मा बन्धः ।'

१-२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका

आचार्य क्षेमराज बन्धन तत्त्व पर और अधिक प्रकाश डालते हुए आगे 'आणवमल' की चर्चा करते हुए और उसे प्रधान बन्धन मानते हुये कहते हैं कि—

जो 'चैतन्य' शब्द स्वातन्त्र्यात्मक स्वरूप की ओर इंगित करता है वहाँ चिदात्मा में भी स्वातन्त्र्याप्रथात्मक 'विज्ञानाकल' प्रमाता की भाँति 'अपूर्णम्मन्यतात्मक' रूप से, स्वातन्त्र्य होने पर भी देहादिक अनात्मक पदार्थों में अज्ञान की दृष्टि से अनात्मा में आत्माभिमानरूप से दो प्रकार का 'आणव मल' हुआ करता है । इसे ही प्रत्यभिज्ञा में इस प्रकार कहा गया है—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानित: ।।

आचार्य क्षेमराज पूछते हैं कि क्या यह आणवमलात्मक (अज्ञान) ही बन्धन है? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं ऐसा नहीं है; प्रत्युत मायीय एवं कार्ममल भी बन्धन हैं । वे इस बात की पुष्टि में 'स्पन्दकारिका' की निम्न कारिका का उद्धरण देते हुए इसे स्पन्द दर्शन की दृष्टि सिद्ध करते हैं—

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण: ।

१. 'शिवसूत्र' का 'ज्ञानं बन्ध:' एवं 'योनिवर्ग: कलाशरीरम्' (१।३) भी इसी स्पन्दशास्त्रीय 'बन्धनतत्त्व' का परिचायक है ।

क्षेमराजाचार्य कहते हैं कि—'मल' ही अज्ञान और संसारांकुर का कारण बतलाया गया है—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।

'ज्ञानं बन्ध:' (शिवसूत्र) द्वारा अज्ञानात्मक ज्ञान को ही 'बन्धन' कहा गया है; अत: 'अज्ञान' ही बन्धन है, जो कि मलस्वरूप है ।

आचार्य क्षेमराज के अनुसार—

बन्धनस्वरूप मल के प्रकार

आणवमल	मायीय मल	कार्ममल
स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता । द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानित: ।	भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।	धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदु:खादिलक्षणम् ।

सारांश—त्रिविधस्य मलस्य बन्धकत्वम् ।

वेदान्त एवं स्पन्दशास्त्र की दृष्टियों में भेद—बन्धन एवं मुक्ति के सम्बन्ध में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध एवं वेदान्त की दृष्टियों से स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा की दृष्टि पृथक् है ।

वेदान्त की दृष्टि	स्पन्दशास्त्र की दृष्टि
१. अनात्मा में आत्मा का एवं आत्मा में अनात्मा का अध्यारोपपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान एवं बन्धन है ।	१. अनात्मा में आत्मा एवं आत्मा में अनात्मा का आरोपजन्य ज्ञान अज्ञान एवं बन्धन है ।
२. जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है 'जगन्मिथ्या । जीवो ब्रह्मैव नापरः' तथा ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति ही मोक्ष है ।	२. जगत् न तो मिथ्या है और न उसके मिथ्यात्व का ज्ञान ही है; प्रत्युत जगत् के साथ आत्मा की एवं आत्मा के साथ ब्रह्म की ऐक्यानुभूति ही मोक्ष है ।

उत्पलदेवाचार्य ने (ईश्वरसिद्धि में) कहा है कि 'मोक्ष' कर्मक्षयाश्रित है—

संवेद्यैकस्वभावत्वात्तस्य कर्मक्षयात्र चेत् ।
तत्स्वभावत्वमेव स्यान्मोक्षः कर्मक्षयाश्रयः ॥

स्युर्ज्ञातपुंविवेकानां कर्माण्यपि कृपादितः ।
न रागात्तानि चेदेवं मोक्षो रागक्षयाद्भवेत् ॥

१. कर्मक्षय→'मोक्ष' । रागक्षय→'मोक्ष' ।

उत्पलदेव कहते हैं कि अपरिच्छिन्न स्वशक्ति के विकास का अप्रथन ही 'बन्धन' है और यही 'जीवत्व' का पर्याय है—'अपरिच्छिन्नस्वशक्तिविकासस्याप्रथनमेव बन्धकत्वपर्यायं जीवत्वम् ।'

'शिवसूत्र' में बन्धन का स्वरूप ज्ञान में निहित बताया गया है ।

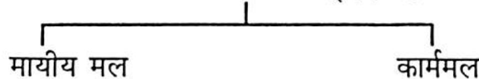
शिवसूत्र की दृष्टि—ज्ञानं बन्धः (२.२)—

१. आत्मा में अनात्मा का अध्यारोप ।

२. अनात्मा में आत्मा का अध्यारोप ।

३. 'आणवमल' के दो प्रकारों की व्याप्ति ।

योनिवर्गः कला शरीरम् (१।३)



मायीय मल   कार्ममल

'अपूर्णम्यन्यता से अभिन्न वेद्यप्रथा' जो कि शुभाशुभ वासनात्मक विविधात्मक ज्ञान तीन मल कहलाते हैं (शि०सू०वि०) ।

ज्ञानं बन्धः (३.२)—सुख-दुःख-मोहमय अध्यवसाय आदि वृत्तिस्वरूप एवं तदुचित भेदावभासनात्मक जो ज्ञान है, वही बन्ध है—'सुखदुःखमोहमयाध्यवसायादिवृत्तिरूपं तदुचितभेदावभासनात्मकं यत् ज्ञानं तद् बन्धः ।'

'स्पन्दसूत्र' भी इस दृष्टि का प्रतिपादक है; क्योंकि इसका सम्बन्ध १. तन्मात्रोदय-रूपेण मनोऽहं बुद्धिवर्तिना । पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवात् । भुंक्ते परवशो भोगं

तद्भावात्संसरेत् ।' २. संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं सम्प्रचक्ष्महे । (स्पन्द का०)

स्पन्दशास्त्र की मुक्ति—

१. 'विदेह मुक्ति' नहीं 'जीवन्मुक्ति' है—यह मुक्ति ।

२. सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्ति नहीं; प्रत्युत 'मुक्ति' है—स्वस्वरूपाभिव्यक्ति । 'प्रत्यभिज्ञा' अपने शिवस्वरूप की अभिव्यक्ति, अपनी शक्ति का विकास, अपने विस्मृत शिवस्वरूप की स्मृतिपूर्वक उसकी अनुभूति, पूर्णाहन्ता की अनुभूति, 'अज्ञान' ज्ञान का अभाव नहीं है; प्रत्युत अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है ।

स्पन्दशास्त्र की बन्धन एवं मोक्षसम्बन्धिनी दृष्टि—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन की बन्धन एवं मोक्षविषयक दृष्टि भी अन्य दर्शनों की दृष्टियों से भिन्न है । दूसरे दर्शन कहते हैं कि ज्ञान का अभाव ही 'बन्धन' है और ज्ञानाप्ति ही 'मोक्ष' है; किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शनों की मान्यता है कि ज्ञान ही बन्धन है—'ज्ञानं बन्धः ।' 'शाम्भवोपाय' एवं 'आणवोपाय' दोनों में 'ज्ञान' को शिवसूत्रकार द्वारा बन्धन कहा गया है ।

शिवसूत्रकार ने तो 'ज्ञानं बन्धः' (ज्ञान ही बन्धन है) कहकर पञ्चकञ्चुकाविष्ट अज्ञानात्मक ज्ञान को ही 'बन्धन' कहा है, जबकि आचार्य सोमानन्द ने शिव के साथ अभेदात्मता की अनुभूति न होने को ही 'बन्धन' स्वीकार किया है ।

आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि—उत्पलदेव कहते हैं कि जब मात्र एक शिव के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था ही नहीं है—'न सावस्था न यः शिवः' (स्पन्दकारिका), सर्वत्र शिव ही स्थित हैं—'तस्मात् सर्वं स्थितः शिवः' (शिवदृष्टि) तो फिर भेद के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता । अतः शिव के साथ अभेदानुभूति ही 'मोक्ष' है और शिव से अपनी पृथकता की अनुभूति ही बन्धन है—'यदा त्वेकशिवत्वमेव तत्त्वं तदा तस्मिन् पक्षे न दार्ढ्यं भेदस्य । अपितु शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तत्प्रतीतिस्तु बन्ध इति ।'[१]

आचार्य सोमानन्दपाद की दृष्टि—'सा च संसारो बंध उच्यते ।' बन्धन और मोक्ष की कल्पना एक अज्ञान है । आचार्य सोमानन्द का कथन है कि जगत् बन्धन एवं मोक्ष की अवस्थाओं में स्थित है—'सैवैषा सा च संसारो बन्धमोक्षावतः स्थितौ'[२] तथापि चूँकि शिव एक है और समस्त सत्ताओं एवं अवस्थाओं में एकमात्र वही एक शिव ही सम्पूर्ण रूप से व्याप्त है; अतः एक ही शिव का सबका आत्मस्वरूप होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष भिन्न-भिन्न स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं और न तो वे भिन्न-भिन्न ही हैं—'बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः ।'[३]

अतः बन्धन और मोक्ष की कल्पना मात्र अज्ञान है—'स्थितावज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ ।'[४]

आचार्य सोमानन्दपाद ने 'न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ (८७)[५] कहकर

---

१. उत्पलदेवाचार्य : 'शिवदृष्टिवृत्ति'
२-३. सोमानन्दपाद : 'शिवदृष्टि'
४-५. उत्पलदेव : 'शिवदृष्टिवृत्ति' (७ आ०)

यह प्रतिपादित किया है कि न तो हमें बन्धन ही होता है और न तो मोक्ष ही। अर्थात् आत्मा बन्धन एवं मोक्ष से परे है। इसका कारण यह है कि इन दोनों बन्धन एवं मोक्ष नामक अवस्थाओं का अस्तित्व मात्र 'मल' के कारण है—'मलत्वेन संस्थितौ।'

आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि शिवाभेदानुभूति ही मोक्ष एवं इसकी अनुभूतिहीनता ही बन्धन है—

विभिन्नशिवपक्षे तु सत्ये दार्ढ्यं परत्र नो ।
प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ॥[1]

इच्छा-ज्ञान-क्रिया-सामरस्यवाद

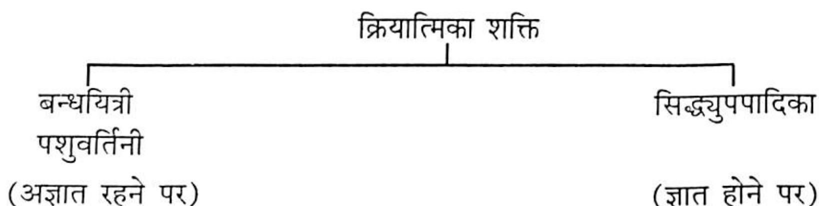
स्पन्दशास्त्र इच्छा-ज्ञान-क्रिया-भेदवादी है। उसकी दृष्टि में 'उसकी' जो इच्छा है, वही उसका 'ज्ञान' है और जो उसका 'ज्ञान' है, वही उसकी 'क्रिया' है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

तदिच्छा तावती ज्ञानं तावत्तावत्क्रिया हि सा ।
सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ॥[2]

ये तीनों शक्तियाँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत तीनों में सामरस्य है। साधक की सिद्धावस्था में भी तीनों में सामरस्य आ जाता है अर्थात् योगी की इच्छा ही उसका ज्ञान एवं क्रिया दोनों बन जाती है। वहाँ तीनों में अभेद है। कारण यह है कि एक ही चिति शक्ति आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रूप में रूपान्तरित हो गई है; अतः सभी में सामरस्य है। चूँकि ये सभी शक्तियाँ परमशिव की स्वसमवेता शाक्तियाँ हैं; अतः 'शिव' में भी ये सभी भिन्न-भिन्न प्रतीयमान शक्तियाँ अभिन्न रूप में अवस्थित हैं। पशुदशा में तो ज्ञान-इच्छा-क्रिया का एक क्रम है; अतः ये एक ही साथ उत्पन्न ही नहीं हो सकती; किन्तु शिव में ये अक्रम हैं, अभिन्न हैं, एकाकार हैं एवं युगपद नित्य विद्यमान है।

शंकराचार्य का ब्रह्म एवं आत्मा तो निष्क्रिय है, माया सक्रिय है; अतः शांकर दर्शन में क्रियात्मिका शक्ति को 'माया' कहा गया है। माया, आवरण एवं विक्षेप शक्तियों द्वारा अध्यास, अध्यारोप एवं अतस्मिंस्तद्बुद्धिः एवं अज्ञान उत्पन्न करके जीवों को बंधन में डालती है; अतः क्रियात्मिका शक्ति केवल बन्धन, संसरण, अज्ञान, अविद्या, पाशबद्धता, पशुत्व एवं आत्मिक पतन का कारण मानी गई है; किन्तु स्पन्ददर्शन ऐसी दृष्टि नहीं रखता। स्पन्दसूत्र क्रियात्मिका शक्ति के दो पक्ष स्वीकार करता है, जो निम्न है—



१. सोमानन्दपाद : 'शिवदृष्टि' (आ० ३।७०)
२. अभिनवगुप्त : 'मालिनीवार्तिक'

बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका अर्थात् यह वस्तुत: शिव की वह क्रियाशक्ति है, जो कि बहिर्विमर्श की अवस्था में पशुवर्तिनी—पशु में स्थित स्थूल क्रिया—बन जाने पर बन्धन में डालने वाली है; किन्तु इसके प्रतिकूल अपने मार्ग—शिवमार्ग—पर अवस्थित होने पर (स्वस्वरूप ज्ञात होने पर) सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है ।

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं कि यह मातृका शक्ति भगवान् की क्रियात्मिका स्वभाव वाली शक्ति ही है, जो कि पशुवर्तिनी बन गई है । कहा भी गया है कि—

न सा जीवकला काचित् सन्तानद्वयवर्तिनी ।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ॥

अर्थात् दो सन्तानों (ज्ञानसन्तान एवं क्रियासन्तान) के रूप में चलने वाली ऐसी कोई भी जीवकला नहीं है, जिसमें 'शिवकला' अधिष्ठात्री बनकर व्याप्त न हो । अत: वही ईश्वरीय क्रियाशक्ति ही अज्ञात रहने की स्थिति में बन्धन का कारण है, किन्तु वास्तविक रूप में ज्ञात होने पर मनुष्यों को पररूप एवं अपररूप सिद्धियाँ भी प्रदान कर देती है—सा चेयं क्रियास्वभावा भगवत: पशुवर्तिनी शक्ति: । सैव च बन्धकारणाद् अज्ञाता, ज्ञाता । सा च पुन: परापरसिद्धिप्रदा भवति पुंसाम् ।'[1]

उत्पलदेवाचार्य भी यही कहते हैं कि—

१. जो अज्ञानियों के लिय बन्धनप्रदा है अर्थात बन्धन में डालने वाली है, वही ।

२. यह शक्ति 'यह मेरी ही शक्ति है' ऐसा ज्ञात होने पर भोग-मोक्ष दोनों प्रदान करने वाली है—'सा च स्वमार्गस्था मदीयेति ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका परापरसिद्धिप्रदा भोगमोक्षौ वहत्येर्थ: ।'

३. यह शक्ति यह ज्ञात होने पर कि यह शक्ति मुझसे भिन्न है, बन्धन प्रदान करती है—

अर्थाच्च भिन्ना ज्ञाता बन्धदा भवति । स्वमार्गस्था स्वतन्त्रा अज्ञाता बन्धयित्री । ज्ञाता तु सिद्ध्युपपादिकेति । उक्तं चैतत्प्राक्—'प्राणिनं पतनं येन' इत्यादिना ।'[2]

सांख्य दर्शन की प्रकृति और स्पन्द की क्रियात्मिका मायाशक्ति

स्पन्दशास्त्र की ही भाँति सांख्य भी यही मानता है कि 'प्रकृति' केवल बन्धन में डालने वाली ही नहीं है; प्रत्युत वह पुरुष को मुक्ति प्रदान करने वाली भी है—

(क) इत्येष प्रकृतिकृतो महादादिविशेषभूतपर्यन्त: ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ: ॥[3]

(ख) वत्सविवृद्धिनिमितं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति: प्रधानस्य ॥

(ग) औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोक: ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥[4]

---

१. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व २. स्पन्दप्रदीपिका
३-४. सांख्य कारिका

सांख्य की प्रकृति का लक्ष्य बन्धन में डालना नहीं है; प्रत्युत पुरुष को मोक्ष प्रदान करना है। यही दृष्टि स्पन्दशास्त्र की माया एवं क्रियात्मिका शक्ति का भी है।

स्पन्दकारिकाविवृति में भी कहा गया है कि—

१. वह शिव स्वस्वभाव परमेश्वर शिव की क्रियात्मिका शक्ति (उसके स्वरूप-प्रत्यवमर्शलक्षण व्यापाररूप शरीर वाली क्रियात्मिका शक्ति, जो कि शिव का स्वधर्म और उसका सामर्थ्य है) और जो कि परमेश्वर की चिन्मात्रस्वभावप्रत्यवमर्शिनी परा शक्ति है, वह अवभासन के समय प्रसृत होकर पृथक् रूप में अवभासित होती है, किन्तु 'उससे' पृथक् नहीं है अर्थात् जो शिव है, वही उसकी यह स्वसमवेता शक्ति होने के कारण उससे अभिन्न है, किन्तु यही 'पारमेश्वरी क्रियात्मिका शक्ति' पशुओं में भेद-प्रत्यय उत्पन्न करने के कारण उनकी इस पारतन्त्र्य की अवस्था में उनमें अवस्थित रहकर उनको जन्म-मृत्यु आदि से युक्त संसरण-चक्र में डालती है और अपने को पृथक् समझने वाले विचारों को जन्म देकर पशुत्व के पाश से परिबद्ध करती है, वही तब जीव को मोक्ष प्रदान कर देती है। जब जीव यह समझ जाता है कि यह 'क्रियात्मिका शक्ति' तो शिव का स्वस्वभाव है— 'शिवात्मकस्वस्वभावप्रत्यवमर्शक्रियारूपतया प्रत्यभिज्ञाता सती सिद्ध्युपपादिका सिद्धेः आत्मैश्वर्याधिगमलक्षणायाः परायाः आनुषङ्गिकविविधविभूत्याविर्भावरूपायाश्च अपरायाः उपपादिका प्रत्युदितप्रबोधस्य तु यथावस्थिततत्वेन प्रत्यभिज्ञायमाना सर्वाः सिद्धीरुपपादयति।'[१]

२. विमर्शरूपा स्पन्दशक्ति अपने बहिर्मुखीन प्रसार की क्रीडा में (अपने शाक्त प्रसार के समय) तीन रूपों में प्रसृत होकर स्वतन्त्र शिव को अस्वतन्त्र पशु बना देती है। उसके बन्धनकारी तीन रूप हैं।

स्पन्दशक्ति के बन्धनकारक रूपत्रय

प्रत्ययोद्भव (आणव मल)	स्वरूपावरण (मायीय मल)	पशुवर्तिनी स्थूलक्रिया (कार्म मल)

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः॥[२]
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिता।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भतः॥[३]
सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका॥[४]

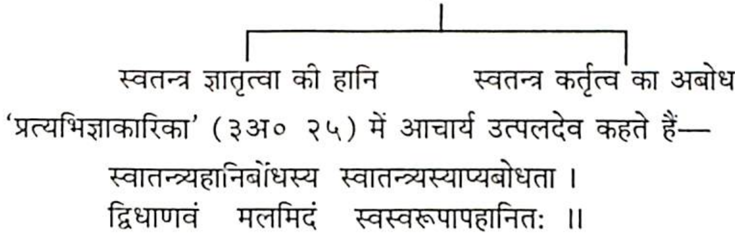
'प्रत्ययोद्भव' क्या है? विकल्पशून्य स्वस्वरूप में ज्ञेय विषयों से सम्बद्ध विकल्पात्मक ज्ञानों का उदय ही 'प्रत्ययोद्भव' कहलाता है। 'प्रत्यय' अर्थात् 'विकल्प-ज्ञान'। उद्भव अर्थात् आविर्भाव।

---

१. चतुर्थ निष्यन्द (का० १८) (स्पन्दकारिकाविवृति)।
२-४. स्पन्दकारिका

शक्ति बाह्य प्रसार की ओर उन्मुख होते ही 'प्रत्ययोद्भव' के रूप में विकसित हो जाती है। विकल्पपरम्परा ही 'प्रत्ययोद्भव' का रूप है। शिव की आत्मस्वभावात्मिका निजी स्वातन्त्र्य शक्ति ज्यों ही माया शक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है, त्यों ही उस शिव में अपनी पूर्णता एवं स्वातन्त्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है और प्रत्ययों का अविर्भाव हो जाता है।

अपनी स्वतन्त्रता को स्वतन्त्रता न मान कर पारतन्त्र्य का अनुभव करने लगना ही सबसे प्रथम प्रत्ययोद्भव है। इस स्वातन्त्र्य की हानि दो रूपों में स्फुरित हुआ करती है।

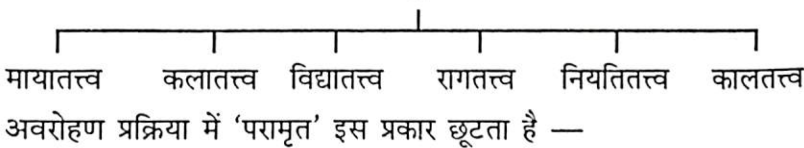


'प्रत्यभिज्ञाकारिका' (३अ० २५) में आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥

'आणवमल' के प्रकारद्वय—बोध के स्वातन्त्र्य की हानि एवं स्वातन्त्र्य का अबोध।

स्वस्वरूप से भिन्न ग्राह्य विषयों की उपलब्धि होते ही स्वतन्त्र आत्मा में अनात्मविश्वास का प्रादुर्भाव तथा अनात्मभूत शरीरादिक में आत्म-विश्वास—प्रत्ययोद्भव—मौलिक स्वातन्त्र्य हानि या 'आणवमल' है। 'प्रत्ययोद्भव' से ही आत्मा अवरोहण के अधोगामी सोपानों से नीचे उतरने लगता है। 'प्रत्ययोद्भव' के अंग षड्कञ्चुक हैं।



अवरोहण प्रक्रिया में 'परामृत' इस प्रकार छूटता है —

१. चेतन जड़ बन जाता है।

२. 'परा वाणी' स्थूल वैखरी वाणी बन जाती है।

३. स्वतन्त्र ज्ञातृत्व अल्पज्ञत्व एवं स्वतन्त्र कर्तृत्व 'किञ्चित् कर्तृत्व' में बदल जाती है।

४. ३६ तत्त्वों का बहिर्मुख अवभासन होता है।

सृष्टि, सृष्टि-सिद्धान्त और उसके मूल तत्त्व का स्वरूप

सृष्टि क्या है? भारत के प्राचीनतम दर्शन सांख्य के अनुसार—

(१) किसी भी पदार्थ का (अभूतपूर्व) नूतन जन्म नहीं होता है।

(२) (भूतकाल में अविद्यमान) किसी भी पदार्थ का नवीनतम प्रादुर्भाव नहीं होता है।

(३) जो पहले था ही नहीं, उसका जन्म हो ही नहीं सकता; क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ।

(४) सत् से ही सत् की उत्पत्ति हो सकती है; अत: 'सत: सज्जायत' की ही दृष्टि यथार्थ है, न कि 'असत: सज्जायत' की ।

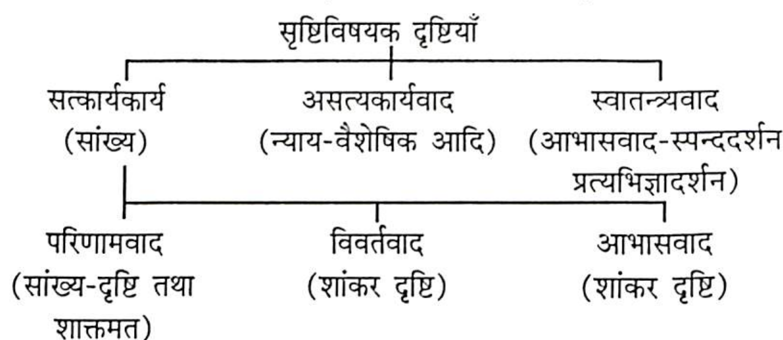
(५) जन्म से पूर्व भी पदार्थ विद्यमान रहता है, किन्तु अपनी बीजावस्था में । 'कार्य' अपने 'कारण' की ही अभिव्यक्ति है ।

(६) किसी भी पदार्थ का अत्यन्ताभाव या विनाश नहीं होता; प्रत्युत उसका अपने 'कारण' (बीज) में अवस्थान होता है, वह (इस अवस्था में) बीजात्मना अवस्थित हो जाता है ।

(७) सृष्टि और प्रलय तथा जन्म और मृत्यु पृथक्-पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत व्यक्तभाव एवं अव्यक्तभाव की दो दशायें हैं ।

सांख्य की सृष्टिसम्बन्धिनी दृष्टि है—सत्कार्यवाद । ईश्वरकृष्ण (सांख्यकारिका में) कहते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥



असत्कारणवाद—बौद्ध यह मानते हैं कि 'कारण' के नष्ट होने पर ही 'कार्य' की उत्पत्ति होती है । कारण का असत् होना ही कार्य की उत्पत्ति है । दूध का अभाव ही दही का भाव बन जाता है और बीज का नाश ही पौधे का भाव बन जाता है । बौद्ध तो यह भी मानते हैं कि 'आत्माध्वंसो हि मोक्ष:।'

असत्कार्यवाद (आरम्भवाद)—न्याय यह मानता है कि 'कार्य' जन्म से पूर्व अपने 'कारण' में विद्यमान नहीं रहता; प्रत्युत वह अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है । इसी से इसे 'आरम्भवाद' भी कहते हैं ।

सत्कार्यवाद या परिणामवाद—कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है । कार्य कारण का परिवर्तित रूपमात्र है । कार्य कारण का रूपान्तरणमात्र है । 'जन्म' कारण की अभिव्यक्ति है, न कि 'कार्य' का जन्म । वेदान्त का रामानुजी दर्शन ब्रह्मपरिणामवादी है । वह मानता है कि विश्व ब्रह्म का व्यक्त (परिणामस्वरूप व्यक्त रूप) रूप है । ब्रह्म विश्व का 'बीज' है । 'विश्व' ब्रह्म की शक्ति का 'परिणाम' है ।

विवर्तवाद—इसे शंकराचार्य का 'ब्रह्मविवर्तवाद' सिद्धान्त कह सकते हैं। न तो कार्य कारण में सत् है और न असत्। यदि यह सत् मान लेंगे तो जगत् कभी नष्ट नहीं हो सकेगा और सत्य हो जाएगा। यह असत् भी नहीं है, नहीं तो 'कारण' से उत्पन्न भी नहीं हो सकता; अतः कार्य कारण का विवर्त या आभासमात्र है।

अजातिवाद—आचार्य गौड़पाद जन्म, उद्भव, आविर्भाव मानते ही नहीं। उनका कथन है कि किसी भी पदार्थ का जन्म होता ही नहीं। माण्डूक्यकारिकाओं में उनके इस सिद्धान्त को 'अजातिवाद' कहा गया है। आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिदस्तु जायते॥
न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

शंकराचार्य—

(क) सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पित्रादिवत्।

(ख) यद्यसत्तथापि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषणादिवत्।

(ग) अथ सदसत्तथापि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासम्भवात्।

कार्यकारणभाव एवं स्वातन्त्र्यवाद—स्पन्ददर्शन स्वातन्त्र्यवाद में विश्वास रखता है। स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा में कार्यकारणभाव दो प्रकार का है—पारमार्थिक कार्यकारणभाव एवं कल्पित कार्य-कारणभाव। सामान्य दृष्टि के अनुसार तो परसंवित् तत्त्व कारण है और अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जगत् उसका 'कार्य' है।

चित् शक्ति देश, काल, आकार के भेदों से रहित है और वह मात्र 'पूर्णाहंविमर्श' का ही स्वरूप है। चिति दर्पण में प्रतिबिम्बनगर के समतुल्य स्वरूपात्मक आत्मभित्ति में अभिन्न होते हुए भी भिन्न के समान अनन्तात्मक जगज्जाल को उन्मीलित करती है। कार्यात्मक अखिल विश्व (मूल में प्रकाश के साथ) एकात्म रूप से स्थित रहता है। जगत् 'चित्' से भिन्न कुछ भी नहीं है। स्वच्छ एवं स्वतन्त्र भगवती चिति इस भिन्नात्मक, भेदात्मक एवं अनन्तस्वरूपात्मक जगत् के रूप में स्फुरित होती है। यहाँ इतना ही पारमार्थिक कार्य कारण-भाव है। कार्य-कारणभाव मात्र 'शिवेच्छापरिकल्पित' है—

कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः।[१]
श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम्।
शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पञ्चशक्तिसुनिर्भरः॥
स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥

---

१. तन्त्रालोक (आ० ९/श्लोक७)

शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ।[१]

आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहते हैं—'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्, अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः । उच्यते, चिदेव भगवती स्वच्छन्दस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः ।' अर्थात् यदि जगत् भी चित् से भिन्न नही है तब अभेदावस्था में इन दोनों की कार्य-कारणता कैसी? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि—भगवति चित् ही स्वच्छ एवं स्वतन्त्र है और वह भिन्नात्मक एवं अनन्तरूपात्मक संसारों के रूप में स्फुरित होती है—यहाँ इतना ही पारमार्थिक कार्य-कारणभाव है । यही प्रमाता-प्रमाण एवं प्रमेयस्वरूप विश्व के प्रकाशन में कारण है; अतः स्वतन्त्र अपरिच्छिन्न एवं स्वप्रकाशरूप इस चिति शक्ति की सिद्धि में नवीन अर्थ को प्रकाशित करने वाला प्रमाण उपयोगी एवं उत्पन्न नहीं है । यह शक्ति विश्व की सिद्धि (अद्वय परतत्त्व के साथ सामरस्य) या ऐक्य-सम्पादनात्मक संहार में हेतु है । इसीलिए इसे 'स्वतन्त्र' कहा जाता है ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं स्पन्ददर्शन में सृष्टिसम्बन्धिनी दृष्टि 'स्वातन्त्र्यवाद' एवं 'आभासवाद' कहलाती है ।

स्वातन्त्र्यवाद—स्वातन्त्र्य परमेश्वर की परा शक्ति है । यह शक्ति शिव से अपृथक् है। यही 'आनन्द' पदवाच्य है । यह परमात्मा का दुर्घटकारित्व ऐश्वर्य है । यह पारमेश्वरी शक्ति स्वरूप स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य शक्ति अनन्त रूपों में स्फुरित होती है । परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार 'स्वातन्त्र्य' है—

स्वातन्त्र्यञ्च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः ।[२]
एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम् ।

परम शिव की स्वभावरूपा शक्ति ही 'स्वातन्त्र्य शक्ति' है । इसे ही 'स्पन्द' भी कहा गया है—

(१) एष एव च विमर्शः चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक् स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते ।'[३]

(२) भगवान् शिव की 'किञ्चिच्चलत्तात्मक धात्वर्थानुगमात्स्पन्द' ही स्वातन्त्र्य है—'श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिः किञ्चिच्चलत्तात्मकधात्वनुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।'[४]

एक प्रकाशरूप परमेश्वर ही अपने स्पन्द स्वातन्त्र्य से विभिन्न विचित्र रूपों में प्रकाशित होता है और फिर भी वह वस्तुतः अविचित्र होकर अकेला ही प्रकाशमान है—'एकः प्रकाशः स्वातन्त्र्याच्चित्ररूपः प्रकाशते । वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ नाचित्रो भेददूषणात् ।[५] इसी 'स्वातन्त्र्य' की हानि 'आणवमल' बन जाती है—

स्वातन्त्र्यहानि-र्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥[६]

---

१. तन्त्रालोक (आ० ९/३)
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी वि०(१.१)
३. पराप्रावेशिका
४. स्पन्दनिर्णय
५. मालिनीविजयवार्तिक
६. प्रत्यभिज्ञाकारिका

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' मे इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित्स्वरूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः ।'

'स्वातन्त्र्य' शिव की निजा शक्ति है । इच्छा-ज्ञान-क्रिया की आत्मा है और उनसे संयुक्त है—

मम शक्तिः स्वातन्त्र्यरूपा इच्छादित्रयात्मोच्यते ।
इच्छाज्ञानक्रियारूपं नेत्रामृतमनुत्तमम् ॥[१]

'स्वातन्त्र्य' विमर्श का वह पक्ष है, जो 'क्यों' का उत्तर देता है । यह विमर्श का अपर पर्याय है और महेश्वर की प्रधान शक्ति है । शिव की शक्तियों का मूल भी स्वातन्त्र्य शक्ति ही है ।

इसी स्वातन्त्र्य से शिव की समस्त शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है । यही शिव की प्रधानतमा शक्ति है—

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यपरमात्मनः ।[२]

यह शक्ति अहं प्रत्यवमर्शात्मा है—'वस्तुतः पुनरपि अहं प्रत्यवमर्शात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति ।'[३]

इसी स्वातन्त्र्यशक्ति को सोमानन्दपाद ने 'अनिरुद्ध इच्छा' कहा है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक् क्रियः शिवः ॥[४]

इसे 'अनन्य निरपेक्ष' भी कहा गया है—'अनन्यनिरपेक्षतेव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यम्, स्वातन्त्र्यम्, चैतन्यम् ।'[५]

शक्तिसूत्र में 'चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' कहकर इसके इसी स्वातन्त्र्य शक्ति को चिति शक्ति का प्रधान लक्षण बताया गया है ।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—'विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे पराशक्तिरूपा चितिः एव भगवती 'स्वतन्त्रा' अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः कारणम् ।'[६]

सोमानन्दपाद कहते हैं—

शक्तेः स्वातन्त्र्यकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेत् ।[७]

---

१. नेत्रतन्त्र
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (अ०५)
३. तन्त्रालोक टीका
४. शिवदृष्टि
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
७. शिवदृष्टि

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने क्रमस्तोत्र में निजेच्छा-प्रसरता को ही 'स्वातन्त्र्य' कहा है—

अमुष्मात् सम्पूर्णात् रसमहोल्लाससरसात् ।
निजां शक्तिं नेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः ॥

चिदात्मा के स्वभाव का अभिधान ही है—'स्वातन्त्र्य' । यही उसका ऐश्वर्य है, जिसके कारण वह 'ईश्वर' कहलाता है और उसे 'आनन्द' कहा जाता है । स्वातन्त्र्य एवं विमर्श में यत्किञ्चित् भेद भी है ।

स्वातन्त्र्य विशेषतया 'इदम्' से सम्बन्ध रखता है, यह निरपेक्षतापूर्ण समस्त कार्यों की निष्पादनक्षमता भी है; अतः 'आनन्द' भी है । विमर्श इदम् को भी अतिक्रान्त करके 'अहं' की विशुद्धावस्था का द्योतक है । स्वातन्त्र्य वह शक्ति है, जिसकी क्षमता एवं शक्तिमत्ता की कोई मिति नहीं है । यह परमेश्वर की सभी शक्तियों की एक पुञ्जीभूत भूमि है । इसे ही चमत्कृति, आत्मचर्वणा, आत्मपरामर्श, स्फुरत्ता, चिति, बोध एवं स्पन्द आदि भी कहा गया है । स्वातन्त्र्य या विमर्श की धारणा पर बल देने के पीछे वेदान्त से वैलक्षण्य भी प्रदर्शित करना है—स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादात् वैलक्षण्यमाचक्षाणः..........ब्रूते ।' (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) ।

वेदान्त और त्रिकनय में भेद है । वेदान्तियों का ब्रह्म शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एवं प्रकाशैकघन होते हुए भी निर्विमर्श है; किन्तु शैवों का शिव स्वातन्त्र्यमूलक एवं सविमर्श है । शांकर वेदान्त पारमार्थिक सत्ता की विमर्शमयता स्वातन्त्र्य की विरोधी है ।

स्पन्दकारिका में कहा गया है कि—

लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रयमकृत्रिमा ॥

तत्त्व की स्वभावभूता 'स्वतन्त्रता' विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है । सहज स्वातन्त्र्य (स्वतन्त्र अहंप्रत्यवमर्श) ही प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव (अपना यथार्थ भाव या आत्मा) बनकर अवस्थित है ।

भट्टकल्लट कहते हैं—'यथास्य करणादिषु चैतन्यदाने स्वातन्त्र्यम् तथा परपुरादिष्वपि सम्भाव्यते, स्वातन्त्र्यस्य स्वस्वभावभूतस्य सर्वत्राकृत्रिमस्याभ्यासात् यतो व्यक्तिः ।'[१]

परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति एवं स्पन्द शक्ति अभिन्न ही है । यही पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति । विश्व का बाह्य प्रसार करने की भूमिका पर वामेश्वरी का रूप धारण कर लेती है ।

'स्वातन्त्र्य शक्ति' के रूपान्तर 'माया शक्ति' द्वारा स्वरूप पर ही आवरण डालकर स्वात्मरूप दर्पण में ही अनन्त प्रकार के ग्राहकों और ग्राह्यों का अवभासन करता है—'अनन्तरं यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणेऽनन्तग्राह्यग्राहक-द्वयाभाससन्ततीराभासयति ।'[२]

स्पन्दकारिका (४६) में कहा गया है कि निर्विकल्प स्वरूप में विकल्प ज्ञानों का उदित

---

१. स्पन्दसर्वस्व २. तं. वि. (२.१३५)

होना ही उसका परामृत रस शिव-शक्ति सामरस्य की पदवी से लुढ़क जाना है और इसी से वह स्वातन्त्र्यहीन हो जाता है।

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥

जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है, वही नित्य उदित 'परा वाक्' है। तत्त्वज्ञ इसी को 'विमर्शात्मा चिति' के नाम से जानते हैं। शिव प्रकाशात्मा एवं चिति है और ये दोनों अविनाभूत हैं। अविभक्त या अन्तर्लीन विमर्शात्मक शिव को ही 'परमशिव' कहते हैं और यह 'निष्कल दशा' है—'चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा।'[१]

प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से रुद्र आदि प्रमाताओं तथा नील-सुखादिक प्रमेयों के रूप में प्रकाशित होते हैं। यह प्रकाशन अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान भासित होता है। इस अवस्था में भी स्वरूप का आच्छादन नहीं होता। यही संवित्स्वभाव शिव के स्वातन्त्र्य की महिमा है।

शोपेनहावर एवं शैव स्वातन्त्र्यवाद में साम्य—

(१) वस्तु का उसके अपने यथार्थ स्वरूप में या उसके अस्तित्व की समग्रता में बोध नहीं होता। जो ज्ञान होता है, वह देश-काल पर सापेक्ष होता है, वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। यही मान्यता काण्ट की भी है।

(२) स्वरूपगत वस्तु का ज्ञान हमें अपनी ऐच्छिक क्रियाओं एवं संवेगों आदि की क्रियाओं में होती है; क्योंकि तीव्र संवेग की स्थिति में समस्त बाह्य प्रभाव एवं विचार निष्प्रभावी रहते हैं। इस स्थिति में स्वातन्त्र्य रहता है।

(३) भौतिक क्रिया एवं समग्र भौतिक शरीर इच्छा का ही विषयीकरण है; क्योंकि क्रिया अन्तरीभूत इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इच्छा प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक स्वभाव है और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र का सार है।

(४) दार्शनिक प्रज्ञा का अर्थ चिन्तनात्मक एवं अमूर्त चेतना में सत्य—'शब्द ही मेरा विचार है'—का उद्बोधमात्र है। शैव दर्शन भी जीवन्मुक्ति में विश्वास रखता है और मुक्ति है—'सर्वो ममायं विभवः' की अनुभूति।

शोपेनहावर एवं स्वातन्त्र्यवाद में दृष्टि-भेद—

(१) शोपेनहावर इच्छा को अचेतन मानता है, किन्तु स्वातन्त्र्यवाद नहीं है। शोपेनहावर के अनुसार इच्छा चेतना से पृथक् केवल मानसिक क्रियामात्र है और प्रकृति से अभिन्न है। उनके अनुसार इच्छा चेतना से स्वतन्त्र होकर कार्य करती है।

(२) इसके विपरीत काश्मीर का 'शिवाद्वयवाद' उन सिद्धों की छत्रछाया में पल्लवित-पुष्पित हुआ, जो विषय से पूर्णतः पृथक् 'अहं चेतना' या 'अहं बोध' को पूर्ण सत्य अनुभव करते थे। अतः वे इच्छा को चेतना से पृथक् करने हेतु विवश नहीं थे। अतः सामान्यानुभव

---

१. शिवदृष्टि

में जहाँ 'इच्छा' मन की एक वृत्ति है, अन्तिम अनुभव में वही चिदाकार है। काण्ट का मत था कि विषय से पूर्णतया भिन्न रूप में प्रमाता (अहं) की चेतना असम्भव है।

शैव स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार परम सत्ता स्वातन्त्र्यस्वभाव होने के कारण सब कुछ अपने में एवं अपने द्वारा व्यक्त करती रहती है। वह विश्व का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण है। विश्व की प्रक्रिया में उसी की इच्छा प्रधान है। उसकी यही महेश्वरता जगत् विषयक समस्त अनुभूतियों की जन्मदात्री है। स्वातन्त्र्यवाद वस्तुवाद एवं प्रत्ययवाद में सामञ्जस्य स्थापित कर देता है।

स्वातन्त्र्यवादी इसे 'आभासवाद' की भी संज्ञा देते हैं। चरम सत्ता के दो स्वरूपों में विश्वास किया गया है—विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक : 'विश्वमय'। इसमें समन्वयवाद प्रतिष्ठित है। स्वातन्त्र्य शक्ति एवं माया शक्ति का स्वरूप निम्नानुसार है—

	स्वातन्त्र्यवाद		माया शक्ति	
१.	चित्	सर्वज्ञता	विद्या	अल्पज्ञता
२.	निवृत्ति	सर्वकर्तृता	कला	अल्पकर्तृता
३.	इच्छा	पूर्णता	राग	अपूर्णता
४.	ज्ञान	नित्यता	काल	अनित्यता
५.	क्रिया	व्यापकता	नियति	अव्यापकता

परमात्मा शिव का स्वातन्त्र्य (स्वातन्त्र्य शक्ति) ही उसकी आनन्दघनता, आनन्द का चमत्कार ही इच्छाशक्ति, प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति, विमर्शमयता ही ज्ञानशक्ति और प्रत्येक प्रकार के आकार इत्यादि को अवभासित करने का सामर्थ्य ही क्रियाशक्ति है। विश्व इसी स्वातन्त्र्य शक्ति का ही विकास है। स्वातन्त्र्य शक्ति मुख्यत: इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—इन तीन रूपों में स्फुरित होती है। परमेश्वर की स्वाभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति विश्वरूप में प्रसृत होने के समय सर्वप्रथम 'इच्छा' का रूप धारण करती है। इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति का एवं ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति का स्वरूप धारण करती है।

सृष्टि के विषय में 'परिणामवाद' एवं 'विवर्तवाद' वेदान्त के दो सिद्धान्त हैं, किन्तु स्पन्दशास्त्र इन्हें स्वीकार नहीं करता। स्पन्द एवं त्रिकदर्शन का सृष्टि-सिद्धान्त है—आभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद।

'परिणामवाद' में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता है। 'आभासवाद' का मूल है—आभास। अभिनवगुप्त 'विवृतिविमर्शिनी' में कहते हैं—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वत् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोध: पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥

आभासवाद—स्पन्दशास्त्र जगत् को परमशक्ति का परिणाम एवं विवर्त नहीं मानता, प्रत्युत 'आभास' मानता है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में यह कहा गया है कि परमशिव, जो कि

जगत् का मूल है, वह अपनी पाँच शक्तियों की सहायता से स्वात्मभूत भित्ति पर जगत् को चित्रित करता है—

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।

जगत् 'आभास' है, न कि 'परिणाम' या 'विवर्त'—

आभासरूपा एव जडचेतनपदार्था: ।

संकुचित स्वरूप में प्रकाशित होना ही 'आभास' है । 'आभासन' क्या है? आभासनं—आ ईषत् सङ्कोचेन भासनं प्रकाशनम् (ई० प्र० वि० अ०२ वि०२) ।

अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब को 'आभास' कहा है—'भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बता, इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बतत्त्वम् ।'

'आभास' के दो पक्ष हैं—

(१) विमर्शात्मक प्रकाशपुरुष का संकुचित या अपूर्ण आत्मप्रकाशन 'आभास' है ।

(२) विमर्शात्मक प्रकाशपुरुषरूपी दर्पण में अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान जड़-चेतन समग्र जगत् का प्रतिबिम्ब 'आभास' है ।

'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' में दर्पण विधि का निर्देश केवल यह बताने के लिए किया गया है कि संसार प्रकाशपुरुष या शिव से बाहर कुछ भी नहीं है । इसका लक्ष्य है—द्वैतप्रथात्मक संकुचित ज्ञान को नष्ट करना--

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा ।
न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता ।।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति ।
ध्रुवं मोह: शाम्येदिति निरतिवद्दर्पणविधि: ।।[१]

दर्पण के प्रतिबिम्ब में देश, घनता, काल, परिमाण आदि नहीं होता । जो वस्तु भासित हो रही है, उसे सर्वथा अवस्तु घोषित करना बुद्धिमानी नहीं है; किन्तु आभासमात्र सार होने के कारण उसमें वस्तुत्व के साधक स्वल्प मात्र निजी तथ्यात्मक रूप की सम्भावना ही कहाँ रहती है?

सामान्य प्रतिबिम्बनात्मक क्रिया में वस्त्वन्तर की आवश्यकता अपरिहार्य है । किन्तु यहाँ महाचिति अपने ऐश्वर्य से प्रतिबिम्बसमर्पक अन्य वस्तुरूप उपाधि के अभाव में ही स्वरूपात्मक भित्ति में विश्वाकार को प्रतिबिम्बित करती है—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले ।
बोध: पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।[२]

'भास्करी' में कहा गया है कि—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृति २. तन्त्रालोक (भाग२।आ० ३।४)

(१) उल्लेखनं मनसि कल्पनम् ।

(२) अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुरणम् ।

परमशिव स्वगर्भ में सूक्ष्म रूप से स्थित विश्व को उल्लेखपूर्वक अवभासित करते हैं। समस्त चेतन एवं जड़ आभासमय हैं। अपने स्वातन्त्र्य शक्ति की क्षमता से वे अनन्त ग्राह्यों एवं ग्राहकों के रूप में अवभासित होते हैं।

अभिनवगुप्त कहते हैं—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम् ॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है—

वर्त्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥

अभिनवगुप्त कहते हैं—सृष्टि या क्षोभदशा में जिसके अन्तर्गत बाह्य आभासात्मक यह विश्व भासित होता है तथा क्षोभ के क्षीण हो जाने पर अनुत्तरात्मक स्थिति में वर्त्तमान उस अखण्ड स्वात्मसंवित्तिरूप देवी की मैं वन्दना करता हूँ।

शिवाद्वय दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को जगत् की आभाससारता के दृष्टिकोण से कतिपय आचार्यों ने 'आभासवाद' कहा है। यथा दर्पण में पृथक्-पृथक् रूप में प्रतिबिम्बित ग्राम, नगर, नदी एवं वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य की शक्ति से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्ववैचित्र्य को भिन्नवत् आभासित करता है—

निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥

परमशिव ही शिवतत्त्व से लेकर क्षितिपर्यन्त सर्वत्र अपने स्वरूप का ही आभासन करते हुए स्वातन्त्र्य लीला में मग्न हैं—'परमेश्वरः वस्तुतः क्रमराहित्येऽपि विश्वसृष्टौ आभासनमात्रसारेण पारमार्थिककार्यकारणभावेन क्रममपि उद्भावयन्, अनाख्येऽपि स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ, तत्तच्छिवादितत्त्वाभिमुख्यम् अवभासयति।'[1]

स्वातन्त्र्य एक शक्ति है; किन्तु 'आभास' तो एक प्रतिबिम्बन है। परानपेक्षा ही 'स्वातन्त्र्य' है और यही शिव का 'आनन्द' है। स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा ही शिव समस्त विश्ववैचित्र्य (जगत् की अनन्तरूपात्मकता) को आत्मभित्ति पर आभासित करता है (स्वच्छन्दतन्त्र टीका)।[2]

यह आभासन होता कहाँ है? परमशिव अपनी 'अहन्ता' के अन्दर ही 'इदन्ता' का अवभासन करता है। परमशिव 'दर्पणनगरन्याय' द्वारा विश्व को (अभिन्न होते हुए भी) भिन्नवत् आभासित करते हैं—'तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते

१. षटत्रिंशतत्त्वसन्दोह
२. स्वतन्त्र : कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः ।

तथा संवित्तावपीति । अतः सर्वमेवैतदाभासमात्रसारमेवेति ।[१]

चिदात्मा ही समस्त पदार्थों को अपने प्रकाशरूप दर्पण में प्रतिबिम्बवत् आभासित करता है—'चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति—इति सिद्धान्तः ।'[२]

प्रकाशात्मा परमशिव के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप की संसृति या संहृति नहीं होती; प्रत्युत परमेश्वर में जो इदम् रूपात्मक 'आभास्य' हैं, उन्हीं का उन्मेष एवं निमेष होता है—'प्रलयादिकं च आभास्यनिष्ठं आभाससारमेव न तु प्रकाशात्मनोऽस्य परमेश्वरस्य तत् किञ्चित् ।'[३]

ये उन्मेष एवं निमेष ही सृष्टि एवं प्रलय के कारक हैं—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।'[४]

सृष्टि एवं संहार आदि को (आभास्यनिष्ठ होने के कारण) 'आभास' का सार कहा गया है । परमशिव द्वारा अपने 'विश्वमय' स्वरूप में परमेश्वरता (शक्ति) का यह आभासन ही परमेश्वर का स्वात्मविनोदन है और उसकी यह आभासलीला (विश्व-लीला) है—

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः ॥[५]

'आभासवाद' का अर्थ यह है कि जगत् परमशिव का परिणाम या विवर्त नहीं है; प्रत्युत 'आभास' है । जगत् परमशिव के 'स्वातन्त्र्य' का व्यक्त स्वरूप है, जिसे कि आभाससारता के विचार से 'आभास' कहा गया है; अतः जगत् परमशिव का 'आभास' है । अद्वैतवादी वेदान्त का मिथ्या प्रतीतिरूप 'आभास' शैवों का 'आभास' नहीं है । इस सन्दर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि 'आभासविषयक' वेदान्त की दृष्टि पृथक् है ।

शांकर वेदान्त का 'आभासवाद' शैव दर्शन का 'आभासवाद' नहीं है । दोनों दृष्टियों में भिन्नता है ।

ईश्वराद्वयवादियों (शैव तान्त्रिकों) ने 'आभासवाद' को 'वाद' भी स्वीकार नहीं किया । न्यायशास्त्र किसी कल्पित सत्ता को स्वीकार करके अर्थात् 'अभ्युपगम' का अवलम्बन ग्रहण करके अपने सिद्धान्त निश्चित (स्थापित) करता है और उसे ही 'वाद' कहता है । काश्मीरीय शैव दर्शन अभ्युगम्य का आश्रय ही ग्रहण नहीं करता; क्योंकि वह तो स्वतः सिद्ध (आत्मा । परमात्मा । शक्ति । शक्तिमान) तत्त्व से ही 'सन्धान' आरम्भ करता है । इसीलिए काश्मीरी शैव दर्शन 'आभासवाद' न कहकर 'आभाससिद्धान्त' शब्दावली का प्रयोग करता है । न्यायसूत्र (१।२।१) में वाद की परिभाषा निम्नांकित रूप से दी गई है—

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।[६]

आभासवाद ही शैवमत का 'स्वातन्त्र्यवाद'—आभासवाद तो शांकर दर्शन में भी प्रतिपादित किया गया है, किन्तु ईश्वराद्वयवादी शैव दर्शन में 'स्वातन्त्र्यवाद' की अपर आख्या 'आभासवाद' है ।

---

१. तन्त्रालोकटीका (भाग २)
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
३. स्पन्दसन्दोह
४. स्पन्दकारिका
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १)
६. परिग्रहोऽत्राभ्युपगमः

जिस प्रकार अग्नित्त्व (दाहकता) अग्नि का स्वभाव है, उसी प्रकार विश्व का आभासन (विमर्श को प्रकाशित करना) परमशिव का स्वस्वभाव है—'तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य विजृम्भते ।'[१]

परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पञ्चकृत्यात्मक क्रीड़ा है । इसका उद्देश्य है—स्वात्मोल्लास । निरीह, निराकांक्ष परमशिव स्वातन्त्र्य क्रीड़ा के उद्देश्य से ही आभासनरूप सृष्टि करता है । वही 'आभास्य' एवं 'आभासक' दोनों बन जाता है— वही 'शिव' एवं 'शक्ति', 'पति' और 'पत्नी', 'गुरु' और 'शास्ता', 'सर्जक' और 'सृजन' तथा 'शक्ति' एवं 'शक्तिमान' दोनों बन जाता है ।

जिस प्रकार कोई सार्वभौम सम्राट अपने अपरिमित ऐश्वर्यों के चमत्कार (बोध) से परितृप्त हो और सब प्रकार के वाहनादिक आदि साधनों से भी परिपूर्ण हो तथापि पैदल चलता हो—स्वात्मविनोदनार्थ पैदल यात्रा करता हो—उसी प्रकार स्वात्मपरिपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण परमशिव यद्यपि अपने आनन्द में स्पन्दित रहता है तथापि स्वविनोदार्थ अपनी इच्छामात्र से 'शिवतत्त्व' से लेकर पृथ्वीपर्यन्त अपने स्वस्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेय आदि विभिन्न रूपों को (अपने से अभिन्न रहते हुए भी) भिन्नवत् आत्मभित्ति पर प्रकाशित करता है और यही आभासन (विश्वाभास) परमशिव का 'आभास' एवं सृष्टि कहलाता है ।

सृजन-संहारस्वरूप यह आत्मविनोदन क्रीड़ा ही परमशिव का 'स्वातन्त्र्य' है । विश्वाभास की सृष्टि-संहारात्मक क्रीड़ा ही 'स्वातन्त्र्य' है और 'स्वातन्त्र्य' ही विश्वाभास का कारण है । 'स्वातन्त्र्य' की इसी विशेषता के कारण काश्मीरीय शैव दर्शन में इसे 'आभासवाद' के स्थान पर 'स्वातन्त्र्यवाद' की संज्ञा दी गई है । यह स्वातन्त्र्य क्रीड़ा सृजनव्यापार नहीं है; प्रत्युत आत्मविनोदनार्थ एक क्रीड़ा है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद् विभुः ॥[२]

सृष्टि का कोई उद्देश्य भी नहीं है । समस्त वाहनों की सुविधा होते हुए भी यदि सम्राट पैदल चलता हो तो यह तो उसका आत्मविनोद ही कहा जाएगा, उसी प्रकार निराकांक्ष परमशिव यदि सृष्टि करता है तो सृष्टि भी उसका आत्मविनोद ही कहा जाएगा—

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ।
क्रीडन्करोति पादातधर्मास्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥[३]

प्रत्येक दर्शन पिपृच्छा, जिज्ञासा, आश्चर्य एवं शंका से प्रारम्भ होता है । जिज्ञासा होती है कि सृष्टि क्या है? सृष्टि का उद्देश्य क्या है? सृष्टि का उत्स क्या है? सृष्टि का कारण कौन है? सृष्टि के उपादान तत्त्व कौन हैं? सृष्टि का मूल सूत्रधार कौन है? सृष्टि-सञ्चालन व्यवस्था का स्वरूप कैसा है? सृष्टि का भूल कारक कौन है? सृष्टि-सत्ता का

---

१. तन्त्रालोक (भाग ९।आ० १५।२६६) २. बोधपञ्चदशिका
३. आचार्य सोमानन्दपाद—शिवदृष्टि

स्वरूप क्या है? सिसृक्षा क्यों होती है? जगत् की सिसृक्षा का मूल केन्द्र कौन है? सिसृक्षा का तात्त्विक स्वरूप क्या है? आदि, आदि ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के अट्ठासीवें सूत्र में मन्त्र-द्रष्टा ऋषि प्रश्न करता है—वह कौन-सा मूल तत्त्व है, जिससे चिरन्तन स्वर्ग एवं शाश्वत सृष्टि का निर्माण हुआ और किस आधार पर स्थित होकर विधाता ने विश्वोद्घाटन किया?

'प्रश्नोपनिषद्' में पिप्पलाद ऋषि के प्रतिवादियों में कबन्धी कात्यायान पूछते हैं—'किस मूल सत्ता से इस सृष्टि का उद्भव हुआ है?'

कौसल्य अश्वलायन पूछते हैं—'समस्त इन्द्रियों के स्वामी 'प्राण' का उद्भव किस सत्ता से हुआ?'

ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि इन्द्रियों का स्वामी 'प्राण' है; किन्तु प्राण की उत्पत्ति 'आत्मा' से हुई है ।

कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है कि प्राण ही ब्रह्म है । पैंग्य भी कहते हैं कि 'प्राण' इन्द्रियों एवं मन का अधिपति है ।

'छान्दोग्योपनिषद्' (अध्याय ५, श्लोक ११) में कहा गया है कि उद्दालक पृथ्वी को ही समस्त वस्तुओं का मूलाधार मानते थे । शाल स्वर्ग को सर्वाधार मानते थे । बुडिल, शार्कराक्ष्य और इन्द्रद्युम्न क्रमशः जल, आकाश एवं वायु को मूल तत्त्व मानते थे । सत्यज्ञ दिव्याग्नि सूर्य को मूल तत्त्व मानते थे । रैक्व वायु को सृष्टि का चरम तत्त्व मानते थे । पिप्पलाद रवि एवं प्राण के सिद्धान्त में विश्वास करते थे । जीत्वन शैलिन 'वाक्' तत्त्व को ही चरम तत्त्व मानते थे । उदक शौल्बायन 'श्वास' को ही सृष्टि का चरम तत्त्व मानते थे । वर्कु वार्ष्ण, गर्दभीविपीत भारद्वाज, सत्यकाम जाबाल, विदग्ध शाकल्य क्रमशः नेत्र, कर्म, मन एवं हृदय को ही चरम तत्त्व मानते थे । याज्ञवल्क्य ने इन सभी में समन्वय स्थापित किया ।

'छान्दोग्योपनिषद्' में शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं कि 'तज्जलान्' ही वह चरम तत्त्व है, जिसमें समस्त वस्तु जगत् का उद्भव, लय एवं स्थिति केन्द्रित है ।

'छान्दोग्योपनिषद्' में सनत्कुमार का कथन है कि 'आत्मा' ही चरम तत्त्व है और आत्मा से ही आकाश, प्रकाश, जल, प्रत्येक वस्तु, समस्त शक्तियों, समस्त ज्ञानों एवं समस्त आनन्दों का उद्भव है तथा आत्मा में ही समस्त वस्तुओं का लय भी हो जाता है ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—अन्तर्निहित चरम तत्त्व ही एकान्त सत्य है, शेष सब नामात्मक सत्ता हैं । वे इसी सत्ता को वस्तु जगत् का आधारभूत तत्त्व एवं उपादान कारण मानते हैं । वे कहते हैं कि—मूल आधारभूत तत्त्व 'सत्' है और इसी से प्रथमतः अग्नि, फिर जल एवं पृथ्वी का जन्म हुआ । आत्मा कण-कण में व्याप्त है । आरुणि का कथन है कि संसार में ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जिसमें आत्मा व्याप्त न हो ।

याज्ञवक्ल्य कहते हैं कि—

(१) आत्मा ही सृष्टि का मूल तत्त्व है ।

(२) समस्त पदार्थ जगत् की स्थिति आत्मा के लिए ही है ।

(३) समस्त पदार्थ आत्मा के लिए प्रिय हैं ।

(४) आत्मा ही एकान्त सत्य है और शेष 'आर्तम्' (माया) है ।

(५) आत्मा समस्त सत्ताओं का सेतु है । आत्मा ही चरम सत्य है ।

जिज्ञासु मन इन उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं हुआ । वह पुनः पूछता है कि सृष्टि का मूल उत्स क्या है? सृष्टि के मूल उपादान तत्त्व क्या हैं? इसी के उत्तरस्वरूप 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि केवल वही वस्तु जगत् का चरम तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है, जिससे इन समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हुई हो, जो इन समस्त वस्तुओं की सत्ता का आधार हो और जिसमें अन्ततः इन समस्त वस्तुओं का लय हो—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्मेति (तै० उप० ३।१)।'

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का ऋषि पूछता है कि वह जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक कौन है? हमारा उद्भव किससे हुआ है? हमारे जीवन एवं स्थिति का अधिष्ठाता कौन है?

हीसीयड (Hesiod) भी यूनानी दृष्टिकोण से पूछता है कि यह सब किसने एवं क्यों बनाया?

उपनिषदों में इस 'कौन' एवं 'किसने' का उत्तर दो विभागों में विभाजित है—

सृष्टि का मूल कारण (मूल तत्त्व)

पौरुषेय	अपौरुषेय
(आत्मा । परमात्मा । चेतन शक्ति)	(पञ्च महाभूत, सत्, असत् आदि)

उपनिषदों में सृष्टि-विधान की ईश्वरमूलक कल्पना विशेषतः 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में हुई है ।

जगत् का मूल कारण क्या है? वस्तु जगत् का मूल तत्त्व क्या है? अपौरुषेयवादी दृष्टियों को लीजिए—

(क) जल ही मूल तत्त्व है—

यूनानी दार्शनिक थेलीज की भाँति 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि सृष्टि का मूल स्रोत या उद्भवकेन्द्र 'जलतत्त्व' है । वहाँ कहा गया है कि वस्तुतः सृष्टि के आदि में 'जल' की ही सत्ता थी । जल से 'सत्य' का उद्भव हुआ । सत्य से 'ब्रह्म' का उद्भव हुआ । ब्रह्म से 'प्रजापति' का उद्भव हुआ । प्रजापति से 'देवताओं' की सृष्टि हुई । ये देवता केवल सत्य की उपासना करते हैं ।

जल ही जगत् की आदि सत्ता है, न कि आत्मा । ब्रह्म भी सत्य से उत्पन्न हुआ । ब्रह्म मूल सत्ता नहीं है । सत्य जल से उत्पन्न हुआ ।

थेलीज की भाँति 'बृहदारण्यक उपनिषद्' समस्त वस्तुओं का मूल कारण जल को स्वीकार करता है। सृष्टि के लिए ईश्वर की कल्पना आवश्यक नहीं है।

(ख) वायु ही सृष्टि का मूल कारण (मूल तत्त्व) है—

रैक्व के सिद्धान्त को लीजिए। रैक्व का मत है कि सृष्टि का मूल तत्त्व 'वायु' है। अन्त में समस्त जगत् का लय वायु में ही हो जाता है। वायु ही समस्त वस्तुओं का मूल तत्त्व है। वे कहते हैं—'जब अग्नि बुझती है तो वायु में ही उसका विलय हो जाता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तो वह वायु में ही विलीन हो जाता है। जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वह वायु में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार वायु में ही सम्पूर्ण पदार्थों का विलय हो जाता है।'

रैक्व राजा जानश्रुति से कहते हैं कि 'वायु की समस्त पदार्थों का चरम आश्रय है।'

यूनानी दार्शनिक अनैक्जीमैण्डर (Anacsimander) का कथन है कि 'वायु' सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि एवं अन्त है। (रैक्व यह नहीं कहते कि वायु जगत् का मूल तत्त्व है; किन्तु वे उसे विश्व का परम आश्रय तो मानते ही हैं)। रैक्व वायु को जल, अग्नि एवं समस्त पदार्थों एवं सम्पूर्ण वस्तु जगत् का मूल कारण मानते हैं।

(ग) 'अग्नि' ही सृष्टि का मूलभूत कारण है—

यूनानी दार्शनिक हैराक्लाइट्स (Heracleitus) 'अग्नि' को सृष्टि का मूल तत्त्व एवं मूल उपादान कारण मानते हैं। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि अग्नि ने विश्व के अन्तस्तल में प्रवेश करके विविध स्वरूप धारण किया। हैराक्लाइट्स कहता है कि अग्नि ही सम्पूर्ण वस्तुओं के रूप में परिणत या रूपान्तरित हो जाती है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया कि—

१. आदि पुरुष से सर्वप्रथम अग्नि का उद्भव हुआ। अग्नि से जल एवं जल से पृथ्वी का उद्भव हुआ। पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में और अग्नि का आदि पुरुष में लय हो जाता है।

२. हैराक्लाइट्स अग्नि को सम्पूर्ण पदार्थों का मूल मानता है; जबकि 'छान्दोग्योपनिषद्' अग्नि को आदि पुरुष से उत्पन्न मूल तत्त्व स्वीकार करता है।

(घ) 'आकाश' ही सृष्टि का मूलभूत कारण तत्त्व है—

प्रवाहण जैवालि का मत है कि आकाश ही सृष्टि का एकमात्र मूल कारण तत्त्व है। यूनानी दर्शन में थेलीज (Thales), अनैक्जीमैण्डर (Anascimander), हैराक्लाइट्स (Heracleitus), एम्पीडोक्लीज (Empedocles) ने क्रमशः जल, वायु, पृथ्वी और अग्नि को मूल तत्त्व स्वीकार किया है; किन्तु अरस्तू (Aristotle) ने 'आकाश' को चरम तत्त्व स्वीकार किया है। फिलालॉज (Philolos) तक आते-आते सृष्टि के मूल तत्त्व की कल्पना आकाश तत्त्व तक कल्पित की जा चुकी थी।

प्रवाहण जैवालि से जब यह पूछा गया कि पदार्थों की चरम गति क्या है? तो उन्होंने

कहा—'आकाश'। समस्त पदार्थों का उद्भव आकाश से होता है और सभी का लय भी आकाश में ही हो जाता है। आकाश चरम गति है।

(ङ) 'असत्' ही सृष्टि का मूल कारण है—

'तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि—'सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि में असत् की ही सत्ता थी। इससे सत् का उद्भव हुआ। 'सत्' ने स्वत: अपना रूप विधान किया; इसलिए इसे सुकृत या स्वकृत कहते हैं।'

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (ऋग्वेद : मण्डल १०, सूक्त १२९) में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में न सत् था, न असत्; प्रत्युत निशा के घोरान्धसागर का ही अस्तित्व था।

यूनानी दार्शनिक ऐपिमिनीडीज (Epimendies) ने भी कहा था कि सृष्टि की आदि सत्ता के रूप में उस समय मात्र 'आदिशून्य' या 'महाशून्य' था।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी कहा गया है कि वस्तुओं के आदि में किसी वस्तु की सत्ता नहीं थी। प्रत्येक वस्तु पर मृत्यु या क्षुधा का आवरण था; क्योंकि 'क्षुधा' ही यथार्थत: मृत्यु है। मृत्यु ने निश्चय किया कि मुझे एक आत्मा प्राप्त हो और परिणामस्वरूप अर्चना करते-करते उसमें गति आ गई। उसकी अर्चना से जल की उत्पत्ति हुई। जल का फेन घनीभूत हुआ और पृथ्वी बन गया। मृत्यु ने पृथ्वी पर श्रम किया और उसके कारण अग्नि उत्पन्न हो गई।

यहाँ पर हम आदि 'असत्' से जल, पृथ्वी और अग्नि आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का विधान पाते हैं। चाहे उसे 'मृत्यु' या 'क्षुधा' कहा जाय और चाहे यूनानी दर्शन के शब्दों में 'महाशून्य' कहा जाय—दोनों में साम्य है।

गोर्जियस (Gorgias) जैसे दार्शनिक ने पार्मेनिडिज (Parmenidies) के सत् सिद्धान्त के विपरीत असत् की सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया। प्लेटो, अरिस्टोटल के दर्शन में भी असत् की स्वीकृति दृष्टिगोचर होती है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में असत् का सिद्धान्त स्वीकृत है। उसमें कहा गया है—'आदि में एक असत् ने अपने को सत् के स्वरूप में परिणत कर लिया। सत् ने बढ़कर एक विशाल अण्डे का स्वरूप धारण किया। एक वर्ष तक वह इसी अवस्था में पड़ा रहा। इसके उपरान्त वह टूटा तो उसके दो भागों में से एक सोने का तथा दूसरा चाँदी का था। चाँदी का भाग पृथ्वी का एवं सोने का भाग आकाश का हो गया। अण्डे के जरायु से पर्वतश्रेणियाँ, उसके उल्ब से नीहार और मेघ बन गए। उसकी धमनियों से सरितायें बन गईं तथा उसके भीतरी द्रवपदार्थ से समुद्र बन गया। इस अण्डे से जिसका जन्म हुआ, वह सूर्य था। जब सूर्य का जन्म हुआ तो अभिवादन ध्वनि हुई।'

ग्रीस के आर्किक देश के सृष्टिशास्त्र में (१) Cronos तथा (२) अड्रास्ट्रिया (Adrastea) ने एक विशाल अण्डे को जन्म दिया और उसे बीच में से विभाजित करके उसके ऊपर के भाग से आकाश और नीचे के भाग से पृथ्वी की रचना की। उस अण्डे में फेनीज (Phaphanes) नामक एक ज्योतिस्वरूप देव निकला, जिसके अन्तर्गत सभी

देवताओं का बीजरूप था। Cronos एवं Adrastea काल एवं नियति के प्रतीक हैं। ईसापूर्व आठवीं सदी तक Adrastea शब्द ग्रीक साहित्य से मिलता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति Didrasco से हुई। इसका अर्थ है—'अपलायनशील'। 'अड्रास्टिया' संस्कृत के 'अदृष्ट' शब्द का ही ग्रीक स्वरूप प्रतीत होता है। इसका अर्थ है—'नियति'। अण्डे से सूर्य के उद्भव की कल्पना प्राचीन जातियों की सभी पौराणिक कथाओं में पाई जाती है, पर असत् से अण्डे की उत्पत्ति भारतीय कल्पना है। 'ब्रह्माण्ड' शब्द भी ब्रह्म के अण्डे का परिचायक है।

शाक्ताण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड, ब्रह्माण्ड सभी सृष्टि-पिण्डों में अण्डे की कल्पना क्या बिगबैंग सिद्धान्त के प्राथमिक पारमाण्विक अण्डे को सूचित नहीं करती?

(च) 'सत्' ही सृष्टि का आदि मूल तत्त्व है—

'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सत् की ही एकमात्र सत्ता थी। उसमें कहा गया है कि—'आदि में सब कुछ 'सत्' था। एक और अद्वितीय था। इस आदि सत्ता ने सोचा—मैं बहुरूप हो जाऊँ, मैं प्रजा का उत्पादन करूँ। ऐसा चिन्तन करके उसने एक तेज की सृष्टि की। 'तेज' ने इच्छा की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, मैं प्रजा का उत्पादन करूँ और उसने जल की सृष्टि की। 'जल' ने चिन्तन किया कि मैं बहुरूप हो जाऊँ और मैं प्रजा का उत्पादन करूँ और उसन अन्न को जन्म दिया।'

(छ) 'प्राण' ही सृष्टि का आदि मूल तत्त्व है—

'छान्दोग्योपनिषद्' में उषस्ति चाकायण से पूछा गया कि समस्त पदार्थों का मूल तत्त्व क्या है? उषस्ति ने कहा कि वह तत्त्व 'प्राण' है; क्योंकि प्राण ही में समस्त सत्तायें प्रवेश करती हैं और प्राण से ही इनका मूलोद्भव होता है। रैक्व भी यही कहते हैं कि जिस प्रकार 'वायु' विश्व का प्राण है, उसी प्रकार 'श्वास' मनुष्य का जीवनतत्त्व है। कहा गया है कि—'प्राण प्रलय का चरम आश्रय है। समस्त पदार्थों का संवर्ग (अन्त) है। सुषुप्ति में मनुष्य की वाणी उसके प्राण में विलीन हो जाती हैं। 'प्राण' निलय का चरम आश्रय है।'

निलय के दो आधार हैं—एक व्यष्टि जगत् और दूसरा समष्टि जगत्। एक वायु और दूसरा प्राण।

सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि—'जिस प्रकार चक्र की समस्त तीलिकाएँ नाभि-केन्द्र में केन्द्रित हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थ, वस्तुतः समस्त सत्ता प्राण में केन्द्रीभूत है।

कौषीतकी ऋषि कहते हैं—'प्राण' चरम सत्य है, मन इसका दूत है, नेत्र अंगरक्षक हैं, कर्ण सूचक है और वाणी परिचारिका है। इस चरम सत्य 'प्राण' को समस्त पदार्थ आहुति प्रदान करते हैं, यद्यपि प्राण उनकी याचना कभी नहीं करता।'

'छान्दोग्योपनिषद्' में एक वृत्तान्त है कि एक बार सभी इन्द्रियाँ अपने में श्रेष्ठतम का निर्णय करने हेतु प्रजापति के पास गईं। प्रजापति ने उस इन्द्रिय को श्रेष्ठतम कहा, जिसके द्वारा त्याग किये जाने से शरीर अशक्त हो जाय। वाणी, नेत्र, कान, मन सबने बारी-बारी से एक-एक वर्ष के लिए शरीर छोड़ा, किन्तु शरीर जीवित रहा; किन्तु जब 'प्राण' शरीर

को छोड़ने लगा तो सभी इन्द्रियाँ उखड़ने लगीं, अतः सभी इन्द्रियों ने प्राण से शरीर न छोड़ने का निवेदन करके कहा कि—'आप ही हमारे स्वामी हैं, आप हमें न छोड़िये।'

'कौषीतकी उपनिषद्' में भी यही वृत्तान्त थोड़ा परिवर्तन के साथ मिलता है।

'प्रश्नोपनिषद्' में प्राण की अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, वायु, सत् एवं असत् से तद्रूपता दिखाई गई है। प्राण को ही वाणी, श्रवण, नयन, मन आदि का अधिष्ठातृ एवं व्यापक तत्त्व कहा गया है तथा प्राण को 'भ्रमर' की उपमा दी गई है, जिसके बाहर जाने पर सारी मधुमक्षिकायें भी उसके साथ लौट जाती हैं।

'कौषीतकी उपनिषद्' प्राण को आयु भी स्वीकार करता है। यहाँ प्राण को 'प्रज्ञा' भी कहा गया है। यहाँ 'प्राण' अजर, अमर आत्मा से भी एकीभूत है।

सृष्टि का पौरुषेय कल्पना-विधान—अपौरुषेय सृष्टि में पञ्च महाभूत, असत्, सत्, निशा, क्षुधा, मृत्यु को सृष्टि का विधायक मूल तत्त्व माना गया था; किन्तु इसमें परमात्मा की आवश्यकता नहीं मानी गई। 'पौरुषेयवाद' में परा सत्ता को स्वीकार करके पौरुषेय सृष्टि का विधान प्रस्तुत किया गया।

'प्रश्नोपनिषद्' में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि सृष्टि के आदि में विधाता को सिसृक्षा हुई। उन्होंने तप किया और तपोपरान्त जड़ एवं चेतन के प्रतीक 'रयि' एवं 'प्राण' को जन्म दिया। अरस्तू का Matter और Form या जड़ तथा चेतन इसी के समकक्ष हैं। पिप्पलाद ने जड़ एवं चेतन के द्वन्द्वात्मक जोड़े की कल्पना की है।

पिप्पलाद का मत है कि मिथुन सत्ता की सृष्टि हुई, जो इस प्रकार है—

चन्द्रमा 'रयि' है और सूर्य 'प्राण' है।

पितृयान 'रयि' है और देवयान 'प्राण' है।

कृष्णपक्ष 'रयि' है और शुक्लपक्ष 'प्राण' है।

निशा 'रयि' है और दिवस 'प्राण' है।

'तैत्तिरीयोपनिषद्' में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में विधाता ने तप किया और तपोपरान्त जगद्रचना करके स्वयं उसमें प्रवेश किया। प्रवेश करके उसने व्यक्त-अव्यक्त, निरुक्त-अनिरुक्त, निलयन-अनिलयन, विज्ञान-अविज्ञान और सत्य-अनृत का रूप धारण किया। प्रश्नोपनिषद् भी स्वल्पांश में भेददृष्टि प्रस्तुत करके इसी स्थिति का निरूपण करता है।

आत्मा और मिथुन-सृष्टि—'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी नर-नारी की मिथुन सत्ता के रूप में द्वन्द्वात्मक सृष्टि-कल्पना प्रस्तुत की गई है। इस उपनिषद में कहा गया है कि—

१. सृष्टि के आदि में केवल आत्मामात्र की सत्ता थी। उस समय उसका स्वरूप 'पुरुष' का था।

२. पुरुष ने अपने-आपसे कहा 'मैं पुरुष हूँ'। इसी कारण उसकी 'अहं' संज्ञा हुई। इसी कारण परिचय पूछे जाने पर प्रत्येक व्यक्ति कहता है—'अहं' और उसके बाद ही

अपना नाम बताता है ।

३. आत्मा भयभीत हुई । इसीलिए एकान्त में सभी को भय प्रतीत होता है ।

४. आत्मा ने चिन्तन किया 'यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं तो मुझे क्यों भय करना चाहिए?' इस तरह आत्मा का भय जाता रहा । भय की भावना का कारण है—'द्वित्व की भावना' । इतने पर भी आत्मा को तुष्टि नहीं हुई ।

५. आत्मा ने अपने को दो भागों में विभाजित कर लिया और स्वयं ही पति एवं पत्नी के रूप में परिणत हो गई । पत्नी को चिन्ता हुई कि अपने से ही मेरी सृष्टि करके आत्मा पुरुष मेरे साथ सम्भोग करना चाहता है; अत: उसने छिपने का प्रयास किया और गाय बन गई । आत्मा-पुरुष वृषभ बन गया और उसने उसके साथ सम्भोग किया । वह अश्विनी बन गई तो आत्मापुरुष ने अश्व रूप धारण करके उसके साथ सम्भोग किया । वह गर्दभी बन गई तो आत्मापुरुष ने गर्दभ बनकर उसके साथ सम्भोग किया । इस प्रकार आत्मा ने चींटी-पर्यन्त समस्त योनियों में प्राणियों की सृष्टि की (यहाँ जड सृष्टि का वृत्तान्त नहीं है) ।

'ऐतरेयोपनिषद्' में कहा गया है कि—

(१) आदि में आत्मा ही एकमात्र सत्ता थी ।

(२) आत्मा में सिसृक्षा उत्पन्न हुई ।

(३) आत्मा ने स्वर्गोपरि अम्भोलोक, दिव्य तेजसपूर्ण स्वर्ग लोक, मृत्युलोक, जलमय पाताललोक की (चार लोकों की) सृष्टि की ।

(४) फिर आत्मा ने (लोकसृष्टि के बाद) जल से विराट पुरुष की रचना की और नासिकापुट में प्राण-सञ्चार किया । ग्रीक एवं ईसाई 'लोगास' (Logos) की कल्पना इसके समतुल्य है ।

(५) आत्मा ने इस विराट् पुरुष का चिन्तन किया; अत: उसके चिन्तन से इन्द्रियों की रचना हुई । फिर उनके विषयों और उनके देवों तथा लोकपालों की सृष्टि हुई । उसने मुख बनाया । मुख से वाणी निकली । वाणी से अग्नि निकली । फिर नाक बनाया और उससे निकली—नि:श्वासें । नि:श्वासों से प्रकट हुई—जीवन वातास । फिर दृष्टि की रचना की । दृष्टि-ज्योति से निकला—सूर्य । फिर उसने कान बनाये । कान से दिशायें बनी, आदि । जीव आत्मा की अन्तिम कृति है । आत्मा से ही वस्तु जगत् की भी सृष्टि हुई ।

आत्मा और सम्भूतिवाद—'तैत्तिरीयोपनिषद्' में सम्भूतिसिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार किया गया है—आत्मा से प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई । यहाँ सृजन-प्रक्रिया को 'सम्भूति' कहा गया है ।

अधोमार्ग—आत्मा → आकाश → वायु → अग्नि → जल → पृथ्वी (सृष्टि के समय) ।

ऊर्ध्वमार्ग (प्रलय के समय)—पृथ्वी का जल में ← जल का अग्नि में ← अग्नि

का वायु में ← वायु का आकाश में ← और आकाश का परमात्मा में लय ।

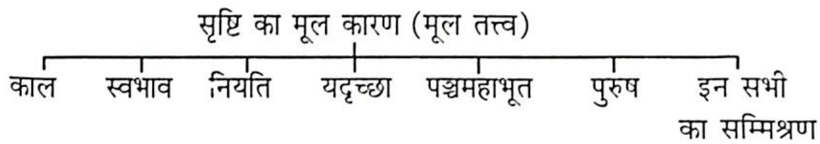
हैराक्लाइट्स (Heracleitus) की कल्पना ने भी इसी 'अधोमार्ग' एवं 'ऊर्ध्वमार्ग' की कल्पना की थी ।

मुण्डकोपनिषद् का पौरुषेयवाद—मुण्डकोपनिषद् के अनुसार—

(१) सृष्टि के आदि में एक दिव्य अमूर्त पुरुष था, जो अज, अप्राण, अमन, शुभ्र एवं अक्षर था ।

(२) उससे प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी का जन्म हुआ । उसी से देवता, देवदूत, मनुष्य, पशु एवं पक्षियों का जन्म हुआ । उसी से शाल्य, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं धर्म की उत्पत्ति हुई । उसी से लौकिक-पारलौकिक सत्तायें, जड़-चेतन प्रकृति एवं नैतिक मानसिक गुण उत्पन्न हुए ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् और सेश्वर सृष्टि-विधान—मूल जगत् के कारण के विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं, जिनका श्वेताश्वतर में उल्लेख किया गया है । 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में तत्कालीन अनेक दृष्टियों का उल्लेख किया गया है; जो निम्नांकित हैं—



अन्तिम मत है कि सृष्टि का मूल कारण 'आत्मा' है । 'श्वेताश्वरोपनिषद्' सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में उल्लिखित इन सभी दृष्टियों का प्रत्याख्यान करके अन्तिम मत 'आत्मोत्पत्तिवाद' का प्रत्याख्यान करता हुआ 'रुद्र' की शक्ति की प्रेरणा को ही सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार करता है । सृष्टि का मूल कारण 'ब्रह्म' है ।

यूनानी एवं भारतीय मनीषियों में वैचारिक साम्य

भारतीय दृष्टि	यूनानी दृष्टि
(क) अण्डाकार विश्वपुरुष की कल्पना—आत्मा से नर-नारी का निकलना	अण्डाकार विश्वपुरुष के दोनों पक्ष—पृथ्वी एवं आकाश से तेज:पुञ्ज देवता 'फेनीज' का प्राकट्य ।
(ख) ग्रन्थारम्भ की जिज्ञासा—'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में उठाया गया प्रश्न	हीसियड (Hesiod) में उठाया गया प्रश्न ।
(ग) 'बृहदारण्यकोपनिषद्'—जल सृष्टि का मूल तत्त्व है ।	थेलीज—सृष्टि का मूल तत्त्व जल है ।
(घ) 'छान्दोग्योपनिषद्'—वायु का परम निलयाधिष्ठान ।	अनेक्जेमिनी (Anascimenes) का सिद्धान्त ।

(ङ) 'कठोपनिषद्' अग्नि का सर्वपरिणतिवाद	हैराक्लिटस (Heraclaitus) का सिद्धान्त
(च) 'मुण्डकोपनिषद्' में वर्णित पृथ्वी का सृष्टि-विधान ।	'हीसियड' में वर्णित सृष्टि-विधान ।
(छ) 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में प्रतिपादित पञ्चमहाभूत	फिलोलोज (Philolose) का सिद्धान्त ।
(ज) 'तैत्तिरीयोपनिषद्' एवं 'छान्दोग्योपनिषद्' में प्रतिपादित-सत्-असत् की कल्पना	गोर्जियस एवं पार्मेमिडीज के सिद्धान्त ।
(झ) 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में प्रतिपादित 'अधो-मार्ग' एवं 'ऊर्ध्वमार्ग' ।	हैराक्लाइट्स (Haralaitus) का सिद्धान्त ।
(ञ) 'छान्दोग्योपनिषद्' में प्रतिपादित त्रिवृत्करण का सिद्धान्त ।	अनैक्ज़ागोरस का सिद्धान्त—'प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का अंश है' ।
(ट) भारतीय दर्शनों एवं उपनिषदों का पुनर्जन्म का सिद्धान्त	पाइथागोरस का पुनर्जन्म का सिद्धान्त
(ठ) कठोपनिषद् का वृत्तान्त	कैड्सीय का सारथी एवं रथ का रूपक ।
(ड) कठोपनिषद् में विश्व के चक्षुभूत सूर्य का आत्मा के रूप में वर्णन ।	प्लेटो के अव्यक्त भाव जगत् के सूर्य के रूप में शिवम् का निरूपण ।
(ढ) वेदान्त की माया	प्लेटो का 'ताँ माँयाँ'
(ण) नैयायिकों के सामान्यरूप की आलोचना, जो शंकराचार्य ने की है ।	प्लेटो के अव्यक्त आदिरूप की सर्वव्यापकता की पार्मेनिडीज़ की आलोचना ।
(त) ऋग्वेद में प्रतिपादित वाक् सिद्धान्त ।	हैराक्लाइट्स, स्टोइक्स तथा ग्रीक दर्शन की (Logos) की कल्पना ।
(थ) उपनिषदों की 'तुरीय' एवं मीमांसा का 'स्फोट' सिद्धान्त ।	पाइथागोरस का अंकों का एवं प्लेटो का सूक्ष्म चरम रूप का सिद्धान्त ।
(द) गीता में ईश्वर की 'अकार' होने की कल्पना ।	ईश्वर के 'आल्का' एवं 'ओमेगा' होने की कल्पना ।

बन्धन की कार्य-कारण परम्परा—बौद्ध दर्शन में 'भव चक्र' : 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ।

१. अविद्या से संस्कार
२. संस्कार से विज्ञान
३. विज्ञान से नाम-रूप
४. नाम-रूप से षडायतन (मन + ५ ज्ञानेन्द्रियाँ)
५. षडायतन से स्पर्श
६. स्पर्श से वेदना

७. वेदना से तृष्णा

८. तृष्णा से उपादान (राग)

९. उपादान से भव (संसार में होने की प्रवृत्ति)

१०. भव से जाति

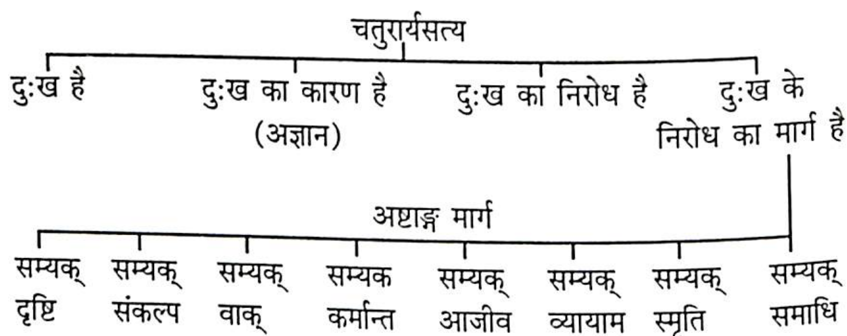
११. जाति से जरा

१२. जरा से मृत्यु ।

सृष्टि का मूल कारण क्या है? बुद्ध कहते हैं कि सृष्टि एवं बन्धन का मूल कारण 'तृष्णा' है; क्योंकि तृष्णा 'अज्ञान' के चक्र में फँसाती है—

'तण्हा उपज्जमाना उपज्जति निमज्जमाना निमज्जति' ।

दुःख का मूल कारण हमारा 'अज्ञान' है । इससे एक परम्परा बन जाती है और यही है—'प्रतीत्यसमुत्पाद' और उसकी द्वादश शृंखलायें ।



शिवाद्वयवादियों का परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है, विश्व से एवं समस्त सत्ताओं से परे होने के कारण परात्पर सर्वोत्तीर्ण तत्त्व है । वह 'विश्वोत्तीर्ण' होते हुए भी सर्वात्मक एवं सर्वमय है । वह (मितप्रमाताओं के प्रतिकूल) विकल्पों से अप्रभावित है । वह संवित् प्रकाशस्वरूप है । वह अनाच्छादित चिदानन्द में विश्राम करता है, वह पूर्ण प्रसारशील एवं सर्वव्यापक है । वह 'अविरल विचित्र पञ्चवाहवाहवाहिनी महोदधिस्वरूप' है । वह निरतिशय स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण सर्वत्र स्पन्दायमान एवं प्रगल्भमान है । वह समस्त शक्तियों से सम्भरित, संयुक्त एवं सुसेवित है । वह संविदात्मा महेश्वर अद्वितीय, अप्रतिम एवं एक है ।[1]

तन्त्रवटधानिका में कहा गया है कि—(१) शक्तिसंयुक्त परमात्मा स्वप्रकाशैकरूप होने के कारण (२) समस्त भावों (सत्ताओं) की आत्मा होने से समस्त विश्व का 'अवभासन' करने के कारण एवं स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण 'शिव' कहलाता है—

---

१. वामदेवभट्टाचार्य : 'जन्ममरणविचार'—
'इह खलु निखिलजगदात्मा सर्वोत्तीर्णश्च, सर्वमयश्च, विकल्पासङ्कुचितसंवित्प्रकाशरूपः, अनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्तः, प्रसरदविरलविचित्रपञ्चवाहवाहवाहिनीमहोदधिः, निरतिशय-स्वातन्त्र्यसीमनि प्रगल्भमानः, सर्वशक्तिखचित एक एव अस्ति संविदात्मा महेश्वरः ।'

स्वप्रकाशैकरूपत्वात् भावात्मत्वेन भासनात् ।
तथात्वेऽपि स्वतन्त्रत्वाच्छक्तिमान्स शिवः स्मृतः ॥[१]

यह 'परमेश्वर' समस्त प्रणियों की आत्मा है, समस्त अध्वाओं से परे है, स्वातन्त्र्य शक्ति से समन्वित होने के कारण स्वतन्त्र है और अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा इस अनन्तात्मक अखिल विश्व को अपनी ही आत्मभित्ति में अवभासित कर रहा है—

सर्वभूतात्मभूतः सर्वाध्वसमुत्तीर्णः स्वतन्त्रः ।
स्वशक्त्या भासितानन्तविश्वः स परमेश्वरः ॥

महेश्वर अन्तर्बाह्य सर्वत्र प्रकाशित है । वह पूर्णतः चिद्रूप है । उसे 'चिति' एवं 'परासंवित्' कहा गया है ।[२] शिवसूत्रों में इस 'चिति' एवं 'परमशिव' को आत्मा (चैतन्यमात्मा) कहा गया है ।[३] यही परम सत्ता 'परतत्त्व' भी कही गई है । इसमें ही षट्त्रिंशदात्म जगत् अवस्थित है ।[४] आत्मा से उच्चतर, महत्तर एवं श्रेष्ठतर कोई नहीं है, इसीलिए इसे 'अनुत्तर' भी कहा गया है ।[५] यह प्रकाश-विमर्शात्मक है । 'प्रकाश' तो आत्मा का स्वस्वरूप है, जबकि विमर्श इस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप की प्रतीति है ।

वह प्रकाशस्वरूप, परिपूर्ण, स्वात्मा में विश्रान्त, आनन्दघन, इच्छा एवं संवित् शक्तिस्वरूप, शक्तिपरिपूर्ण, सर्व विकल्पविहीन, शुद्ध, शान्त, लयोदयविहीन एवं परतत्त्व है । इसी में ३६ तत्त्वों वाला जगत् प्रकाशित है ।[६] वही परात्पर तत्त्व है, अनादि है, सर्वालय, सर्वचराचरस्थ शम्भु है ।[७]

वह विश्वात्मा है, प्रकाश है और परमेश्वर है—

जयत्येकोऽपि विश्वात्मा प्रकाशः परमेश्वरः ।[८]

वह वेदक, अद्वित, एक, कर्ता, ज्ञाता एवं ईश्वर है—

कर्ता ज्ञाता स चेश्वरः । (ईश्वरसिद्धि : उत्पलदेव)

वह विश्वरूप है—

---

१. अभिनवगुप्त
२. चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित् (तन्त्रालोक) ।
३. शिवसूत्र—'चैतन्यमात्मा' (१।१)
४. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत् । (परमार्थसारकारिका ११)
५. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम् । (परात्रिंशिकाविवृति)
६. अभिनवगुप्तपादाचार्य : परमार्थसार—
भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम् ।
इच्छात्करणैर्निर्भरितमन्तशक्तिपरिपूर्णम् ।
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम् ॥
यत्परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत् ॥
७. परं परस्थं गहनादनादिमेकं विशिष्टं बहुधा गुहासु ।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये ॥
८. उत्पलदेवाचार्य : 'सम्बन्धसिद्धि'

न चेदन्तकृतानन्त विश्वरूपो महेश्वरः ।[१]

वह परमात्मा ऐसा 'चिदात्मा' है । इसी चिदात्मा परमात्मा के भीतर समस्त जगत् अवस्थित है और वह निरुपादान सृष्टि करने वाले योगियों की भाँति विना किसी बाह्य साधन या सामग्री के (निरपेक्ष रूप में) समस्त षट्त्रिंशदात्म जगत् एवं उसके अनन्त पदार्थों को अपने बाहर अवभासित करने के रूप में सृष्टि किया करता है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥[२]

वही परम शिव अपने 'प्रकाश' पक्ष द्वारा 'शिव' है और 'विमर्श' पक्ष द्वारा 'शक्ति' है । शिव एवं शक्ति परस्पर अभिन्न हैं; क्योंकि शिव शक्ति के विना एवं शक्ति शिव के विना रह ही नहीं सकते; अतः शिव एवं शक्ति में अभेद है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥[३]

क्योंकि शक्तिमान ही शक्ति है और शक्ति ही स्वयं शिव भी हैं—

शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत्करणार्थतः ।
शक्तेः स्वातन्त्र्यकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेत् ॥

स्पष्ट है कि हिम से पृथक् शैत्य नहीं रह सकता और न तो अग्नि से पृथक् ऊष्णता रह सकती है, उसी प्रकार शिव से पृथक् शक्ति एवं शक्ति से पृथक् की सत्ता सम्भव नहीं है—

न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत् ।[४]

शिवसूत्रों में विश्व को परमशिव का शक्तिसंघात कहा गया है—'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' । वह विश्वमय होने पर भी विश्वोत्तीर्ण है—'अतएव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः' ('तन्त्रालोक' : अभिनवगुप्त) । परम शक्ति मुख्यतः पाँच शक्तियों से युक्त है । उस चिदात्मा की प्रकाशरूपता को ही उसकी 'चिति शक्ति' कहा गया है और वही आत्मा का स्वरूप है ('चैतन्यमात्मा' : शिवसूत्र) ।

समरसता का सिद्धान्त

'नेत्रतन्त्र' में सामरस्य के अनेक भेद बताए गए हैं—

आत्मन्येकः समरसो मन्त्रे ज्ञेयो द्वितीयकः ।
तृतीयं नाडिगं कुर्याच्छक्तौ कुर्याच्चतुर्थकम् ॥
व्यापिन्यां पञ्चमं प्रोक्तं समनायां तु षष्ठकम् ।
तात्त्वः समरसो देवि सप्तमस्तु विधीयते ॥

---

१. उत्पलदेवाचार्य : 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' (१।२३)
२. उत्पलदेवाचार्य : 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' (१।३८)
३. शिवदृष्टि
४. शिवदृष्टि : 'सोमानन्दपाद'

शिष्यात्मानं तु संगृह्य पूर्वोक्तविधिना क्रमात् ।
पश्चादात्मनि संयोज्य लोलीभूतं विचिन्तयेत् ॥

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा—दोनों दर्शनों में 'समरसता' का विशिष्ट स्थान है । स्वच्छन्द-तन्त्र में कहा गया है कि—'जैसे एक नदी समुद्र में मिलकर समरसत्त्व प्राप्त कर लेती है एवं समुद्र तथा नदी में किसी प्रकार की भी पृथकता या भिन्नता नहीं रह जाती, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मभाव प्राप्त करके पूर्णत: शिवरूप हो जाती है तब उसे 'सामरस्य' कहते हैं ।

स्वच्छन्दतन्त्र के टीकाकार श्री क्षेमराज कहते हैं—'समौ रसो यस्मिन् स समरसो लोली-भाव: ।' अर्थात् जिसमें समान रस हो, ऐसे लोलीभाव या ललक की भावना को सामरस्य कहते हैं ।

श्री उत्पलदेव ने समरसता की व्याख्या इस प्रकार की है—'भावानामेकैकस्य निर्वाणोऽपि परमेश्वर: स्पर्शरसोऽखण्डित एवेति सामरस्यम् ।' अर्थात् निर्वाण हो जाने पर प्रत्येक पदार्थ का परमेश्वर के स्पर्शरस से अखण्डित या अभिन्न हो जाना ही 'सामरस्य' है ।

'नेत्रतन्त्र' में समरसता का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

नाहमस्मि न चान्योऽस्मि ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मन: समरसी मतम् ॥

अर्थात् जिस समय योगी यह जानने लगता है कि 'न तो मैं ही हूँ और न तो कोई अन्य ही है और न तो ध्येय ही यहाँ विद्यमान है, अपितु मन आनन्दपद में लीन होकर समरसता प्राप्त कर चुका है' तो इसी अवस्था की संज्ञा है—'सामरस्य' ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि योगी आनन्द शक्ति में विश्राम ग्रहण करते समय समरस हो जाता है—'आनन्दशक्तिविश्रान्ते योगी समरसो भवेत् ।'[१]

आनन्द शक्ति में विश्रान्ति पाने पर ही योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त होती है—'चित्ते समरसीभूते द्वयोरौन्मनसी स्थिति: ।'[२] अर्थात् समरसता की स्थिति प्राप्त होते ही चित्त में द्वैत के प्रति उन्मनीभाव जाग्रत हो जाता है या वह पूर्ण अद्वैतभाव प्राप्त कर लेता है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य के मतानुसार समरसता ही अनुत्तरावस्था है, क्योंकि इस स्थिति में पहुँच कर योगी के लिऐ फिर और कुछ शेष नहीं रह जाता और वह अखण्ड आनन्द-घन शिवरूप हो जाता है । यही बात शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी (३४) में 'समरसपरानन्द-परयो:' कहकर स्वीकार की है और समरसता द्वारा आनन्दाप्ति का होना बताया है ।

श्री नरहरिस्वामी ने भी सामरस्य का उल्लेख करते हुए कहा है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दाम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनो: ॥[३]

---

१. तन्त्रालोक (भाग १)   २. तन्त्रालोक (११।२९।२७४)
३. बोधसार

अर्थात् जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम करने वाले दम्पति का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनन्ददायक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के समरस हो जाने पर आनन्द के निर्बाध रूप से उत्पन्न होने पर कल्पित द्वैत या पार्थक्य भी ब्रह्मानन्द के तुल्य हो जाता है ।

लिंगायत दर्शन में समरसता की व्याख्या अन्य प्रकार से की गई है । वहाँ कहा गया है कि समरसता 'समरस' शब्द से निर्मित पद है । दो रसों के मिलने को 'समरसता' कहते हैं । यथा—यदि दूध को पृथक्-पृथक् दो पात्रों में रख लिया जाय एवं पुनः दोनों पात्रों के दूध को मिला दिया जाय तो यह सामरस्य कहलायेगा, किन्तु यह तादात्म्य से भिन्न है ।

'शिवप्रयोगदीपिका' में कहा गया है कि दूध का दूध से एवं नीर का नीर से मिलना ही सामरस्य है—'क्षीरक्षीरसंयोगवत् सामरस्यम् ।'

सामरस्य एवं तादात्म्य में अन्तर—दूध का जल से मिलना तादात्म्य है; क्योंकि यहाँ जल दूध का रूप धारण कर लेता है और अपना रूप खो देता है, जबकि दूध में दूध मिलने पर दोनों में जो एकरूपता होती है, उसमें कोई भी अपने स्वरूप को नहीं खोता ।

लिंगायत या वीरशैवदर्शन में समरसता को ही मोक्ष की अवस्था माना गया है । कहा गया है कि मोक्ष के अवसर पर जीवात्मा अपने ही रूप में स्थित होकर समरसत्व प्राप्त कर लेता है ।

समस्त शैव दर्शनों एवं वेदान्त आदि में समरसता के सिद्धान्त को आत्मीकृत किया गया है; किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता को अखण्ड आनन्दाप्ति का पर्याय स्वीकार किया गया है । समरसता अभेदतत्त्व एवं शिवत्व की स्थिति है ।

स्पन्दशास्त्र की दृष्टि—'स्पन्दकारिका' में कहा गया है कि यहाँ पहुँचने पर न तो सुख रहता है, और न ही दुःख, न ग्राह्य रहता है और न ग्राहक, और न तो मूढभाव ही रहता है । यहाँ अन्त में शेष रहता है—मात्र परमार्थ तत्त्व—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थता ॥

इस अद्वैत स्तर तक पहुँचने से पूर्व जीवात्मा समरसता के स्थान पर विषमता की स्थिति में रहता है और वह तीन मलों एवं षट् कञ्चुकों से आवृत होकर विषमता की स्थिति में पड़ा रहता है । यह जागतिक वैषम्य एवं भावनात्मक द्वैतप्रथा ही संसारावस्था है । इसी भेद के स्वर से निःशेष विश्व स्पन्दित हो रहा है; किन्तु यह वैषम्य की अवस्था भी उसी चिति शक्ति से और उसी के भीतर उत्पन्न हुई है; क्योंकि चिति अपनी 'माया शक्ति' से ही इस वैषम्य का सृजन करती है और जीवात्मा को विषमता की पीड़ा से सन्तृप्त करती है । वह उन्हें वैषम्य में संलीन रखकर स्पन्दनशील बनाती है, जिससे कि वह सुख-दुःख में लीन रहकर विश्व के कार्यों में व्याप्त रहता है । वैषम्य की स्थिति में सुख-दुःख दोनों रहते हैं; किन्तु समरसता की अवस्था में केवल सुख ही सुख प्रवाहित होता रहता है, दुःख तो

लेशमात्र भी नहीं रहता—'नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखम्' (छा० उप०७।२३)।

विषमता से ही समरसता की ओर जाने का मार्ग है। 'भूमा' की प्राप्ति भी विषमता से आगे बढ़ने पर ही हो सकती है।

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा ने इच्छा-ज्ञान-क्रिया में समन्वय एवं सामरस्य स्थापित किया है। योगी समरसता-प्राप्त होता है। ममत्व-परत्व, अहं-इदं, अहं-त्वं आदि के भेद ही तो विषमता के बीज हैं और समरसता उनका एकत्वभाव है। जड़-चेतन में समरसता, जीव और शिव में समरसता, सुख और दु:ख में समरसता, भोग और मोक्ष में समरसता, भेद और अभेद में समरसता, बन्धन और मुक्ति में समरसता, आत्मा और अनात्मा में समरसता तथा ज्ञान और अज्ञान में समरसता आदि समरसता के अनेक प्रकार हैं। यही जीवों की मुक्तावस्था है। यही शिवत्व की अवस्था है।

स्पन्दशास्त्र की यह प्रधान मान्यता है कि समरसता सर्वत्र विद्यमान है। मलों के आवृत होने के कारण प्राणी को उसकी अनुभूति नहीं होती। 'न सावस्था न य: शिव:'—स्पन्दकारिकाकार का कथन है कि ऐसी कोई अवस्था है ही नहीं, जहाँ शिवभाव—शिवत्व विद्यमान न हो। यह शिवत्वभाव शिवावस्था ही तो 'समरसता' है। 'ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिव न हो' का अर्थ है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत आदि समस्त अवस्थाओं में समरसता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये सारी अवस्थायें एक-दूसरे के विपरीत (विरुद्ध) एवं एक-दूसरे से भिन्न हैं; अत: सबमें पारस्परिक वैषम्य एवं वैभिन्त्र्य है। प्रतीत होता है कि सारी जलराशि चञ्चल है, सम्पूर्ण समुद्र चञ्चल है; किन्तु समुद्र की गहराई में जाने पर यह दृष्टिगत होता है कि सम्पूर्ण समुद्र प्रशान्त है, निस्तरङ्ग है और जल के भीतर तरङ्गता एवं निस्तरङ्गता, क्षोभ एवं अक्षोभ, शान्ति एवं अशान्ति का कोई वैषम्य नहीं है। वैषम्य लहरों के कारण है, औपाधिक है, आगन्तुक है और जल का आत्मधर्म नहीं है। ठीक इसी प्रकार अवस्थाता (आत्मा) निस्तरङ्ग है, समरस है, देश-काल से अप्रभावित है, नित्य एकस्वरूप है; अत: उसमें दिखाई पड़ने वाली चञ्चलता की तरंगे—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत आदि की विभिन्न अवस्थायें भिन्न-भिन्न प्रतीत तो होती हैं और विपरीत स्वभाव की भी प्रतीत होती है; किन्तु प्रथमत: अवस्थाता (आत्मा) सारी अवस्थाओं से अतीत है। अत: वह सारी अवस्थाओं में भी समरस है और दूसरे यह कि शिव से अतिरिक्त तो कोई अवस्था हो ही नहीं सकती; अत: समस्त जाग्रदादि अवस्थाओं में भी समरसता है।

(२) सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जन्म-मरण, यश-अपयश, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मोक्ष, जय-पराजय, शुद्धि-अशुद्धि, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि जितनी भी अवस्थायें हैं, उन सभी में एकता का सूत्र अनुस्यूत है; किन्तु मलों एवं कञ्चुकों के कारण वह अनुभव में आ नहीं पाता।

आचार्य रामकण्ठ कहते हैं कि—(१) शिव की संकल्प शक्ति (इच्छा) से ही जगत् एवं उसकी समस्त अवस्थाओं का उद्भव हुआ है; अत: समस्त विश्व, उसके समस्त व्यापार एवं तन्निहित समस्त अवस्थायें शिवस्वरूप हैं—एतासु शब्दार्थचिन्तासु सा अवस्था दशा न

काचित् । शब्दचिन्तारूपा अर्थचिन्तारूपा वा सम्भवति—या शिव एव साक्षात् न भवति ।[१]

(२) समस्त जीव सर्वमय हैं; अतः उस सर्वमयत्व के लक्षण के कारण ऐसी कोई अवस्था है ही नहीं, जो कि शिवावस्था नहीं है; अतः स्वयं भोक्ता भी ईश्वर ही है ।[२]

जीवः तावत् सर्वमयः, तेन च तस्य सर्वमयत्वप्रतिपत्तिलक्षणेन हेतुना सा अवस्था नास्ति या शिवमयी न भवति, ततश्च भोक्तैव ईश्वरो भोग्यभावेन ईशितव्यवस्तुरूपतया सदा सर्वत्र संस्थितः ।[३]

इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि अवस्थाओं एवं दशाओं में एक आत्मा ही अनुस्यूत है; अतः सर्वत्र एकरसता, समत्व एवं समरसता स्थित है—'आत्मन एव विश्वरूपत्वेन स्थितिः प्रतिपादिता विश्वप्रपञ्चस्य ।'[४] वस्तुसंवेदन के स्वाभाविक आत्मबल के कारण वस्तु के साथ आत्मा की 'तादात्म्यप्रतिपत्ति' है; अतः वस्तु के साथ आत्मा एवं सभी की अभेदता एवं अभेदसंवित्ति भी है । अतः सभी पदार्थों में सर्वभाव स्थित है । परिणामतः जीव भी सर्वमय है । इसीलिए 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है कि—

भौक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।[५]
यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ (स्पन्दकारिका २८।३)

समयाचार, स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा—सभी 'सामरस्यवाद' के प्रतिपादक हैं । गौड़पादाचार्य भी इसी का प्रतिपादन करते हैं ।

समयाचार एवं शाक्तदर्शन की अन्य शाखाओं में सामरस्य-विधान—आचार्य गौड़पाद ने 'सुभगोदय' में छः प्रकार के ऐक्यों (सामरस्यों) का उल्लेख किया है—

त्रिकोणे ते वृत्तत्रितयमिभकोणे वसुदलम्
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम् ।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्तिकमुमे
प्रधानैक्यं षोढ़ा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः ॥

* * * * *

कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे
तयोर्नादेनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः ।
तयोर्बिन्दावैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे
तदेवं षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥

षड्विध ऐक्य—(१) 'कला' का 'बिन्दु' से ऐक्य । इन दोनों का नाद के विभव से ऐक्य ।

(२) नाद का 'कला' तथा 'बिन्दु' से ऐक्य ।

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति (२।३)
२. स्पन्दसूत्र
३. स्पन्दशास्त्र
४. स्पन्दसूत्र
५. स्पन्दशास्त्र

(३) कला का 'नाद' तथा 'बिन्दु' से ऐक्य ।

(४) कला का 'बिन्दु' तथा नाद का 'परशिव' से ऐक्य ।

(५) नाद, कला एवं बिन्दु का 'परशिव' से ऐक्य ।

(६) कला, नाद तथा बिन्दु का 'परशिव' से ऐक्य ।

ऐक्यचतुष्टय—समयाचार एवं शाक्तमत में ऐक्यचतुष्टय का भी विधान पाया जाता है, जो निम्नानुसार है—

(१) श्रीयन्त्र एवं मन्त्र का ऐक्य ।

(२) मातृका एवं मन्त्र का ऐक्य ।

(३) चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य ।

(४) नित्याओं एवं तिथियों का ऐक्य ।

(१) आधार आदि छः चक्रों का श्री चक्र के साथ ऐक्य ।

(२) बिन्दुस्थान का बैन्दव स्थान के साथ ऐक्य । शिव एवं शक्ति का ऐक्य ।

'बिन्दु' शिवात्मक है और 'बीज' शक्त्यात्मक है—

> बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मितः ।
> समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥

श्रीचक्र का बिन्दुस्थान भगवती का स्थान है ।

(३) मल एवं आवरण-रहित जीव का शिव से ऐक्य या साधक तथा शिव या शक्ति का ऐक्य ।

(४) श्रीयन्त्र एवं मन्त्र का ऐक्य ।

श्रीविद्या के वर्णों का चक्रों से एवं श्रीचक्र से ऐक्य प्रदर्शित किया गया है । कला का बिन्दु के साथ एवं वर्णों का चक्रों के साथ ऐक्य है । पिण्डस्थ चक्रों का श्रीचक्र के चक्रों के साथ भी ऐक्य स्थापित किया गया है ।

'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त भी सामरस्य का ही सिद्धान्त है, जिसे योगशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र स्वीकार करते हैं ।

शिव और शक्ति का सामरस्य—आचार्य गौड़पाद ने सुभगोदय में तान्त्रिक योग के अनुसार जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार शक्तिस्वरूप 'कुण्डलिनी' सहस्रार में जाकर 'बिन्दु' बन जाती है । शक्ति का निर्गुण स्वरूप बिन्दुस्वरूप है । कुलकुण्डलिनी शक्ति सहस्रार (बैन्दव स्थान) में परमशिव के साथ मिलकर बिन्दुस्वरूपा हो जाती है। कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में बिन्दु के रूप में निवास करती है; इसलिए सहस्रार को 'बैन्दवगृह' कहा जाता है । शक्ति का यह स्वरूप 'परमबिन्दु' या 'कारणबिन्दु' कहा जाता है । इसे ही 'परमबिन्दु' भी कहा जाता है । यह परमबिन्दु ही सकल जगत् का कारण है और इसीलिए इसे 'कारणबिन्दु' कहा गया है । इस अवस्था में शक्ति एवं शिव अभिन्न रूप से रहते हैं। इस अभिन्न अवस्था में पाँच प्रकार का साम्य है । यह अवस्था 'चणक' (चने) की भाँति

है। चने का खोल तो एक रहता है, चना एक रहता है और उसमें दो दालें शिव एवं शक्ति के रूप में स्थित हैं। पौधे के बनने के पूर्व—

(१) 'बीज' फूलता है, फिर अंकुर निकलते हैं, फिर वृक्ष बनता है।

(२) निष्क्रिय ब्रह्म प्रथमतः सृष्ट्यभिमुख होता है। उसमें पहले 'अहं' का स्फुरण होता है। यही उसका फूलना है और यही है—'कारणबिन्दु'। फिर उसमें 'अहं' और 'इदम्' प्रकट होते हैं। ये ही हैं—शिव एवं शक्ति। इसके मिथुन से नाद एवं बिन्दु का उद्भव होता है। शिव एवं शक्ति ही 'श्वेतबिन्दु' एवं 'रक्तबिन्दु' या 'कार्यबिन्दु' एवं 'बीज' कहे जाते हैं। सहस्रार से यह बिन्दु दशधा विभक्त होकर मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान के दस दल बनाता है और ये ही दस दल शेष चार कमलों के दल बनते हैं। सम्पूर्ण जगत् का 'कारणबिन्दु' (सहस्रारस्थ बिन्दु) दशधा विभक्त होकर सभी चक्रों के दलों के रूप में प्रकट होता है। उसी दशधा विभक्त (मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान के ४ + ६ = १०) दलों से अन्य चक्रों के दलों का निर्माण होता है। कौलमतानुयायी मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र को ही कारणस्थान मानकर इन्हीं में भगवती की उपासना करते हैं। सारांश यह कि सहस्रार एवं षट्चक्रों में सामरस्य है। गौड़पाद कहते हैं—

सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधाराद्द्वितयमभवत्तद्दशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत्॥

'अद्वैत' भी सामरस्य का ही पर्याय है। आगम दृष्टि के अनुसार दो के नित्य सामरस्य को ही 'अद्वैत' कहते हैं।

शंकराचार्य के वेदान्त में अद्वैत तो है, किन्तु आगममूलक सामरस्य नहीं है। आचार्य शंकर ब्रह्म को तो सत्य मानते हैं, किन्तु अपनी 'माया शक्ति' को अनिर्वचनीय कहते हैं। वे 'माया' को सत्य मान ही नहीं सकते; इसीलिए वे कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' उनकी दृष्टि में मात्र 'ब्रह्म' ही सत्य है।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक (Exclusive) एवं संन्यासमूलक (Based on Renunciation or Elimination) है; ग्रहणमूलक नहीं है। माया ब्रह्मशक्ति होकर भी (ब्रह्माश्रित होकर भी) ब्रह्म में समवेत नहीं है—उनकी स्वसमवेता निजा-नित्या, आत्मशक्ति नहीं है; किन्तु शाक्त दर्शन की 'शक्ति' ऐसी ही है। यही कारण है कि शांकर वेदान्त की माया के साथ ब्रह्म का सामरस्य नहीं है; किन्तु त्रिक, स्पन्द दर्शन के शिव के साथ उनकी शक्ति का सामरस्य है। स्पन्द दर्शन मानता है कि जो 'माया' है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म अपने को अपनी शक्ति (माया) द्वारा ढक लेता है तथापि वह पूर्णतया ढक नहीं जाता। वही अपना वारक एवं उन्मीलक दोनों है। चूँकि शक्ति सत्य है; अतः जीव भी सत्य है; जगत् भी सत्य है और सभी कुछ शिवमय है।[१]

---

१. पञ्चदशी (विद्यारण्य)

ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य—वैष्णव 'भक्ति' को ज्ञान से उच्चतर मानते हैं। ज्ञानी भक्ति को अज्ञान और भक्तों के 'ईश्वर' को माया का पुत्र कहते हैं—'मायाया: कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ'। उनकी दृष्टि में 'जीव' और 'ईश्वर' दोनों माया के पुत्र हैं।

स्पन्दशास्त्र में ज्ञान और भक्ति—दोनों का मणिकाञ्चन योग प्रस्तुत किया गया है। वे शुष्क ज्ञानमार्ग एवं ज्ञानहीन भक्तिमार्ग दोनों को स्वीकार नहीं करते। यहाँ दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। शांकर मत में भक्ति द्वैतगर्भित है; अत: अद्वैतावस्था में उसका किञ्चिन्मात्र भी साक्षात्कार नहीं हो पाता। स्पन्द साध्य भक्ति, अद्वैत भक्ति, पराभक्ति को स्वीकार करते हैं और उसे अद्वैत भूमिका में भी अवस्थित मानते हैं।

साधनरूपा भक्ति अज्ञानमूलक भक्ति है; किन्तु अद्वैत भक्ति नहीं। यह नित्य पदार्थ है। यह मोक्षस्वरूप है। 'त्रिक दर्शन' इसे 'चिदानन्द लाभ' एवं 'पूर्णहन्ता चमत्कार' कहता है। इस दृष्टि में चरमावस्था में भी शिव-शक्ति के सामरस्य की ही भाँति ज्ञान-भक्ति का सामरस्य (सामञ्जस्य) रहता है। प्रकाशमय शिवभाव में विमर्शात्मक शक्तिभाव एवं विमर्शात्मक शक्तिभाव में प्रकाशमय शिवभाव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार ज्ञान की चरमावस्था में भी अद्वैत भक्ति विद्यमान रहती है। सामरस्यावस्था को न 'शिव' कह सकते हैं और न 'शक्ति'। कारण यह है कि यहाँ दोनों में साम्य है। दोनों भाव (यहाँ आकर) एकाकार हो गए हैं। यही 'परमशिव' है। यही है—'सर्वभावप्रतिष्ठा' जिसका स्पन्दशास्त्र प्रतिपादन करता है।

इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशय:॥

—कहकर स्पन्दकारिकाकर ने 'जीवन्मुक्त' उसे माना है, जो जगत् को आत्मक्रीडा या आत्मशक्ति का विलास मानता है। भेद एवं अभेद, व्युत्थान एवं समाधि—दोनों अपना पृथकत्व खोकर यहाँ एकरूप हो जाते हैं। शंकराचार्य एवं कबीर की 'सहज समाधि' भी यही अवस्था है। 'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनं' की अवस्था यही है। यहाँ द्वैत एवं अद्वैत दोनों एकरस हो गये है।

ज्ञान-भक्ति की सामञ्जस्यावस्था में 'चिदंश' शिवभाव है और 'आनन्दांश' शक्तिभाव। दोनों परस्पर मिले हुये हैं। यही है—शिव-शक्ति का सामरस्य या चिदानन्दाप्ति। यही 'ईश्वराद्वयवाद' का वैशिष्ट्य है। 'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं'—कहकर भक्त शंकराचार्य ने सिद्ध कर दिया कि अभेदावस्था में भी—'मैं तुम्हारा हूँ' (भक्तिभाव) रह ही जाता है। अद्वैत समुद्र में परा भक्ति के प्रभाव से द्वैतभाव की तरंगें उठती हैं; किन्तु यह द्वैत 'द्वैत' नहीं अद्वैत ही है। यह 'अद्वैत भक्ति' है। नरहरि कहते हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनो:॥

अद्वैत भक्ति स्वभाव का स्वरस है । अन्त में ज्ञान एवं भक्ति एकाकार हो जाते हैं । वही यह अवस्था है । यही है—'पूर्णाहन्ता' या 'स्वात्मचमत्कार' ।

शैवागम, त्रिक दर्शन, स्पन्ददर्शन, वीरशैवादि मतों में दास्यात्मक भक्ति ही स्वीकार की गई है और यहाँ भगवान् प्रभु, पिता या गुरु है तथा भक्त दास, पुत्र या शिष्य है । त्रिक दर्शन दास्यात्मक भक्ति को ही स्वीकार करता है । यहाँ ज्ञान एवं भक्ति, चित् एवं आनन्द, शिवभाव एवं शक्तिभाव का सामञ्जस्य है । यहाँ शिव-शक्ति का सामरस्य है । ब्रह्मानन्द में चर्वण, आस्वादन एवं रसानुभूति नहीं है । 'पूर्णहन्ता' में रसबोध है । 'अभिनव-भारती' में विवेचित त्रिकानुमत 'शान्त रस' भक्ति का बीजभाव है । भक्ति के मूल में दास्यभाव तो रहेगा ही । आचार्य शंकर भी इस अद्वैत भक्ति के अनुयायी थे ।

गोपीनाथ कविराज का मत है कि शंकराचार्य ईश्वराद्वय को मानते थे । 'सौन्दर्यलहरी' में तो इसकी अभिव्यक्ति भी हुई है । ज्ञान और भक्ति जहाँ समरस है वहाँ विश्वातीत एवं विश्वमय स्वरूप वाले परमतत्त्व के दो भिन्न-भिन्न पक्ष भी समभावापन्न हैं । यहाँ द्वैत एवं अद्वैत दोनों में सामरस्य—सामञ्जस्य है । यह भी 'ईश्वराद्वयवाद' (त्रिक दर्शन का सिद्धान्त) की अपनी एक विशेषता है । काश्मीरी आगम में—स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, क्रम एवं कौल आदि दर्शनों में सर्वत्र द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद में सामरस्य (सामञ्जस्य) दृष्टिगत होता है । शांकर अद्वैतवाद में शक्ति का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि शक्ति (माया) व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी विचार की दृष्टि से मिथ्या है और पारमार्थिक दृष्टि से तुच्छ है । इसीलिए शांकर वेदान्त में 'सामरस्य' नहीं है । बौद्ध सम्प्रदाय में 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'बोधिसत्व' दोनों सत्य हैं । अत: वहाँ भी सामरस्य है । 'स्पन्दशास्त्र' में गलदश्रुभावुकता वाली भक्ति का कोई भी उल्लेख किसी भी कारिका में नहीं आया है तथापि भक्ति स्वीकृत अवश्य है । आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

मादृशै: किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधि: ।
तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रस: ॥[१]

अभेदवाद और आभासवाद

त्रिकाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार 'प्रकाश' प्रकाशमान से भिन्न नहीं होता और वह प्रकाश 'विमर्श' से भी भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार विमर्श से 'अहं' भी भिन्न है और मैं अहंस्वरूप, चिदेकरूप परमात्मा हूँ—

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्
सत्त्वप्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपाद्
अहं स्वरूपोऽस्मि चिदेकरूप: ॥

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों को एक 'चिति' रूप परमानन्दमय प्रकाशैकघन शिव से अभेदात्मना स्फुरित होते हुए बताया गया है । विश्व के

१. श्रीशिवस्तोत्रावली

नाम-रूपात्मक असंख्य प्रमाता एवं प्रमेय, अहं एवं इदं—सभी 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' के प्रसार बताए गए हैं । 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता है ही नहीं । एकमात्र 'शिव' ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ स्फुरित हो रहे हैं—'श्रीमत्परमशिवस्य पुन: विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलम् अभेदेनैव स्फुरति । न तु वस्तुत: अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति ।'[१]

अद्वय, एकात्म एवं अद्वितीय चितिस्वरूप आत्मा ही तो देश-कालादिक भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रसृत है । कहीं वह प्रकाशरूपता एवं संकोचनशीलता के कारण दो रूपों में फैली है तो कहीं आणवमल, मायीयमल एवं कार्ममल के भेदत्रय के कारण तीन रूपों में फैली हुई है । कहीं वह शून्य, प्राण, पुर्यष्टक एवं शरीर के स्वभाव से चार रूपों में फैली हुई है और वही शिव के स्वभाव के कारण पैंतीस तत्त्वों के रूप में चतुर्दिक प्रसृत है । तथापि वह है मात्र एक ही और अभेद रूप से वह अणु-अणु में सर्वत्र विद्यमान है—'स: चैको द्विरूपास्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभाव: ।'[२]

इस अभेदवाद का अनुभव 'अहमिति' द्वारा किया जाता है; क्योंकि समस्त बाह्य एवं आन्तर दृश्य (जगत्) अहं या शिव के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में सभी अंग एवं नीलादिक रंगों का विकास अण्डे के भीतर से ही होता है एवं मयूर के अण्डे में ही मयूरांगों एवं उनके पंखों के रंगों आदि की स्थिति अभिन्न रूप में विद्यमान रहती है, इसी प्रकार यह विश्व उस चिति के अन्तर्गत अभेद रूप से विद्यमान रहता है—'एवं देहे बाह्ये च सर्वत्र अस्य मयूराण्डरसवद् अविभक्तैव प्रतिपत्तिर्भवति ।'

जिस प्रकार बीज से ही अंकुर एवं वह्नि में ही धूम की सत्ता रहती है, वैसे ही स्वतन्त्र चिति शिवरूप में अभेद रूप से विश्व की सत्ता मानी गई है । इसी कारण इसे 'अभेदवाद' की संज्ञा दी गई है ।

शैव दर्शन का यह अभेदवाद 'आभासवाद' भी कहलाता है । अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार निर्मल दर्पण में भूमि, जल आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण संवित् रूप चिति तत्त्व में यह नि:शेष विश्व अभिन्नात्मना अवभासित होता है—

निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादय: ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तय: ।
सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु ।
तथाहि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ।।[३]

'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है कि समस्त विश्व शिव एवं शक्ति की प्रेरणा से ही कार्यशील होता है; अत: शिवरूप है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में कहा गया है कि वह चिति ही

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्   ३. तन्त्रालोक

अपने दर्पण में समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्बवत् आभासित करती है। इसी कारण यह 'आभासवाद' कहलाता है। शैव दर्शन के इस 'अभेदवाद' को 'आभासवाद' की संज्ञा इसलिए दी गई है; क्योंकि समस्त विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर एवं वृक्ष आदि के समान है।

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं जिस प्रकार निर्मल दर्पण में भूमि, जल आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार पूर्ण संवित् रूप चिति में यह निःशेष विश्व अभिन्नतया अवभासित होता है—'निमले मुकुरे यद्वद्......................रूपमेवावभास्यते।'

'नेत्रतन्त्र' उपर्युक्त विचारों की पुष्टि करता हुआ कहता है कि समस्त विश्व विश्वाश्रय है। 'शिव' शक्ति की प्रेरणा से ही क्रियाशील होता है; अतः यह शिव ही कहा जाता है।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में कहा गया है कि—'चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावात् प्रतिबिम्बवत् आभासयति इति।' इसे 'आभासवाद' कहा गया है।

'आभासवाद' की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थों को उसी एक चिति शक्ति का स्वरूप स्वीकार किया गया है। यह जगत् भी उसी का एक रूप है; अतः चिति की भाँति यह जगत् भी सत्य है।

'ऐतरेयोपनिषद्' (१।१।१-२) में कहा गया है कि—

(१) पहले यह आत्मा एक ही थी।

(२) उस एक के अतिरिक्त कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था।

(३) तब उसने समस्त लोकों के रचने की इच्छा की और इच्छा के परिणामस्वरूप ही समस्त लोक बने।

इसी प्रकार 'शक्तिसूत्र' में कहा गया है कि—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।' जब 'चिति शक्ति' विश्वाकार में प्रकट होती है तब इस विश्व का तिरस्कार करना मानो उस विराट सत्ता का ही तिरस्कार करना है अथवा इस संसार की उपेक्षा करना मानो उस चिति शक्ति की ही उपेक्षा करना है। जब तक व्यक्ति 'अद्वैतवादी' (अभेदवादी) दृष्टि का आत्मीकरण नहीं करता तब तक सुख एवं शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि द्वयता (द्वैतबोध) के कारण ही तो आज सारी समस्यायें हैं, भेद-भाव है, सुख-दुःख है, दृष्टि का संकुचन है, असंतोष है।

जिस प्रकार ज्योत्स्ना के समुद्र में बुद्बुद का रूप बनाकर अपनी-अपनी आभा से चमकते हुए असंख्य नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार इस अभेद सागर में जीवों की सृष्टि का क्रम चलता है एवं सभी घुल-मिलकर चैतन्य का एक रसमय चरम भाव विद्यमान रहता है। यह चराचर जगत् विराट चिति का एक स्वरूप है। सृष्टि का अणु-अणु एवं कण-कण अपना ही स्वरूप है; सर्वत्र अद्वैत है। यदि मानव भी भेद-भाव भूलकर सुख-दुःख को दृश्य मानकर अपनी सार्वत्रिक अभेदमयता को स्वीकार कर ले तो संसार अखण्ड आनन्द की सृष्टि बन जाएगा। इस स्थिति में जड़-चेतन, सुख-दुःख समरस प्रतीत होने लगेंगे।[१]

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

'नारदपाञ्चरात्र' (तान्त्रिक आगम) में भी इसी अद्वैतवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

अद्वैतं भावयेन्नित्यं द्वैतभावं न भावयेत् ।
द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवर्तते ॥

'माहेश्वरतन्त्र' में कहा गया है—

अद्वैतभावनिष्णातः संसारं नैव पश्यति ।
तस्माददद्वैतभावेन यः पश्यति स पश्यति ॥

'त्रिक दर्शन' का नाम ही 'ईश्वराद्वयवाद' है; जो कि अद्वैतवाद को संकेतित करता है ।

यदि किसी 'एक' में सारे 'अनेक' स्थित हैं और वे सारी अनेकात्मकतायें उसी 'एक' से उत्पन्न भी होती हैं और वे उसी 'एक' की अभिनीत भूमिकायें मात्र हों तो स्वतः अभेदवाद स्थित है । इसी बात को कारिका में पुष्ट करते हुए कहा गया है—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ २ ॥

इसी बात की व्याख्या करते हुए भट्टकल्लट ने कहा 'कथं पुनः स्वस्वभावस्यैव संसारिणा शिवत्वेन निर्देशः? इति यद्युच्यते तत् यत्र स्थितम् इदं जगत्, यस्मात् च उत्पन्नं तस्य संसार्यवस्थायामपि अनाच्छदितस्वभावत्वात् न क्वचित् निरोधः अतः शिवत्वमुच्यते ।'

अर्थात् संसारी दशा में भी जीव-शिव एवं जीव में अभेद है ।

जगत् शिव के हृदय में बीजात्मना अवस्थित है, यथा पेड़ के बीज में पेड़ । शक्तिरूप द्रुम एवं जगत् अभिन्न है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥

जो परमात्मा के अन्दर है, वही बाहर जाने पर जगत् कहलाने लगता है । दोनों में भिन्नता कैसी? परमात्मा जगत् को अपने भीतर से स्वेच्छा से बाहर प्रकट कर देता है; अतः जगत् एवं परमात्मा दोनों अभिन्न हैं—'भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः' (ई०प्र०-१, १.६.७) ।

समत्वभाव एवं सामरस्य

तान्त्रिक संस्कृति की प्रकृति के अनुकूल ही स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी समत्वभाव एवं सामरस्य के अनुयायी हैं ।

महेश्वरानन्दनाथ ने ठीक ही कहा है कि 'समता' साधनानुभव का उच्चतम शृंग है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ॥

भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ॥

'विज्ञानभैरव' में कहा गया है—

वायुद्वयस्य सङ्घट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ॥

'तन्त्रालोक' में कहा गया है—

समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः ।
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः ॥

'शक्तिसङ्गम तन्त्र' में तो समष्टाष्क मार्ग का उल्लेख है ।

'भावचूडामणि' में कहा गया है—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।
श्मशाने भवने देवि! तथैव काञ्चने तृणे ।
न भेदो यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः ॥

'श्यामारहस्य' में कहा गया है—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभायां वैष्णवा मता ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

श्रीमदभगवद्गीता में कहा गया है—'समत्वं योग उच्यते ।'

शाक्तों के 'समयाचार' में शम्भु के साथ पञ्चविध साम्य का विधान किया गया है—'शम्भुना पञ्चविधसाम्यं याति इति समया भगवती ।'

समत्व योग अद्वैतभाव का पोषक है । महेश्वरानन्दनाथ ने सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवियों एवं वर्णों में सर्वप्रकारक समता की दृष्टि रखने को ही समता दृष्टि कहा है ।

चूँकि उस सबके आदि केन्द्र में सब कुछ स्थित है और उसी एक केन्द्र से सभी का प्रकटीकरण भी हुआ है; अतः सभी में स्वाभाविक समत्व होगा ही; क्योंकि—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।[१]
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥

जीव 'सर्वमय' है । जब जीव सर्वमय है तो उसके साथ सभी की सर्वमयता होगी, उसमें सभी विद्यमान होंगे । उसके स्वभाव का घटक ही सर्वमयत्व होगा । ऐसी स्थिति में समत्व तो रहेगा ही और यह समत्व सर्वमयात्मक रहेगा ही ।

आत्मा का स्वभाव ही सर्वमयता है—'सर्वात्मक एवायमात्मा सर्वानुभावोत्पत्तिद्वारेण अनुभूयमानस्यैव संवेदनात् बाह्यार्थमनुभूयमानमेव शरीरत्वेन गृह्णाति, न तु शिरःपाण्यादि-लसितम् एकमेवास्य शरीरम् ।'

---

१. स्पन्दकारिका

भट्टकल्लट कहते हैं कि यह जीवात्मा सर्वमय है; क्योंकि आत्मसंवेदन के द्वारा संसार के प्रत्येक भाव की सर्जना करता रहता है और सभी पदार्थ उसके संवेदन के विषय बन जाते हैं । आत्मा भी उन सभी को अपने शरीर के रूप में ग्रहण करने लगता है; अतः उसका वही मात्र शरीर नहीं है जो कि सिर, पैर आदि से लक्षित होता है ।

इतना ही नहीं; उसकी इस सर्वात्मकता के कारण ही सब कुछ सारी अवस्थायें शिव हैं—'न सावस्था न यः शिवः' (स्पन्द का०) । जब समस्त अवस्थाओं में शिवत्व की एकता है और जीव 'सर्वमय' है तब तो सारी अवस्थाओं एवं समस्त जीवों में समत्व रहेगा ही । जीव का स्वभाव ही सर्वात्मक—'तेन तथाविधेन सर्वात्मकेन' और शिवात्मक है—'न सा अवस्था या शिवस्वभावं न व्यञ्जयति । अतो न भोक्तैव भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितो ।' 'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।'

दुःख के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण

जिसे लोग 'दुःख' मानते हैं, वह शिवानुग्रहेच्छा का 'स्पन्द' ही है । सुख-दुःख शिवेच्छा के स्फुरण हैं । पारमेश्वरी इच्छा से ये अभिन्न हैं । भोगेच्छुक जीवों को सुख-दुःख आदि भोगों का भोग कराने हेतु ही शिव अनुग्रहवश 'अघोरेश' के रूप में मायिक सृष्टि करते हैं । इस प्रकार 'दुःख' तो शिव का कल्याणकारी अनुग्रहमात्र है ।

शिव सुख एवं दुःख दोनों की कल्पना में आनन्द अनुभव करता है । बच्चे गुड्डे-गुड्डी के विवाह की कल्पना में भी जिस प्रकार सुखी हो जाते हैं और उनके रोने की कल्पना करने पर दुःखी हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवों की स्थिति है । गुड्डी के मरने एवं उसके लिए गुड्डा के रोने के दुःख की कल्पना के समय भी बच्चों का तत्त्वबोध नष्ट नहीं होता कि गुड्डी मरी नहीं, प्रत्युत मरने की तो मात्र कल्पना कर रहे हैं । अपनी कल्पना को कल्पना समझते रहने पर भी दुःख की कल्पना से भी आनन्द की प्रतीति होती है । 'कल्पना' कल्पना के रूप में परामृष्ट न होते रहने तक (यथार्थ प्रतीति के रूप में परामृष्ट होते रहने तक) दुःखानुभूति होगी ही ।

परमशिव अपनी दुःख-सुख की कल्पना को कल्पना ही समझता रहता है; अतः बन्धन-रूप दुःख की कल्पना से भी उसे सुख ही होता है; किन्तु प्रमातृविशेष की भूमिका में वह 'कल्पना' कल्पना के रूप में परामृष्ट न होकर, यथार्थतः परामृष्ट होने पर वह बन्धन एवं दुःख का अनुभव बन जाती है । शिव की सुख-दुःख की कल्पना उसके आत्मविनोदन की कल्पनामात्र है । यह केवल एक आनन्द की क्रीड़ामात्र है । एक बालक अकेले में सुख-दुःख की कल्पना से क्रीड़ा का आनन्द लेता है, उसी प्रकार चिति शक्ति अपने अद्वय स्वरूप में सुख-दुःख की स्वकल्पित मधुमय धूप-छाँव से आनन्द की क्रीड़ा करती रहती है । सुख-दुःख दोनों कल्पनायें ही हैं । 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है कि परमार्थतः तो दुःख-सुख, ग्राह्य-ग्राहक आदि का अस्तित्व ही नहीं है—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥

'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ'—ये समस्त संवेदनायें या अवस्थायें हैं। संवेत्ता से पृथक् इनका कोई अस्तित्व नहीं है; किन्तु संवेत्ता तो अवस्थातीत है। संवेत्ता एक है, संवेदनायें अनन्त हैं, परिवर्तनशील हैं, क्षणिक हैं; अत: वे अवस्थाता एवं संवेत्ता ही नहीं हैं; इसीलिए 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

अहं सुखी न दु:खी च रक्तश्चेत्यादिसंविद: ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ता: स्फुटम् ॥

सुख-दु:ख 'स्वभाव' नहीं है, यह परभाव है। 'स्वभाव' ही यथार्थ है। 'स स्वभाव: पर: स्मृत:' कहकर भट्टकल्लट ने इसी तथ्य की पुष्टि की है।[1]

'स्वभाव' क्या है? भट्टकल्लट कहते हैं कि—उस स्पन्दतत्त्व का स्वभाव है कि उसको सुख, दु:ख, ग्राह्यता, ग्राहकता और मूढता आदि भाव कभी स्पर्श भी नहीं करते। वही परमार्थ तत्त्व है, क्योंकि वह नित्य है। सुखादिक तो केवल मानसिक संकल्पों की उपज हैं और क्षणस्थायी हैं। ये आत्मा से बाह्य हैं; अत: यह सोचना कि यदि उस तत्त्व को सुखादिक स्पर्श न हो तो वह प्रस्तरवत् जड़ है—'तस्य चायं स्वभावो यत् सुखदु:खग्राह्यग्राहक-मूढतादिभावैरपृष्ट: । स एव च परमार्थतोऽस्ति नित्यत्वात् । सुखादय: पुन: सङ्कल्पोत्था: क्षणभङ्गुरा: आत्मस्वरूपबाह्या: शब्दादिविषयतुल्या: । न च सुखादिस्वरूपो यदा नासौ तदा पाषाणप्रख्य एव ।'[2]

बन्धन एवं मोक्ष के प्रति विशिष्ट दृष्टि

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्ददर्शन में स्वरूपप्रथा ही 'मोक्ष' है और स्वरूप का अज्ञान ही 'बन्धन' है।

जयरथ तो कहते हैं कि 'बन्धन' एवं 'मोक्ष' कुछ है ही नहीं। आत्मा ही सर्वत्र, समस्त अवस्थाओं में सदैव प्रथित हो रही है।[3]

अत: न तो संसार है और न ही बन्धन एवं मोक्ष—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतं बन्धस्य वार्त्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थित: ॥

यहाँ 'अज्ञान' बन्धन नहीं है; प्रत्युत अपूर्ण ज्ञान बन्धन है। ज्ञान का पारमित्य बन्धन है अर्थात् सर्वज्ञत्व का अल्पज्ञत्व में रूपान्तरण 'बन्धन' है।

यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, घृणा, ईर्ष्या, पाप, पुण्य आदि मौलिक बन्धन नहीं हैं; प्रत्युत मौलिक बन्धन है—

(१) शिव के साथ अपने तादात्म्य की विस्मृति (अर्थात् अपने शिवस्वभाव की विस्मृति)।

(२) विश्व के साथ अपने तादात्म्य की विस्मृति।

१-२. स्पन्दसर्वस्व

३. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।

बन्धन के रूप : मलत्रय

आणव मल	मायिक मल	कार्म मल
स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ।	भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।	कर्तर्यबोधे कार्मं च ।

कारुण्यवाद

विश्व के समस्त दर्शनों की भाँति शैव-शाक्तदि तन्त्रों की भी यह मान्यता है कि ब्रह्माण्डातीत ऊर्ध्ववर्ती लोक 'महामाया' एवं भगवान् अधोगत जीवलोक के उद्धार हेतु निरन्तर कारुण्यवान रहते हैं और अपनी कारुण्यप्रवणता के वशीभूत होकर ही सृष्टि आदि क्रियायें करते रहते हैं ।

देवी 'करुणामृतवारिधि' से जीवलोक के उद्धारार्थ करुणावश ही प्रश्न पूछता है कि—

नानाविधशरीरस्था अनन्ता जीवराशयः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषामन्तो न विद्यते ।
घोरदुःखातुरादेव न सुखी जायते क्वचित् ।
केनोपायेन देवेश! मुच्यते वद मे प्रभो ।

और इसी करुणासंवलित जिज्ञासा की भूमि से समस्त तन्त्रसाहित्य की पयस्विनियाँ प्रवाहित हुई हैं ।

आचार्य क्षेमराज भी संसार के विष की शान्ति के लिए 'प्रत्यभिज्ञामहोदधि' का सार (रोगोपचारार्थ) प्रस्तुत करते हैं—

शाङ्करोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के प्रणयन का उद्देश्य जगत् के विष की शान्ति है ।

भगवान् के पञ्चकृत्यों में एक कृत्य 'अनुग्रह' भी है ।

भगवान् के पञ्चकृत्य

सृष्टि	स्थिति	संहार	विलय (निग्रह)	अनुग्रह

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र)

बौद्ध धर्म में तो 'दुःख' को ही 'आर्यसत्य' मानकर दुःखनिवृत्तिरूप करुणा के प्रवाह को ही निरन्तर गति देकर करुणाप्रदर्शन करना सर्वोच्च धर्म है । वहाँ चारो आर्यसत्यों के मध्य दुःख एवं दुःखनिवृत्ति की संवेदना प्रवाहित दिखाई देती है ।

बुद्ध ने संकल्प लिया है कि मेरा 'अवलोकितेश्वर' स्वरूप तब तक मुक्त नही होगा जब तक कि जगत् का प्रत्येक प्राणी मुक्त न हो जाय । परमशिव और उसकी 'महामाया' (शक्ति) का भी यही लक्ष्य है और सांख्य की 'प्रकृति' का भी ।

'शक्तिपात' भगवान् कीं करुणा का ही प्रसाद है; क्योंकि उपायों से मोक्ष नही मिलता—

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत् घटेन किं भाति सहस्रदीधितः ।
विवेचयन्नित्यमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ।।

त्रिक दर्शन के आदि ग्रन्थ 'शिवसूत्र' का मुख्य लक्ष्य जीवों का उद्धार है; क्योंकि इस सूत्रग्रन्थ का प्रत्येक अध्याय (उन्मेष) मोक्षप्राप्ति के उपायों के नाम पर आधारित है; यथा—

(१) 'शाम्भवोपाय' (इच्छोपाय संवित् शिव के साथ तादात्म्य प्राप्ति) अभेदपरामर्शक ज्ञान से युक्त ।

(२) 'शाक्तोपाय' (ज्ञानोपाय) (ब्रह्मोच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान का त्याग)

(३) 'आणवोपय' (क्रियोपाय) : उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान, जप, प्राणसाधना (मन्त्रजप, प्राणायाम, प्राणापान) आदि से युक्त ।

उपनिषद् भी इस कारुण्यवाद का प्रतिपादन करता है; क्योंकि उसमें आत्म-साक्षात्कार के लिए मात्र आत्मा की कृपा ही एकमात्र अवलम्बन है; क्योंकि—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।'

अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि परमेश्वर तो निरन्तर अनुग्रहात्मा है और उसकी परा शक्ति भी अनुग्रहात्मा है—

'परमेश्वरः पञ्चविधकृत्यमयः सततम् अनुग्रहमय्या परारूपया शक्त्या आक्रान्तो वस्तुतोऽनुग्रहैकात्मैव ।'[१]

'सा च शक्तिः लोकानुग्रहविमर्शमयी ।'[२]

भगवान् एवं भगवती के इसी कारुण्य के भाव को प्रदर्शित करने हेतु त्रिकाचार्यों ने भगवान् शिव एवं शक्ति को 'जनक' एवं 'जननी' शब्दों से पुकारा—

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टि महाजननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।[३]

प्रत्यभिज्ञाकारिकाकार उत्पलदेवाचार्य भी परमेश्वरप्रसाद के ऋणी हैं—'परमेश्वरप्रसादादेव लब्धात्यन्तदुर्लभतद्दास्यलक्ष्मीरहमेकाकिसम्पदा—'कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।'[४]

'स्वच्छन्दतन्त्र' (पटल ११ : उद्योत टीका) में कहा गया है कि भगवान् स्वरूपगोपनात्मिका महामाया शक्ति के द्वारा अपने अनुग्रह धर्म के निष्पादनार्थ अनेक रुद्रमूर्तियों के द्वारा स्फुरित

१-२. परात्रिंशिका व्याख्या : अभिनवगुप्त
३. मालिनीविजयवार्तिक—अभिनवगुप्तपादाचार्य । अभिनवगुप्त : 'परात्रिंशिका'
४. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (ज्ञानाधिकार .१।१)

होता है—

'स्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या हि असौ अनुग्रहाख्यकृत्यनिर्वाहाय नानारुद्रमूर्तिभिः स्फुरितः ।'

'स्वच्छन्दतन्त्र' (११वाँ पटल) में क्षेमराज परमात्मा के स्वरूप (६।८८) पर प्रकाश डालते हुए परमात्मा की प्रधान विशेषताओं में एक विशेषता अनुग्रह बताते हैं—'यदा तीव्रतमानुग्रहात् पूर्णतया स्फुरत्ययं तदा परमात्मा इति कथ्यते ।'

'स्वच्छन्दतन्त्र' में दीक्षा को सर्वोच्च मोक्ष की संज्ञा दी गई है—

नास्ति दीक्षासमो मोक्षः न विद्या मातृकापरा ।
न प्रक्रियापरं ज्ञानं नास्ति योगस्त्वलक्ष्यकः ॥

'स्वच्छन्दतन्त्र' में परमात्मा के कार्यों में अनुग्रह को प्रधान कार्य बताया गया है—

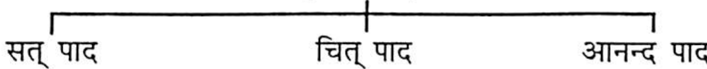
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च निग्रहानुग्रहे रतः ।
सर्वभूतान्तरावस्थः सर्वानुग्रहकारकः ॥

आनन्दवाद : शांकर वेदान्त एवं स्पन्ददर्शन

शांकर वेदान्त का आनन्दवाद—वेदान्त के मूलभूत आकर ग्रन्थ उपनिषद् हैं । वेदान्त के समस्त भाष्यकारों ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता—तीनों को अपनी सिद्धान्त-स्थापना में, प्रमाणस्तम्भ के रूप में स्वीकार किया है । अतः औपनिषदिक 'आनन्दवाद' एवं 'भूमावाद' (सुखवाद) को वे उपेक्षित कैसे कर सकते थे? इतना होने पर भी उनके आनन्दवाद एवं स्पन्द के आनन्दवाद में अन्तर अवश्य है ।

वेदान्त का ब्रह्म सत्स्वरूप, चित्स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप तीनों है । उसे सच्चिदानन्द, आनन्दकन्द, चिदानन्द आदि भी कहा गया है । ब्रह्म के तीन पाद हैं—

ब्रह्म के पादत्रय



राधा को भगवान् श्रीकृष्ण की 'आह्लादिनी शक्ति' कहकर उन्हें समवायिनी एवं अभिन्न शक्ति भी स्वीकार किया गया है । भगवती सीता एवं लक्ष्मी भगवान् राम एवं नारायण की आह्लादिनी शक्ति हैं और वे श्रीराम एवं भगवान् विष्णु (नारायण) से अभिन्न स्वीकार की गई हैं । शंकराचार्य के केवलाद्वैतवादी वेदान्त दर्शन में न हो ब्रह्म की कोई स्वसमवेता आह्लादिनी शक्ति स्वीकार की गई है और न तो (वैष्णव परम्परा की भाँति) भक्ति को ही आह्लादिनी शक्ति स्वीकार किया गया है ।

त्रिपाद्विभूषित होने पर भी शांकर ब्रह्म किसी स्वसमवायिनी आनन्द शक्ति से युक्त कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है ।

वेदान्त भूमि में सांख्य के चित् स्वरूप को स्वीकार करके उससे चित्स्वरूप आत्मा को आनन्दस्वरूप भी स्वीकार किया गया; क्योंकि तभी तो लोग उसके लिए व्याकुल होंगे ।

यह आवश्यक था जिससे कि फिर कोई जिज्ञास्य या अन्वेषणीय शेष न रह जाय। यही वह शेष तत्त्व 'आनन्द' था। इस तत्त्व का स्वयं 'सांख्य' को भी पता नहीं था। इसी 'आनन्द' के विषय में श्रुतियों में कहा गया है—

(१) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

(२) आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

(३) आनन्देन जातानि जीवन्ति।

(४) आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।[1]

इस औपनिषदिक आनन्दवाद को स्वीकार करते हुए भी शंकराचार्य ने ब्रह्म की किसी भी शक्ति को 'आनन्दशक्ति' के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके ब्रह्म की शक्ति 'माया' के दो ही कार्य हैं—'आवरण' एवं 'विक्षेप'।

आवरणात्मिक एवं विक्षेपात्मिक 'माया' में जब 'सदंश' एवं चिदंश' ही नहीं है तब 'आनन्दांश' आयेगा कहाँ से? 'माया' मिथ्या है; क्योंकि उसमें सदंश, चिदंश एवं आनन्दांश में से कोई भी नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने कहा कि भले ही ब्रह्म 'आनन्दकन्द' हो, किन्तु उसकी सृष्टि (जगत्) आनन्दमयी नहीं है; बल्कि मिथ्या है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'

त्रिक दर्शन एवं स्पन्द का आनन्दवाद—प्रथमत: तो यह कि त्रिक दर्शन एवं स्पन्दशास्त्र के परमशिव में जो आनन्द शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं, उनमें प्रधानत: पाँच ही शक्तियाँ मानी गई हैं और उनमें एक शक्ति (द्वितीय शक्ति) 'आनन्द शक्ति' ही है। जिसके द्वारा शिव आनन्दमय हैं और अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं, उसे ही 'आनन्द शक्ति' कहा गया है। 'तन्त्रसार' में स्वातन्त्र्य को ही 'आनन्द शक्ति' कहा गया है—स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः'। चिदंश शिवभाव है और आनन्दांश शक्तिभाव है। शिव में दोनों भाव हैं—(१) 'चिदंश' = शिवभाव (२) 'आनन्दांश' = शक्तिभाव।

चिदंश 'प्रकाश' है और आनन्दांश 'विमर्श शक्ति' है तथा इन दोनों का सामरस्य ही 'परमभाव' है। यही 'परमभाव' शैवागम में 'परासंवित्' या 'परमशिव' कहा गया है।

अभिनवगुप्त के शब्दों में अन्य-निपेक्षता ही 'आनन्द' है—'अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः।'

शांकर 'माया' में अन्य-निपेक्षता, पूर्णस्वातन्त्र्य है ही नहीं; अन्यथा वह अनिर्वचनीय न रहकर सत्य हो जाती; किन्तु वह तो सत्य नहीं मिथ्या है।

'स्पन्ददर्शन' में जगत् आनन्द का विलास है। ठीक भी है, आनन्दकन्द की सृष्टि निरानन्द कैसे रहेगी? जगत् तो परमशिव की आनन्द क्रीडा है; अतः जीव, जगत् एवं शिव तीनों आनन्दमूर्ति हैं। जगत् एक 'नाटक' है। नाटक का उद्देश्य दुःखप्रसार नहीं, आनन्द प्रसार है, प्रमाण देखिए—

'शिवसूत्र' : 'नर्तक आत्मा' (शि० स० ३।९)

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्

नृत्यत्यन्त:परिच्छिन्नस्वस्वरूपावलम्बना: ।
स्वेच्छया स्वात्मभित्तौ स्वपरिस्पन्दलीलया ॥

जागरास्वप्नसौषुप्तरूपास्तास्ता: स्वभूमिका: ।
आभासयति यत्तस्मादात्मा नर्तक उच्यते ॥

एवंविधजगन्नाट्यनर्तकस्यास्य योगिन: ।
भूमिकाग्रहणस्थानं रङ्गमाह जगद्गुरु: ॥[१]
रंगोऽन्तरात्मा ॥ (३।१०)

रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीडाकौतुकिनात्मना ।
इति रङ्गोऽन्तरात्मेति जीव: पुर्यष्टकात्मक: ॥

योगी कृतपदस्तत्र स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तजगन्नाट्यं प्रकाशयेत् ॥[२]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—

(१) योगी संसार नाटक को जो कि आनन्दनिर्भर आत्मस्वरूप ही है, अन्तर्मुखतापूर्वक देखा करते हैं—'योगिन:.....................संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति ।[३]

(२) नर्तक की भूमिका निष्पादित करने वाली आत्मा अन्तर्निगूहित स्वस्वरूपावष्टम्भमूलक जागृति-स्वप्न-सुषुप्तिप्रभृति समस्त भूमिकाओं को परिस्पन्द लीला की भाँति अपनी आत्मभित्ति में प्रकट करते हुए नर्तक के रूप में अभिनय करता है—'नृत्यति अन्तर्निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तज्जागरादिनानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा ।'[४]

(३) स्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति ।[५]

(४) रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीडाप्रदर्शनाशयेनात्मना इति रङ्ग: तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थानम् अन्तरात्मा ।[६]

स्पन्दकारिका—शिवसूत्रगर्भित 'स्पन्दकारिका' नामक स्पन्दसूत्रों में जगत् को प्रमोद-क्रीड़ा कहा गया है और यह कहा गया है कि जो जगत् आनन्दात्मक क्रीड़ा के रूप में अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है—

इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशय: ॥

यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द—दोनों दर्शनों की मुक्ति ('विदेहमुक्ति' नहीं) 'जीवन्मुक्ति' ही है । देहादि अनात्मपदार्थों में अहन्ता का क्षीण होना, अपने प्रमाता के शिवस्वभाव का दृढ़ विश्वास होना तथा अपनी शिवता के परामर्श के साथ अहंरूप प्रमाता

१. शिवसूत्रवार्तिक
२. वरदराज : शिवसूत्रवार्तिक
३. शिवसूत्रविमर्शिनी
४-५. क्षेमराज
६. शिवसूत्रविमर्शिनी

के साथ 'इदम्' स्वरूप प्रमेय के तादात्म्य की अनुभूति होना तथा जगत् को अपनी आनन्द क्रीडा के रूप में देखना ही (अनुभव करना ही) 'जीवन्मुक्ति' है। अर्थात् 'जीवन्मुक्ति' 'पूर्णाहन्ता' की वह अनुभूति है, जिसके दो पहलू (पक्ष) हैं—

(१) 'मैं शिव हूँ' (२) 'जगत् मेरी क्रीडा है'

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाऽखिलं जगत्।[1]

जिसकी ऐसी दृष्टि नहीं है, वह 'पशु' है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य योग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥[2]

भट्टकल्लट ने इसे ही इन शब्दों में व्यक्त किया है—'एवं स्वभावं यस्य चित्तं, यथा—'मन्मयमेव जगत् सर्वम् इति' स सर्व क्रीडात्वेन पश्यन् नित्ययुक्तत्वात् जीवन्नेव ईश्वरवत् मुक्तो न त्वस्य शरीरादि बन्धकत्वेन वर्तते।'[3]

अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—'निजस्वरूपहृदयङ्गमीभावेन निजामोदभरक्रीडाभासितभेदस्य निखिलबन्धाभिमततत्त्वव्रातस्य स्वात्मचमत्कारपूर्णाहन्ता तादात्म्यभैरवस्वरूपाभेदसमावेशात्मिका जीवत एव मुक्तिः।'[4]

तान्त्रिक मत में 'जगत्' मिथ्या नहीं; प्रत्युत 'शक्ति' का रूप है—'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नम्।'

सुख-दुःख कोई बाह्य तत्त्व नहीं हैं; क्योंकि दोनों परमशिव में स्थित हैं—'सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः।'

उत्पलदेव कहते हैं—'सोऽखिलं समग्रं जगत् क्रीडारामतया पश्यन् विभावयन्..........बन्धकारणस्याज्ञानस्य क्षयात्......जीवन्नेव ईश्वरवन्मुक्तो नाऽत्र संशयः।'

मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव सर्वत्र वा' (स्पन्दप्रदीपिका)। इसीलिए प्रश्न किया गया कि 'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयं सखे! ते दुःखदः कथम्?

योगभोगसाहचर्यवाद

नैगमिक दर्शनों के अनुसार योग एवं भोग में परस्पर प्रतिपक्ष्यभाव है; किन्तु शैव-शाक्त दर्शनों के अनुसार उनमें पारस्परिक मैत्रीभाव है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

अर्थात् जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है, वहाँ भोग नहीं है; किन्तु श्रीसुन्दरी ललिताम्बिका देवी की सेवा-उपासना करने वालों को भोग एवं मोक्ष दोनों एक साथ सम्प्राप्त होते हैं।

१-२. स्पन्दकारिका ३. स्पन्दसर्वस्व
४. परात्रिंशिका : अभिनवगुप्त

'दुर्गासप्तशती' में भी शब्दान्तर द्वारा इसी तथ्य की पुनरावृत्ति की गई है—'आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ।'

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में इस तथ्य की पुष्टि यह कहकर की गई है कि साधक पूर्णाहन्ता में प्रवेश कर जाने पर दिव्य भोगों से समापन्न समस्त दिव्य शक्तियों का स्वामी बन जाता है—'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवता चक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ।'[१]

'मातृकाभेदतन्त्र' (तृतीय पटल) में कहा गया है—

भोगेन लभते योगं भोगेन कुल-साधनम् ।
भोगेन सिद्धिमाप्नोति भोगेन मोक्षमाप्नोति ॥

आगमिकसाधना में यह भी कहा गया है कि—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

'मालिनीविजयोत्तर तन्त्र' में कहा गया है कि—

मालिनीविजयं तन्त्रं परमेशमुखोद्गतम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारमुमेशममरार्चितम् ॥

सामान्यतया तो योगी भोगी एवं भोगी योगी नहीं हो सकते; किन्तु आगमिक मार्ग में (कौलमत में) जो साधना की जाती है, वह भोग एवं योग दोनों प्रदान करती है—

योगी चेन्नैव भोगी स्याद् भोगी चेन्नैव योगवित् ।
भोगयोगात्मकं कौलं तस्मात् सर्वाधिकः प्रिये ॥

इतना ही नहीं; आगमिक साधना में तो भोग भी योग बन जाता है और पाप भी पुण्य बन जाता है—'भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते ।'

और इतना ही नहीं; बन्धनकारी संसार मोक्षस्वरूप बन जाता है—'मोक्षायते च संसारः कुलधर्मः कुलेश्वरि ।'

स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पलाचार्य भी स्पन्दकारिका की व्याख्या के पूर्व स्पन्दीय ज्ञान को भुक्ति-मुक्ति दोनों का केन्द्र घोषित करते हैं—'भुक्तिमुक्त्यै युक्तियुक्तं किञ्चिद्वच्म्यर्थितो-ऽर्थिभिः ।'[२]

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द—दोनों शास्त्रों में सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, स्वातन्त्र्य (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं का पूर्ण सामर्थ्य), चक्रेश्वरत्व आदि पर विशेष बल दिया गया है और शक्तिसाधना को 'बल-साधना' (आत्म-साधना) कहकर स्पन्दशास्त्र ने योग के समस्त भोगात्मक ऐश्वर्यों, शक्तियों एवं शक्तिचक्र पर स्वामित्व को साधना का चरम लक्ष्य घोषित करके भोगों को श्रेष्ठता प्रदान की है और उन्हें साधना की निष्पत्ति के रूप में स्वीकार करके

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र २० : आचार्य क्षेमराज)
२. स्पन्दकारिका

भोगों की ओर भी साधना को उन्मुख किया है; अतः योग के साथ भोग भी साधना के फल बन गए हैं।

साधनाप्राधान्यवाद

अद्वयवादी शैव-शाक्त तान्त्रिकों की दार्शनिक मीमांसा बौद्धिक तुष्टि एवं वैदुष्य प्रदर्शन-मात्र के लिए नहीं की गई; प्रत्युत साधना जगत् में प्रवेश कराने एवं उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए की गई। यही कारण है कि त्रिकाम्नाय के आदि ग्रन्थ—'शिवसूत्र' के अध्यायों का नामकरण मुक्ति के उपायों के नाम पर किया गया तथा उसमें साधनों-उपसाधनों की सविस्तार विवेचना पर ही सर्वाधिक बल दिया गया, सिद्धान्त पक्ष पर नहीं।

शिवसूत्र का अध्यायीकरण

प्रथमोन्मेष	द्वितीयोन्मेष	तृतीयोन्मेष
'शाम्भवोपाय'	'शाक्तोपाय'	'आणवोपाय'

चूँकि 'आणवोपाय' स्थूलतम उपाय है; अतः प्रथम उन्मेष में 'आणवोपाय' का वर्णन किया जाना चाहिये था; किन्तु उसका वर्णन न करके उच्चतम एवं सूक्ष्मतम उपाय (शाम्भवोपाय) की विवेचना से ग्रन्थारम्भ किया गया। इसका उद्देश्य यह संकेतित करना था कि स्वात्म-प्रत्यभिज्ञास्वरूप परम लक्ष्य की सम्प्राप्ति जिस उपाय या साधनमार्ग द्वारा शीघ्रातिशीघ्र हो, उसे ही श्रेष्ठ समझा जाय तथा यह श्रेष्ठ साधन 'शाम्भवोपाय' अप्राप्य होने पर ही 'शाक्तोपाय' एवं शाक्तोपाय के अप्राप्य होने पर ही 'आणवोपाय' का अवलम्बन ग्रहण किया जाय।

निष्कर्ष—(१) त्रिक शासन का मुख्य उपाय 'शाम्भवोपाय' है।

(२) त्रिक शासन स्थूल उपायों में निहित एवं आशंकित बाह्याडम्बर के विरुद्ध है।

(३) त्रिक शासन केवल 'आरोहण' में ही नहीं; प्रत्युत 'आरोहण' के अतिरिक्त पिण्ड में 'अवरोहण' करने के अभ्यास में भी दक्षता का पक्षधर है; अन्यथा नित्योदित समाधि सम्भव नहीं होगी।

भक्तिरस की प्रवाहमयता

यद्यपि स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा के अनुयायी साधक मूलतः ज्ञानी एवं योगी थे; किन्तु जिस प्रकार शंकराचार्य की वेदान्ती दृष्टि में ज्ञान की गंगा मात्र प्रवाहित है, किन्तु उनकी भाव-दृष्टि में (भक्तिस्तोत्रों में; यथा 'सौन्दर्यलहरी' आदि में) भक्ति की कालिन्दी का कलकल निनाद भी ध्वनित है, उसी प्रकार त्रिकाचार्यों की साधना में ज्ञान एवं योग के साथ भक्ति की मन्दाकिनी भी प्रवाहित है—

न भोगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥

अर्थात् मायारहित इस शिवमार्ग में न योगाभ्यास, न तपस्या और न ही कोई भी अन्य पूजाक्रम निश्चित किया जाता है; प्रत्युत इन सबके स्थान पर केवल भगवान् शिव की

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ कही जाती है ।[1]

त्रिकाचार्यों को, स्पन्दानुयायियों को 'दास्यभक्ति' ही अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुई है—

कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥

अद्वैतवादी शंकराचार्य ने ज्ञान-साधना पर बल देने पर भी भक्ति की उपयोगिता एवं महत्ता के सामने प्रश्नवाचक चिह्न नहीं खड़ा किया; बल्कि उन्होंने कहा—

(१) मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।

(२) स्वस्वरूपानुसधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।

(३) स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगु: ।[2]

उन्होंने अद्वैतभाव, मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार के लिए साधनचतुष्टय का प्रतिपादन किया; जो निम्नांकित है—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक, (२) सुखभोगों में वैराग्य (३) दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान = ६ सम्पत्तियाँ । (४) मुमुक्षुता ।

किन्तु साधन-सामग्री के रूप में भक्ति को स्वीकार किया । स्पन्दशास्त्रियों ने भक्तितत्त्व को (अद्वैत भक्ति के रूप में) ज्ञानोत्तरा भक्ति को स्वीकार करके भक्ति को और उच्चतर स्थान दिया ।

लीलावाद

स्पन्दशास्त्र ने जगत् को एक नाट्य एवं लीला कहा है । जगत् एक अभिनय है—लीला है । 'लीला' रसास्वादन के लिए होती है और यह आनन्द-सृष्टि होती है । आगमिकों ने जगत् को इसी रसानन्दाप्लावित अभिनय या क्रीडा की उपमा दी है । वेदान्त में भी 'लोकवत्तु कैवल्यम्' कहकर इसकी पुष्टि की गई है ।

तान्त्रिक आगमों में भी इसकी बार-बार पुष्टि की गई है—

न तस्येच्छा न कर्तव्या निर्गुण: प्रकृते: पर:।
तथापि बालवत् क्रीडन् कोटिब्रह्माण्डसंहती: ॥
सृजते संहरत्येष: कटाक्षापेक्षमात्रत: ।
चिन्मात्र: परम: शुद्ध: कूटस्थ: पुरुष: पर: ॥[3]

सामान्यतया जगत् को दु:खागार कहा गया है; किन्तु स्पन्द एवं त्रिकशास्त्र इसे आनन्दाभिनय, बालक्रीड़ा या बालविनोद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मानता ।

'माहेश्वरतन्त्र' में कहा गया है—

चिद्रूपं ब्रह्म परमं नित्यमक्षरमव्ययम् ।
बाललीलाविनोदेन कोटिब्रह्माण्डसंहती: ॥

---

१. उत्पलदेवाचार्य : शिवस्तोत्रावली २. उत्पलदेवाचार्य : प्रत्यभिज्ञाकारिका
३. नारदपाञ्चरात्र : माहेश्वर तन्त्र : ज्ञानखण्ड : १ पटल

सृजते संहरत्येष निर्विकारं तथापि यत् ।[१]
नामरूपविभागं च या करोति स्वलीलया ।
अक्षरात्मा तु भगवान् या लीला सृजते प्रभुः ॥[२]

विश्व को आत्मभित्ति पर निर्मित चित्र भी कहा गया है—

एवं विश्वमयं चित्रं आत्मभित्तिमधिष्ठितम् ।
न पृथक् देवि ! कुत्रापि पृथक् जानन्त्यपण्डिताः ॥[३]

'श्रीबोधपञ्चादशिका' में भी सृष्टि को क्रीडा एवं सृष्टि-संहार को क्रीड़ा-व्यापार कहा गया है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीड़ारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः ॥

'कामकलाविलास' में पुण्यानन्दनाथ ने उन प्रकाशशरीर महेश की वन्दना की है, जिनके भीतर विमर्श शक्ति संलीन है और जो समस्त भुवनों के उदय (सृष्टि), स्थिति एवं लय (प्रलय) की रसात्मिका लीला द्वारा विनोद करते रहने में प्रवृत्त है—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥

जो 'भुवनों' ('शिवादि-धरण्यन्त तत्त्वजात'[४]) का स्रष्टा-पालक-संहर्ता है और जो इस सृष्टि-स्थिति एवं लय को 'लीला' मानता हो, आनन्द-सृष्टि मानता हो, रसविस्तार की प्रक्रिया मानता हो और जो इसे 'विनोद' मनोरञ्जन स्वीकार करता हो ।

नटनानन्दनाथ कहते हैं कि यदि यह शंका उठाई जाए कि 'प्रयोजन' के विना तो कोई कार्य किया नहीं जाता तो सृष्ट्यादि का भी प्रयोजन होना चाहिये । यदि सृष्ट्यादि व्यापारों के पीछे कोई प्रयोजन निहित मान लिया जाए तब तो परमात्मा को अपूर्ण मानना पड़ेगा; क्योंकि प्रत्येक प्रयोजन के पीछे कोई कामना होती है और कामना उसकी होती है, जो प्राप्त न हो । तो क्या परमात्मा से पृथक् भी कोई पदार्थ है, जो उसे प्राप्त न हुआ हो और उसके लिए उसे कामना करनी पड़े? यदि हाँ; तो उसे 'आप्तकाम' क्यों कहा गया? 'निरीह' क्यों कहा गया? यह क्यों कहा गया कि 'इच्छा' उसकी दासी है, वह इच्छा का दास नहीं है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में नटनानन्द कहते हैं—'ईश्वरस्य जगत्सृष्ट्यादिकं लीलामात्रम् प्रयोजनमस्ति ।' तथा च 'हृदयसूत्रम्'—

स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति ।[५]
स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि ।[६]

सर्वचिन्मयवाद

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि में चेतन एवं जड़ तत्त्व पृथक्-पृथक् माने

---

१. माहेश्वर तन्त्र (पटल ७) २-३. माहेश्वर तन्त्र (पटल ८)
४-५. चिद्वल्ली (नटनानन्द)
६. श्रुतियों में भी कहा गया है—'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'

गए हैं; किन्तु अद्वयवादी तान्त्रिकों का तर्क है कि समस्त सृष्टि चिन्मय तत्त्व का रूपान्तरण या आभास है तो यह अचित् कैसे हो सकती है?

अत: उत्पलदेवाचार्य ने 'शिवदृष्टि' की अपनी वृत्ति में कहा है कि—

(१) पृथिव्यादितत्त्वगणे जडता नास्ति ।[1]

(२) इदन्तानिर्देश्यतारूपा जडता प्रतीयते तत्र सर्वात्मत्वे शिवतत्त्वस्य ।[2]

अर्थात् पृथिव्यादिक तत्त्वों में जड़ता नहीं है । 'अहंता' से पृथक् 'इदन्ता' का उल्लेख किए जाने से 'इदन्ता' में जड़ता प्रतीत तो अवश्य होती है; किन्तु जड़ता है नहीं; क्योंकि सभी की आत्मा महाचिद्रूप शिव है ।

'विज्ञानभैरव' (३९) में कहा गया है कि—पैरों से लेकर चोटी तक सम्पूर्ण देह और समस्त जगत् की एक साथ चिन्मय स्वरूप में भावना करनी चाहिए—

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।

आत्मा को तो सभी चेतन मानते हैं । इसी आत्मा के दो अंश हैं—'अहमंश' एवं 'इदमंश' ।

प्रथम अंश को 'ग्राहक' एवं दूसरे को 'ग्राह्य' (प्रथम को 'प्रमाता' एवं द्वितीय को 'प्रमेय') कहते हैं ।

(क) 'शिवशक्ति दशा' अहंरूप है । यह परावस्था है ।

(ख) 'सदाशिव दशा' में इदन्ता बोध उल्लसित होता है, किन्तु अस्फुट रूप में ही । यह भी अहन्ताप्रधान है । इसमें 'अहं' का प्राधान्य है; अत: यह भी पररूप है, किन्तु यहाँ इदन्ता भी (गौण रूप में) विद्यमान है; अत: यह अपररूप भी है; अत: यह 'परापर' रूप वाला है ।

सर्वचिन्मयवादी त्रिकाचार्यों ने आत्मा का मुख्य लक्षण 'चैतन्य' माना है—'चैतन्यमात्मा' (१।१) । कहा गया है कि—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥
चैतन्यं उक्तं स एव आत्मा ।[3]

आचार्य क्षेमराज प्रश्न उठाते हैं कि यदि जीव-जडात्मक इस विश्व का परशिवस्वरूप चैतन्य ही स्वभाव है तो 'बन्धन' आया कहाँ से? इसको प्रत्युत्तरित करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि 'चित्तप्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चित् उपपद्यत' अर्थात् चित्प्रकाश से पृथक् (इस विश्व में) किसी की भी सत्ता प्रतिपादित की ही नहीं जा सकती; अत: 'मल' की शक्ति ही क्या कि इस चित् शक्ति का विरोध कर सके? बन्धन की जहाँ तक बात है, वह तो अज्ञान है । इसीलिए कहा गया है कि 'ज्ञानं बन्ध' अर्थात् अज्ञानप्रवण ज्ञान भी बन्धन ही है । अज्ञान क्या है?

१-२. शिवदृष्टि (४१।३ : वृत्ति) ३. शिवसूत्रविमर्शिनी

'अज्ञान' यह है कि—

(१) मैं चिन्मय परमात्मा से पृथक् हूँ।

(२) मैं जगत् से पृथक् हूँ और जगत् मुझसे पृथक् है।

(३) चिन्मय सत्ता का विस्तार होने पर भी जगत् जड़ है।

(४) जड़ एवं चेतन दो पृथक्-पृथक् नित्य सत्तायें हैं।

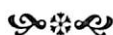
'ज्ञान' यह है कि—

(१) मैं ही चिन्मय 'शिव' हूँ।

(२) मुझ चिन्मय शिव का चिन्मयप्रसार ही जगत् है।

(३) चिन्मय आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं।

'माया शक्ति' का कार्यारम्भ होता है—'अहं' एवं 'इदं' को पृथक्-पृथक् करने से। 'अहमंश' हो जाता है—पुरुष एवं 'इदमंश' हो जाता है—'प्रकृति'।



परिशिष्ट भाग

स्पन्दकारिका : (स्पन्दसूत्र)

प्रथमो निष्यन्दः

(१)

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥ १ ॥
यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ २ ॥
जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ३ ॥
अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥
न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ ५ ॥
यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः ॥ ६ ॥
लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥ ७ ॥
न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ ८ ॥
निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्॥ ९ ॥
तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदेप्सितं सर्वं जानाति च करोति च॥ १० ॥
तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन्।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः॥ ११ ॥
नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता ।
यतोऽभियोगसंस्पर्शात्तदासीदिति निश्चयः ॥ १२ ॥
अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तवदवत्सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥
अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्॥ १४ ॥

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥
न तु योऽन्तर्मुखा भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥ १६ ॥

इति श्रीराजानकरामकृतायां विवृत्याख्यायां स्पन्दकारिकाटीकायां व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देशो नाम प्रथमो निष्यन्दः

अथ व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धिर्नाम द्वितीयो निष्यन्दः

(२)

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ १ ॥
ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥ २ ॥
गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दा सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ ३ ॥
अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ ४ ॥
अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ ५ ॥
अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किंकरोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ ६ ॥
यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति ।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥ ७ ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण चन्द्रसूर्यावुभावपि ।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ ८ ॥
तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ ९ ॥
तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥ १० ॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥ ११ ॥

अथ विश्वस्वभावशक्त्युपपत्तिर्नाम तृतीयो निष्यन्दः

(३)

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ १ ॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यःशिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ २ ॥
इति वा यस्य संवित्तिःक्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३ ॥

अथ अभेदोपलब्धिर्नाम चतुर्थो निष्यन्दः
(४)

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि ।
तदात्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या ॥ १ ॥
इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥ २ ॥
यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितान् ।
सोमसूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ॥ ३ ॥
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान्प्रणयस्यानतिक्रमात् ।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितोऽवश्यं प्रकाशयेत् ॥ ४ ॥
अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ५ ॥
यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ६ ॥
एवं यत्परमार्थेन यत्र येन यथा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात्सम्प्रवर्तते ॥ ७ ॥
दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते ।
आच्छादयेद्बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ॥ ८ ॥
अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति ॥ ९ ॥
ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत्कुतः सा स्यादहेतुका ॥ १० ॥
एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ ११ ॥
अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ १२ ॥
दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ १३ ॥
प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोच्य गोचरम् ।
एकत्रारोपयेत्सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ १४ ॥
शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ १५ ॥

परामृतरसापायस्तस्य य: प्रत्ययोद्भव: ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचर: ।। १६ ।।
स्वरूपावरणो चास्य शक्तय: सततोत्थिता: ।
यत: शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भव: ।। १७ ।।
सेयं क्रियात्मिका शक्ति: शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञातासिद्ध्युपपादिका ।। १८ ।।
तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवृत्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ।। १९ ।।
भुंक्ते परवशो भोगं तद्भावत्संसरेदत: ।
संसृतिप्रलयस्यास्य करणं सम्प्रचक्ष्महे ।। २० ।।
यदा त्वेकत्र संरूढ़स्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ।। २१ ।।

इति श्रीराजानकश्रीरामविरचितायां स्पन्दवृत्तौ शक्त्यात्मकविश्वाव्यतिरेकोपलब्धि: प्रकीर्णं च चतुर्थो नि:ष्यन्दो समाप्त:

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ।। १ ।।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (शक्तिसूत्र)

नम: शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थविभासिने ।। १ ।।
शाङ्करोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधे: ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सार: संसारविषशान्तये ।। २ ।।

(१) चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु: ।। १ ।।

(२) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।। २ ।।

(३) तन्नानानुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ।। ३ ।।

(४) चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमय: ।। ४ ।।

(५) चितिरेव चेतनपदावरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम् ।। ५ ।।

(६) तन्मयो मायाप्रमाता ।। ६ ।।

(७) स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभाव: ।। ७ ।।

(८) तद्भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय: ।। ८ ।।

(९) चिद्वत्तच्छक्तिसङ्कोचात् मलावृत: संसारी ।। ९ ।।

(१०) तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ।। १० ।।

(११) आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनस्तानि ॥ ११ ॥

(१२) तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहिता संसारित्वम् ॥ १२ ॥

(१३) तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥ १३ ॥

(१४) चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥ १४ ॥

(१५) बललाभे विश्वमात्मसात् करोति ॥ १५ ॥

(१६) चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥ १६ ॥

(१७) मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ॥ १७ ॥

(१८) विकल्पक्षयशक्तिसङ्कोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादयः इहोपायः ॥ १८ ॥

(१९) समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयोभूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदित समाधिलाभः ॥ १९ ॥

(२०) तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि निजसंविद्देवता चक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ॥ २० ॥

समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (शक्तिसूत्र) कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य

।। शुभमस्तु ।।

